भारत की संस्कृति-साधना

लेखक

डा० रामजी उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

सागर विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीमाधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-२

१९६७

[मूल्य १० रुपये

द्वितीय संस्करण]

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद-२

परिवर्धित तथा संशोधित
द्वितीय संस्करण
मूल्य १० रुपये
२ अगस्त १९६७

मुद्रक
विजय कुमार अग्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद

समर्पण

अपने चाचा परिडत राजनाथ उपाध्याय की स्मृति में,
जिनके वात्सल्य और अपरिग्रह की छाया
परानुभूति है।



भूमिका

निःसन्देह भारतीय संस्कृति अतिशय प्राचीन है। इसके साथ ही यह भी सच है कि विश्व की अनेक संस्कृतियाँ कुछ कम प्राचीन नहीं है, पर भारतीय संस्कृति में ऐसी विलक्षणतायें हैं, जो विश्व की संस्कृतियों में इसे अनुपम बनाती हैं। यदि विश्व के सांस्कृतिक विकास का पर्यालोचन किया जाय तो यह अनायास सिद्ध होगा कि भारत ने दर्शन, काव्य, सदाचार और उच्च विचार के सांस्कृतिक महासागर के रत्नों का उदारतापूर्वक वितरण किया है। आज भी संसार के विभिन्न भागों में जगमगाते हुए ये रत्न संस्कृति का प्रकाश फैला रहे है। ऐसी विश्वजनीन संस्कृति का अध्ययन-अध्यापन समीचीन है।

भारतीय संस्कृति की साधना विविध क्षेत्रों में हुई। सम्राटों की राजधानियों में यदि कला-विलास का उत्कर्ष हुआ तो परिव्राजकों की आरण्यक कुटियों में ब्रह्म के साथ तादात्म्य की योजनाओं की स्वीकरणीयता अनुमोदित हुई। धार्मिक विधि-विधानों का एक रूप गाँव के कुटीरों में विकसित हुआ तो दूसरा बृहदीश्वर के महामन्दिर में और तीसरा पुष्कर-तीर्थ में। इस सांस्कृतिक साधना में ब्रह्मचारियों से लेकर संन्यासियों तक चारों आश्रमों के लोगों का, आरण्यक वनजीवी से लेकर अभ्रंकष प्रासाद के निवासी महाराज तक छोटे-बड़े लोगों का और चाण्डाल से लेकर ब्राह्मणायन का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति के आधुनिक समीक्षक साधारणत. सांस्कृतिक साधना का उपर्युक्त वैचित्र्यपूर्ण प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात नहीं करते। ऐसी स्थिति में उनके अध्ययन में एकक्षेत्रीय पक्ष ही सामान्यतः विद्यमान रहता है। इस पुस्तक में यथासम्भव संस्कृति के सर्वक्षेत्रीय स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है।

कुछ विद्वान् भारतीय संस्कृति का युग-क्रम से अध्ययन करने में अधिक वैज्ञानिकता या इतिहासज्ञता मानते हैं। उनकी दृष्टि में भारतीय संस्कृति की प्रत्येक

परम्परा का विकासात्मक रूप विभिन्न युगों में देखा जा सकता है। उनके दृष्टिकोण में भले ही कुछ सत्य हो, पर अध्ययन की यह पद्धति किसी भी सांस्कृतिक परम्परा के आद्योपान्त सर्वाङ्गीण स्वरूप को दृष्टिपथ में लाने में असमर्थ होने के कारण संस्कृति के किसी अंग के पूर्ण सौन्दर्य की अनुभूति एक साथ नहीं करा पाती। मेरी समझ में किसी भी सांस्कृतिक परम्परा का बीजांकुर किस युग में परिदृश्यमान हुआ--यह ढूंढ़ निकालना प्रायः असम्भव है, साथ ही विकास की परम्परा का भी किसी एक युग से सम्बन्ध कर देने में कभी-कभी अनर्थ की सम्भावना रहती है।

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय संस्कृति के उन कतिपय अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है, जिन्हें प्रायः इस विषय में लिखी जाने वाली पुस्तकों में स्थान नहीं मिलता। पाठक स्वयं देखेंगे कि ऐसे प्रकरण भारतीय संस्कृति के ज्ञान के लिए भारतीयता की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। साधारणतः इस पुस्तक में उन्हीं विषयों का विवेचन किया गया है, जिनका मानव-व्यक्तित्व के विकास से प्रत्यक्ष रूप से निकट सम्बन्ध है। मानव के विकास के अनुरूप ही समाज का विकास होता है। स्थान-स्थान पर सामाजिक विकास के उन पक्षों का पर्यालोचन किया गया है, जिनके द्वारा प्राचीन युग में व्यक्तिगत विकास के लिए समीचीन वातावरण प्रस्तुत किया गया था। इसके साथ ही इसमें वैदिक साहित्य, पुराणेतिहास आदि प्राचीन ग्रन्थों से सांस्कृतिक सामग्री की छान-बीन करके उन्हें विभिन्न प्रकरणों में सूत्रित किया गया है। इन सभी उपक्रमों में अनुसन्धान की अभिनव परम्परा का अनुसरण करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि उन सांस्कृतिक तत्त्वों ने तत्कालीन मानवता के लिए किस प्रकार बौद्धिक और मानसिक वातावरण प्रस्तुत किया था, जिसमें सर्वोदय और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना व्यावहारिक रूप ग्रहण कर सकती थी।

क्या हम प्राचीन संस्कृति को पूरा अपनायें, अंशतः अपनायें या उसे छोड़ ही दें---इस सम्बन्ध में मुझे तो इतना ही कहना है कि मानव और समाज के अभ्युदय के कुछ ऐसे पक्ष हैं, जिनके विकास या रूप-विन्यास की दिशा का प्रश्न वारंवार नहीं उठाया जा सकता। उनका समाधान सनातन है और शाश्वत दृष्टि से ही इस सम्बन्ध में निर्णय हुआ है और होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा

कि हमारी संस्कृति का मानदण्ड सनातन है। आज जब विश्व को विज्ञान की विभीषिका संत्रस्त कर रही है तो हमें पुनः सनातन पंचशील स्मरण हो रहा है। किन्तु हमारी समस्यांओं का समाधान केवल राजकीय 'पञ्चशील' मे ही सम्भव नहीं है। समाज की अनेकानेक दुर्वृत्तियों को रोकने के लिए हमें बहुशः प्रयास करना पड़ेगा, जिससे हमारी उच्चता, प्रतिष्ठा और विकास सम्बन्धी मान्यतायें प्राचीन परम्पराओं के अनुरूप निर्धारित हों। यह निर्णय लेने में प्राचीन संस्कृति की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। मेरी समझ में इस सम्बन्ध में हमारी भ्रान्तियां आधुनिक युग के लिए सबसे बढ़ कर अभिशाप हैं और मध्ययुग में उन्हीं के कारण राष्ट्रीय पतन हुआ था।

पुस्तक के लगभग ६०० पृष्ठों में सांस्कृतिक साधना को सविस्तार स्वरूप देना असम्भव है। फिर भी इसमें संस्कृति की अधिकतम प्रवृत्तियों का यथासम्भव विन्यास किया गया है। इसमें ऐसे अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों का केवल कुछ पृष्ठों में ही वर्णन कर दिया गया है, जिनके सम्बन्ध में विशेषज्ञ सैकड़ों पृष्ठ लिखते।

पाठकों से मेरी अभ्यर्थना है कि वे पूर्वाग्रहों से विमुक्त होकर इस पुस्तक को पढ़ें तो सम्भव है 'भारत की संस्कृति-साधना' की झांकी देने का मेरा यह प्रयास सफल हो।

—रामजी उपाध्याय

विषयानुक्रमणिका

अवतरणिका

मनुष्य और अन्य पशुओं के जीवन में कुछ समानता प्रत्यक्ष है। इस समानता का स्तर प्राकृतिक है, जिसे भर्तृहरि के शब्दों में कह सकते हैं––

आहार-निद्राभयमैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्

प्राकृतिक स्तर के अतिरिक्त मानवीय जीवन-प्रवृत्तियों के बहुविध स्तर हैं––सामाजिक, दैविक, आध्यात्मिक, बौद्धिक और रसात्मक। मनुष्य ने एक समाज की रचना की है, जिसकी विशाल परिधि में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आता है। वह देवी-देवताओं की कल्पना करके उनकी दैविक विभूति का उपयोग करता है। आत्मा और परमात्मा की प्रतिष्ठा करके मानव आध्यात्मिक समाधि की अवस्था में जा पहुँचता है। बौद्धिक स्तर पर अपने बुद्धि-कौशल से नित्य अनुसन्धान करके ज्ञान-विज्ञान की दिशाओं में वह सफलता प्राप्त करता है। उसकी प्रगति के लिए प्रेरणा की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है रसात्मक निष्ठा, जिसके द्वारा व्यावहारिक और कल्पनात्मक सर्जनाओं में वह रस ग्रहण करता है।[1]

अपने प्राकृतिक जीवन-स्तर पर पशु प्रायः वहीं हैं, जहाँ सहस्रों वर्ष पहले थे, किन्तु मानव न केवल प्राकृतिक स्तर पर, अपितु उपर्युक्त अन्य स्तरों पर निरन्तर प्रगति करता आ रहा है। यही उसकी मानवोचित साधना है। यह साधना-पथ अनन्त है और मानव निरवधि काल तक इस पर चलता रहेगा। इस साधना के पीछे उसकी बुद्धि, वाणी, सौन्दर्य-भावना, आध्यात्मिक अनुसंधान और सहानुभूति की नित्य अपेक्षा रहती है। इनको सतत उच्चतर स्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए मानव अपने व्यक्तिगत और सामाजिक सुख-सौरभ की सृष्टि करता आ रहा है।

१. मनोरंजन, काव्य, शिल्पादि से स्वभावतः रस की प्राप्ति होती है। इनके अतिरिक्त मनुष्य रस की प्राप्ति के लिए हिमालय-शिखर पर चढ़ने का कष्ट स्पर्धावश उठाता है। इसके एक विशिष्ट स्वरूप की प्रतीति लोकसेवा में होती है। किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को निरापद करने के लिए, उसे सुख पहुँचाने के लिए या उसे सत्य का ज्ञान कराने के लिए मानव नानाविध उपाय करता है, कष्ट सहता है या आत्मबलिदान करता है। इन सारी परिस्थितियों में उसे रसमयी प्रवृत्ति ही अग्रसर करती है।

मनुष्य की यही प्रवृत्ति उसकी संस्कृति है।[1] यही मानव जीवन की कला है। यही मानव-जीवन के विकास की सनातन प्रक्रिया है। संस्कृति-सम्पन्न लोगों की उपाधि संस्कृत और संस्कृतिहीन लोगों की प्राकृत या ग्राम्य प्राचीन काल से रही है।

संस्कृति के मूलाधार

प्राकृतिक परिस्थितियाँ

संस्कृति के विकास-पथ में प्राकृतिक परिस्थितियों का सर्वाधिक महत्त्व होता है। प्राकृतिक दशा के अनुरूप मानव की नित्य की आवश्यकताएँ होती हैं। मानव इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रायः अपने आसपास प्राप्त होने वाली प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं को उपयोग में लाता है। यदि प्रकृति की विषमताओं के कारण मानव की नित्य की आवश्यकताएँ अत्यधिक हो जाती हैं और उनकी पूर्ति के लिए उसे प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है तो स्वभावतः वह प्रकृति को आदर की दृष्टि से नहीं देख पाता। ऐसी प्रकृति के संसर्ग में वह स्वयं कठोर बन जाता है। इसके विपरीत यदि प्रकृति उदार हो, अपनी शरण में आये हुए स्वल्प श्रम करने वाले व्यक्तियों का भरण-पोषण करती हो तो लोगों के हृदय में उसके प्रति सद्भावना उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में लोग प्रकृति को देवी मान लेते हैं। ऐसी प्रकृति के संसर्ग में आने पर लोगों का चरित्र उसके आदर्शों के अनुरूप विकसित हो जाता है। प्रकृति उदारता, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि का प्रथम पाठ मानव को पढ़ाती है। प्रकृति के रम्य प्रदेशों में दार्शनिक को आध्यात्मिक सत्य का आभास होता है। शिल्पी और कलाकार प्रकृति से उपादानों को ग्रहण करके उसके

---

१. संस्कृति शब्द प्रायः इसी अर्थ में वैदिक साहित्य में मिलता है, यथा—

आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि। एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते।

ऐतरेय ब्रा० ६·५·१

यजुर्वेद ७·१४ के अनुसार

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।

इस प्रसंग में टीकाकारों के मतानुसार संस्कृति शब्द सोम के संस्कार के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ संस्कृति का विश्ववारा विशेषण उल्लेखनीय है। संस्कृति के द्वारा सोम सबके लिए वरणीय बन जाता है। यही संस्कृति का वास्तविक उद्देश्य है। जिसके द्वारा मानव सबके लिए वरणीय हो सके, वही संस्कृति भारत में वैदिक काल से प्रतिष्ठित रही है। सुत्तनिपात के अत्तदण्ड सुत्त १६ में निसंखिति शब्द मिलता है, जिसकी संस्कृत छाया निसंस्कृति है। इस प्रसंग में संस्कृति संस्कार के अर्थ में प्रयुक्त है।

सौष्ठव और सौन्दर्य की अभिव्यञ्जनाओं को चित्र, मूर्ति, वास्तु और काव्य आदि के माध्यम से प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। प्रायः प्राकृतिक संविधानों के अनुरूप ही भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

किसी देश के सांस्कृतिक विकास पर राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। प्राचीन भारत में राजा संस्कृति का संरक्षक होता था। भारतीय दृष्टिकोण से 'यथा राजा तथा प्रजा' अर्थात् राजा के गुणों का आदर्श प्रजा में प्रतिष्ठित होता है। राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति राजा की अभिरुचि होने पर अनायास ही सांस्कृतिक संस्थाओं की संख्या बढ़ने लगती है और यदि राजा कहीं राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति उदासीन हो अथवा राष्ट्रीय संस्कृति का विरोधी हो तो संस्कृति के क्षीण होते देर नहीं लगती। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इस प्रकार की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई विषमतायें प्रत्यक्ष ही हैं। किसी भी राष्ट्र में शान्ति और सुव्यवस्था होने पर स्वर्णिम संस्कृति का अभ्युदय होता है।

ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

संस्कृति की रूप-रेखा के विन्यास में कुछ विशेष प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है किसी एक देश के विविध जन-समुदायों का पारस्परिक सम्पर्क अथवा विदेशी जातियों से सम्पर्क। ऐसी परिस्थिति में अनेक संस्कृतियों का मिलन होता है और प्रायः सभी संस्कृतियाँ एक दूसरे से प्रभावित होती हैं अथवा उन सभी संस्कृतियों में से कोई एक विजयिनी बन कर अन्य संस्कृतियों के उत्कृष्ट गुणों को आत्मसात् करके परिपुष्ट बन जाती है। भारतीय आर्य-संस्कृति के लिए समय-समय पर ऐसी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उपादेय सिद्ध हुई हैं।

महापुरुषों की देन

अपने विचारों, कृतियों और सन्देशों के द्वारा सांस्कृतिक धारा को अभिनव दिशा में मोड़ देना और लोगों को सांस्कृतिक विकास की ओर प्रवृत्त कर देना महापुरुषों की महत्त्वपूर्ण देन होती है। सांस्कृतिक इतिहास से प्रतीत होता है कि यदि कोई एक विशिष्ट पुरुष न हुआ होता तो देश की संस्कृति आज जहाँ है, वहाँ से बहुत पीछे होती। आधुनिक युग के लिए महामानव गाँधी की देन इसी प्रकार की है। कभी-कभी असंख्य महापुरुषों की युग-चेतना भी इसी प्रकार सांस्कृतिक अभ्युत्थान में योग देती है। असंख्य महर्षियों की तपःसाधना और चिन्तन के फलस्वरूप उपनिषदों का प्रणयन हुआ। इन उपनिषदों का भारतीय संस्कृति के विकास के लिए

अप्रतिम महत्त्व रहा है। काव्य-कला के क्षेत्र में वाल्मीकि और कालिदास का ऐसा ही महत्त्व है।

स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ

प्रायः सभी देशों के निवासियों की कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो उस देश की विविध युगों की सांस्कृतिक चेतनाओं के मध्य एकसूत्रता की प्रतिष्ठा करती है। अंगरेज जाति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह परम्परावादी है। उसका यह स्वभाव उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं में देखा जा सकता है। वैसे ही भारतवासियों के विषय में कहा जाता है कि वे जन्मजात दार्शनिक होते हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति को संवर्धना के लिए इन्हीं उपर्युक्त मूलाधारों के अनुरूप जो वातावरण विद्यमान था, उसका पर्यालोचन करें।

सांस्कृतिक वातावरण

प्राकृतिक भूमा

भारतीय विचारकों ने बाहुल्य, उच्चता और सदाशयता में सुख माना है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'भूमैव सुखम्' अर्थात् बाहुल्य ही सुख है। भूमा को आत्मसात् करने के लिए भूः, भुवः और स्वः को अपनी उपभोग-परिधि में रखा गया। सायं-प्रातः नित्य गायत्री-पाठ करते समय मानव को प्रतीत हो सकता था कि वह अपन शरीर, कुटुम्ब, ग्राम, राष्ट्र आदि परिधियों से सीमित नहीं है, वह निःसीम है। कम से कम भूः (पृथ्वी); भुवः (वायु-लोक) और स्वः (आकाश-मण्डल) उसकी संचरण-शीलता की परिधि में हैं।[1] इस निःसीमता की कल्पना से मानव का व्यक्तित्व अतिशय उदात्त बन सका था। भारत के विशाल प्राङ्गण में प्रायः सदा ही मनीषियों को अपने सन्देश प्रसारित करने का विपुल क्षेत्र मिल सका है।

भारतवासी के मानस-पटल पर पृथ्वी और आकाश की समृद्धिशालिता और सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब पड़ा है। आकाश तो आज भी प्रायः पूर्ववत् हमारा आवरण है। दिन के समय उसकी नीलिमा और रात्रि के समय अगणित तारों की दीपावली अत्यन्त रमणीय हैं, पर भारत की प्राचीन वसुन्धरा आज की अपेक्षा अधिक गौरव-शालिनी और मनोरम थी।[2] अथर्ववेद के ऋषि ने पृथ्वी की वन्दना की है :—

१. अथर्व० १२.१.५३

२. देश की जन-संख्या बढ़ने के साथ ही पृथ्वी का प्राकृतिक सौन्दर्य कम होने लगता है, वन कटने लगते हैं, झीलों और तडागों को काट-पीटकर खेत बना दिया जाता है और नदियों से नहरें निकाल कर उन्हें प्रायः सुखा दिया जाता है।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ।। १२.१.३६

(हे भूमे ! आपके ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु दिन और रात्रि हमें दुग्ध प्रदान करें ।)

भारत-भूमि अतिशय उदारतापूर्वक मणि, हिरण्य आदि निधियों का वितरण करती थी ।[1] वैदिक ऋषि इसी पृथ्वी से कामना कर सकता था :—

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविधाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ।। अथर्व० १२.१.६३

(हे पृथ्वी माता, मुझे कृपया सुप्रतिष्ठा प्रदान करो, द्यौ के साथ तुम मुझे श्री और विभूति से सम्पन्न करो ।)

अथर्ववेद के इस सूक्त मे आदि से अन्त तक पृथ्वी के उस स्वरूप का निदर्शन किया गया है, जिससे तत्कालीन भारतवासी उपकृत हुए थे । इस सूक्त में स्थान-स्थान पर पृथ्वी के गुणों के अनुरूप राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का सन्देश भी मिलता है । पृथ्वी के सान्निध्य मे ऋषि ने अपने विषय में कहा है :—

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ।। अथर्व० १२.१.५८

(मैं मधुर शब्दों का उच्चारण करता हूँ, जो कुछ देखता हूँ, मुझे प्राप्त होता है, मैं प्रतिभापूर्ण हूँ, जागरणशील हूँ, शत्रुओं को परास्त करता हूँ ।)

विदेशी लेखकों ने भारत की प्राकृतिक समृद्धिशालिता और रमणीयता की प्रशंसा की है। प्लीनी के अनुसार अकेला यही एक देश मणियों और रत्नों का भाण्डार है । इस देश मे सर्वश्रेष्ठ मोती मिलते है । अबू जिलअ सिन्धी ने भारत की प्रशस्ति में लिखा है—अपने प्राणों की शपथ है—यह वह भूमि है, जब इसमें पानी बरसता है तो उससे भारतवासियों के लिए दूध, मोती और लाल उगते हैं ।[2] चौदहवीं शती के इतिहास-लेखक अब्दुल्लाह वस्साफ ने अपने इतिहास-ग्रंथ ताजियातुल अम्सर में लिखा है—सभी आधुनिक लेखकों का इस विषय पर एक मत है कि भूतल पर भारत सर्वश्रेष्ठ रहने की जगह है, यह विश्व का सबसे बढ़कर मनोरम भाग है । इसकी धूलि वायु से अधिक पवित्र है और वायु पवित्रता से भी बढ़कर पवित्र है । इसके मनोरम मैदान स्वर्ग के उपवन प्रतीत होते हैं । यदि कहा जाय कि भारत में स्वर्ग है तो आश्चर्य न करना क्योंकि स्वर्ग भी भारत की तुलना में फीका है ।[3]

---

१. अथर्व० १२.१.४४

२. असारुल बिलाद कजनीवी पृष्ठ ८५

३. *Elliot: History of India Vol. III pp 28—29*

भारत-भूमि की उदारता के आदर्श की गहरी छाप इस देश के निवासियों के चरित्र पर सदा पड़ी है। संकीर्णता और दैन्य किसी मानव के हृदय में कैसे स्थान पा सकते थे, जब उसके चारों ओर पृथ्वी-माता की भूमा—विपुलता और समृद्धिशालिता सबको सुख देने के लिए थी ? भारत-भूमि के साधारणतः समतल होने से और उस पर बने हुए पथों को सरलता से ही मानो मानव के जीवन में समता का विन्यास तथा उसकी कार्य-पद्धति में ऋजुता का सौष्ठव सम्पादित हो सका है।

भारतीय प्रकृति के अन्य महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक उपादान पर्वत, नदी, समुद्र, वन-उपवन, ऋतु, दिन-रात, पशु-पक्षी आदि हैं। भारत के पर्वतों में सांस्कृतिक दृष्टि से हिमालय का स्थान सर्वोच्च रहा है। भारतीय संस्कृति की एकता तथा कश्मीर से लंका तक इस संस्कृति की एकरूपता के लिए प्रधान कारण यही रहा है कि भारत के उत्तर में हिमालय तथा शेष तीन दिशाओं में समुद्र रहे हैं। इनके इस परिस्थिति मे होने से विदेशियों का इस देश पर यदि आक्रमण हुआ तो केवल कभी-कभी और विदेशी भी इतनी कम संख्या में आ सके कि प्रायः सभी के सभी भारतीय संस्कृति में रँगते गये। हिमालय ऋषियों और मुनियों के लिए तपोभूमि रहा है। इसके उच्च प्रदेशों पर भी तपस्वियों के जीवन-पोषण की आवश्यकताएँ सरलता से प्राप्त होती रही। हिमालय की उच्चता के साथ ही भारतीय दार्शनिकों के उच्च विचार और तत्त्वानुशीलन की उदारता प्रस्फुटित हुई।

हिमालय भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्रों मे से था। यही प्रदेश देव और ऋषि-संस्कृति का मूल स्थान था। इसकी प्राकृतिक सुषमा और सुरम्यता का प्रभाव मानव के हृदय पर पड़ा और उसमें समता और रमणीयता के भावों का सवर्धन हुआ। आज भी हिमालय के ऊँचे शिखरों पर बदरिकाश्रम, कैलास, गौरी, नन्दादेवी आदि तीर्थ-स्थान है, जो प्राचीन महर्षियों के कीर्ति-स्तम्भ रूप मे खड़े है। उन महर्षियों को समाज ने आदर्श मानकर उनके उपदेशों और विचारों को सम्मान दिया और तभी से नतमस्तक होकर भारत सदा ही उनकी खोज में हिमालय पर जाता है।

भारत ने हिमालय को जिस रूप में ग्रहण किया, उसकी कल्पना प्राचीन कवियों की रचनाओं से हो सकती है। पर्वत का मानवीकरण करके उसे मानव के निकट लाया गया है, जिससे मानव उसे अपने ही समान मान कर उसकी उच्चता और उदारता को अपना सके। ऋग्वेद के अनुसार वृक्ष पर्वतों के केश हैं।[1] कालिदास ने पर्वत के मानव-शरीर की कल्पना की है, जिसके अनुसार लाल धातुओं से पर्वत के ओठ बने हुए हैं, ऊँचे देवदारु उसकी बड़ी भुजायें हैं और बड़ी शिलायें उसकी छाती है।[2] चित्रकूट की रमणीयता का प्रमाण राम के शब्दों में इस प्रकार है :—

---

१. ऋग्वेद ५.४१.११

२. कुमारसम्भव ६.५१

न राज्याद् भ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः ।
मनो मे वाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥[1]

(हे भद्रे, सीते, राज्य का न मिलना और मित्रों का वियोग भी मुझे नहीं सताता, जब मैं इस रमणीय पर्वत को देखता हूँ ।)

दक्षिण भारत प्रधानतः पर्वतों का प्रदेश है । इस प्रदेश में विन्ध्य, मेकल (अमरकण्टक), मलय, महेन्द्र, सह्य आदि पर्वत हैं । इन पर्वत-मालाओं मे गुफायें वनाई गई, जिनमें भारतीय दर्शन और धर्म के उन्नायकों का संघ रहता था और इनकी सुरम्यता के बीच मानव की कलात्मक प्रवृत्तियों को चित्र, मूर्ति तथा वास्तु के माध्यम मे प्रस्फुटित होने के लिए अनुकूल वातावरण मिला ।

प्रायः पर्वतों से निकल कर नदियाँ समतल भूभागों को जल से आप्लावित करती हुई समुद्र तक अपने जल को भेज कर विलीन हो जाती हैं । पर्वतीय प्रदेशों में नदियों के तट पर जीवन-यापन की विशेष सुविधाये प्राप्त होती हैं । नदियों के तट पर प्राकृतिक सौंदय भी विशेष होता है । वही प्राचीन काल में समतल भूभागों में आश्रम वने और नागरिक संस्कृति एवं सभ्यता का निर्माण हुआ । मानव को नदियों से उपकृत होना ही पड़ा । नदियों का जल स्नान और पान के काम में आता था और उसमें जल-विहार का मनोरंजन होता था । व्यापार के लिए नदियों में नाव चलती थीं । नगरों की सुरक्षा एक या अनेक दिशाओं में नदियों के द्वारा होती थी ।

उपर्युक्त सुविधामयी परिस्थितियों में भारतीय संस्कृति के केन्द्र नदियों के तट पर प्रतिष्ठित हुए । सिन्धु-सभ्यता का प्रसार प्रायः नदियों के तट पर था । ऋग्वेद के महर्षि नदी और सोतों की जल धारा की उत्तमता से प्रभावित थे । इस वेद में नदियों को 'सप्तसप्तत्रिधा' वतला कर उनकी असंख्यता का परिचय दिया गया है । उनकी स्तुति करते हुए कहा गया है—सरस्वती की वाढ़ का जल मानवता का पोषण करने के लिए है । हमारे लिए यह नदी लौह दुर्ग की भाँति संरक्षक है । हे सरस्वति, हमें अपने संरक्षण में रखो । हम तुम्हारी शरण में वैसे ही रहेंगे, जैसे लोग वृक्षों की छाया में । अन्त में वसिष्ठ ने सरस्वती से कहा है :—

वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान् ।
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ऋ० ७.९५.३

(शुभ्रे, तुम वढ़ो, स्तुति करने वालों को अभ्युदय प्रदान करो । सदा हमारा कल्याण करो ।)

१. वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड ६४.३

हमारा हिन्दू नाम सिंधु नदी के नाम पर है। इससे भी सांस्कृतिक विन्यास में नदी का महत्त्व स्पष्ट है।

वैदिक काल के पश्चात् गङ्गा का महत्त्व भारत के सांस्कृतिक इतिहास में बढ़ा।[1] वाल्मीकि के अनुसार ऋषि गङ्गा की पूजा करते हैं। तट को ऋषियों के आश्रम अलंकृत करते हैं। फल-फूल, पेड़-लतायें और पक्षी आदि नदी की शोभा बढ़ाते हैं। कवि ने गङ्गा को अलंकृत रमणी की भाँति मनोरमा चित्रित किया है। कवि की दृष्टि में फेन के रूप में हास्य, वृक्षों के रूप में मालाओं, पुष्पों से प्राप्त पराग आदि से समन्वित गङ्गा रमणी ही तो है।[2] गङ्गा की भाँति ही भारत की प्रायः सभी छोटी-बड़ी नदियों को भी अपने-अपने प्रदेश में प्रतिष्ठा प्रात हुई है।

समुद्र की विशालता तथा अपरम्पार परिधि का प्रभाव मानव मस्तिष्क पर पड़ा है। भारत को समृद्धिशाली बनाने में समुद्र का अतिशय महत्त्व रहा है। विविध प्रकार के रत्न और मोती समुद्र से प्राप्त होते रहे हैं। इसी से समुद्र का रत्नाकर नाम सार्थक हुआ। समुद्र की उत्ताल तरङ्गों पर अपनी नावों को तरंगित करते हुए व्यवसायियों ने भारतीय संस्कृति और कला-कौशल की निधि को अनेक द्वीपों में बिखेर दिया।

वैदिक युग से ही वनश्री की रमणीयता से मानव-समाज प्रभावित रहा है। ऋग्वेद में 'अरण्यानी' नामक वन-देवी की कल्पना हो चुकी थी। अरण्यानी की उदारता फलों की समृद्धि के दान के रूप में वर्ण्य विषय बनी, साथ ही वनस्पति के रूप में वनराज वट-वृक्ष और सोम की प्रतिष्ठा हुई। वटवृक्ष की विशालता और विस्तार एवं सोम की उपयोगिता से प्रभावित होकर इनकी आराधना और पूजा का विधान बना। ऋषियों ने वनों और पर्वतों को मनोरम माना।[3]

भारत के सुगम वनों में जीवन-यापन की सुविधायें—फल-फूल, जल आदि के सुलभ होने पर ऋषियों और विद्वानों के आश्रम बने अथवा राजाओं के द्वारा वहाँ पर नई बस्तियाँ बसाई गईं। रामायण-काल में पम्पा के समीप सुगम वन की समृद्धि मानवों का स्वागत करती थी। वहाँ पर वृक्षों और वन-लताओं से पुष्प वैसे ही झड़ते थे, जैसे मेघों से वर्षा होती है। वृक्ष आगन्तुकों का मानो भ्रमरों के संगीत के द्वारा स्वागत करते थे।[4] इन्हीं वनों में रहने वाले विचारकों ने जिस सांस्कृतिक धारा

१. सर्वप्रस्रवणाः पुण्याः सरांसि च शिलोच्चयाः
नद्यः पुण्याः तथा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः ।। शंखस्मृति ८.१४
२. वा० रामायण अयोध्याकाण्ड ५०.१२—२६ से
३. ऋ० १०.१४६ तथा अथर्ववेद १२.१.११
४. वा० रामायण किष्किन्धाकाण्ड १.११, २६

को प्रवाहित किया, उसमें न केवल भारत ने ही अपितु विदेशों न भी अवगाहन किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने वनों की सांस्कृतिक उपयोगिता की चर्चा करते हुए कहा है--यदि भारत योरपीय सांस्कृतिक पद्धति पर चले तो वह योरप नहीं वन जायेगा, केवल दूषित भारत रहेगा। यही कारण है कि हम लोगों को सावधानीपूर्वक उन सिद्धान्तों को खोज निकालना है, जिनसे भारत अपनी आत्मा को समझ सके। वह सिद्धान्त व्यापार अथवा राष्ट्रीय भावनाओं के संवर्धन में अन्तर्हित नहीं है। वह विश्वात्मक भावना है। वह केवल आत्मज्ञान तक ही सीमित नहीं है, अपितु आत्म-विजय है, आत्म-समर्पण है। प्राचीन भारत के वनों में इस सिद्धांत का बोध पहले-पहल हुआ था और वही इसके अनुसार आचरण किया गया था। इस सत्य की प्रथम घोषणा उपनिषदों मे की गई और गीता में इसकी व्याख्या की गई। महात्मा बुद्ध ने संसार को छोड़ दिया, जिससे वे इस सत्य का सन्देश सारी मानवता तक पहुँचाने में समर्थ वने।[1]

भारत की विविध प्रकार की वन-सम्पत्ति देश की आधिभौतिक समृद्धिशालिता के लिए अतिशय उपयोगी रही। वनों से प्राप्त होने वाली लकड़ी विदेशों तक में भवन-निर्माण के लिए भेजी जाती थी, विविध प्रकार के चन्दनों और फल-पुष्प-पत्रों से प्रसाधन की सामग्रियाँ वनाई जाती थी और वन्य पशुओं के चर्म और ऊन से परिधान वनते थे। इस प्रकार राष्ट्र की औद्योगिक प्रगति के लिए भी वनों का महत्त्व रहा है।

भारतीय संस्कृति के लिए प्रकृति से अलंकृत गाँवों का महत्त्व वनों की भाँति रहा है। नगरों को आध्यात्मिक सस्कृति के प्रतिकूल माना गया है।

भारतीय प्रकृति की चारुता ऋतुओं के साथ वदलती रहती है। छः ऋतुओं में क्रमशः छः वार सारे प्राकृतिक वातावरण का परिवर्त्तन सा होता है। प्रायः सभी

---

1. For India to force herself along European lines of growth would not make her Europe, but only a distorted India.

That is why we must be careful to-day to try to find out the principles, by means of which India will be able for certain to realise herself. That priciple is neither commercialism nor nationalism. It is universalism. It is not merely self-determination, but self-conquest and self-dedication. This was recognised and followed in India's forests of old; its truth was declared in the Upanishads and expounded in the Gita; the Lord Buddha renounced the world that he might make this truth a house-hold word for all mankind, ...

—*The Message of the Forest.*

ऋतुओं की प्रधान विशेषता रही है कि वे कभी भी इतनी कठोर नहीं होतीं कि लोगों को बाहर निकलने में कठिनाई हो या उन्हें अपने घर के कोने में दुबक कर बैठना पड़े। कोई भी ऋतु इतनी दुःसह नहीं होती कि मानव को भोजन-पान तथा वस्त्र सम्बन्धी विशेष आयोजन किये बिना जीवन दूभर या असम्भव हो जाय। जहाँ तक जलवायु का सम्बन्ध है, प्राचीन भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में आज की अपेक्षा अधिक वर्षा होती थी और गर्मी भी कम पड़ती थी।[१]

विभिन्न ऋतुओं मे प्रकृति की मनोहारिता का जो स्वरूप होता था, उसका निरूपण तत्कालीन कवियों और चित्रकारों की कृतियों में आज भी प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि मे कालिदास का ऋतुसंहार दर्शनीय है।

राजनीतिक मान्यताएँ

प्राचीन भारत मे प्रायः आदिकाल से ही राजा को देवताओं के समकक्ष माना गया है। जिस प्रकार देवता लोककल्याण मे तत्पर रहते हैं, वैसे ही राजाओं को भी प्रजा के अभ्युदय के लिए निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए---यह भारतीय राजनीतिक जीवन की प्रथम मान्यता रही है। आदर्श राजाओं ने अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व की शिक्षा इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की चरित-गाथा से ग्रहण की है। भारतीय कल्पना के अनुसार इन्हीं का अंशावतार राजा भी होता है।

संस्कृति का संरक्षक होने के नाते राजा प्रजा के जीवन को वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल सुमर्यादित करता था और इस दिशा में सफलता पाने के लिए अपने प्रयत्नों से सभी वर्णों और आश्रमों के लोगों के सुख और सुविधाओं के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व के समुचित विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी होता था। साहित्यिक और ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत में उपर्युक्त प्रेरणाओं से प्रोत्साहित राजा समय-समय पर होते आये हैं। राम, युधिष्ठिर, अशोक, विक्रमादित्य, हर्ष और भोज आदि का आदर्श भारतीय राजनीतिक जीवन में प्रायः सदैव प्रतिष्ठित रहा है।

---

१. उदाहरण के लिए प्राचीन सिंधु-प्रदेश को लीजिए। आज से ५,०००. वर्ष पहले इस प्रदेश की जलवायु में गेंडे और व्याघ्र रह सकते थे। इस प्रदेश की नागरिक सभ्यता के निर्माण में करोड़ों ईंटों की आवश्यकता पड़ती थी, जो अधिक वर्षा वाले प्रदेश में उत्पन्न वनों की लकड़ी से पकाई जाती होगी। आज इस प्रदेश में १२०° ताप ग्रीष्म ऋतु मे होता है और केवल छः इंच पानी बरसता है। इससे पूर्णतया भिन्न जलवायु प्राचीन काल में थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय अथवा मुगलों के शासन-काल में भी इस प्रदेश की जलवायु आज से सर्वथा भिन्न थी। देखिये *S. Piggott: Prehistoric India pp. 134--135*

भारतीय राजनीतिक जीवन की रूप-रेखा प्रायः इतनी सुव्यस्थित थी कि मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य विदेशी शासकों ने भारत में उसी भारतीय शासन-पद्धति को अपनाया। ग्रीक, शक, कुशन, हूण आदि राजाओं की नीति पूर्णतया भारतीय रही। यही कारण है कि प्राचीन काल में भारतीय सांस्कृतिक जीवन की शृङ्खला अटूट रही।

ऐतिहासिक संघटन

भारत की प्राचीन संस्कृति की रूप-रेखा के निर्माण में ऐतिहासिक परिस्थितियों का महत्त्व सुदूर प्राचीन काल से ही रहा है। वैदिक साहित्य के उल्लेखों के अनुसार भारत में अनेक भाषाओं के बोलने वाले तथा अनेक धर्मों (संस्कृतियों) के लोग निवास करते थे।[1] इन सभी लोगों के पारस्परिक मेल-जोल और सम्मिश्रण का परिणाम हुआ कि एक राष्ट्रीय संस्कृति बनी, जो हिन्दू-संस्कृति है और एक राष्ट्र-भाषा बनी, जो संस्कृत है।

वैदिक साहित्य में देव, असुर, आर्य, राक्षस, गन्धर्व, नाग आदि जातियों की चरित-गाथा के उल्लेख मिलते हैं।[2] इनके अतिरिक्त अन्य पहाड़ी या जंगली सैकड़ों जातियों के नाम और साधारण परिचय बौद्ध साहित्य, रामायण, महाभारत, नाट्य-शास्त्र आदि में मिलते हैं।[3] आधुनिक नृतत्त्व-शास्त्र के आचार्यों ने वैज्ञानिक अनुशीलन के आधार पर निर्णय किया है कि भारत में आर्यों के अतिरिक्त नेग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रा-लायड, मंगोल, भूमध्यसागरीय, द्राविड़ आदि वर्गों का सम्मिश्रण है। इनमें से प्रत्येक वर्ग की अपनी विशेष सत्ता और संस्कृति थी। आज इन सबका अस्तित्व केवल वैज्ञानिकों के लिए ही रह गया है। हिन्दू-संस्कृति की विशाल धारा में इन सभी संस्कृतियों का संगम हुआ और सभी वर्ग एक हिन्दू-समाज में घुल-मिल गये।

१—जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्
अथर्व० १२. १. ४५

२. शतपथब्राह्मण १३. ४.३

३. उदाहरण के लिए देखिए रामायण अरण्यकाण्ड ११. ९१ के अनुसार देवों के अतिरिक्त यक्ष, नाग आदि अगस्त्य के आश्रम में तप करते थे। महाभारत शान्तिपर्व ६५वें अध्याय में इस प्रकार की कुछ जातियों के नाम यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कंक, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौण्ड्र, पुलिन्द, रमठ, काम्बोज आदि मिलते हैं। इन सबको दस्युजीवी कहा गया है। दस्युजीवी का अर्थ है आर्येतर संस्कृति के अनुयायी।

ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार प्राचीन भारत में ग्रीक, शक, कुशन, हूण आदि वर्गों की संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति से संगम हुआ। आठवीं शती के पश्चात् इस्लामी संस्कृति का प्रसार भारत में आरम्भ हुआ। इस संस्कृति के अनुयायियों में कुछ ऐसे धर्मान्ध शासक भी थे, जिन्होंने भारतीय संस्कृति की उपेक्षा ही नहीं की, अपितु उसे मिटाने का भी प्रयास किया।

महापुरुषों का प्रभाव

समय-समय पर भारतीय संस्कृति के उन्नायक कुछ महापुरुष होते आये हैं, जिनके व्यक्तित्व की अमिट छाप परवर्ती संस्कृति पर पड़ी है। सम्भव है, वैदिक देवताओं में से कुछ अपने युग के संस्कृति-निर्माता महापुरुष ही रहे हों। इन्द्र, शिव, विष्णु, वरुण आदि के स्वरूप का जो निरूपण वैदिक काल से ही भारतीय साहित्य में मिलता है, उससे प्रकट होता है कि वे वास्तव में अपने युग के संस्कृति-निर्माता ही थे और कालान्तर में उनके व्यक्तित्व को दिव्य गुणों से समन्वित करके उन्हें वैसे ही 'देवता' मान लिया गया जैसे राम, कृष्ण और गौतम आदि महापुरुषों को विष्णु के अवतार रूप में समादृत किया गया। शिव, विष्णु और गौतम के अवतारों की चरित-गाथा एवं उनके व्यक्तित्व से सम्बद्ध धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति के प्रायः सभी क्षेत्रों में व्यापक रहे हैं। वैदिक देवताओं और ऋषियों को लोगों ने अपना पूर्वपुरुष माना।[1]

प्रारम्भिक तत्त्वानुशीलन का सर्वोच्च परिणाम उपनिषदों में संगृहीत किया गया। इसके प्रवर्तक श्रेष्ठ विद्वान् याज्ञवल्क्य, जनक, अजातशत्रु आदि हैं। निःसन्देह ऋषियों का वेदान्त-दर्शन तथा उनके तपोमय जीवन की साधना सदा के लिए भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि बन कर रही। इसी ऋषि-परम्परा में जैन संस्कृति के तीर्थंकरों तथा बौद्ध संस्कृति के अनेक बोधिसत्त्वों का अभ्युदय हुआ। इन दोनों संस्कृतियों के सर्वोच्च उन्नायक महावीर और गौतम बुद्ध की विचार-धारा आज भी भारतीय जीवन को अनुप्राणित करती है। इसी परम्परा में परवर्ती युग में शंकर, रामानुज आदि आचार्यों ने भारतीय संस्कृति के सनातन प्रकाश को अभिनव प्रदीप्ति प्रदान करके राष्ट्र को तामसिक प्रवृत्तियों में गिरने से बचाया था।

कला और विज्ञान के क्षेत्रों में भी अनेक महापुरुषों का आविर्भाव हुआ, जिनकी कीर्ति की अमर लता सदैव प्रफुल्लित रही। इनमें से अनेक महापुरुषों की केवल कृतियाँ उपलब्ध होती हैं, नाम नहीं मिलते। सिन्धु-सभ्यता के शिल्पाचार्य, अजन्ता के चित्रकार, साँची के मूर्तिकार आदि अपने नामों से आज ज्ञात नहीं हैं, फिर

---

१. अन्तर इतना ही है कि योरप के लोग अपने पूर्वपुरुषों में उन वीरों की गणना करते हैं, जो डाकू थे।

भी उनकी कृतियाँ भारतीय इतिहास में सदा गौरवान्वित रही हैं। भारतीय आयुर्वेद के आचार्य चरक और सुश्रुत की परम्परा आज भी अक्षुण्ण है। व्याकरण के सर्वोच्च प्रतिष्ठापक पाणिनि और पतञ्जलि की कृतियों का अनुशीलन भारतीय वाणी के साथ ही अमर रहेगा और जिस भारतीय वैज्ञानिक ने 'शून्य' का आविष्कार किया था, उसका अप्रतिम आभार आज भी विश्व के गणितज्ञ मानते हैं।

स्वाभाविक मान्यताएँ

ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति के आदिकाल से ही भारतवासियों ने अपनी सभी उपयोगी वस्तुओं के लिए 'देव' उपाधि प्रदान की है। देव कोटि की परिधि अतिशय विस्तीर्ण रही है। साधारणतः यही कहा जा सकता है कि विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो देव नहीं है। उपनिषदों में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म है,, सर्वोपरि सत्य माना गया। वैदिक संहिताओं में ऋषियों को जो कुछ वर्णनीय प्रतीत हुआ. वह सब 'देवता' नाम से सम्बोधित किया गया। आचार्य, अतिथि, माता-पिता, पितृ-गण, ब्राह्मण, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, आकाश, वायु, जल, अग्नि, शब्द, सत्य आदि सब कुछ तो ऋषियों की दृष्टि में देव ही थे। निरुक्त के अनुसार 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो वा भवति' अर्थात् दान देने से, प्रज्वलित होने से, प्रकाश करने से अथवा स्वर्गलोक में निवास करने से देव नाम सार्थक होता है। इस व्याख्या से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी देवताओं में सर्वनिष्ठ किसी एक विशेष गुण का होना आवश्यक नहीं था।[1] पौराणिक युग म देवताओं की संख्या बढ़ती गई। इस प्रकार की मान्यता होने पर किसी भारतवासी के लिए सारा वातावरण दिव्य सत्ताओं से व्याप्त था। इस दिव्यता के सम्पर्क में मानव का व्यक्तित्व अपने-आप दिव्य गुणों से समन्वित हो सकता था।

भारतवासियों में प्राचीन वस्तुओं के प्रति असीम अनुराग रहा है। यही कारण है कि कोई भी सांस्कृतिक धारा कभी भी सर्वथा लुप्त न हो सकी, भले ही वह रूपान्तरित होकर अन्य सांस्कृतिक धाराओं में मिल गई हो। आज भी प्राचीन काल के जीवन के आदर्श, वेश-विन्यास, धर्म, रहन-सहन और आचार-व्यवहार की परम्परा

---

१. राधाकृष्णन् ने देव शब्द के सम्बन्ध में लिखा है—

The word "deva" is very elusive in its nature and is used to indicate many different things. 'Deva is one who gives to man." God is deva because He gives to the whole world. The learned man who imparts knowledge to fellowmen is also a deva. The sun, the moon, the sky are devas because they give light to all creation. Father and mother and spiritual guides are also devas Even a guest is a deva.--*Indian Philosophy Vol I pp. 72-73.*

ठीक उसी रूप में पायी जा सकती है, जो सहस्रों वर्ष पहले साधारण रूप से प्रचलित थी।[1] प्राचीन युग के वीरों की पराक्रम-गाथा और महर्षियों के ज्ञान-दर्शन को सुनने और अपनाने के लिए समाज सदैव समुत्सुक रहा है। जहाँ तक साहित्यिक रचनाओं का सम्बन्ध है, भारत के महाकवियों ने प्रायः महाकाव्यों और नाटकों के लिए पुरातन वीरों के आख्यानों से कथा-वस्तु को चुना है।

दर्शन के क्षेत्र में भारत ने ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रस्तुत परिणामों को सर्वोच्च मान्यता नहीं प्रदान की। भारतीय धारणा के अनुसार इन्द्रियाँ अधिभौतिक तत्त्व से बनी हैं और इनकी पहुँच भौतिक वस्तुओं तक ही सीमित है। आध्यात्मिक तत्त्व का ज्ञान योग-दृष्टि से अथवा आत्मा के माध्यम से ही सम्भव माना गया है। इस प्रकार की अलौकिक दृष्टि से सम्पन्न ऋषियों की वाणी को आप्त वचन या परम प्रमाण की कोटि में रखा गया और उसे तर्क की परिधि से बाहर मानकर श्रद्धा की वस्तु कहा गया। पराविद्या की प्राप्ति के लिए श्रद्धा के साथ आप्त वचन और योग-दृष्टि को भी साधन माना गया। इस दृष्टि से आधिभौतिक या ऐन्द्रियक सुखों को सर्वाधिक स्पृहणीय न मानकर आध्यात्मिक आनन्द की सर्वोपरि प्रतिष्ठा करना भारतीय समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है।

ज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भारतीय आचार्यों में स्वभावतः विचार-स्वातन्त्र्य पाया जाता है। यही कारण है कि वैदिक दर्शन के अन्तर्गत षड्दर्शनों के मूल सिद्धान्तों तक में परस्पर विरोध मिलता है। जहाँ-कहीं अवसर मिला, धर्म और दर्शन के आचार्यों ने भारतीय या अभारतीय अन्य धर्मों और दर्शनों के उच्च सिद्धान्तों को आत्मसात् करके अपनी ज्ञान-निधि को समृद्धिशाली बनाने में संकोच नहीं किया। विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में दूसरों की उच्चतर प्रवृत्तियों को समादर की दृष्टि से देखना भारतीय स्वभाव की सहिष्णुता का परिचायक है।

प्रत्येक देश की संस्कृति के मूलाधार तथा सांस्कृतिक वातावरण की अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं। अतः प्रत्येक देश की संस्कृति की भी अपनी निजी विशेषताओं का होना स्वाभाविक है।[2] फलतः व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, प्रादेशिक, जातीय

१. येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ मनु० २. १७८

२. ऐसा होने पर भी किसी देश की संस्कृति किसी विपरीत परिस्थिति वाले देश में भी जा पनपती है। प्राचीन काल में ही भारतीय संस्कृति तत्कालीन विश्व में परिव्याप्त हुई, पर भारत में इस संस्कृति का जैसा विकास हुआ, वैसा अन्यत्र असम्भव ही रहा।

अथवा राष्ट्रीय संस्कृतियों की भी निजी विशेषताएँ होती हैं अथवा किसी एक ही राष्ट्र की विविध युगों की संस्कृतियों में से प्रत्येक की कुछ निजी विशेषताएँ होती हैं, यद्यपि उन सबमें एकसूत्रता का अनुसन्धान किया जा सकता है। इन्हीं आधारों पर भारत की सांस्कृतिक विशेषताओं का पर्यालोचन करें।

सांस्कृतिक विशेषताएँ

देवपरायणता

भारतीय संस्कृति की प्रथम विशेषता उसकी देवपरायणता रही है। भारतीय प्रगति के प्रायः सभी क्षेत्र देवताओं से सम्बद्ध हैं। एक ही पुरुष या ब्रह्म से समस्त चराचर सृष्टि का विकास मान कर दार्शनिक पद्धति पर चलते हुए उसी ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके मानव-जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य 'मुक्ति' की सम्भावना की गई। वैदिक कल्पना के अनुसार उसी एक देव 'ब्रह्म' की सत्ता इन्द्र, विष्णु, अग्नि, रुद्र आदि विविध दैवी सत्ताओं के रूप में प्रस्फुटित हुई है। इन देवताओं को यज्ञ, आराधना और पूजा के द्वारा प्रसन्न करके उनके प्रसाद से ही देवलोक या स्वर्ग में स्थान पाने की कल्पना भारतीय धर्म की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। देवताओं की कर्तव्य-परायणता आदर्श है।

भारतीय मानव की सारी प्रवृत्तियों पर देवों की छाप थी। वह देववाणी बोलता था। उसके लिए वेदों की साहित्यिक निधि भी देवों से ही प्राप्त हुई थी। वह अच्छा काम करता था, क्योंकि इससे देवता प्रसन्न होते हैं, बुरे कामों से डरता था क्योंकि बुरा काम करने वालों को देवता दण्ड देते हैं। गीता के अनुसार तो;

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९.२७

उसी भगवान् के लिए सब कुछ समर्पित कर देना है, अपने लिए कुछ भी नहीं है।

प्राचीन युग का ब्रह्मचारी ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्मसंस्थ होने के लिए तपोमय जीवन बिताता था, गृहस्थ ब्रह्मयज्ञ में शिष्य को ब्रह्मविषयक ज्ञान देता था, देव और पितृ-यज्ञों में देवों की अर्चना और तर्पण करता था, भूतयज्ञ में सभी प्राणियों के मौलिक दिव्य स्वरूप को देखते हुए उनके लिए भोजन देता था और अतिथि यज्ञ में अतिथि को विष्णु रूप जानते हुए उसका सत्कार करता था।[1] वानप्रस्थ मुनि तप और तत्त्व-ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को जानने का उपक्रम करता था और संन्यासी योग के द्वारा ब्रह्मसंस्थ होकर आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करता था।

---

१. ये ही गृहस्थ के पंच महायज्ञ हैं।

प्राचीन भारतवासी के लिए सब कुछ देव-कृपा से ही प्राप्त होता था। इसी मान्यता का उदाहरण गीता के नीचे लिखे श्लोक में है :—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी दैवी विधान की कल्पना की गई है। इसके अनुसार पुरुष (ब्रह्म) के मुख, बाहु, ऊरु तथा पाद से क्रमशः चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई।[1] भारत ने प्राचीन काल में शिल्प, कला तथा साहित्य के क्षेत्रों में जो कुछ प्रगति की, उसका अधिकांश देवपरक ही है।

भारत की देव संस्कृति के अतिरिक्त अदेव संस्कृति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। अदेव संस्कृति के अनुयायी बौद्ध और जैन सम्प्रदाय में उच्च तत्त्व दर्शनऔर आचार का विकास हुआ।

धर्मपरता

भारतीय संस्कृति में 'धर्म' शब्द की अभिव्यक्ति अतिशय व्यापक रही है। धर्म के अन्तर्गत प्रायः उन नियमों का समावेश किया गया है, जिनसे व्यक्ति के अभ्युदय के साथ ही समाज की आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रगति की सम्भावना हो। इस प्रकार जीवन के प्रथम श्वास से अन्तिम श्वास तक के प्रत्येक क्षण में मानव किस प्रकार व्यवहार करे अथवा उसके साथ दूसरे कैसा व्यवहार करें—यह धर्म ही बतलाता है। ऐसी परिस्थिति में मानव धर्म के द्वारा पदे-पदे नियन्त्रित है, पर धर्म का यह नियन्त्रण मानव को दास बनाकर उसकी उन्नति में बाधक नहीं होता, अपितु धर्म सांस्कृतिक उत्तराधिकार के रूप में वह अमूल्य निधि है, जिसके सहारे अनायास ही कोई पुरुष पर्याप्त ऊँचाई तक अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेता है। धर्म में प्रायः उन सिद्धान्तों का ही समावेश किया गया है जिनकी अनुभूति समाज के महापुरुषों को सत्य का प्रयोग करते समय हुई थी।

भारतीय धर्म-ग्रन्थों में निर्देश किया गया है कि मानव संस्कारों के द्वारा अपनी योग्यता किस प्रकार बढ़ाये, चार आश्रमों में अपने व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार करे, चारों वर्णों के लोग सामाजिक सुव्यवस्था के लिए कैसा व्यवहार करें, कैसा भोजन और पान व्यक्तित्व के विकास के लिये उपयोगी होता है, शरीर की शुद्धि कैसे की जाय, कैसे घर, गाँव या प्रदेश में रहा जाय, कृषि, पशु-पालन और व्यापार आदि कौन किस प्रकार करे, कौन से मनोरंजन परित्याज्य हैं, राजा

१. देखिये गीता ४.१३ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

देने पर दाता को मरने के पश्चात् उतने ही जलते हुए लोहे के गोले खाने पड़ते हैं, जितने ग्रास उन अविद्वान् ब्राह्मणों ने श्राद्ध में खाये हों।[1]

विद्वान् स्नातक को मनु ने समाज का सर्वोच्च अभिनन्दनीय व्यक्ति मानकर नियम बनाया है कि सभी अन्य लोगों की अपेक्षा स्नातक और राजा बढ़ कर मान्य हैं, पर इन दोनों में भी स्नातक राजा के द्वारा सम्मान पाने योग्य है। राजा और स्नातक दोनों मधुपर्क-विधि से सत्कार किये जाने योग्य माने गये।[2]

मनु ने विद्या की प्रशंसा करते हुए विवेचन किया है कि ब्राह्मण के लिये तप और विद्या दोनों निःश्रेयस्कर हैं। इनमें से तप के द्वारा वह पाप को नष्ट करता है और विद्या के द्वारा अमर पद पाता है। ज्ञान की महिमा की इसी दिशा का निर्देशन करते हुए मनु ने कहा है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।। १२.१०२

(वेद-शास्त्र आदि के तत्त्वों को जानने वाला विद्वान् चाहे किसी भी आश्रम में क्यों न हो, वह इस लोक मे रहते हुए ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।)

वेदज्ञ सभी कर्मो से उत्पन्न दोषों को जला देता है, जैसे प्रखर अग्नि हरे वृक्षों को भी जला देती है। वेदाध्ययन से मनुष्य सभी पापों से निवृत्त हो जाता है।[3] श्रुति और स्मृति ब्राह्मण की आँखें हैं। एक के बिना वह काना और दोनों के बिना अन्धा है।[4]

पौराणिक युग मे वेदों का अध्ययन पूर्ववत् प्रतिष्ठित रहा। विष्णु-पुराण के अनुसार वेदों का अध्ययन उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना वस्त्रों को धारण करना। वेद मानवता के लिए परिधान हैं। जो व्यक्ति मोहवश इनका परित्याग करता है, वह नंगा और पापी है।[5] शूद्र भी ब्रह्मचर्य से ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[6]

राजाओं के द्वारा स्नातकों और विद्वानों को बहुविध सुविधायें प्राप्त होती थीं। उन्हें समय-समय पर अपनी उत्कृष्टता का प्रमाण देने पर पुरस्कार और दान दिये जाते थे। उच्चकोटि के विद्वान् राज-कर से सर्वथा मुक्त होते थे। राजा का

---

१. मनु० ३.१३३ २. मनु० २.१३९, ३.११९
३. मनु० १२.१०१ ४. अत्रिस्मृति ३४९; हारीतस्मृति १.२४
५. विष्णुपुराण ३.१७ ५–८
ज्ञान मेव परं ब्रह्मज्ञानं बन्धाय चेष्यते।
ज्ञानात्मक मिद विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम्।। २.६.६८
६. भागवत ९.२.९–१४

कर्तव्य होता था कि विद्वान् स्नातकों को समाज में सुव्यवस्थित विधि से बसाने का प्रबन्ध करे।[1]

बौद्ध संस्कृति में भी उच्चकोटि के विद्वानों को संघ में शारीरिक सुख और सुविधाओं के अतिरिक्त सार्वजनिक विधि से सम्मानित करने का आयोजन किया जाता था। छः शास्त्रों का शिक्षण देने वाला विद्वान् जब हाथी पर चढ़ कर यात्रा करता था, तो उसके साथ अनुचर भी नियुक्त होते थे। विद्वानों के विवाद के अवसर पर विजयी विद्वानों को हाथी पर चढ़ा कर सम्मानित किया जाता था।[2] राजा का दास भी यदि विहार में रहकर व्यक्तित्व का विकास करता था तो वह राजा के लिए अभिवादनीय बन जाता था।[3]

उपर्युक्त मान्यताओं के अनुरूप विद्वानों को राजा से लेकर दीन-हीन लोगों तक का आदर प्राप्त हुआ। कालिदास ने रघुवंश में राजा रघ के द्वारा महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स के आतिथ्य का जो वर्णन किया है, वह भले ही आदर्श माना जाय, पर उससे कम से कम इतना तो सिद्ध होता ही है कि समाज के नेताओं और अधिकारियों की दृष्टि मे विद्वान् को सर्वोच्च सम्मान मिला था। निःसन्देह उस युग में विद्या का पलड़ा ऐश्वर्य और शक्ति के पलड़े से अधिक गरिमामय माना गया।

प्राचीन काल में विद्याध्ययन केवल गौणरूप से ही धन कमाने के लिए था। विद्या के द्वारा मानव प्रधान रूप से अपनी वैयक्तिक चेतनाओं को जागरित करके तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करके आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए प्रवृत्त होता था। ऐसे महामानव के लिए आधिभौतिक ऐश्वर्य की मनोहारिता बहुत अधिक स्पृहणीय नहीं थी। दिग्विजयी राजा भी उसकी चरण-रज लेकर अपने को धन्य मानता था। ज्ञान का आनन्द निःसीम माना गया था, ब्रह्मज्ञान अनुपम समझा गया। इस अपरिमित आनन्द-सागर में अवगाहन करने के लिए उत्सुक होकर भारतीय समाज—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध ने लौकिक विभूतियों को तिलाञ्जलि दी और भिक्षुक का भी जीवन अपनाकर ज्ञान का अर्जन और वितरण किया। तत्कालीन समाज ने नतमस्तक होकर उन महामनीषियों की पूजा की और अपना सर्वस्व उनके लिए समर्पित कर दिया। ऐसी स्थिति में उन विद्वानों को अनागार और दिगम्बर होने पर भी यह प्रतीत न हुआ कि घर वाले अथवा स्वर्ण-जटित वस्त्र वाले उनसे

---

१. राजतरंगिणी ४.४६२; ५.३२,३३,२०३,२०४; ७.६३४–६३७; ८.२३९६

२. वाटर्स-ह्वेनसाँग भाग १ पृ० १६२

३. दीघनिकाय १.२

अच्छे हैं। अवश्य ही उन विद्वानों का समाज पर यह प्रभाव पड़ कर रहा कि अनेक राजाओं और राजकुमारों ने अपने वैभव और ऐश्वर्य के पद को अङ्गीकार न करके जीवन भर ज्ञान-मार्ग के पथिक रह कर सरल जीवन विताया और अपने पवित्र जीवन के द्वारा ज्ञान की महिमा को उज्ज्वल किया।

अध्ययन-काल

वैदिक युग मे ब्रह्मचर्याश्रम का आरम्भ अथवा वैदिक साहित्य के अध्ययन का आरम्भ लगभग १२ वर्ष की अवस्था में होता था। उस युग में वेदों का ही अध्ययन प्रधान था।[1] वारह वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदों का अध्ययन चलता रहता था, अथवा वैदिक ज्ञान के प्रति अभिरुचि रहती थी, तब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते थे। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति से १०१ वर्षो तक शिक्षा ग्रहण की थी।[2] भरद्वाज ने जीवन के तीन भाग ७५ वर्ष तक वेदों का अध्ययन किया और चौथे भाग में भी ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए अनुष्ठान किया था।[3] गोपथ-ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य के लिए ४८ वर्ष नियत किये गये हैं। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का अध्ययन पर्याप्त माना गया। ऐसी परिस्थिति मे कम से कम १२ वर्ष का समय ब्रह्मचर्य के लिए उचित माना गया।[4] वेदों के अध्ययन के क्रम से १२, २४, ३६ और ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया जा सकता था। नियम था कि अधिक से अधिक वेदों का अध्ययन करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोग गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहते थे, वे प्रायः १२ वर्ष तक वेदाध्ययन करने के पश्चात् स्नातक वन जाते थे, क्योंकि ४८ वर्षो तक विद्यार्थी-जीवन विता लेने के पश्चात् ६० वर्ष की अवस्था में विरले ही विद्वान् पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते होंगे। अवश्य ही वे या तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर जीवन-भर अध्ययन-अध्यापन में तत्पर रहते होंगे या संन्यासी वन जाते होंगे। वैदिक काल के अन्तिम युग में १२ वर्षों में ही सभी वेदों मे स्नातक पारङ्गत होने लगे थे।[5]

मनु ने तीनों वेदों के अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य-काल की अवधि ३६ वर्ष निर्धारित की है, पर साथ ही कहा है कि १८ वर्ष, नव वर्ष या अभीष्ट ज्ञान की प्राप्ति

---

१. छान्दोग्य उ० ६.१.१–२ २. छा० उ० ८.११.३

३. भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह इन्द्र उपव्रज्योवाच—यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.११

४. गोपथ २.५

५. श्वेतकेतु के सम्बन्ध में कहा गया है—स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य···छान्दोग्य ६.१.२

के समय तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए।[1] मनु के युग में ब्रह्मचर्याश्रम का आरम्भ पाँच वर्ष की अवस्था से लेकर बारहवें वर्ष तक हो सकता था। इस युग में विद्यार्थी साधारणतः २५ वर्ष की अवस्था में स्नातक बन कर गृहस्थाश्रम के अधिकारी हो जाते थे।[2]

दूर-दूर के आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी आयु बढ़ जाने पर ही जाते थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए प्रायः १६ वर्ष की अवस्था के विद्यार्थी जाते थे।[3] सोलह वर्ष के पहले तक विद्यार्थी पास-पड़ोस के आचार्यों से शिक्षा लेकर फिर प्रसिद्ध और दूरस्थ आचार्यों के ज्ञान-सागर में अवगाहन करने के लिए चल देते थे।[4]

पौराणिक युग मे विद्यार्थी-जीवन की तपोमय प्रवृत्तियों को अपनाने में असमर्थ लोगो के लिए सुविधाजनक मार्ग निकाला गया। परिणामतः ब्रह्मचर्य की अवधि एक वर्ष या तीन दिन तक भी मान ली गई।[5] अर्थशास्त्र मे राजकुमारों को केवल १६ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचारी रहने का विधान मिलता है।[6]

गृहस्थों का अध्ययन

कम से कम उपनिषद्-काल मे ब्रह्मचारी होने के लिए अविवाहित होना आवश्यक नही था और न कोई अवस्था सम्बन्धी प्रतिबन्ध ही था। कोई गृहस्थ भी ज्ञान की खोज में अध्ययन करने लगता तो उसे ब्रह्मचारी कहा जाता था। इस युग में श्वेतकेतु का पिता देवयान और पितृयान विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए पाञ्चाल के राजा प्रवाहण के समीप ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए गया था।[7] बौद्ध संस्कृति मे भी कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके किसी

---

१. मनु० ३.१ २. मनु० ४.१ ३ असातमन्त जातक ६१

४ लोगों की धारणा थी कि दूरस्थ आचार्यों से पढ़ना अच्छा है, यद्यपि उनके समकक्ष आचार्य निकट हों तो भी दूर जाना चाहिए। बृहस्पति ने इसका कारण समझाते हुए कहा है—देशान्तरवासेन जितक्लेशो भवति—बार्हस्पत्य सूत्र ३.२

५. श्रीमद्भागवत ३.४२ ६. अर्थशास्त्र १.५.६

७. बृहदारण्यक उप० ६.२.४। इसी प्रकार प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल, जो महाशाल, महाश्रोत्रिय आदि थे और गृहस्थ थे, आध्यात्मिक मीमांसा करते हुए किसी निश्चित परिणाम पर न पहुँचे तो वे सभी समित्पाणि होकर राजा अश्वपति के पास शिक्षा लेने के लिए शिष्य-भाव से पहुँचे। छान्दोग्य ५.११। परवर्ती युग में गृहस्थों के ब्रह्मचारी बनने की सुविधा पर रोक लगा दी गई।

यथा यो गृहस्थाश्रममास्थाय ब्रह्मचारी भवेत्पुनः।
न यतिर्न वनस्थश्च सर्वाश्रमवर्जितः॥ दक्षस्मृति १.६

अवस्था का भी होने पर बुद्ध, संघ और धर्म की शरण में जाकर विद्याध्ययन में लग सकता था। जैन आचार्यों ने भी समग्र जीवन को विद्याध्ययन के लिए उपयुक्त माना।

विद्या के अधिकारी

प्राचीन काल में प्रायः प्रत्येक आचार्य की सर्वप्रथम कामना होती थी कि मेरे शिष्यों में से अधिक से अधिक विद्वान् बनकर मेरे सुयश को प्रख्यात करें और वे भी आचार्य बनकर अन्य शिष्यों को पढ़ायें, जिससे शिष्य-परम्परा से मेरा ज्ञान अमर रहे। ऐसी परिस्थिति में शिष्यों का चुनाव करने में आचार्य सदैव सावधान रहते थे। आचार्य की योग्यता इस बात में भी मानी जाती थी कि वह योग्य शिष्यों को ग्रहण करे।[1]

वैदिक काल में ही जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य प्रायः उन्हीं को अपनाते थे। जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी, उन्हें हल-फाल या ताने-बाने के काम में लगना पड़ता था।[2] बालकों की मनोवृत्ति परखने की रीति उस समय थी। मनोवृत्ति देखकर ही उन्हें समुचित व्यवसाय में लगाया जा सकता था।[3]

विद्यार्थी को अपनाने के पहले आचार्य उसके शील और चरित्र की परीक्षा कर लेता था। इस सम्बन्ध में प्राचीन काल से आचार्यों के प्रति विद्या-देवी की प्रार्थना रही है——मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी निधि हूँ। मुझे असूया करने वाले, कुटिल और असंयमी को मत दो, तभी मैं वीर्यवती रहूँगी। उसी को विद्या प्रदान करो जो पवित्र हो, प्रमाद नहीं करता हो, मेधावी हो और ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता हो।[4] गुरु-द्रोही को मुझे न दो।[5]

---

१. देखिये मालविकाग्निमित्र का प्रथम अंक——विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघव प्रकाशयति।

२. ऋग्वेद १०.७१.९ ३. ऋ० ९.११२.१

४. आचार्य साधारणतः ज्ञान देने के पहले विद्यार्थी को उपनयन-विधि से ब्रह्मचारी बना लेता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्यार्थी में उच्च ज्ञान पाने की पात्रता उदय होती है। कभी-कभी अधिक अवस्था के लोगों को, जो पहले से ही विद्वान् होते थे, शिक्षा देने के लिये ब्रह्मचारी बनना आवश्यक नहीं माना जाता था। ऐसे विद्यार्थियों की ब्रह्मचारी बनने की आकांक्षा होने पर भी उनसे आचार्य कहता था——मैं तुम्हें ज्ञान दूँगा। तुम्हारा ब्रह्मचारी बनना आवश्यक नहीं है। शतपथ ११.४.१.९

५. निरुक्त २.४; वसिष्ठधर्मसूत्र २.८.९ मनुस्मृति २.११४–११५

उपनिषदों में विद्यार्थी को अपनाने के पहले उसकी परीक्षा करने के वर्णन मिलते हैं। इन्द्र और वैरोचन को आचार्य के समीप शिक्षा ग्रहण करने की बातचीत होने के पहले ही ३२ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहना पडा।[१] विद्यार्थी की योग्यता का परिचय पाने के लिए आचार्य उसका कुल, गोत्र, नाम आदि पूछते थे। सत्यकाम में विद्यार्थी बनने के लिए उत्साह तो था, पर उसे अपने गोत्र का ज्ञान माता से पूछने पर भी न हो सका। आचार्य के पूछने पर सत्यकाम ने माता के तत्सम्बन्धी अज्ञान की चर्चा कर दी। आचार्य को विद्यार्थी के सत्य बोलने पर प्रसन्नता हुई। सम्भवत: सत्यशीलता का ही परिचय गोत्र जानने से भी मिलता। आचार्य ने कहा—तुमको अपना विद्यार्थी बनाऊँगा। तुम सत्य से विचलित नहीं हुए। इस प्रकार आचार्य को सन्तोष हुआ कि सत्य से विचलित न होने वाला विद्यार्थी शिष्य बना लेने योग्य है और ऐसा सत्यवादी ब्राह्मण ही हो सकता है।[२] पिप्पलाद ने कौसल्य को प्राणविद्या की शिक्षा के योग्य इसी कारण माना कि वह ब्रह्मनिष्ठ था।[३]

मनीषियों का विश्वास था कि उच्च आध्यात्मिक ज्ञान साधारण लोगों को नहीं देना चाहिए। कठोपनिषद् के अनुसार आचार्य यम ने जब देख लिया कि नचिकेता की प्रवृत्ति लोकनिष्ठ नहीं है—वह प्रिय वस्तुओं को अथवा मनोरम रूप वाली वस्तुओं को ठुकरा चुका है, तभी उन्होंने ब्रह्मज्ञान विषयक व्याख्यान आरम्भ किया।[४]

अर्थशास्त्र के अनुसार शिक्षा पात्र को ही योग्य बनाती है।[५] शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह तथा तत्त्व को ढूंढ़ निकालने में लगी हुई बुद्धि वाले व्यक्ति को विद्या आती है, दूसरों को नहीं।[६]

साधारणत: स्मृतियों का मत है कि योग्य विद्यार्थियों को ही शिक्षा देनी चाहिये।[७] इस प्रकरण में योग्यता का अर्थ विद्यार्थी की प्रतिभा और सच्चरित्रता है। याज्ञवल्क्य ने विद्यार्थी की योग्यता के उपर्युक्त मानदण्ड के अतिरिक्त उसके

१. छान्दोग्य ८.७.३

२. छान्दोग्य ४.४

३. प्रश्न उ० ३.२

४. कठोपनिषद् प्रथमवल्ली २०–२९ तथा द्वितीय वल्ली। विद्यार्थियों की ऐसी परीक्षा के लिए देखिये कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् ३.१। इस उपनिषद् (१.१) के अनुसार मान का न होना विद्या प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च गुण है।

५. कालिदास के अनुसार भी 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति' रघु० ३.२९

६. अर्थशास्त्र १.५.४-५ ७. मनु २.११३; हारीत १.२०

स्वास्थ्य और गुरुभक्ति का उल्लेख किया है।[1] स्वस्थ व्यक्ति ही विद्या-प्राप्ति के तपोमय जीवन और श्रम के लिए समर्थ हो सकता है। गुरुभक्ति का अध्ययन की सार्थकता पर प्रभाव पड़ता ही है। भक्ति और श्रद्धा साथ होती हैं और इनसे समन्वित विद्यार्थी गुरु के व्यक्तित्व की गरिमा को समझता है तथा गुरु के शब्दों को उचित महत्त्व देते हुए उन्हें ग्रहण करता है।

पौराणिक युग में विद्याध्ययन के अधिकारी की योग्यता का मानदण्ड पूर्ववत् मिलता है। कृतज्ञ, द्रोह न करने वाले, मेधावी, गुरु बनाने वाले, विश्वासपात्र और प्रिय व्यक्ति, अध्यापन के योग्य समझे जाते थे।[2] स्कन्दपुराण के अनुसार साधु, विश्वास-पात्र, ज्ञानवान्, धन देने वाले, प्रतिभाशाली, दोषदृष्टि न रखने वाले तथा पवित्र विद्यार्थी को धार्मिक कर्तव्य समझकर पढ़ाने का विधान था।[3]

उपर्युक्त विवेचन से कदापि यह नहीं समझना चाहिए कि मन्द बुद्धि बालकों को विद्यालयों मे स्थान नही मिल पाता था। उन्हीं को देखकर तो भवभूति ने लिखा है—

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्या यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्ति करोत्यपहन्ति वा।
भवति च तयोर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः॥[4]

बौद्ध संस्कृति में विद्यार्थी का सदाचारी होना आवश्यक गुण माना जाता था। तत्कालीन आचार्यों का विश्वास था कि दुष्ट स्वभाव का शिष्य कड़े जूते के समान है, जो क्रय किये जाने पर भी पैर को काटता है। दुष्ट शिष्य आचार्य से जो ज्ञान ग्रहण करता है, उसी से आचार्य की जड़ काटता है।[5] भिक्षुओं को उच्चतर शिक्षण देने के लिए जो उपसम्पदा-संस्कार होता था, उसके पहले ही संघ के सभी निवासियों का मत लिया जाता था। यदि संघ पक्ष में नहीं होता था तो उस भिक्षु की उपसम्पदा नहीं हो सकती थी। गौतम ने नियम बनाया कि ढोंगी, ढीठ, मायावी या गृहस्थों की निन्दा करने वाले भिक्षुओं के लिए संघ में स्थान नहीं है। गौतम ने आदेश दिया कि गृहासक्त, पापेच्छु, पापसंकल्पी भिक्षु को बाहर निकाल दिया जाय।[6]

---

१. या स्मृति १.२८ २. पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ५३वाँ अध्याय

३. काशीखण्ड पूर्वार्ध ३६.१५

४. उत्तररामचरित २.४ ५. उपाहन जातक २३१

६. सुत्तनिपात चुन्दसुत्त तथा धम्मियसुत्त। चुल्लवग्ग ९.१.४ मे उपर्युक्त मत का समर्थन है।

संघ में विद्याध्ययन करने के लिए प्रवेश पाने वाले भिक्षुओं का छूत के रोग से मुक्त होना, ऋण के भार से मुक्त होना, राजा की सेवा में न होना, माता-पिता की स्वीकृति होना, अवस्था का कम से कम २० वर्ष का होना आदि आवश्यक गुण थे।[1]

बौद्ध महाविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए पहले से ही कुछ विषयों का ज्ञान अपेक्षित था। नालन्दा के विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए द्वार-पण्डितों के द्वारा ली हुई परीक्षा में सफल होना पड़ता था। इस परीक्षा में लगभग २०% विद्यार्थी सफल होते थे। प्रवेश-परीक्षा प्रायः मौखिक होती थी। विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में छः प्रकाण्ड पण्डित द्वार पर प्रतिष्ठित थे।[2]

जैन आचार्यों ने विद्यार्थी की योग्यता के लिए उसका आचार्य-कुल में रहना, उत्साही, विद्याप्रेमी, मधुरभाषी और मधुरकर्मा होना आवश्यक बतलाया।[3]

आर्येतर वर्णों का विद्याधिकार

वैदिक काल में ही आर्येतर जातियों का आर्य-भाषा और संस्कृति में निष्णात होकर वैदिक मन्त्रों की रचना करने का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में वैरोचन नामक असुर के साथ ही प्रजापति को आचार्य बनाने की चर्चा मिलती है। वैरोचन ३२ वर्षों तक ब्रह्मचारी बन कर प्रजापति के आचार्यत्व मे रहा। शुक्राचार्य असुरों के आचार्य थे। इन सब उल्लेखों के आधार पर इतना निश्चित प्रतीत होता है कि कम से कम आरम्भिक युग में आर्यों ने आर्येतर जातियों के लिए विद्यादान करने में संकोच नहीं किया।[4]

शूद्रों का विद्याधिकार

वैदिक काल के पश्चात् जब आर्यों के सम्पर्क में आई हुई प्राय. सभी जातियाँ वर्ण-व्यवस्था में गुँथ गई तो वैदिक साहित्य के पढ़ने-लिखने का अधिकार प्रायः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को मिला। शूद्रों की वैदिक शिक्षा पर यह रोक प्रधानतः स्मृति-काल में लगी। वैदिक साहित्य साधारणतः आर्य धर्म का याज्ञिक साहित्य था। शूद्रों को आर्यों के याज्ञिक विधान में विशेष अभिरुचि नहीं थी। उन्होंने

---

१. चुल्लवग्ग १०.१७.२ २. वाटर्स-ह्वेनसांग भाग २ पृ० १६५

३. उत्तराध्ययन ११.१४

४. वा० रामायण सुन्दरकाण्ड ४.१३ के अनुसार लङ्का मे बसने वाली आर्येतर जाति स्वाध्याय करती थी। वाल्मीकि ने इस जाति के सम्बन्ध में लिखा है :—

बुद्धिप्रधानान्रुचिराभिधानान्संश्रद्धधानाञ्जगतः प्रधानान्। सुन्दरकाण्ड ५.१५

आर्य-संस्कृति और धर्म को अपनाते हुए भी अपनी सनातन संस्कृति और धर्म का परित्याग नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में उनको वैदिक साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा नही थी। सम्भवतः यही कारण था कि उन्हें वैदिक साहित्य पढ़ने का अधिकार नहीं मिला।

भारत मे सुदूर प्राचीन काल से ही वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक धाराओं और विज्ञान तथा कला की शाखाओं का अभ्युदय हुआ है। इनमें से पुराणो की साहित्यिक धारा का स्थान प्रमुख है। पुराणों में भारतीय आर्येतर सस्कृति और धर्म का स्वरूप मिलता है। शूद्रों के लिए सदा से ही पुराणों के अध्ययन की सुविधा थी। साथ ही दर्शन की विविध प्रणालियों के अध्ययन के लिए भारत की सभी जातियो को प्रोत्साहित किया गया।

शूद्रो की शिक्षा और उनकी ज्ञान-समृद्धि का उल्लेख प्राचीन साहित्य मे प्रायः मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र--चारों जातियों के समावर्तन-सस्कार के विधान दिये गये है।[1] जातक-काल में ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके हैं, जो उच्चकोटि के दार्शनिक और विचारक थे।[2] महाभारत मे सभी वर्णो के लोगो को सस्कृत भाषा और साहित्य सम्बन्धी पूर्वकालीन प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कहा गया है :--

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः।। शान्ति १८८.१५

(ये ही चारों वर्ण हैं जिनके लिए ब्रह्मा ने ब्राह्मी सरस्वती--संस्कृत भाषा और साहित्य का विधान किया था, लोभ के कारण ये उससे हीन हो गय।)

शूद्रों के वैदिक मन्त्र सुनने पर महाभारत-युग तक रोक नहीं लगी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शूद्र भी दर्शक बन कर गये थे। शंकर ने सभी वर्णो को सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बतलाया है और कहा है कि ऐसा ब्रह्मज्ञानी--चाहे वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण--गुरुरूप में स्वीकार करने के योग्य है।[3]

---

१. आ० गृ० सू० ३.८ के अनुसार अनुलेपनेन पाणी प्रलिप्य मुखमग्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पेत्, बाहू राजन्यः, उदरं वैश्यः, ऊरू सरणजीविनः।

२. सेतकेतु जातक ३७७। सुत्तनिपात के अनुसार मातंग नामक चाण्डाल इतना बड़ा आचार्य हो गया था कि उसके यहाँ अध्ययन करने के लिए अनेक उच्च वर्ण के लोग जाते थे।

३. ब्रह्मसूत्र ३.४.३८ पर शांकरभाष्य--पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति।

सांख्यदर्शन के आचार्यों ने शूद्रों को सर्वोच्च दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने के योग्य माना है।[1]

मनु ने शूद्र गुरुओं का उल्लेख किया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र-आचार्यों की संस्थाओं में प्रायः शूद्र ही अध्ययन करते थे। कम से कम शिल्पाचार्य सदा से ही अनेक शूद्र रहे हैं और उनके विद्यार्थी प्रायः शूद्र होते होंगे।[3] परवर्ती युग में भी केवल वैदिक साहित्य ही शूद्रों को नहीं पढ़ाया जा सकता था। पंचम वेद नाट्यशास्त्र और महाभारत आदि तो सभी वर्णों के अध्ययन और अध्यापन के लिए नियत हुए।[4] श्वपाक भी संगीत नृत्य आदि विद्याओं में निष्णात होते थे।

बौद्ध संस्कृति में ज्ञान के द्वारा व्यक्तित्व का विकास करने का मार्ग सबके लिए समान रूप से खोल दिया गया। एक बार संघ में प्रवेश पा जाने पर ज्ञान पाने की दिशा में शूद्र को अपनी जाति के कारण किसी प्रकार की बाधा नहीं रह जाती थी। शूद्रवर्ण के असख्य व्यक्ति गौतम के जीवन-काल में ही उनके शिष्य बन चुके थे।[5] जैन संस्कृति में भी चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था। उत्तराध्ययन में हरिकेशबल चाण्डाल की चर्चा आती है। वह स्वयं ऋषि बन गया और सभी गुणों से अलंकृत हुआ।[6]

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि सभी वर्णों के लोग अपनी जाति और प्रवृत्ति के अनुसार अध्ययन कर सकते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का अध्ययन प्रायः वदिक और दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध होता था और साथ ही वे आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि विषयों की शिक्षा लेते थे। वैश्य और शूद्र प्रधानतः शिल्पों का अध्ययन करते थे, पर उनमें से अनेक विद्यार्थी दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित बनने के लिए अध्ययन की सुविधा पा सकते थे। जिस भारत ने विदेशियों के लिए भी अपने विश्वविद्यालयों का द्वार खोल दिया था, वह शूद्रों को अध्ययन से दूर रखता—यह कैसे हो सकता था ?

---

१. राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी भाग २, पृ० ६१७

२. राधाकृष्णन् इण्डि० फि० भाग २, पृ० ३१६

३. मनुस्मृति २.२३८

४. भारतीय संस्कृति में शिल्प का व्यवसाय प्रधानतः शूद्रों के हाथ में था, यद्यपि अन्य जातियों के लोग भी शिल्प सीखते थे। जातक साहित्य में अनेक शिल्पाचार्यों के उल्लेख मिलते हैं, जो शूद्र थे। देखिए सूची जातक ३८७, उपाहन जातक २३१ तथा दुब्बच जातक ११६। राजतरंगिणी ५.३५३-३६०

५. चुल्लवग्ग ६.१.४ तथा महावग्ग ६.३७.१

६. उत्तरा० १२.१

स्त्रियों का विद्याधिकार

स्त्रियों की शिक्षा के लिए कम से कम वैदिक काल में उतना ही ध्यान दिया जाता था, जितना पुरुषों की शिक्षा के लिए। तत्कालीन शिक्षा के लिए जिस तपोमय जीवन की आवश्यकता थी। उसके लिए स्वभावतः सुकुमार नारियाँ अधिक संख्या में प्रस्तुत नहीं हो सकती थीं। परिणामतः शिक्षित स्त्रियों की संख्या पुरुषों से सदैव कम रही है।

वैदिक काल में स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करके सभी प्रकार की शिक्षायें ग्रहण करती थी। पुरुषों और स्त्रियों के अध्ययन-क्षेत्र प्रायः समान थे। यही परिस्थिति उस युग म अनेक ऋषिकाओं की प्रतिष्ठा का कारण हुई। ऋग्वेद में अनेक ऋषिकाओं की रची हुई कवितायें मिलती हैं।[1] इनमें से लोपामुद्रा, विश्ववारा, आत्रेयी, अपाला तथा काक्षीवती घोषा आदि प्रमुख हैं। अथर्ववेद में स्त्रियों के ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के विषय मे कहा गया है—ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति प्राप्त करती है।[2] उपनिषदों मे कई दार्शनिक स्त्रियों की उच्चकोटि की विद्वता का परिचय मिलता है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ब्रह्मज्ञान के द्वारा अमर पद प्राप्त करना चाहती थी।[3] याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी।[4] उपनिषद्-काल में गार्गी वाचक्नवी प्रख्यात दार्शनिक महिला थी। उसने जनक की परिषद् में याज्ञवल्क्य से दर्शन सम्बन्धी रहस्यमय समस्याओं का आकलन किया था। मैत्रेयी और गार्गी उसी समय से प्रातःस्मरणीय रही हैं।[5]

उपनिषद्-काल में कन्याओं को विदुषी बनाने की रीति की लोकप्रियता की कल्पना इस बात से भी होती है कि लोग उस युग में विदुषी बनने की योग्यता रखने वाली कन्याओं को पुत्री रूप में पाने के लिये विशिष्ट योजनायें सम्पादित करते थे।[6]

---

१. इनके रचे हुए सूक्तों के लिए देखिये ऋ० १.१७९; ५.२८; ८.९१; १०.३९-४० आदि।

२. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विदन्ते पतिम्। अथर्व० ९ ५१.८

३. बृहदारण्यक २.४.३ ४. बृह० ४.५.५–१५

५. देखिये आश्वलायन गृह्यसूत्र ३४.४। ब्रह्मयज्ञ में मैत्रेयी और गार्गी के अतिरिक्त वडवा प्रातिथेयी के लिए तर्पण करने का विधान है। इस प्रसङ्ग में इनकी गणना आचार्या की कोटि में है।

६. बृहदारण्यक ६.४.१७ अथ या इच्छेत्—दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।

कालान्तर में कन्याओं को शिक्षा देने के लिए विद्यालय बने, जिनमें स्त्रियाँ अध्यापन करती थीं। ऐसी स्त्रियों को आचार्या और उपाध्याया कहा जाता था।[1] पतञ्जलि ने औदमेध्या तथा उसके शिष्यों का उल्लेख किया है।[2] उन्होंने स्त्री-छात्रों की उपाधियाँ अध्येत्री और माणविका बतलाई हैं। कठी वृन्दारिका कठशाखा की श्रेष्ठ छात्रा थी। वेदकालीन चरणों में स्त्रियाँ वेद पढ़ती थीं। ऋग्वेद की बह्वृच शाखा पढ़ने वाली स्त्रियाँ बह्वृची कही जाती थीं। पाणिनि ने अस्त्र-शस्त्र विद्या में पारंगत स्त्रियों का उल्लेख किया है।[3] महाभाष्य में कुमार-श्रमण, कुमार-प्रव्रजिता, कुमाराध्यापिका, कुमार-तापसी, कुमार-पण्डिता आदि पदों के द्वारा अविवाहित रहकर अपने व्यक्तित्व का विकास करने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया है।[4] आश्वलायन-गृह्यसूत्र में स्त्रियों के समावर्तन-संस्कार सम्बन्धी नियमों से भी उनके ब्रह्मचर्य-व्रत के पश्चात् स्नातिका बनने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।[5] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्त्री-आचार्यों का उल्लेख है।[6]

अर्थशास्त्र के गणिकाध्यक्ष प्रकरण में गणिका, दासी तथा अभिनेत्री बनने वाली कन्याओं को शिक्षा देने के लिये राजाओं की ओर से आचार्यों के नियुक्त करने का उल्लेख है। इनकी शिक्षा अनेक विषयों में होती थी यथा गीत, वाद्य, पाठ्य, नृत्य, नाट्य, अक्षर चित्र, वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि बजाना, गन्ध माला आदि बनाना, संवाहन, वेश-भूषा पहनाना तथा अन्य कलायें। दशकुमार-चरित में गणिकाओं के विविध शिल्प, व्याकरण, लिपि-ज्ञान आदि सीखने का उल्लेख है।

स्त्रियों के अनेक विद्याओं में पारङ्गत होने के बहुविध साहित्यिक उल्लेख मिलते हैं। राजकुल की दासियाँ तक ६४ विद्याओं में विशारद तथा नृत्य, वाद्य और संगीत में कुशल होती थीं। स्त्रियों की रची हुई अनेक गाथायें हाल की गाथा-सप्तशती में संगृहीत हैं।[7] परवर्ती युग में स्त्रियों की रची हुई कवितायें तथा उनकी

१. काशिका-व्याख्या पाणिनिसूत्र ४.१.४९ तथा ३.३.२१

२. महाभाष्य ४.१.७८

३. शक्ति चलाने की विद्या जानने वाली स्त्रियों की उपाधि शाक्तिकी थी। महाभाष्य ४.४.५९; ४.१.१५ आदि।

४. महाभाष्य २.१.७०

५. आश्वलायन ३.८.११। हारीत ने भी कन्याओं के समावर्तन का उल्लेख किया है। देखिये संस्कारप्रकाश पृ० ४०४

६. आ० ध० १.७.२१.९

७. उदाहरण के लिए देखिए पाहई १.७० वद्धवही १.८६, रेवा १.८७, १.९० आदि।

प्रशस्तियाँ भारतीय काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र मिलती हैं।[1] स्त्री-कवियों की चर्चा करते हुए राजशेखर ने लिखा है—पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी कवि होती हैं। देखा और सुना जाता है कि राजकन्यायें, महामात्रों की कन्यायें, गणिकायें और कुटुम्ब में रहने वाली भार्यायें शास्त्र-विचक्षण हैं और रही हैं।[2] इसी युग में शंकर और मण्डन मिश्र के विवाद की चर्चा का उल्लेख शंकर-दिग्विजय नामक ग्रन्थ में मिलता है। इसके अनुसार इन दो महापण्डितों के जय-पराजय का निर्णय करने के लिए मण्डन मिश्र की पत्नी निर्णायक नियुक्त हुई थीं। प्रियदर्शिका और कुमारसम्भव में स्त्रियों की शिक्षा का उल्लेख है।[3]

भारतीय काव्य-साहित्य में सरस्वती और पार्वती को विद्या की अधिष्ठात्री देवी के पद पर प्रतिष्ठित करने की कल्पना से कम से कम इतना तो सिद्ध होता ही है कि स्त्रियों को विद्या प्राप्त करने के मार्ग में धार्मिक दृष्टि से रुकावट हो ही नहीं सकती थी।

बौद्ध संस्कृति में स्त्रियों के अध्ययन के लिये समुचित सुविधा प्रदान की गई। अनेक भिक्षुणियों ने संघ की शरण ली और वहाँ रह कर उच्च कोटि की विद्वत्ता प्राप्त करके उस संस्कृति से सम्बद्ध साहित्य की अभिवृद्धि की। अकेले थेरी-गाथा में लगभग ५० भिक्षुणियों की कवितायें संगृहीत हैं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि वैदिक काल के पश्चात् यद्यपि अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने वाली कन्याओं की संख्या में कुछ कमी हुई, फिर भी उच्च कुलों की स्त्रियाँ शिक्षा पाती रहीं। इनकी शिक्षा प्रायः कलाओं तक ही सीमित थी—नृत्य, संगीत और काव्यात्मक साहित्य का स्त्रियों में विशेष प्रचलन था। उस युग में उच्च कुल की ललनाओं के लिये उपर्युक्त कलात्मक ज्ञान आवश्यक था। क्षत्रिय कुल की कन्याओं के युद्ध-विद्या-विशारद होने की रीति प्रचलित थी। रामायण के अनुसार कैकेयी अस्त्र-शस्त्र-विद्या में निष्णात थी। ब्राह्मणों के कुलों में साधारणतः शिक्षा का आरम्भ कन्याओं के लिए भी बालकों के साथ ही होता था। कन्याओं के विवाह की अवस्था कम होने के कारण उनकी शिक्षा प्रायः स्वल्प ही रह पाती थी।

---

१. ऐसी कवयित्रियों में शील-भट्टारिका, देवी, विजयांका आदि प्रमुख हैं। इनके विषय में जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में राजशेखर द्वारा रचित प्रशस्तियाँ मिलती हैं। अन्य उच्च कोटि की स्त्री-साहित्यकारों के परिचय के लिए देखिए चक्रवर्ती और डे द्वारा रचित हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ४७३

२. काव्य-मीमांसा दशम अध्याय

३. देखिये प्रियदर्शिका का प्रथम अंक तथा कुमारसम्भव १.३०

अध्ययन के विषय

प्राग्वैदिक

भारतीय शिक्षा के प्रथम स्वरूप का परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से मिलता है। सिन्धु-सभ्यता के लोगों ने दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, काव्यात्मक और वैज्ञानिक क्षेत्रों मे अपने व्यक्तित्व का विकास किया होगा, यह कल्पना उनकी तत्कालीन कृतियों और जीवन-विन्यास की पद्धतियों पर विचार करने से आधारपूर्ण प्रतीत होती है। सिन्धु-सभ्यता के नागरिक उच्च कोटि के शिल्पी थे। वास्तु, मूर्ति और चित्रकलाओं के क्षेत्र मे उनकी उन्नति तत्कालीन विश्व में अद्वितीय ही थी। उनकी मूर्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि नृत्य, गीत और वाद्य-विद्याओं के प्रति उनकी अभिरुचि असाधारण थी। शरीर के प्रसाधन के लिए भाँति-भाँति की धातुओं, रत्नों और पुष्पो का अलंकार बनाने मे उन्होंने अपनी परम्परागत सुरुचिपूर्ण कलाओं के अभ्यास का परिचय दिया है। शिक्षण की जिस शैली से उपर्युक्त विषयों की वंशानुक्रम से सहस्रों वर्षों तक अमरता प्रतिष्ठित रही, उसका इतिहास अतीत अन्धकार मे सदा के लिए विलीन हो गया है।

सिन्धु-सभ्यता के नागरिक लिखना-पढ़ना जानते थे, पर किस सीमा तक उनका उपयोग होता था—यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। उनके कुछ लेख मुद्राओं और तावीजों पर अंकित मिलते हैं। इनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि उनकी लिखावट की सुन्दरता और सुघटता सतत अभ्यास से ही सम्भव हो सकी होगी और इसके लिए विद्यार्थी सम्भवतः काठ की पट्टियों को काम मे लाते होगे। उनकी लिपि मे अनेक चित्र मिलते हैं। उनका लिपिबद्ध साहित्य यदि कभी कुछ अध्ययन-अध्यापन के लिए रहा भी तो वह भी पंचतत्त्वों मे कभी का विलीन हो गया।

सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों मे ध्यानावस्थित योगी की जो मूर्ति मिली है, उससे निःसंदेह प्रमाणित होता है कि उस युग मे भी योगाभ्यास के द्वारा अपनी शक्तियों को विकसित करने का प्रचलन था और ऐसी स्थिति में योग सम्बन्धी अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी का किसी न किसी रूप में होना सम्भव प्रतीत होता है।

वैदिक

वैदिक साहित्य का आरम्भ ऋग्वेद से होता है। ऋग्वेद अपनी कोटि का सर्वोच्च ग्रन्थ है और अपनी उदात्त साहित्यिक विशेषताओं के बल पर ही भारत में इसकी अमर प्रतिष्ठा हुई। वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ही ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्वप्रथम रहा है। जिस सनातन ज्ञान की निर्मल धारा के विशाल और

निरवधि प्रवाह के एक तीर्थ को सुमर्यादित करके ऋग्वेद नाम दिया गया, उसके प्राचीनतम स्वरूप की कल्पना प्रासङ्गिक है ।

ऋग्वेद काव्यात्मक ग्रन्थ है । काव्य की रचना के लिए वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति अपेक्षित होती है। मानस-पटल में वाक् और अर्थ की प्रतिष्ठा करने के लिए सुकवि को तपोमय साधना करनी पड़ती है। उस युग में ऐसे साधक का नाम ऋषि था ।[1] ऋषि जिन विषयों का वर्णन करता था, उनका नाम देवता था । देवता के विषय में जो वाणी मुख से निःसृत हुई, उसे मन्त्र और सूक्त कहा गया। ऐसे ऋषि के व्यक्तित्व का विकास अथवा अध्ययन की दिशा कुछ-कुछ इस प्रकार थी—वह अच्छे से अच्छे शब्दों का अच्छे से अच्छे अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए नित्य अभ्यास करता था। शब्दों का पूर्ण ज्ञान व्याकरण के द्वारा सम्भव होता है और अर्थों का बोध प्रस्तुत विषयों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा प्राक्कालीन सदुक्तियों और उनके अर्थों के संग्रह द्वारा सम्भव होता है। जिन ऋषियों ने मन्त्रों की रचना की थी, अवश्य ही उन्होंने अपने पहले के महर्षियों के साथ बैठकर शब्दों और अर्थों का ज्ञान प्राप्त किया था और प्रकृति की एकान्त सम्पन्नता का आश्रय लेकर उसके गुणों से मानस-पटल को परिचित्रित करके वाणी के माध्यम से उनको सर्वजनीन बना दिया। ऋग्वेद की रचना जिस युग में हो रही थी, उसमें सूक्तों को कण्ठाग्र करने की पद्धति सनातन रूप से प्रचलित थी और तभी से सदैव प्रचलित रही है । जहाँ किसी महर्षि की वाणी असाधारण रूप से रुचिकर प्रतीत हुई कि उस महर्षि के कुटुम्ब के लोग तथा कवि बनने की इच्छा रखने वाले अन्य लोग उसकी रचना को कण्ठाग्र कर लेते थे और उसे अमरता प्रदान करने के लिए वंश-परम्परा या शिष्य-परम्परा में योग्य व्यक्तियों को स्मरण करा देते थे। इस प्रकार के असंख्य सूक्त प्राचीन काल में प्रचलित थे। इनमें से कुछ तो वैदिक संहिताओं में संकलित किये गये, पर अधिकांश विस्मृत होकर विलीन हो गये। एक ही विषय पर अनेक सूक्तों के हो जाने पर उनमें से केवल उत्कृष्ट कोटि के कुछ सूक्तों का संग्रह किया गया और शेष उपेक्षित होकर मिट से गये।[2] वैदिक संहिताओं को आज हम जिस रूप में देख रहे हैं, वे सभी दो, चार या पचास वर्ष में ही नहीं रच ली गई। उनकी रचना के समय भिन्न-भिन्न हैं। सैकड़ों या

---

१. वैदिक ऋषि मन्त्र-रचना को श्रेष्ठ कला मानते थे। एक ऋषि ने इस कला के सम्बन्ध में कहा है—जैसे शिल्पी रथों को प्रस्तुत करता है, वैसे ही हम लोग स्तुतियों को प्रस्तुत करते हैं।

'या तक्षाम रथां इवाऽवोचाम बृहन्नमः । ऋ० ५.७३.१०

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.११ के 'अनन्ता वै वेदाः' से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में ही लोगों की मान्यता थी कि वेद अनन्त हैं।

सहस्रों वर्षों की असंख्य ऋषियों की कृतियों का सम्पादन करके ही इन संहिताओं को यह रूप दिया गया। इनकी रचना का एक पूरा युग ही माना जा सकता है।[1]

संहिताओं की रचना के युग में एक के पश्चात् दूसरे ऋषि की योग्यता के वंशानुक्रम से यथापूर्व प्रतिष्ठित रहने की एक ही योजना हो सकती थी—पहले के ऋषियों के ज्ञान को उनसे ग्रहण करना और उनकी संगति में बैठकर तत्कालीन धार्मिक, दार्शनिक, काव्यात्मक, पौराणिक और ऐतिहासिक विचार-धाराओं का विवेचन करना। इसके बिना वैदिक रचना असम्भव थी।

उपर्युक्त अध्ययन के विषयों के अतिरिक्त वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—का महत्त्व भारतीय विद्यालयों में सदैव रहा है। इन विषयों का सम्बन्ध आरम्भ में वैदिक साहित्य और यज्ञों से विशेष रूप से था, पर स्वतन्त्र रूप से भी इनका अध्ययन-अध्यापन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वैदिक काल में ही होने लगा था। परवर्ती युग में व्याकरण की परिधि के भीतर ही प्रायः शिक्षा और निरुक्त[2] का भी अन्तर्भाव हुआ और पाणिनि का व्याकरण अनन्त काल से प्रवाहित शब्दानुशीलन की सरिताओं का महासागर ही है। व्याकरण की यह शैली शब्दों के वैज्ञानिक तत्त्वालोचन के माध्यम से ही प्रस्फुटित हुई थी।

वैदिक संहिताओं के सामंजस्य में जिन-जिन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचलन हुआ, शनैः शनैः उन सबको साहित्य के सूत्र में ग्रथित करके अध्ययन-अध्यापन का विषय बना दिया गया। संहिताओं में समन्वित यज्ञसम्बन्धी व्याख्याओं को ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में संकलित किया गया। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध अनेक ब्राह्मण या आरण्यक रचे गये। उनमें से केवल कुछ ही आज तक विद्यमान हैं। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में तत्कालीन अध्ययन-अध्यापन के विषयों का उल्लेख है। इनमें से वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त कुछ विषय थे—अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा-नाराशंसी।[3] अनुशासन वेदाङ्ग हैं। विद्यायें न्याय-मीमांसा आदि दर्शन-शास्त्र हैं। वाकोवाक्य आधुनिक शास्त्रार्थ के

---

१. ऋग्वेद ६.२१.५ में प्रत्न, मध्यम तथा नूतन ऋषियों की स्तुतियों की चर्चा की गई है। ऋग्वेद के विविध स्थलों पर प्रयुक्त भाषा के आधार पर भी यह मत सप्रमाण प्रतीत होता है।

२. शिक्षा वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ का विज्ञान है। कल्प में याज्ञिक विधानों का वर्णन होता है। निरुक्त में शब्दों का अर्थ जानने के लिए व्याख्यायें दी गई हैं। शेष स्पष्ट हैं।

३. अथर्ववेद १५.६.११–१२; ११.७.२४, शतपथ ११.५.६.८ शतपथ १३.४.३ में देवजन-विद्या और मायावेद की विद्या रूप में चर्चा की गई है।

समकक्ष पड़ते हैं। इनमें यज्ञ, ब्रह्म और आत्मा-सम्बन्धी विषयों पर विवाद होते थे। इतिहास और पुराणों में पराक्रमी वीरों और देवर्षियों की चरित-गाथा का वर्णन होता था। गाथा-नाराशंसी महापुरुषों की स्तुतियों का निबन्ध था।

ब्राह्मण-कालीन यज्ञ-विद्या का अध्ययन-अध्यापन विशेष महत्त्वपूर्ण था। यज्ञ-विद्या की गुत्थियों को सुलझाने में ज्ञान-विज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं का व्याख्यान अपेक्षित होता था। इनमें पुराण, इतिहास और आख्यान, सृष्टि की रचना का विन्यास, आचार-शास्त्र और दर्शन की गवेषणा के आभास स्थान-स्थान पर समन्वित थे।

उपनिषद्-युग मे वैदिक संहिताओं, वेदाङ्गों और याज्ञिक विद्याओं का अध्ययन प्रचलित रहा, पर सबसे अधिक महत्त्व पराविद्या को दिया गया। पराविद्या वह ब्रह्मविद्या है, जिसका सर्वोच्च विकास उपनिषदों मे मिलता है। सम्भव है, वैदिक काल मे आरम्भ से ही यह विद्या किसी न किसी रूप मे सदा रही हो, पर इसका प्रस्फुटित रूप उपनिषदों में ही मिलता है।

ब्रह्मविद्या सीखने के लिए प्रायः वे ही विद्यार्थी योग्य मान जाते थे, जो पहले से ही वेद-वेदाङ्ग आदि मे निष्णात होते थे। साधारणतः विद्यार्थी वेद-वेदाङ्ग आदि का ज्ञान ही ब्रह्मचर्याश्रम मे प्राप्त करते थे। ब्रह्मविद्या के आचार्यो की भी कमी थी और यह सर्वसाधारण के लिए कभी भी प्रदेय नही मानी गई।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् मे तत्कालीन अध्ययन के विषयों की एक विस्तृत सूची इस प्रकार मिलती है—चारों वेद, इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण) पित्र्य (श्राद्ध-यज्ञ), राशि (गणित), दैव (भौतिक विज्ञान), निधि (काल-ज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क), एकायन (नीति), देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या और देवजन-विद्या (शिल्प तथा कलायें)।[2] इसी उपनिषद् में आगे चलकर कहा गया है कि विज्ञान से इन विषयों का अध्ययन होता है, केवल इन्हीं का नही अपितु स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, वायु, जल, तेज, मनुष्य, देव, पशु-पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट, पतङ्ग, चींटी, धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, अन्न-रस, लोक-परलोक सबको विज्ञान के द्वारा जाना जा सकता

---

१. छान्दोग्य उ० ८.७ के अनुसार प्रजापति ने इन्द्र और वैरोचन की परीक्षा लेकर वैरोचन को ब्रह्मज्ञान का पात्र न समझा और इन्द्र को भी इसके लिए सौ वर्षो से भी अधिक तपस्या करनी पड़ी। कठोपनिषद् के अनुसार यम ब्रह्मविद्या के सर्वोच्च आचार्य थे। उन्होंने नचिकेता को परीक्षा लेकर उसे ब्रह्मविद्या सिखाई और कहा कि यह विद्या सुविज्ञेय नहीं है, अणु है।

२. छान्दोग्य ७.१.२

है। इस प्रकरण से इतना तो सिद्ध ही होता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से ज्ञान की परिधि का विस्तार हो रहा था। गौतम बुद्ध के जीवन-काल में वेद, निघण्टु, कैटुभ, अक्षर-प्रभेद, शिक्षा, इतिहास, पद-ज्ञान, व्याकरण, लोकायत, महापुरुष-लक्षण आदि की शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाती थी।[1]

भारत की प्राचीनतम शिक्षण-संस्था, जो सर्वाधिक विख्यात रही है, तक्षशिला का विश्वविद्यालय है। इस विद्यालय में सर्वसाधारण के लिए तीन वेदों की शिक्षा प्रायः अनिवार्य थी। इस प्रकरण में वेदों के साथ वेदाङ्गों का समन्वय भी है। परवर्तियुगीन अभिनव धार्मिक और साम्प्रदायिक रचनाओं के साथ ही साथ वेद और वेदाङ्ग प्रायः सदैव ही वैदिक शिक्षण-संस्थाओं में अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं। लगभग पाँचवी शती ई० पू० से उपर्युक्त विषयों में से किसी एक में विशेष योग्यता प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। यज्ञ-विद्या में विशेषता प्राप्त करने वाले विद्यार्थी, याज्ञिक और व्याकरण-परायण विद्यार्थी वैयाकरण कहे जाते थे।[2] कुछ अन्य विद्यार्थी अग्निष्टोमिक और वाजपेयिक भी थे, जो क्रमशः अग्निष्टोम और वाजपेय यज्ञों का विशेष अध्ययन करते थे। इस युग में सूत्र-साहित्य की अतिशय अभिवृद्धि हुई और इनका अध्ययन-अध्यापन होने लगा। पाणिनि ने कल्प-सूत्र, भिक्षु-सूत्र और नट-सूत्रों का उल्लेख किया है।[3] इनके अतिरिक्त इतिहास-पुराण की शिक्षा दी जाती थी।[4] आस्तीक ने च्यवन के पुत्र भार्गव से वेद-वेदाङ्ग की शिक्षा पाई थी। कुछ ब्राह्मण सांगोपनिषद् पढ़ते थे।[5] अध्ययन के विषयों की यह परिधि सभी सुसंस्कृत नागरिकों के लिए पौराणिक युग में भी नियत रही। पौराणिक काल में चौदह या अठारह विद्याओं का अध्ययन प्रधान रहा। इनके नाम चार वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र मिलते हैं। इन्हीं के साथ चार वेदों के उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र भी समन्वित कर लेने पर विद्या की शिक्षणीय शाखायें १८ बन जाती हैं।[6] उपर्युक्त विद्याओं से सम्बद्ध साहित्य की अभिवृद्धि निरन्तर होती रही। इस प्रकार पाठ्य ग्रन्थों की संख्या भी बढ़ती रही।

१. अम्बट्ठसुत्त १.३

२. पाणिनि-सूत्र ४.३.१२९ तथा ६.३.७

३. पाणिनि-सूत्र ४.३.८७–८८, १०५, ११०, १११, ११६

४. महाभारत आदिपर्व १०८.२०; आदिपर्व ५४.३

५. महाभारत आदिपर्व ४८.१८; ५८.१७

६. रघुवंश ५.२१; याज्ञवल्क्य-स्मृति १.३; विष्णुपु० ३.७.२८–३० मत्स्य-पुराण ५३.५–६ आदि में १४ विद्याओं का उल्लेख किया गया है। तन्त्रवार्तिक पृ० २०१ में कुमारिल ने १४ या १८ विद्याओं का परिगणन किया है।

बौद्ध विषय

बौद्ध अध्ययन और अध्यापन के विषय उपर्युक्त पद्धति से सर्वथा भिन्न रहे हैं। बौद्ध शिक्षण का आरम्भ उन उपदेशों में मिलता है, जिन्हें स्वयं गौतम ने सर्वप्रथम अपने शिष्यों को मृगदाव में दिया था। य उपदेश वास्तव में जीवन-दर्शन का पर्यालोचन करने के लिए हैं। गौतम ने कहा—निर्वाण की इच्छा रखने वालों को दो अन्तों का परित्याग करना है। वे दो अन्त हैं—भोग-विलास की अतिशयता तथा तप के द्वारा शरीर को कष्ट देना। इन दोनों के बीच का मध्यम मार्ग है, जिसके द्वारा नेत्र खुल जाते हैं, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है तथा चित्त की शान्ति प्राप्त होती है और जिससे उच्च बोध की प्राप्ति होती है, प्रकाश मिलता है और निर्वाण मिलता है। यह मध्यमा प्रतिपदा है, अष्टाङ्गिक मार्ग है।

गौतम ने चार आर्यसत्यों का विवेचन किया और उन भिक्षुओं से कहा—मैंने ज्योंही इन चार आर्यसत्यों का पूरा परिचय पा लिया, मुझे निश्चय हो गया कि मुझे उस ज्ञान का सम्यक् दर्शन हो गया जो भूतल अथवा स्वर्ग में अथवा श्रमण या ब्राह्मणों में अथवा मानवों और देवताओं में सर्वोत्तम है। यही गौतम का धर्मचक्र-प्रवर्तन था।[1] गौतम ने अपने इसी जीवन-दर्शन को व्याख्यानों के माध्यम से समाज और शिष्यों के समक्ष रखा।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक युग में बौद्ध शिक्षण-पद्धति में गौतम के उपदेश और व्याख्यान ही अध्ययन के विषय मान्य हुए।[2] गौतम के जीवन-काल में ही भिक्षु प्रथम वर्ष अट्ठकवग्गिक को कण्ठाग्र कर लेते थे और साथ ही अर्थ समझ लेते थे, उसका मनन कर लेते थे और मधुर स्वर से उसका पाठ करते हुए दूसरों को समझा सकते थे।[3] विभिन्न कक्षा के भिक्षु विभिन्न विषयों का विशेष अध्ययन करते थे। ऐसी कक्षायें सुत्तन्त का पाठ, विनय का पारस्परिक विमर्श और पर्यालोचन करने वालों की तथा धम्म का उपदेश करने वालों की अलग-अलग होती थीं।[4] विनय की शिक्षा सर्वोच्च प्रतिष्ठित थी।[5]

---

१. आर्यसत्य का सविस्तर वर्णन बौद्ध धर्म के प्रकरण में देखिये। दुःख, दुःख का समुदय, दुःख का निरोध और दुःख के निरोध का मार्ग—ये चार आर्यसत्य हैं।

२. गौतम के उपदेश और व्याख्यान लोक-भाषा—पालि में दिये गये। उनको समझने के लिए पहले से ही व्याकरण का ज्ञान आवश्यक नहीं था। गौतम ने स्वयं कहा है कि बुद्धों की वाणी प्रत्येक विद्यार्थी अपनी-अपनी भाषा में सीखे।

३. महावग्ग ५.१३.६। अट्ठकवग्गिक सुत्तनिपात का चौथा वग्ग है।

४. चुल्लवग्ग ४.४.४। ५. चुल्लवग्ग ६·१३·१।

गौतम के जीवन-काल में ज्यों-ज्यों उनके व्याख्यानों और उपदेशों की संख्या बढ़ती गई, अध्ययन का विषय भी साथ ही साथ बढ़ता गया। उस समय अध्ययन के द्वारा व्यक्तित्व का विकास करके विद्यार्थी त्रिपिटकधारी, ध्यानलाभी, मधुरभाषी और धर्मकथिक बन जाते थे।[1] उपदेशों और व्याख्यानों का पाठ कराने के अतिरिक्त उनमें जिज्ञासा जागरित की जाती थी, उचित रूप से सोचने का अभ्यास कराया जाता था और कर्तव्यों को सुचारु रूप से पालन करने का ढंग सिखाया जाता था।[2] गौतम ने भिक्षुओं को ज्योतिष आदि कुछ लोकोपयोगी विद्याओं को सीखने के लिए आदेश दिया।[3]

गौतम के मरने के पश्चात् उनके व्याख्यानों का संग्रह तीन पिटक--अभिधम्म, विनय और सुत्त के रूप में संगृहीत हुए। इन्हीं को यथासाध्य अमर प्रतिष्ठा देना और इनके द्वारा समाज का आध्यात्मिक अभ्युत्थान करना भिक्षुओं का प्रधान कर्तव्य रहा। यह सारा शिक्षा-विन्यास मौखिक माध्यम से ही सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहा। इनका सर्वप्रथम लिपिबद्ध रूप लंका में ८० ई० पू० में किया गया। त्रिपिटक की व्याख्यायें भी आरम्भ में मौखिक माध्यम से ही अध्ययन का विषय बनी।

परवर्ती युग में त्रिपिटक के सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिए और साथ ही उनसे सम्बद्ध दार्शनिक तत्त्वों का विश्लेषण करने के लिए हीनयान और महायान पथ के विद्वानों ने ग्रंथों की रचना करना आरम्भ किया। इन ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन विहारों में त्रिपिटक साहित्य के साथ होने लगा।

भिक्षु-जीवनचर्या का शिक्षण बौद्ध संस्कृति में महत्त्वपूर्ण था। इसके लिए उपसम्पदा के पश्चात् ५ वर्षों में मातृका (भिक्षु-प्रातिमोक्ष तथा भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष) कण्ठाग्र करायी जाती थी, कप्पिय अकप्पिय (कर्तव्याकर्तव्य) का ज्ञान कराया जाता था, तीन प्रकार की अनुमोदनायें (मांगलिक, अमांगलिक और भिक्षा) सिखाई जाती थीं। इसके पश्चात् योगाभ्यास की विधि का शिक्षण होता था। इस विधि का नाम कर्मस्थान था। कर्मस्थानों की संख्या ४० थी।[4]

सातवीं शती में ह्वेनसाँग के लेखानुसार प्रतीत होता है कि बौद्ध विद्यालयों में ब्राह्मण-सम्प्रदाय के दर्शन और धर्मग्रंथों की भी शिक्षा दी जाती थी और साथ ही पाणिनि के व्याकरण की पढ़ाई होती थी। ऐसी परिस्थिति में कुछ बौद्ध विद्यालय

---

१. जम्बुखादक-जातक की वर्त्तमान कथा।
२. गजकुम्भ-जातक की वर्त्तमान कथा।
३. चुल्लवग्ग ८.६.३।
४. वरण-जातक ७१ की वर्त्तमान कथा।

बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों के लिए उपयोगी हो गये।[1] नालन्दा के विद्यालय में वेद, वेदान्त और सांख्य दर्शन की शिक्षा दी जाती थी।[2]

ह्वेनसाँग ने तोषासन विहार में अभिधर्म की शिक्षा १४ मास तक ली और फिर नगरधन के विहार में ४ मास तक अभिधर्म का अध्ययन किया। वह स्रुघ्न के विहार मे सौत्रान्तिक शाखा की सभी विभाषाओं को पढ़ता रहा। उसने कन्नौज के विहार में बुद्धदास-रचित विभाषा का अध्ययन किया। नालन्दा में उसने शीलभद्र मे योगशास्त्र की शिक्षा ली। उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि साधारण स्तर तक विद्याओं का अध्ययन कर लेने के पश्चात् विशेष अभिरुचि रखने वाले विद्यार्थी अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति से अपने ज्ञान के विशिष्ट क्षेत्र में पारंगत होने के लिए सतत प्रयास करते रहते थे।

अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन का उस युग मे विशेष महत्त्व था। उच्चकोटि के विद्वान् अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं को सत्य सिद्ध करने के लिए अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों से उन विषयों पर विवाद करते थे। ह्वेनसाँग ने असंख्य विवादों की चर्चा की है, जहाँ बौद्ध आचार्यों का तीर्थिकों से विवाद कभी-कभी दस दिन से अधिक समय तक भी चलता था।[3] सातवीं शती के दूसरे चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार बौद्ध विद्यालयों में पाणिनि-व्याकरण की शिक्षा साधारणतः दी जाती थी। व्याकरण का विशेष अध्ययन करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी पतञ्जलि का महाभाष्य आदि पढ़ते थे। व्याकरण के अतिरिक्त तर्कशास्त्र का अध्ययन लोकप्रिय था। विद्यालयों मे नागार्जुन के ग्रन्थों का अध्ययन विशेष अभिरुचि से होता था।[4]

जैन विषय

जैन संस्कृति मे धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से व्यक्तित्व के विकास के लिए अध्ययन-अध्यापन की परम्परा प्रायः बौद्ध पद्धति के अनुरूप ही रही है। जैन संस्कृति के कुछ तीर्थंकरों के उल्लेख वैदिक संहिताओं में मिलते हैं।[5] संभवतः वैदिक काल में जैन संस्कृति के अनुयायियों के बीच इन तीर्थंकरों के द्वारा प्रदिपादित जीवन-दर्शन सम्बन्धी विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन होता था। इन विद्याओं से सम्बद्ध साहित्य भी उस प्राचीन युग में रहा होगा, पर उसका विलयन सुदूर प्राचीन काल में ही हो गया। अन्तिम तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओं और प्रवचनों का जैन संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में सदा ही प्रमुख स्थान रहा है। इनका संग्रह द्वादश-अङ्ग और

---

१. वाटर्स भाग १ पृ० ३१९, भाग २ पृ० १००,१०८
२. बील पृ० ११२
३. वाटर्स भाग १ पृ० १५९ ४. इत्सिंग १७०-१८०
५. राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० २८७

चतुर्दश-पूर्व के नाम से विख्यात है।[१] इन्हीं अङ्गों और पूर्वो के आधार पर परवर्ती युग में जैन संस्कृति में विशाल साहित्य की रचना हुई। इस कोटि की रचनाओं में सर्वप्रथम स्थान षट्खण्डागम नामक सूत्रग्रन्थ का है। यह प्राकृत भाषा में ई० शती के आरम्भिक युग में लिखा गया। प्रायः इसी युग में काषाय-पाहुड नामक ग्रन्थ गाथा-छन्दों में लिखा गया। षट्खण्डागम और काषाय-पाहुड की अनेक टीकायें समय-समय पर लिखी गई। प्रथम ईसवी शती में जैन दर्शन के तीन महान् ग्रन्थ—समय-सार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय प्राकृत भाषा में लिखे गये।[२] जैन संस्कृति की उपर्युक्त साहित्यिक परम्परा में परवर्ती युग में उच्चकोटि की रचनायें समय-समय पर होती रहीं और जैन शिक्षण-संस्थाओं मे उनका अध्ययन-अध्यापन होता था।

साधारण पाठको के लिए जैन संस्कृति मे पुराण और काव्य-साहित्य की रचना सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओं मे हुई। इन ग्रन्थों की संख्या वैदिक संस्कृति के तद्विषयक ग्रन्थो की संख्या से कम नही है। इनके अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद व्याकरण, कोष, छन्द, अलंकार, गणित और राजनीनि आदि विषयो पर भी जैन-संस्कृति के आचार्यो ने ग्रन्थो का निर्माण किया। इन ग्रन्थों का विशेष सम्मान जैन संस्थाओं मे ही रहा। प्राचीन काल की प्रान्तीय भाषाओं मे भी जैन सस्कृति के सिद्धान्तों को उपनिबद्ध किया गया। द्राविड़ भाषा मे जैन आचार्यो के लिखे हुए अनेक ग्रन्थ आज भी प्राप्त होते है। इन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन प्रान्तीय संस्थाओं मे होता था।

शिल्प और कलायें

सिन्धु-सभ्यता के युग से ही प्रायः सदा से विविध प्रकार के शिल्पों के उच्च कोटि के आचार्य भारत में होते आये है। शिल्पों के क्षेत्र में यह प्रगति शिष्य-परम्परा से सम्भव हुई थी, पर यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि छठी शती ई० पू० से पहले शिल्पों की शिक्षा के लिए विद्यालय थे कि नहीं। निःसन्देह शिल्पाचार्यो की अध्यक्षता में उनके साथ ही रह कर और काम करते हुए सदा से ही शिल्प सीखने की रीति भारत में प्रचलित रही है और वह सिन्धु-सभ्यता के युग में तथा वैदिक काल में भी थी।

वैदिक-काल के पश्चात् जातक-युग मे छठीं शती मे तक्षशिला के विश्व-

१. अङ्गों और पूर्वो में पारंगत विद्वान् को श्रुतकेवली की उपाधि दी जाती थी।

२. इन ग्रन्थों के रचयिता कुन्दकुन्द है। कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वामी का लिखा हुआ तत्त्वार्थसूत्र जैन विद्वत्-समाज में प्रायः सदा ही सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है।

विद्यालय में १८ शिल्पों की शिक्षा देने के अनेकशः उल्लेख मिलते हैं।[1] शिल्पों में गीत, वाद्य, नृत्य, चित्र आदि कलाओं के अतिरिक्त व्यावसायिक विद्यायें भी सम्मिलित थीं।[2] नियामक शिल्प के अन्तर्गत नौविद्या का अध्ययन कराया जाता था।[3] जातक-काल के राजकुमार संगीत, वीणा-वादन, मूर्ति-रचना, पंखा बनाना, माला गूँथना, भोजन पकाना आदि कार्यों में निष्णात होते थे।[4] महाभारत-काल में गान्धर्व विद्या के उच्चकोटि के विद्यालय थे। अर्जुन ने नृत्य, गीत, वाद्य आदि का अध्ययन गान्धर्व विद्यालय में किया था। उसने राजा विराट के आश्रय में इन विद्याओं का शिक्षण भी किया था। कुमारियों और राजघराने में काम करने वाली कन्याओं को गीत, वाद्य, पाठ्य, नृत्य, नाट्य, अक्षर, चित्र, वीणा-वेणु-मृदङ्ग आदि बजाना, गन्ध माला आदि बनाना, संवाहन, वेष-भूषा पहनाना आदि सिखाने वाली संस्थाओं के तीसरी शती ई० पू० से पहले ही राजाओं के द्वारा संचालित होने का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है।[5] भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य सम्बन्धी सभी कलाओं की शिक्षा नाट्याचार्यों के द्वारा देने की योजनायें मिलती हैं। भरत मुनि स्वयं ऐसी संस्था के आचार्य थे। गुप्तकाल को कालिदास की रचनाओं से ज्ञात होता है कि राजाओं का आश्रय पाकर चित्र, नाट्य, सगीत, वाद्य आदि सिखाने वाली संस्थाये चल रही थी। इसी युग में रचे हुए कामसूत्र से भी ज्ञात होता है कि शिल्प और कलाओं में नागरिकों को विशेष अभिरुचि थी और इन विषयों की शिक्षा प्रतिष्ठित संस्थाओं में दी जाती थी। प्रायः स्त्री और पुरुष ६४ कलाओं में दक्ष होते थे।[6]

सातवीं शती में राजकुमारों के अधीत विषयों की चर्चा करते हुए बाण ने कहा है कि वे वाद्य-विद्या, नाट्य-शास्त्र, गन्धर्व-वेद, चित्रकर्म, पत्रच्छेद्य, दारु-कर्म, वास्तु-विद्या, काव्य, सर्वशिल्प आदि सीखते थे। ये विषय शिल्प और कलाओं के अन्तर्गत हैं। ब्राह्मण-कुमार भी वेद-वेदाङ्गों के साथ ही कलाओं में निष्णात होते थे। बाण के पूर्वज नृत्य, गीत और वादित्र में अबाह्य थे। हर्ष की बहिन राज्यश्री नृत्य, गीत आदि कलाओं में विदग्ध थी।

मन्दिरों में देवमूर्तियों के समक्ष नृत्य, गीत और वाद्य का आयोजन करके देवताओं का परितोष करने के साथ ही इन कलाओं को उच्चतर प्रतिष्ठा दी गई

---

१. घुस जातक, असदिस जातक १८१। परवर्ती युग में इन्हीं से विकसित ६४ कलाओं का अध्ययन-अध्यापन होने लगा। भागवत १०.४५.३३-३६

२. विद्यार्थी तीनों वेदों के साथ १८ शिल्पों की भी शिक्षा लेते थे। लाभगरह-जातक २८७ असातमन्त-जातक ६१; चुल्ल-धनुग्ग-जातक ३७४

३. सुप्पारक-जातक

४. कुस-जातक ५३१, महाउम्मग्ग-जातक ५४६

५. गणिकाध्यक्ष प्रकरण

६. कामसूत्र १.३.२०–२५

और साथ ही साथ मन्दिर के साम्प्रदायिक विद्यालयों मे नृत्य, गीत आदि का शिक्षण भी होने लगा। ग्यारहवी शती के एन्नारियम् के विद्यालय मे रूपावतार (चित्र, मूर्ति तथा वास्तु) की शिक्षा दी जाती थी।[1]

गौतम बुद्ध के जीवन-काल मे ही नवकर्मिक विहारों के निर्माण-कार्य का पर्यवेक्षण करते थे। सम्भवत: इन नवकर्मिको को संघ मे सम्मिलित होने के पश्चात् वास्तुकला सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। कम से कम विहार-सम्बन्धी वास्तुकला की अभिज्ञता भिक्षुओ को प्राप्त होती ही थी। परवर्ती युग में ईसवी शती के आरम्भ से पहले ही गुफा-विहारो और चैत्यों मे उच्चकोटि की कला का अभ्युदय हुआ। इसके लिए प्रधानत: भिक्षुओं को ही श्रेय दिया जा सकता है। अजन्ता की चित्रकला बौद्ध सस्कृति के चित्राचार्यो की कृति है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन चित्राचार्यो की शिष्य-परम्परा सघ के भिक्षुओ मे होती थी। बौद्ध सस्कृति का विदेशो मे प्रचार करने के लिए चित्रकला और मूर्तिकला के महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध होने पर इन कलाओ मे प्रचारको को निष्णात बनाने की योजना बौद्ध विद्यालयो मे अधिक उत्साह के साथ अपनायी गई। भारतीय भिक्षुओ ने न केवल भारत मे ही इन कलाओ के अभ्युदय मे योग दिया, अपितु विदेशो मे भी भारतीय कलाओ के विद्यालयो की स्थापना की। इन विद्यालयो के कलाकारो ने चीन, हिन्दचीन, तिब्बत और पूर्वी द्वीप-समूहो मे अपनी कला-कृतियों को प्रतिष्ठित किया। जैन सस्कृति मे भी चित्रो से हस्तलिखित ग्रन्थो को अलकृत करने की रीति रही है। निश्चय ही जैन सस्कृति के विद्यार्थी भी कम से कम चित्रकला सीखने का अभ्यास करते रहे होगे।

बहुविध शिल्पो के द्वारा अपनी जीविका के उपार्जन करने की रीति का प्रचलन जैन सस्कृति के साधु-समाज मे रहा है। इन शिल्पो को सीखने के लिए जैन संस्थाओ मे समुचित प्रबन्ध रहा होगा।

सैन्य-शिक्षण

सैन्य-शिक्षण के द्वारा युद्ध-विद्या-विशारद बनने की रीति सदैव प्रचलित रही है। युद्ध-भूमि मे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने के लिए हाथी और घोड़ों तक को वर्षो शिक्षा दी जाती थी, फिर सैनिको को सुशिक्षित बनाने की योजना का होना अवश्यम्भावी है। सैन्य-शिक्षण का विशद वर्णन वैदिक युग के पश्चात लिखे हुए ग्रन्थों में प्राय: मिलता है। उपनिषदों में क्षत्र-विद्या या युद्ध-विद्या के अध्ययन करने के उल्लेख मिलते है।[2] महाभारत मे महर्षियों के आश्रमों में वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त ब्राह्मण-आचार्यो के द्वारा धनुर्वेद की शिक्षा देने के

---

१. *Annual Report of South India for 1912 No. 201*

२. छान्दोग्य ७.१.२

असंख्य उल्लेख मिलते हैं। ऐसे आचार्यों में भरद्वाज, द्रोण, परशुराम आदि के नाम प्रमुख हैं। इनके शिष्यों में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों के शिष्य होते थे। क्षत्रिय कुमारों को धनुर्वेद, अश्वपृष्ठ (घोड़े की सवारी), गदा-युद्ध, असिचर्म (ढाल और तलवार का प्रयोग), गज-शिक्षा और नीति-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। धनुर्वेद के चार पाद और १० विधायें होती थीं। विद्यार्थी श्रम और व्यायाम में कुशल होते थे।[१] द्रोणाचार्य ने कौरव और पाण्डव कुमारों के साथ अनेक देशों के राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी। साथ ही वे अपने पुत्र को भी पढ़ाते थे। उस समय कुमारों को चार स्थितियों में युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी—घोड़े, हाथी या रथ पर बैठे हुए अथवा भूतल पर खडे होकर बाण चलाना, गदा-युद्ध, असिचर्या, तोमर, प्रास, शक्ति द्वारा प्रहार करना और सकीर्ण युद्ध (अनेक वीरो से घिरे होने पर उन सभी से युद्ध करना) सिखाया जाता था।[२] राजाओं को हस्ति-सूत्र, अश्व-सूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद-सूत्र, यन्त्र-सूत्र, नागर-सूत्र और विष-योग आदि का सतत अभ्यास करना पड़ता था।[३] अर्थशास्त्र के अनुसार १६ वर्ष की अवस्था तक राजकुमार त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का अध्ययन करता था। इसके पश्चात् दिन के प्रथम भाग मे वह हाथी, घोडे, रथ और शस्त्र-सम्बन्धी शास्त्रो का अध्ययन और अभ्यास करता था। वैदिक साहित्य के शिक्षण के साथ धनुर्वेद या युद्ध-विद्या सीखने की सुविधा तक्षशिला के विश्वविद्यालय मे थी। कुछ ब्राह्मणकुमार भी धनुर्वेद का अभ्यास करके उसी के द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करते थे। उपर्युक्त विद्याओं के साथ पटरे चीरना, लोहा चीरना आदि सरकम की विद्याये भी तक्षशिला मे सिखाई जाती थी।[४] सैनिक की परीक्षा भी होती थी।[५]

सैन्य-शिक्षण के लिए प्राचीन काल के महाविद्यालयों की उच्चता की कल्पना बाण के कादम्बरी के उस प्रकरण से भी होती है, जिसमे उसने शिप्रा नदी के तट पर स्थित राजकीय विद्यामन्दिर के तुरग-वाह्याली विभाग का वर्णन किया है। इसके नीचे व्यायामशाला थी। इस विद्यालय मे राजनीति, व्यायामविद्या, शस्त्र-विद्या (चाप, चक्र, चर्म, कृपाण, शक्ति, तोमर, परशु, गदा आदि से सम्बद्ध), रथ-चर्या,

---

१. महाभारत आदिपर्व १०२.१६–१८; २१३ ६५–६६
रामायण बाल० १८ २५–२८
२. महाभारत आदिपर्व १३३वाँ अध्याय
३. महाभारत सभापर्व ५.१२१–१२३
४ सरभग जातक ५२२, असदिस जातक १८१; महाभारत आदिपर्व १२०.४
५. चुल्लकालिंग-जातक ३०१

गजपृष्ठ, तुरंगम, हस्ति-शिक्षा, तुरगवयोज्ञान, यन्त्र-प्रयोग, विषापहरण, सुरुङ्गोपभेद, तरण, लंघन, प्लुति, आरोहण, सर्वदेशभाषा आदि का शिक्षण होता था ।[१]

राजनीति

राजनीति का अध्ययन भारत में साधारणतः धर्मशास्त्र के अन्तर्गत रहा है। वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करते हुए सूत्र-युग से ही राजा के प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व और कर्तव्यों का विशद विवेचन किया गया है। स्मृति-साहित्य में प्रायः राजा के समक्ष प्रजा की अभ्युदय-सम्बन्धी योजनायें प्रस्तुत की गई हैं और साथ ही बताया गया है कि राजा किस प्रकार राष्ट्र और प्रजा की रक्षा करे।[२] महाभारत में स्थान-स्थान पर राजनीति का विवेचन किया गया है और इसके शान्तिपर्व में राजनीति के व्यापक स्वरूप का निदर्शन किया गया है। सूत्र, स्मृति-साहित्य तथा पुराणेतिहास प्राचीन काल के पाठ्य-क्रम में प्रायः सदा समन्वित रहे हैं। अर्थशास्त्र प्रधान रूप से राजनीति का ग्रन्थ है। इसमें राजकुमारों को दण्ड-नीति के अध्ययन करने का विधान दिया गया है। इसके अनुसार दण्डनीति वह विद्या है, जिसके द्वारा अलब्ध का लाभ होता है, लब्ध की रक्षा होती है और रक्षित का सवर्धन होता है।[३] अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर राजनीति के अगणित आचार्यो की रचनाओं और मतों के उल्लेख मिलते हैं। प्रायः इन सबका देश और काल के भेद से अध्ययन-अध्यापन होता था। विजिगीषु राजाओं के लिए भूगोल का अध्ययन अपेक्षित था।[४]

व्यावसायिक विषय

व्यावसायिक या औद्योगिक विषयों का शिक्षण प्रायः सदा ही तत्सम्बन्धी आचार्यों के साथ ही काम करते हुए विद्यार्थी प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार साधारणतः व्यावसायिक वर्ग के लोग अपने कुल और परम्परा की विद्यायें उत्तराधिकार के रूप में सीखते थे। कुछ व्यवसायों और शिल्पों को सीखने के लिए वेद-वेदाङ्ग आदि की शिक्षण-संस्थाओं मे प्रबन्ध किया गया था। यह शिक्षण प्रायः उन उच्चवर्गीय विद्यार्थियों के लिए था, जो प्रमुख रूप से वेद-वेदांग आदि पढ़ते थे। तक्षशिला के विश्वविद्यालय मे प्रायः १८ शिल्पों

---

१. कादम्बरी पूर्वभाग पृ० ७४–७५

२. मनुस्मृति अध्याय ७

३. अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षिणी रक्षितविवर्धनी आदि दण्डनीति के विशेषण देखिये अर्थशास्त्र १.४.६। विष्णुपुराण १.१९.२५–२६ में राजकुमारों को राजनीति पढ़ाने का विधान मिलता है।

४. राजशेखर ने भुवनकोश नामक ग्रन्थ की रचना इसी अभिप्राय से की थी। काव्यमीमांसा अध्याय १७

की शिक्षा देने की व्यवस्था थी। इन शिल्पों में कुछ तो प्रधान रूप से व्यावसायिक ही थे, जैसे तक्षण, कृषि, पशु-पालन, व्यापार, मृगया, इन्द्रजाल आदि।[1] महाभारत में पाण्डव-कुमारों के विविध व्यवसायों में निष्णात होने का परिचय उनके विराट नगर में वास करने के प्रकरण से प्राप्त होता है। युधिष्ठिर का जुआ खेलना, अर्जुन का प्रसाधन-कर्म, भीम का पाचक का काम करना, नकुल की अश्व-विद्या और सहदेव का गोपालन आदि सिद्ध करते हैं कि राजकुमारों को कुछ व्यावसायिक शिक्षाओं का अध्ययन करना अपेक्षित था। बौद्ध साहित्य के अनुसार व्यावहारिक विज्ञान की बहुविध शिक्षा का प्रचलन था। यथा, वास्तु-विद्या, क्षेत्र-विद्या, पक्षि-विद्या, मणि-लक्षण, वस्त्र-लक्षण, असि-लक्षण, हस्ति-लक्षण, ज्योतिष आदि। इन्हें हीन विषय कहा जाता था।[2] अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राजकुमारों के लिए भी 'वार्ता' विद्या सीखने का विधान बनाया है। वार्ता है कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य।[3] राजकुमार वार्ता का अध्ययन इन विषयों के अध्यक्षों की अधीनता में करता था।[4] तत्कालीन शिला-लेखों से ज्ञात होता है कि कलिंग के राजकुमारों को जहाज चलाना सिखाया जाता था और वैदेशिक व्यापार की शिक्षा दी जाती थी।[5]

आयुर्वेद

भारत में आयुर्वेद की परम्परा अतिशय प्राचीन है। वैदिक काल में अश्विद्वय की आयुर्वेद सम्बन्धी सिद्धियों को देखने से ज्ञात होता है कि यह विज्ञान पर्याप्त प्रगति कर चुका था। अथर्ववेद के उल्लेखों से इस मत की पुष्टि होती है। अथर्ववेद के महर्षियों की परम्परा में आयुर्वेद का ज्ञान सतत संचित रहा। परवर्ती युग का आयुर्वेद नामक उपवेद इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।[6]

आयर्वेद को शैक्षणिक संस्थाओं में बौद्धयुग में महत्त्वपूर्ण स्थान मिल चुका था। जीवक ने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में सात वर्षों तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था।[7] शिल्पों में आयुर्वेद का प्रमुख स्थान था। छान्दोग्य उपनिषद में सर्प-

---

१. *Educatiot in Ancien India P. 306*

२. दीघनिकाय १.१

३. अर्थशास्त्र १.४.१

४. अर्थशास्त्र १.५.८

५. *Hunter: Orissa Vol I. p. 197*

६. आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है। सुश्रुत इसे अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं।

७. महावग्ग ८.६-८

विद्या के अध्ययन का उल्लेख मिलता है।[1] यह विद्या सम्भवतः सर्पों का विष दूर करने के लिए उपयोगी होती थी। चरक और सुश्रुत की संहिताओं में आयुर्वेद के आचार्यों की नामावली है और उनकी शिक्षण-पद्धति एवं विद्यार्थियों के जीवन की आचारमयी निष्ठा का वर्णन मिलता है।[2]

बौद्ध शिक्षण-संस्थाओं में आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन पर ध्यान दिया जाता था। नालन्दा के विश्वविद्यालय में चिकित्सा-विद्या की पढ़ाई होती थी। इसके अन्तर्गत रोगों का निदान करने के लिए शल्य-चिकित्सा और औषधियों के प्रयोग सिखाए जाते थे।[3] इत्सिंग के अनुसार आयुर्वेद के पाठ्य क्रम के ८ विभाग थे—(१) अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्रण की चिकित्सा (२) ऊर्ध्वाङ्ग-चिकित्सा (३) शारीरिक रोग (४) आधिदैविक रोग (५) विष-चिकित्सा (६) कौमार भृत्य (७) काया-कल्प (८) अंगों को सशक्त बनाना। आयुर्वेद का अध्ययन सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य था।[4]

अन्य विद्यायें

अन्य विद्याओं मे सबसे अधिक महत्त्व चारित्रिक विकास की योजनाओ का रहा है। चारित्रिक विकास के लिए जीवन को सदाचार के द्वारा शुद्ध बनाना और तप एवं योग के द्वारा अपनी काम करने की शक्तियों को उल्लसित करने का अभ्यास कराया जाता था। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों संस्कृतियों के विद्यालयों मे इस विषय के शिक्षण को समान रूप से अपनाया गया।

छान्दोग्य उपनिषद् मे विद्याओं की लगभग २० शाखाओ का परिगणन किया गया है।[5] इनमें से अनेक तो ऐसी है, जिनके सम्बन्ध में अभी तक निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनका स्वरूप और विस्तार-परिधि क्या थी। सम्भव है, परवर्ती युग में उन विद्याओं का किसी दूसरे नाम से प्रचलन रहा हो। महाभारत में संसर्गविद्या पढ़ने का उल्लेख है।[6]

जातक-युग मे सभी मतों की विद्याये सीखने तथा देश-व्यवहार का पर्यालोचन करने के लिए विद्यार्थियों के पर्यटन करने का उल्लेख मिलता है।

१. छान्दोग्य ७.१.२
२ चरक संहिता विमानस्थान ३.२
३. वाटर्स भाग १ पृ० १५४
४. *Record of the Western World p. 170-175*
५. छान्दोग्य० ७.१.२
६. आदिपर्व १०८.१६ के अनुसार यह वर्तालाप की विद्या थी।

इस प्रकार पर्यटन करते हुए राजकुमार भी स्वेच्छा से हाथी हाँकना सीख सकता था।[१] प्रथम शती ईसवी पूर्व में राजकुमार खारवेल को लेख, रूप, गणना, व्यवहार और विधि आदि विद्याओं की शिक्षा दी गई थी। इस प्रकार वह सर्वविद्यावदात हो गया था।[२] इसी युग में शकुन-ज्ञान, स्वप्न-विचार, धूमकेतु से भविष्य-विचार, उल्कापात-विचार, भूकम्प, आकाशीय भविष्य-सूचनायें, चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण, अंकगणित, पशु-पक्षियों से निमित्त-ज्ञान, इन्द्रजाल, काव्य-रचना आदि विषयों के अध्ययन और अध्यापन का प्रचलन था।[३]

सातवीं शती में बाण के अनुसार अध्ययन के विषय थे पुरुषलक्षण, पुस्तक-व्यापार, लेखाकर्म, द्यूतकला, शकुनिरुत-ज्ञान, रत्नपरीक्षा, दन्तव्यापार, यन्त्र-प्रयोग, विषापहरण, रतितन्त्र, सर्वसंज्ञा आदि।[४] इनमें से यन्त्र-प्रयोग का विशेष महत्त्व है। यह महाभारतीय यन्त्र-सूत्र से सम्बद्ध प्रतीत होता है। यन्त्र सम्भवतः उन कार्य-परायण साधनों या मशीनों के नाम थे, जिनकी कार्य-शक्ति प्रत्यक्ष नहीं होती थी।[५] ह्वेनसाँग ने नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्ययन-अध्यापन के विषयों की चर्चा करते हुए जिन पंचविषयों का उल्लेख किया है, उनमें विज्ञान-विद्या का भी स्थान है। इस विज्ञान-विद्या में यन्त्रों के सिद्धान्त और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया जाता था।[६] यन्त्र-विद्या आजकल की इंजीनियरिंग के समकक्ष थी। रामायण में यन्त्रों के द्वारा भारी-भरकम पेड़ चौर पत्थरों को उठाकर रामसेतु की रचना का वर्णन है। अर्थशात्र में युद्ध-सम्बन्धी बहुविध यन्त्रों का उल्लेख मिलता है। मनु ने महायन्त्र-प्रवर्तन को उपपातक माना है।[७]

दसवीं शताब्दी में कश्मीर में गली-गली में योग-विद्या तथा प्राणायाम शिक्षा के केन्द्र बने हुए थे।[८] कविता करने के लिए उत्सुक विद्यार्थी गुरुकुल में इस विषय की शिक्षा प्रधान रूप से लेते थे।[९]

---

१. दरीमुख-जातक ३७८

२. देखिये हाथीगुम्फा-लेख—ततो लेख-रूप-गणना-व्यवहार-विधि-विसार-देन सवविजावदातेन आदि।

३. मिलिन्दपंहो ४.३.२६ ४. कादम्बरी पृ० ७५

५. गीता के 'यन्त्रारूढानि मायया' से भी सम्भवतः इसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।

६. वाटर्स भाग १ पृ० १५४ ७. मनु० ११.६३

८. राजतरंगिणी ८.७४ ९. काव्य-मीमांसा पंचम अध्याय से

विद्यालय

सुदूर प्राचीन काल से लेकर आज तक भारत में अध्यापन पुण्य का कार्य माना गया है। गृहस्थ-ब्राह्मण के पाँच नैत्यिक महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ सर्वोच्च है, जिसमें विद्यार्थियों को शिक्षा देना प्रधान कर्म है।[1] इसके लिये प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ के पास शिष्यों का होना आवश्यक है। उन्हीं शिष्यों में आचार्य के पुत्र भी होते थे। इस प्रकार प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ का घर विद्यालय था। ऐसे विद्यालयों का प्रचलन वैदिक काल में विशेष रूप से था।[2] महाभारत में भी गृहस्थाश्रम में रहने वाले आचार्यों के अपने घर में अध्यापन करने के उल्लेख मिलते हैं।[3]

प्राचीन भारत ने शीघ्र ही इस सत्य का उद्घाटन कर लिया कि विद्या की पूर्णता के लिए दूर देश जाना ही चाहिए। यथा

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद् देशान्तरं हृष्टः ॥ पंचतन्त्र १.४३१

वैदिक विद्यालय

उपर्युक्त वैदिक विद्यालयों के सम्बन्ध में इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे बड़े नगरों में नहीं होते थे। विद्यालयों की स्थिति साधारणतः नगरों से दूर वनों में होती थी। महर्षि गृहस्थ होने पर भी अपने रहने के लिये वनभूमि को ही प्रायः चुनते थे। जिन वनों, पर्वतों और उपनद-प्रदेशों को लोगों ने स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए उपयोगी माना और जहाँ ग्रीष्म-ऋतु का सन्ताप प्रखर नहीं था, उन्हें

---

१. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। मनुस्मृति ३.७०

२. वैदिक साहित्य में आचार्य-कुल में वेदाध्ययन करने का उल्लेख मिलता है। देखिये छान्दोग्य ८.१५.१; ४.१.१ तथा २.२३.६। बृहदारण्यक ३.७.१ के अनुसार मद्रप्रदेश में पतञ्जल के घर में यज्ञ-विद्या के अध्ययन करने वाले शिष्य रहते थे। कुछ राजा राजधानी में शिक्षण-कार्य करते थे। बृ० ३.६.२.१-७

३. महाभारत आदि० ३.८१ के अनुसार गृहस्थाश्रम के आचार्य वेद अपने तीन शिष्यों को घर पर पढ़ाते थे। आचार्य धौम्य के गुरुकुल के चारों ओर खेत लहलहाते थे और वहाँ पशुओं के चरने के लिये गोचर-प्रदेश था। आदिपर्व ८३.२१। व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कराया था।

आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयों के लिए चुना।[1] विद्यालय प्रायः वहीं होते थे, जहाँ आचार्यों की गौओं को चरने के लिए घास का मैदान होता था, हवन की समिधा वन के वृक्षों से मिल जाती थी और स्नान करने के लिए निकट ही कोई सरोवर या सरिता होती थी। तत्कालीन वैदिक विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य और तप का विशेष महत्त्व था। इनकी सिद्धि के लिए भी नगर और ग्राम से दूर रहना अधिक समीचीन है। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान के शिक्षक-ऋषियों की आवास-भूमि अरण्य को ही बताया गया है। इन्हीं ब्रह्मज्ञानियों के समीप ब्रह्मज्ञान के विद्यार्थी पहुँचते थे।[2] अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का पर्याय समझा जाने लगा।[3]

महाभारतीय विद्यालय

महाभारत में कण्व, व्यास, भरद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते हैं। इनमें से कण्व का आश्रम जिस वन में था, वह अतिशय मनोरम था। उसमें सर्वत्र सुगन्धि थी। वायु पराग-मिश्रित थी। ऊँचे वृक्षों की छाया सुखदायिनी थी। वनों के वृक्षों में कण्टक नहीं थे। वे फल देते थे। सभी ऋतुओं में कुसुमों की शोभा मनोहारिणी थी। वायु के संचार के साथ पथिकों के ऊपर वृक्ष अनायास ही पुष्प-वृष्टि करते थे। इस वन में मालिनी नदी के तट पर महर्षि कण्व का आश्रम था। अनेक महर्षियों के आश्रम आसपास थे। चारों ओर वृक्ष कुसुमों से अलंकृत थे। पथिकों को घास सुख पहुँचाती थी। पक्षियों का कल-कल निनाद मधुर लगता था। नदी के तट पर ध्वज की भाँति आश्रम प्रतिष्ठित था। हवन की अग्नि प्रज्वलित थी। पुण्यात्मक वैदिक मन्त्रों के पाठ हो रहे थे। तपस्वियों से तो आश्रम की शोभा में अतिशय वृद्धि हो रही थी।[4] कण्व के आश्रम में विविध दार्शनिक विषयों पर विद्यार्थियों के लिए व्याख्यान होते थे और वेद-वेदाङ्गों पर विवाद होते थे।[5] महर्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर था। इस आश्रम में व्यास की अध्यक्षता में सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेद पढ़ते थे।[6] महर्षि शौनक का आश्रम नैमिषारण्य में था।

---

१. आश्रमों की प्रतिष्ठा के साथ ही सम्बद्ध प्रदेशों के निवासियों का आर्यीकरण होता था। आर्यों के उपनिवेश का आरम्भ आश्रम से होता था। सुदूर दक्षिण से लेकर हिमालय पर्वत तक सभी वन-प्रदेशों में, नदियों के तट पर और पर्वत-नितम्बों पर आर्य-सभ्यता के उपनिवेश संस्थापित हुए और उन-उन प्रदेशों का आर्य-दृष्टि से अभ्युदय हुआ।

२. मुण्डक उप० १.२.११-१२

३. यदरण्यायनमित्याक्षते ब्रह्मचर्यमेव। छान्दोग्य उप० ८.५.३

४. महा० आदिपर्व ७०

५. महा० आदिपर्व ७०.३७-४६

६. महा० शान्तिपर्व ३२७वाँ अध्याय

के कुलपति थे । उनके आश्रम में १२ वर्ष का सत्र चल रहा था । इसी सत्र में उग्रश्रवा नामक सूत ने महाभारत सुनाया था ।[1] महर्षि भरद्वाज गंगाद्वार (हरिद्वार) में रहते थे । उनके विद्यालय में वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा के साथ अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा भी दी जाती थी । राजा द्रुपद ने इस आश्रम में द्रोण के साथ शिक्षा पाई थी ।[2] परशुराम का आश्रम महेन्द्र-पर्वत पर था । उसमें प्रयोग, रहस्य और उपसंहार-विधि के साथ सभी अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा दी जाती थी ।[3] महाभारत-काल में अनेक आचार्य अपने शिष्यों को साथ लेकर विचरण करते हुए अध्यापन कराते रहते थे ।[4] दुर्वासा और वैशम्पायन ऐसे आचार्यों में सर्वप्रमुख थे । वसिष्ठ का आश्रम मेरु पर्वत के पार्श्व में था । वह सर्वर्तु-कुसुमावृत था । वन में स्वादिष्ठ मूल-फल और उदक थे । वहाँ पुण्यवान् लोग रहते थे ।

प्रयाग में रामायण-काल में भरद्वाज का रम्य आश्रम संगम के समीप था । उस आश्रम में विविध प्रकार के वृक्ष कुसुमित थे, चारों ओर होम का धूम छाया रहता था । संगम की दोनों नदियों के जल के संघर्ष की ध्वनि का कलकल आश्रम भर में सुनाई पड़ता था । वहाँ पर विविध प्रकार के रम्य वन्य अन्न और मूल-फल मिलते थे । मुनियों के साथ ही मृग और पक्षी भी वहाँ रहते थे । महर्षि भरद्वाज के चारों ओर शिष्य रहते थे । अध्ययन-अध्यापन और आवास के लिए पर्णशालाएँ बनी थीं ।[5] आश्रम-जीवन में ऋषियों और शिष्यों के अतिरिक्त हवन की अग्नि, वृक्षों और मृग-पक्षियों का महत्त्व था । भरद्वाज के आश्रम पर पहुँच कर वसिष्ठ और भरत ने मुनि से कुशल-क्षेम 'शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु' पूछा ।[6] आश्रम में आने-जाने वाले दर्शकों को ध्यान रखना पड़ता था कि आश्रम के वृक्ष, जल, भूमि और पर्णशालाओं की किसी प्रकार की हानि न हो ।[7] प्रयाग में स्थित अगस्त्य के आश्रम का वर्णन महाभारत में है ।[8]

रामायणकालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था । चित्रकूट की पवित्रता और रमणीयता ऋषियों, मृगों, कोकिलों, फल के वृक्षों और मन्दाकिनी नदी के अपनी

---

१. आदिपर्व ४.१

२. आदिपर्व १३०.३३ । महाभारत के अनुसार राजकुमारों की शिक्षा के लिए राजधानी में राजाओं की ओर से विद्यालय बनाये गये थे । भीष्मपितामह ने हस्तिनापुर में धनुर्वेद के महाविद्यालय की स्थापना की थी । आदि० १३०, ९-१४ । स्वयं अर्जुन ने धनुर्वेद के महाविद्यालय की स्थापना की थी । सभा० ४.३३ ३४

३. आदि १३०.६५
४. वन० २५९.८, २६०.२ महाभारत आदि ६३.६
५. वा० रामायण २.५४
६. वा० रामा० २.९०.८
७. वा० रामा० २.९१.९
८. महा० वनपर्व ८७.२०

से प्रसिद्ध हो रही थी।[1] वसिष्ठ का आश्रम भी उपर्युक्त विभूतियों से सुशोभित हो रहा था।[2]

रामायणकालीन दण्डकारण्य में अगस्त्य ऋषि का आश्रम वन-वृक्षों की अतिशयता से प्रभाशाली प्रतीत होता था। सभी फूले-फले वृक्ष पुष्पित लताओं से आच्छादित थे। वृक्षों के पत्ते स्निग्ध थे और पशु-पक्षी शान्त थे। इन्हीं लक्षणों से ज्ञात हो सकता था कि आश्रम समीप ही है। आश्रम का समीपवर्ती वन होम के धूम से परिव्याप्त था। आश्रम में अगस्त्य शिष्यों से परिवृत थे। इस आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान् (सूर्य), सोम, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड, कार्तिकेय और धर्म के स्थान बने हुए थे।[3] वहाँ सम्भवतः इन्हीं देवताओं से सम्बद्ध साहित्य और विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन होता था।

तक्षशिला

तक्षशिला का विश्वविद्यालय महाभारत-काल से सारे भारत में विख्यात था। यहीं पर आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद ने शिक्षा पाई थी। जातक कथाओं के अनुसार तक्षशिला नगर और राजधानी भी थी।[4] इस विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयिनी प्रदेशों से विद्यार्थी जाते थे।[5] गौतम बुद्ध के समकालीन सर्वोच्च वैद्यराज जीवक ने यहीं सात वर्षों तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था। वह पटना से पढ़ने के लिए इतनी दूर गया था।[6] इस विद्यालय में तीन वेदों के साथ हस्तिसूत्र, धनुर्वेद और १८ शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी।[7] पाणिनि और कौटिल्य ने सम्भवतः तक्षशिला में शिक्षा पायी थी।

---

१. वा० रामायण बाल० ५६.१६

२. वा० रामा० अयो० ५१.२३–२८ तथा १.५२.४

३. अरण्य का० ११.७५–८०; १२.१७–२१

४. पंचगरुक जातक १३२

५. तिलमुट्ठि जातक २५२; पीठ जातक ३३७; दरीमुख जातक ३७८; ब्रह्मदत्त जातक ३२३

६. महावग्ग ८। इस युग में आसपास के नगरों में प्रसिद्ध आचार्यों के होते हुए भी राजकुमारों के लिए आवश्यक था कि दूर देशों में जाकर शिक्षा प्राप्त करें जिससे उनका मान-मर्दन हो, शीत और उष्ण सहने का अभ्यास हो और वे लोक-व्यवहार सीखें। तिलमुट्ठि जातक २५२। महाभारत अनुशासन पर्व ३६.१५ के अनुसार अपने आप या पिता के घर में पढ़े हुए पण्डित ग्राम्य कहे जाते हैं।

७. सुसीम जातक १६३; असदिस जातक १८१ तथा घुस जातक

तक्षशिला विश्वविद्यालय के अवशेष अब भी मिलते हैं। इस विद्यालय का प्राकृतिक दृश्य रमणीय था। समीप ही एक नदी बहती थी। विद्यालय-भवन पहाड़ियों पर बने हुए थे।

जातक-युग में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की संख्या बहुत अधिक थी। नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर वेद और शिल्प-विद्याओं में निष्णात विद्वान् ऋषि-प्रव्रज्या लेकर हिमालय पर रहते थे। उन ऋषियों के साथ शिष्य भी रहा करते थे, जिनकी संख्या कभी-कभी ५०० तक जा पहुँचती थी। आचार्य अपनी शिष्य-मण्डली के साथ कभी-कभी पर्यटन करते हुए हिमालय से चलते-फिरते काशी तक आ पहुँचते थे।[1] राजाओं की ओर से ब्रह्मदेय नामक भूमि कोसल और मगध में दी गई थी। ये प्रदेश विद्यार्थियों के भरण-पोषण के लिए समृद्ध थे। इनमें ब्राह्मण वेद-विद्या का अध्यापन कराते थे।[2]

पाणिनि की जन्म-भूमि शालातुरी उच्चकोटि के व्याकरण के आचार्यों की नगरी रही है। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि व्याकरण का ज्ञान इस नगरी में शिष्य-परम्परा से चल रहा है और इसका अध्ययन बहुत चाव से हो रहा है। यहाँ के अध्ययनशील और अनुसन्धानपरायण ब्राह्मण विख्यात हैं।[3]

जातक-युग में काशी वेद-विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन के लिए विख्यात थी। बोधिसत्त्व के काशी के विद्यालय में सौ राष्ट्रों से आये हुए ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुमार वैदिक साहित्य का अध्ययन करते थे।[4]

मन्दिर-विद्यालय

ऊपर जिन आचार्यों और महर्षियों के आश्रमों का वर्णन किया गया है उनकी पुण्यदायिनी और उन्नतिमयी शक्तियों से रामायण और महाभारत-काल के लोग प्रभावित रहे हैं। आश्रमों में यज्ञ होते थे और वहाँ देवताओं को प्रतिष्ठा होती थी।[5] रामायण के अनुसार अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि महर्षियों के आश्रम तीर्थ थे। तीर्थ बने हुए उपर्युक्त आश्रमों के नाम आयतन और पुण्यायतन

---

१. केसव जातक के अनुसार कल्पकुमार नामक काशी-राष्ट्रवासी ब्राह्मण तक्षशिला में सभी विद्यायें सीखकर ऋषि-प्रव्रज्या से प्रव्रजित होकर हिमालय पर तप करने वाले महर्षि केशव का प्रधान शिष्य बना। केशव के शिष्यों की संख्या ५०० थी।

२. दीघनिकाय १.३–५,१३

३. वाटर्स ह्वेनसांग भाग १ पृ० २२२

४. नंगलीस जातक, कोसिय जातक

५. महाभारत वनपर्व ८२.९५,१०९,१२८; ८५.७७.८२। वनपर्व ८७वें अध्याय में यज्ञ के कारण बने हुए अनेक तीर्थों के उल्लेख हैं।

भी मिलते हैं। आयतन और पुण्यायतन शब्द 'पवित्र करने की शक्ति रखने वाले स्थान' के अर्थ में प्रयुक्त हुए।[1] इन्हीं आश्रमों और तीर्थों में परवर्ती पौराणिक युग में मन्दिर बनने लगे। अग्निपुराण के अनुसार—

तीर्थे चायतने पुण्ये सिद्धक्षेत्रे तथाश्रमे।
कर्तुरायतनं विष्णोर्यथोक्तात् त्रिगुणं फलम् ॥३८.१५॥

इससे सिद्ध होता है कि आश्रम, तीर्थ और पुण्यायतनों में मन्दिर बनवाने का प्रचलन विशेष रूप से हुआ। आश्रमों में देवों के स्थान तो होते ही थे। पौराणिक युग में मन्दिर भी वहीं बनने लगे।[2] मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती थीं। तीर्थों और आश्रमों के मन्दिरों में देवताओं के साथ ही महर्षियों की प्रतिष्ठा हुई।[3] पुराण-कालीन मन्दिरों की व्यवस्था के लिए राजाओं की ओर से धन मिलता था। इस धन से देवपूजा के साथ-साथ स्थानीय आचार्यों का भरण-पोषण होता था। इस प्रकार प्रायः सभी मन्दिर उच्चकोटि के विद्वानों के आश्रम बन गये। उनसे सम्बद्ध विद्यालय चलने लगे। मन्दिरों के विद्यालय-स्वरूप का परिचय ह्वेनसाँग के इस लेख से भी मिलता है :—Beside the capital and close to the Ganges was the I-lan-na mountain; the dark mists of which eclipsed sun and moon. On this an endless succession of Rishis had always lodged and their teachings were still preserved in the Deva Temples.[4]

इससे सिद्ध होता है कि उन मन्दिरों में स्थानीय पूर्वयुगीन आचार्यों के ज्ञान-दर्शन का प्रवाह शिष्य-परम्परा से चलता रहा।[5]

---

१. महाभारत वनपर्व ८३.१६४; ८५.९५; ८७.२७,२८। आश्रम का अर्थ भी तीर्थ हो चुका था। वनपर्व ८७.२,२५

२. महाभारत के अनुसार मुनियों के आश्रम में देवायतन बनते थे। देखिये अनुशासन पर्व १०.२०। मुनि तो शिक्षक होते ही थे। बुद्धचरित ७.३३ के अनुसार 'जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठ' होते थे और तपस्वियो के रहने के लिए मठ होते थे। बुद्धचरित ७.४।

३. देवताओं के स्थानों के आश्रमों में प्रतिष्ठित होने का उल्लेख देखिए रामायण अरण्य० १२वाँ सर्ग। रामायण-काल में यज्ञों का विशेष प्रचलन था। देवस्थान उस समय यज्ञ के लिए थे। पौराणिक युग में जब यज्ञों का स्थान बहुत कुछ देव-पूजा ने ले लिया तो देव-प्रतिष्ठा को प्रधानता सर्वमान्य हुई और पूर्वयुग के पुण्यायतन ही आगे चल कर मन्दिर-रूप में प्रतिष्ठित हुए।

४. वाटर्स ह्वेनसांग-भाग २ पृ० १७८

५. कल्हण ने लिखा है—

रामजाख्यमुपाध्यायं ख्यातव्याकरणश्रमम्।
व्याख्यातृपदकं चक्रे स तस्मिन् सुरमन्दिरे॥

यह मन्दिर अवन्ति वर्मा के मन्त्री शूर का था। राजतरंगिणी ५.२९

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि पाँचवीं शती ई० पू० के लगभग से आचार्यों के विद्यालयों में से अनेक आश्रम के साथ-साथ मन्दिर बन गये। उन मन्दिरों की रूप-रेखा आधुनिक मन्दिरों से भिन्न थी। उनको यदि विद्यामन्दिर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मन्दिरों में पूर्ववर्ती आश्रम-जीवन का आदर्श चल रहा था। पौराणिक युग में मन्दिर धर्म-सम्बन्धी अभ्युदय के प्रमुख प्रतीक रहे हैं। यहीं से धार्मिक भावनाओं की सरिता का सर्वत्र प्रवाह होता था। धर्म के उन्नायक मन्दिरों में प्रतिष्ठित हुए। मन्दिरों में अध्यापन करना पुण्यावह माना गया।[1]

ह्वेनसाँग ने अपनी भारत-यात्रा के वर्णन में तत्कालीन भारत के प्रमुख महाविद्यालयों का वर्णन किया है। कामरूप (आसाम) की शिक्षण-संस्थाओं की चर्चा करते हुए उसने लिखा है—कामरूप वैदिक शिक्षा का केन्द्र है। राजा भास्कर वर्मा ने स्वयं कामरूप में विद्यालय की प्रतिष्ठा की है। इस विद्यालय की ख्याति इतनी बढ़ गई है कि दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए वहाँ आते हैं। काशी, कलिंग, उज्जयिनी, चित्तौड़ आदि प्रदेशों के विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करते हैं। राजा और प्रजा दोनों विद्या-व्यसनी हैं।[2]

ह्वेनसाँग ने जिस प्रकार विहारों के साथ भिक्षुओं की संख्या बतलाई है, उसी प्रकार देव-मन्दिरों के साथ तीर्थिकों की संख्या का परिगणन किया है। कुलूय प्रदेश का वर्णन करते हुए उसने लिखा है—यहाँ विहार तो नहीं है, पर १०० के लगभग देव-मन्दिर हैं, १०,००० तीर्थिक हैं।[3] उपर्युक्त कोटि के ह्वेनसाँग के असंख्य उल्लेख मिलते हैं। इनको देखने से प्रतीत होता है कि बौद्ध संस्कृति में शिक्षण के लिए जो स्थान विहारों का था, वही स्थान ब्राह्मण संस्कृति में मन्दिरों का था। ह्वेनसाँग के समय में प्रयाग में कई सौ मन्दिर और दो विहार थे। काशी में २० देव-मन्दिर थे। इनके भवनों में अनेक तल थे। पास के वृक्ष-कुंज से समीपवर्ती प्रदेश में सर्वत्र छाया होती थी और उनसे होकर स्वच्छ जल के सोते बहते थे। जालन्धर के तीन देव-मन्दिरों में ५०० पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी रहते थे। कुलूतो प्रदेश में २० विहारों के अतिरिक्त १५ देवमन्दिर बुद्धेतर सम्प्रदाय वालों के थे। थानेश्वर में तीन विहार और १०० देवमन्दिर थे। स्रुघ्न में ५ विहार और ५० देव-मन्दिर थे। अहिच्छत्रा के दस विहारों में १०० से अधिक भिक्षु थे और नव

१. सरस्वती का मन्दिर विशेष रूप से विद्यादान के लिए पुण्यावह माना गया। धारा नगरी के ग्यारहवीं शती के राजा भोज के बनवाये हुए सरस्वती-मन्दिर संस्कृत के महाविद्यालय थे। इनमें सरस्वती की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। ये मन्दिर आज भी वर्तमान हैं।

२. वाटर्स, ह्वेनसाँग भाग २ पृ० १८६ ३. वाटर्स ह्वेन० भाग २ पृ० १९६

मन्दिरों में ३०० शिव के उपासक पाशुपत थे।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मन्दिर साधारणतः साम्प्रदायिक शिक्षण-संस्थायें थीं।

चौथी शती ई० से लेकर सातवीं ई० शती के ब्राह्मण-संस्कृति के विद्यालयों का परिचय तत्कालीन काव्य-साहित्य के उल्लेखों से प्राप्त होता है। कालिदास ने हिमालय पर्वत पर स्थित वसिष्ठ के आश्रम का वर्णन किया है और इस आश्रम के उपवन, नीवार-धान्य, अग्निहोत्र और विद्यार्थियों के ब्राह्म मुहूर्त में वेदघोष की विशेषताओं का आकलन किया है। आश्रम में विद्यार्थी वृक्ष लगाकर उनका संवर्धन करते थे।[2] सातवीं शती में बाण ने महर्षि जाबालि के आश्रम का वर्णन किया है। महर्षि का विद्यालय बटु-समूह के अध्ययन से गूँज रहा था। मुनियों के साथ समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी आदि लिए हुए मुखर शिष्य, मयूर, दीर्घिकायें, पर्णशालाओं के आँगन में सूखता हुआ श्यामाक, फल-राशि आदि आश्रम की विशेषतायें थी। आश्रम में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा होती थी। यज्ञ-विद्या पर व्याख्यान होते थे। धर्मशास्त्र की आलोचना होती थी। पुस्तकें पढ़ी जाती थीं। सभी शास्त्रों के अर्थ का विवेचन होता था। कुछ मुनि योगाभ्यास करते थे, समाधि लगाते थे और मन्त्रों की साधना करते थे। आश्रम में पर्णशालाएँ बनाई जाती थी और आँगन लीपे जाते थे। सारा वातावरण पवित्र और रमणीय था। बाण के शब्दों में वह दूसरा ब्रह्मलोक ही था।[3] हर्षचरित में बाण ने राज्यश्री को ढूँढ़ने की हर्ष की यात्रा के प्रसङ्ग में अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों से अलंकृत दिवाकर मित्र के आश्रम का वर्णन किया है। विन्ध्यवन के इस आश्रम में आचार्य परस्पर विवाद के माध्यम से अपने ज्ञान का संवर्धन करते थे।

गुरुकुल

सातवीं शती के गुरुकुलों का स्वयं देखा वर्णन बाण ने किया है। बाण ने १४ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में अध्ययन किया था। वहाँ से समावर्तन के पश्चात् निकलने पर वह पुनः अनेक गुरुकुलों में पर्यटन करते हुए पढ़ता रहा। इन गुरुकुलों का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि इनमें विमल विद्या का प्रकाश था। वे साक्षात् ही वेदों के तपोवन थे और इनमें उपाध्याय श्रमपूर्वक अध्यापन करते थे।

बाण के गाँव में जो ब्राह्मण रहते थे, उनके घर गुरुकुल-स्वरूप थे, जिनमे वेद और तत्सम्बन्धी अन्य विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। इन गुरुकुलों में बहुत से छोटे-

---

१. वाटर्स ह्वेनसाँग भाग १ पृ० २९२, २९६, २९८, ३१४, ३१८, ३२२, ३३१, ३६१

२. रघुवंश १.४९–५३; ५.८२

३. कादम्बरी पूर्वभाग ३९-४०

छोटे ब्रह्मचारी यज्ञ-विद्या सीखने आते थे। उन्हें ब्राह्मण-गृहपति वेद, व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांसा आदि की शिक्षा देते थे। गुरुकुलों में सर्वदा वेदों का पाठ होता था, यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित रहती थी, हवन होता था और विधिपूर्वक यज्ञ किये जाते थे। राज-तरंगिणी में कल्हण ने आचार्यों के घर का विद्यालय होना बतलाया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि सातवीं शती में वैदिक परम्परा के गृहस्थ-आचार्यकुलों की शिक्षण-संस्थायें प्रायः गुरुकुलों के नाम से प्रचलित रहीं, साथ ही वानप्रस्थ महर्षियों की शिक्षण-संस्थाओं का वन की प्राकृतिक उदारता की पृष्ठभूमि में अभ्युदय हो रहा था। इनके अतिरिक्त मन्दिरों में शिक्षा देने वाली संस्थाओं की संख्या भी अत्यधिक हो चली थी। मन्दिर-महाविद्यालयों के अवशेष अब भी पर्वत-प्रदेशों के एलौरा आदि गुफा-मन्दिरों में मिलते हैं।

मन्दिरों के शिक्षण-संस्था होने के बहुसंख्यक ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शती से मिलते हैं। बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में सलोती के मन्दिर में त्रयी पुरुष की प्रतिष्ठा राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण के द्वारा की गई थी। इसका प्रधान कक्ष, जो ९४५ ई० में बनवाया गया था, विद्यालय था। विद्यालय में अनेक जनपदों से विद्यार्थी आते थे और उनके रहने के लिए २७ छात्रावास बने हुए थे। विद्यालय-भवन ग्यारहवीं शती में जीर्ण होकर गिर पड़ा और उसका पुनर्निर्माण किया गया।

एन्नायिरम् के वैदिक विद्यालय की प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शती के आरम्भिक भाग में हुई थी। यह अर्काट प्रदेश के दक्षिण भाग में अवस्थित था। इसमें ३४० विद्यार्थियों के अध्यापन की व्यवस्था की गई थी, जिनमें से ७५ ऋग्वेद, ७५ कृष्ण यजुर्वेद, ४० सामवेद, २० शुक्ल यजुर्वेद, १० अथर्ववेद, १० बौधायन धर्मसूत्र, ४० रूपावतार, २५ व्याकरण, ३५ प्रभाकर-मीमांसा और १० वेदान्त पढ़ते थे। इसमें १६ अध्यापक थे। विद्यालय को समीपवर्ती प्रदेश की ग्रामीण जनता चलाती थी।[2]

त्रिपलीमुट के विद्यालय की स्थापना ग्यारहवीं शती में वेंकटेश्वर के मन्दिर में हुई थी। विद्यालय में ६० विद्यार्थियों के रहने और भोजन का प्रबन्ध किया गया था। इनमें से दस ऋग्वेद के, दस यजुर्वेद के, २० व्याकरण, १० पांचरात्रदर्शन के और तीन शैवागम के विद्यार्थी थे। इनके साथ ही सात वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम के महात्मा रहते थे।[3]

१. राजत० ८.१००

२. *Annual Reports of South Indian Epigraphy 1918 p-145*

३. *Epigraphia Indica XXI No 220*

दसवीं शती में धारवाड़ जिले के हेब्बाल नगर में भुजब्बेश्वर के मन्दिर से सम्बद्ध विद्यालय था।[१] ग्यारहवीं शती में हैदराबाद राज्य के नगई नगर में जो विद्यामन्दिर था, उसमें वेद पढ़ने वाले २००, स्मृति पढ़ने वाले २००, पुराण पढ़ने वाले १०० तथा दर्शन पढ़ने वाले ५२ विद्यार्थी थे। विद्यामन्दिर के पुस्तकालय में छः अध्यक्ष थे।[२] बीजापुर के एक मन्दिर में १०७५ ई० में योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा-दर्शन की उच्च शिक्षा देते थे।[३] ऐसे ही अनेक विद्यामन्दिर दसवीं शती से लेकर चौदहवीं शती तक बीजापुर जिले में मनगोली, कर्नाटक जिले में बेलगमवे, शिमोग जिले में तालगुण्ड, तंजोर जिले में पुन्नबोयल आदि स्थानों में थे।[४]

अग्रहार

दसवीं शती के आसपास अग्रहार कोटि की शिक्षण-संस्थाओं का विशेष रूप से प्रवर्तन हुआ। राजाओं के द्वारा अथवा समाज के धनी व्यक्तियों के द्वारा जिन आचार्यों और विद्वानों को भूमि या अन्नदान दिया जाता था, वे जीविकोपार्जन-सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त होकर अपना जीवन अध्ययन-अध्यापन में लगाते थे। इस प्रकार की भूमि या अन्नदान को अग्रहार कहा जाता था।[५] अग्रहार कोटि की अन्य संस्थायें घटिका और ब्रह्मपुरी रही हैं। इस प्रकार की संस्थायें दक्षिण भारत में अधिक संख्या में थीं।

राष्ट्रकूट राजवंश की ओर से दसवी शती में कर्नाटक के धारवाड़ जिले में कदियुर अग्रहार २०० ब्राह्मणों के लिए दिया गया था। इसमें वैदिक साहित्य,

---

१. *Epigraphia Indica IV. p. 355*

२. *Hyderabad Archaeological Survey No 8 p. 7*

३. *Indian Antiquary X pp. 128-31*

४. *Epigraphisa Indica V p. 22; Epigraphia Carnatica I No. 45; Annual Reports of South Indian Epigraphy 1913 pp 109 110*

५. उच्च कोटि के आचार्यों, विद्वानों और ब्राह्मणों को जीविकोपार्जन-सम्बन्धी चिन्ता से मुक्त रखने का उत्तरदायित्व राजाओं और समाज के धनी लोगों पर सुदूर प्राचीन काल से रहा है। उपनिषद्-साहित्य में जनक के द्वारा याज्ञवल्क्य के लिए जो अपना राज्य देने की चर्चा की गई है, वह अग्रहार कोटि का दान माना जा सकता है। महाभारत के अनुशासनपर्व ६८.४ में अग्रहार देने का उल्लेख है। प्राग्बौद्ध काल में विद्वान् ब्राह्मणों के लिए ब्रह्मदान के रूप में गाँव दिये जाने का वर्णन मिलता है। सोमदत्त जातक २११ तथा नानाच्छन्द जातक २८९। गौतम बुद्ध के जीवन-काल से ही बौद्धविहारों के लिए जो भूमि, उद्यान और भवन का दान किया जाता था, वह अग्रहार का पूर्व रूप है।

काव्य-शास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण, राजनीति आदि विषयों को शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों के निःशुल्क भोजन का प्रबन्ध अग्रहार की आय से होता था।[1] सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूर के हस्सन जिले में प्रतिष्ठित था। इस अग्रहार के प्रायः सभी ब्राह्मण सर्वज्ञ ही थे और व अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक कृत्यों में लीन रहते थे।[2] मैसूर राज्य में वनवासी की राजधानी वेलगाँव से सम्वद्ध तीन पुर, पाँच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसों अग्रहार, मन्दिर और जैन एवं बौद्ध विहार थे। इनमें वेद-वेदाङ्ग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

अग्रहार की भाँति टोल नामक शिक्षण-संस्थायें उत्तर प्रदेश, बिहार और वङ्गाल में प्रचलित रही हैं। टोल नागरिकों की आर्थिक सहायता और भूदान से चलते थे और गाँवों से सम्बद्ध होते थे। गाँवों के आचार्य आसपास के गाँवों से आए हुए विद्यार्थियों के लिए भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करते थे। टोलों का महत्त्व साधारण विद्यालयों के रूप में प्रायः सदा रहा है।

मठ

शंकराचार्य ने मठों को शिक्षा-केन्द्र बनाने का अनुपम प्रयास किया। उन्होंने पुरी, काँची, द्वारिका तथा वदरी में उच्च कोटि के मठीय विद्यालयों की स्थापना की। इन मठों को स्थापना भारत की सांस्कृतिक एकता का परिचय देती है। वहाँ विद्यालयों के समीपवर्ती प्राकृतिक दृश्य मनोरम और उदात्त थे। हिरण्यमठ, कोडिय-मठ, पंचमठ आदि अन्य प्रसिद्ध संस्थायें इस कोटि की हैं। शैक्षणिक दिशा में इन मठों की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक थी। धीरे-धीरे सारे भारत में छोटे-वड़े मठीय विद्यालयों की प्रतिष्ठा हुई। कश्मीर में मठों का प्रचलन विशेष रूप से था। राजा भी मठों का निर्माण करते थे। ब्राह्मण राजा यशकर ने अपनी जन्मभूमि पर आर्य देश के विद्यार्थियों के लिए मठ बनवाया था।[3] यह संस्था अब तक विद्यमान है, परन्तु अपने प्राचीन आदर्शों को मठाध्यक्ष भूल से गये हैं।

बौद्ध विद्यालय

बौद्ध शिक्षण-संस्थाओं के प्रसिद्ध प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। गौतम ने अपने दर्शन और धर्म के अनुकूल मानव-व्यक्तित्व के विकास की जो योजना बनायी, उसमें

---

१. *Epigraphia Indica XIII p. 317*

२. *Epigraphia Carnatica V p. 114*

३. भूभुजादानशौण्डेन पैतृके स्थण्डिले कृतः।
छात्राणामार्यदेश्यानां तेन विद्यार्थिनां मठः॥

गृहस्थाश्रम का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण नही था। गौतम के पहले भी कुछ ऐसे विचारक थे, जिनके मत से गृहस्थाश्रम की उपयोगिता किसी विद्वान् या अग्रसोची व्यक्ति के लिए नहीं है।[1] ऐसी परिस्थिति में कुछ विचारशील माता-पिता स्वयं अपने पुत्र को ब्रह्मपरायण बनाने के लिए निश्चय कर लेते थे और अपने बालक की अवस्था १६ वर्ष हो जाने पर उसे सदा के लिए वन में भेज देते थे, जिससे वह अग्नि की पूजा करते हुए ब्रह्मलोकगामी हो जाय।[2] ऋषि-प्रव्रज्या के अनुसार बाल्यावस्था से लोग प्रव्रजित हो सकते थे।[3] ऋषि-प्रव्रज्या लेने वाले लोग प्रायः हिमालय पर्वत पर किसी आचार्य-महर्षि की अध्यक्षता में जीवन बिताते थे।[4] कभी-कभी वे पर्वतीय प्रदेश को छोड़कर नगरों की ओर आते-जाते थे और नागरिकों को उपदेश देते थे। ऋषि नगरों में भिक्षा माँगते थे। उनके हाथ में भिक्षापात्र होता था। राजाओं के द्वारा उनका सम्मान होता था और उन्हें वढ़िया भोजन और आसन आदि मिलता था। ऋषि वर्षा ऋतु में किसी एक ही स्थान पर रहते थे। राजा के उद्यान में इनके लिए वर्षाकाल विताने के लिए पर्णशाला बन जाती थी।[5] वनों में रहते हुए ऋषि दूर-दूर के वनों से फल-मूल आदि अपनी आवश्यकता की वस्तुयें लाते थे।[6] ऋषियों की यह प्रव्रज्या अग्नि-पूजा के विरुद्ध थी।[7] उनके जीवन-क्रम और अभ्यास वहुत कुछ ऐसे ही थे, जैसे परवर्ती युग में बौद्ध संस्कृति में प्रतिष्ठित हुए। अरक जातक के अनुसार बोधिसत्त्व एक वार ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होकर काम-भोगों को छोड़कर ऋषि-प्रव्रज्या अपना कर चारों ब्रह्म-विहारों से समापन्न होकर अरक नाम के उपदेशक हुए। वे हिमालय प्रदेश मे अनुयायियों के साथ रहते थे। अरक के उपदेश थे—'प्रव्रजित को मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए। मैत्री भावना से सुभावित चित्त अर्पणा, समाधि और

१. देखिए उदंचनि जातक १०६

२. असातमन्त जातक ६१, नंगुट्ठ जातक १४४, सन्थव जातक १६२। यही योजना वैदिक साहित्य मे वर्णित ब्रह्मचर्य का मूल रूप प्रतीत होती है। समिधा से समायुक्त होकर सामाजिक जीवन से दूर वह ब्रह्मचारी रहता ही था। उसका नैष्ठिक ब्रह्मचर्य इससे भिन्न नही था।

३. एकपण्ण जातक १४३, इन्दसमानगोत्त जातक १६१, सन्थव जातक १६२, उपसाल्ह जातक १६६, समिद्धि जातक १६७, अरक जातक, १६८ आदिच्चुपट्ठान जातक १७५

४. इन्दसमानगोत्त जातक १६१

५. एकपण्णजातक १४९

६. इन्दसमानगोत्त जातक १६१

७. नंगुट्ठ जातक १४४ और सन्थव जातक १६२

ब्रह्मपरायणता प्राप्त करता है।"[1] गौतम ने स्वयं कहा है कि प्राचीन काल में अनेक अर्हत् बुद्ध हो चुके हैं।[2]

फाह्यान ने लिखा है कि देवदत्त के अनुयायियों के भी संघ हैं। वे पूर्व के तीन बुद्धों—कश्यप, ककुच्छद और कनक मुनि की भी पूजा करते हैं, केवल शाक्यमुनि की नहीं।[3] उपर्युक्त उल्लेखों से प्रतीत होता है कि गौतम ने व्यक्तित्व के विकास की जिन योजनाओं और संस्थाओं को अपनाया, उनका पूर्वरूप भारतीय संस्कृति में सुदूर प्राचीन काल से ही चला आ रहा था।

गौतम ने प्रव्रज्या लेने वाले ऋषियों के संघीय रहन-सहन को अपनाया और उन्ही की भाँति आजीवन व्रत-निष्ठ रहने का विधान बनाया। इस जीवन-विन्यास में उन्होंने अरण्यवास और पर्णशालाओं को बहुत महत्त्व नहीं दिया।[4] बौद्ध विहार नगरों के आस-पास ही ऊँचे भवनों के रूप में बने। तत्कालीन अनेक राजाओं और धनी लोगों ने गौतम बुद्ध के समय से विहारों के बनवाने का उत्तर-दायित्व लिया। ऐसी परिस्थितियों में विहारों का राज-प्रासाद के समकक्ष होना स्वाभाविक था।

विहार

जहाँ तक विहारों के नगरों के समीप होने का सम्बन्ध है, गौतम का स्पष्ट उद्देश्य था—नागरिकों के अवगाहन के लिए अपनी उदात्त विचार-धारा को सुलभ बनाना। इसमें गौतम को सफलता मिली।[5]

भिक्षुओं को विहार में रहने की अनुमति गौतम बुद्ध ने राजगृह के नगर-सेठ के प्रार्थना करने पर दी थी। इसके पहले भिक्षु गौतम बुद्ध से शिक्षा लेने के

---

१. अरक जातक १६९

२. महापरिनिव्वान सुत्तन्त १.१६

३. फाह्यान का यात्रा-विवरण पृ० ४६। देवदत्त गौतम का समकालीन था।

४. गौतम ने अरण्य में रहने की व्यवस्था पर रोक भी नहीं लगाई। वन में विहार बनाकर भिक्षु वहाँ रहते थे। ऐसे वन गाँवों के पास होते थे, जहाँ से भिक्षा मिल सकती थी। चुल्लवग्ग ८.६।

५. नियम था कि भोजन कर लेने के पश्चात् जिसने निमन्त्रण द्वारा भोजन दिया हो, उसे अवश्य ही प्रवचन दिया जाय। यह काम सबसे जेठे भिक्षु को करना पड़ता था। लोग ऐसा प्रवचन सुनने के लिए उत्सुक रहते थे। चुल्लवग्ग ८.४.१। विहारों में जाकर नागरिक तो प्रवचन सुनते ही थे और अपने संशय का निराकरण करते थे।

लिए प्रातःकाल आ जुटते थे और दिन भर शिक्षा-ग्रहण करके रात्रि का समय वनों में, वृक्षों के नीचे, पर्वत की पार्श्व-भूमि में, गुफाओं में, श्मशान में, मैदान में अथवा घास की राशि पर बिता देते थे। गौतम बुद्ध चलते-फिरते महात्मा थे, उनकी शिष्य-मण्डली भी उनके साथ चलती-फिरती थी। जब शिष्यों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई तो सबको साथ लिए घूमना कठिन हो गया और उनको भवन में रहने के लिए अनुमति दे दी गई।

भिक्षुओं को बेघर होकर घूमने की स्थिति का अवलोकन करके राजगृह के सेठ ने उनके लिए ६० घर बनवा दिये। गौतम ने अनुमति दी थी कि भिक्षुओं के रहने के लिए पाँच प्रकार के घर हो सकते हैं—विहार, अड्ढयोग, पासाद (प्रासाद), हम्मिय (हर्म्य) तथा गुहा। उन्होंने ६० घरों के दान का अनुमोदन करते हुए सेठ को इन शब्दों में धन्यवाद दिया—जो व्यक्ति संघ के लिए विहार का दान करता है, वह भिक्षुओं को जाड़े, गर्मी और वर्षा के प्राकृतिक प्रकोपों से बचाता है, मच्छरों और कीड़ों से उनकी रक्षा करता है तथा उष्ण वायु के झोंकों से सुरक्षित रखता है। विहार-भवन में शान्तिपूर्वक बैठकर भिक्षु समाधि लगा सकते हैं और चित्त को एकाग्र करके चिन्तन कर सकते हैं। बुद्धिमान् पुरुष अपने कल्याण की भावना से मनोरम विहारों को बनवाये और वहाँ विद्वान् मनीषियों को आश्रय दें। जिन लोगों का अन्तःकरण शुद्ध है, उनके लिए प्रसन्न मन से भोजन, पेय, वस्त्र, आवास आदि का दान देना चाहिये। ऐसे लोग उपकृत होकर सत्पथ का प्रदर्शन करेंगे। सत्य ही सब प्रकार के शोकों को उन्मूलित करता है। सत्य को जानकर मानव पाप नही कर सकता।[1]

जनता में बौद्ध संस्कृति के प्रति असीम उत्साह था। लोगों ने विहार बनवाना आरम्भ किया। प्रारम्भ में विहार सादे होते थे। उनमें किवाड़ तक नहीं लगाये जाते थे और छत को घास-फूस से छा दिया जाता था। विहारों की रूप-रेखा अरण्यवासी मुनियों की पर्णशाला के समान थी। आरम्भ में जो किवाड़ लगाये गये, वे दीवालों को छेद कर उसमें रस्सी या लता-प्रतान लगाकर स्थिर किये जाते थे। ऐसा प्रबन्ध कैसे टिकाऊ होता? शीघ्र ही चौखट-बाजू वाले किवाड़ लगने लगे। आगे चलकर घास-फूस की छत के स्थान पर चमड़े का आस्तरण लगाया जाने लगा और उसके नीचे-ऊपर पलस्तर कर दिया जाता था। विहार को वायु और धूप के द्वारा स्वच्छ बनाने के लिये उसमें खिड़कियाँ लगाई जाने लगीं।

गौतम बुद्ध सांस्कृतिक पर्यटन करते हुए वनों, उपवनों और आरामों में ठहरते

१. चुल्लवग्ग ६.१.५

थे। शनैः-शनैः आराम दान रूप में गौतम को मिलने लगे और इनमें विहार बनते गये।[1]

पर्वतों की गुफाओं में रहना बौद्ध-योजना के अनुकूल है। गौतम के जीवन-काल में पर्वतों की प्राकृतिक गुफाएँ विहार-रूप में परिणत होने लगी थीं। कुछ राजा ऐसी गुफाओं के आसपास भिक्षुओं के लिए उपवन लगवा देते थे।[2]

श्रावस्ती-विहार

श्रावस्ती के जेतवन विहार का निर्माण अनाथपिण्डिक ने गौतम बुद्ध के जीवन-काल में कराया था। निर्माता के न रहने पर यह विहार कुछ समय तक उपेक्षित पड़ा रहा। गौतम के जीवन-काल में ही यह जल कर गिर पड़ा। एक बार और उसी स्थान पर बड़ा विहार बना। वह भी जलकर गिर पड़ा। कुछ समय पश्चात् पुनः विहार-भवन बने और एक बार और श्रावस्ती बौद्ध संस्कृति का उच्च केन्द्र हो गई। जेतवन-आराम का क्षेत्रफल लगभग १३० एकड़ था। इसमें १२० भवन और अनेक शालायें थीं। उपदेश देने के लिए, समाधि लगाने के लिए तथा भोजन करने के लिए अलग-अलग शालायें निर्धारित थीं। साथ ही स्नानागार, औषधालय, पुस्तकालय, अध्ययन-कक्ष आदि बने हुए थे। इसके जलाशयों के चारों ओर घनी और मनोरम छाया थी। सारे भवन ऊँची दीवाल से घिरे थे। पुस्तकालयों में बौद्ध धर्म की पुस्तकों के अतिरिक्त वैदिक तथा अन्य विचार-धाराओं के ग्रन्थों का संग्रह किया गया था। साथ ही तत्कालीन विज्ञान और शिल्प-शास्त्रों के ग्रन्थों को भी रखा गया था। विहार नगर से दूर होने के कारण नागरिकों के कोलाहल और व्यस्तता मे क्षुब्ध नहीं हो सकता था, पर इतना दूर भी नहीं था कि नगर मे प्राप्य सुविधाओं का बहुत समय तक अभाव रहे। आराम में सर्वत्र छाया विराजती थी और दिन की कड़ी धूप और गर्मी में भी उपवन में विचरण किया जा सकता था। आराम की परिधि में अनेक सोतों से होकर जल प्रवाहित होता था। उसमें अनेक जलाशय बनाये गए थे। इन सबका जल शीतल, शुद्ध और स्वास्थ्यप्रद था। आसपास कहीं भी विषैले जन्तु नहीं रहते थे। सभी धर्मों के सज्जन आचार्य इनमें आश्रय ले सकते थे। गौतम बुद्ध के जीवन-काल मे इस स्थान का सौन्दर्य संवर्धनशील रहा। स्वयं गौतम ने आदेश दिया था—विहार-भूमि में वृक्ष लगाओ, सड़कों के किनारे वृक्षारोपण करो। गौतम ने बाड़ लगा

---

१. ऐसे आरामों और विहारों के अगणित उल्लेख महावग्ग के पाँचवें और छठें खन्धक में हैं।

२. महावग्ग ६.१५

कर वहाँ बकरियों और अन्य पशुओं का आना बन्द करा दिया था और भरपूर पानी आने के लिए नहरें बनवाई थीं।[1]

गौतम के पर्यटन करते समय उनका चलता-फिरता विद्यालय होता था। उनके साथ कभी-कभी १,२५० भिक्षु तक चलते-फिरते शिक्षा ग्रहण करते थे। कुसिनारा जाते समय बुद्ध के साथ २५० भिक्षु थे और इतने ही भिक्षु साथ थे, जब वे कुसिनारा से आतुमा जा रहे थे।[2] इसी प्रकार की अपनी परियात्रा करते समय गौतम छोटे-बड़े सभी विहारों में पहुँच कर आचार्य का काम करते थे।[3]

गौतम के प्रतिभा-सूत्र से तत्कालीन भारत के सारे विहार गुँथे हुए थे। वे भ्रमण करते हुए सभी विहारों की देख-भाल करते ही थे। प्रायः ऐसा भी होता था कि विहारों की दुर्व्यवस्था का समाचार गौतम के पास आने-जाने वाले भिक्षुओं के द्वारा पहुँच जाता था। विहारों की इस प्रकार की गड़बड़ियों को दूर करने के उपाय गौतम द्वारा स्वयं निर्धारित किये जाते थे। वे स्वयं ऐसे विहारों में पहुँच जाते थे अथवा अपने विश्वस्त ज्येष्ठ शिष्यों को भिक्षु-मंडली के साथ भेज देते थे और उन्हें बता देते थे कि किस प्रकार संघ को सुधारा जाय। किटा पर्वत पर रहने वाले अस्सजि और पुनव्वसु के अनुयायियों का जीवन भोग-विलासमय हो गया था। वे नृत्य-सङ्गीत आदि में आनन्द लेने लगे थे। भाँति-भाँति की क्रीड़ाओं के द्वारा वे मनोरंजन करते थे और अपने वस्त्रों का रंगमंच बना कर सुन्दरियों के नृत्य का आयोजन करते थे। उसी समय काशी से एक भिक्षु गौतम से मिलने के लिए यात्रा करते हुए किटा-पर्वत पर आ पहुँचा। वहाँ के एक नागरिक ने उस भिक्षु से कहा—'आप गौतम के चरणों में प्रणत होकर मेरी ओर से संवाद कह दें कि किटा-पर्वत का विहार दुर्व्यवस्थित है; यहाँ के भिक्षु निर्लज्ज और दुष्ट हैं। जो श्रद्धालु लोग थे, वे भी इनका कुत्सित जीवन देख कर श्रद्धा छोड़ रहे हैं। भिक्षुओं को पहले की भाँति भिक्षा पाने का अवसर नहीं रहा। योग्य भिक्षु इस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं और अयोग्य ही यहाँ अपना अड्डा जमाए हुए हैं। आप किटा-पर्वत के विहार को सुव्यवस्थित करने के लिए दूसरे भिक्षुओं को भेजिए।' श्रावस्ती में आकर उस भिक्षु ने सारा समाचार गौतम से कहा। उन्होंने संघ की परिषद् की और उससे सारा वृत्तान्त कहकर सारिपुत्त और मोग्गलान को आदेश दिया कि आप लोग किटा-पर्बत पर जा कर उन दुष्ट भिक्षुओं को 'पब्बाजनीय' दण्ड दें। साथ मे अन्य भिक्षुओं को कर दिया गया। उन बुरे भिक्षुओं को किटा-पर्वत छोड़ कर जाना पड़ा और अन्त में उन्होंने संघ और धर्म को छोड़ दिया।[4]

१. वाटर्स ह्वेनसाँग भाग १ पृ० ३८५–३८६
२. महावग्ग ६.३६ १ तथा ६.३७.१
३. म० व० १०.४.१ और २
४. चुल्लवग्ग १.१३.१ से १.१६.१

गौतम की भाँति उनके अन्य ज्येष्ठ अनुयायी भी भ्रमण करते थे और विभिन्न विहारों में ठहर कर अपने ज्ञान का प्रकाश प्रसारित करते थे। ऐसे आचार्यों में सारिपुत्त, मोग्गलान, महाकच्चान, महाकोट्ठित, महाकप्पिन, अनुरुद्ध, रेवत, उपालि, आनन्द, राहुल आदि थे।

विहार प्रायः आरामों में होते थे।[1] इन्हीं आरामों में पक्की दीवाल और सीढ़ी वाले जलाशय होते थे। जलाशयों का जल नलिका से बहाकर पुनः उनमें स्वच्छ जल भरने का प्रबन्ध होता था। कुछ विहारों में स्नानागार भी सम्बद्ध होते थे। स्नानागार के ऊपर छत होती थी।[2] विहारों की रचना वास्तु-विज्ञान की दृष्टि से सुदृढ़ और सुरक्षित होती थी। इनमें अनेक छोटी-छोटी कोठरियाँ और ओसारे आदि होते थे। दीवालें चिकनी और सुघड़ होती थीं। विहार के चारों ओर ईंट, लकड़ी या पत्थर की बनी हुई दीवाल खड़ी होती थी। आराम के चारों ओर बाँस, काँटे आदि की बाड़ होती थी। आराम से जल बहा देने के लिए नालियाँ होती थीं। गौतम ने विहारों के लिए ईंट, पत्थर, सीमेण्ट, पुआल और पत्तों की छत बनाने के लिए अनुमति दी थी।[3]

विहारों के निर्माण के लिए संघ के किसी कुशल भिक्षु को 'नवकम्मिक' नियुक्त किया जाता था। संघ की आवश्यकता और नियमों का ध्यान रखते हुए नवकम्मिक पाँच वर्ष से लेकर दस वर्ष तक किसी विहार के बनवाने में लगा रह सकता था। कुछ लोग दीन-हीन होने पर भी श्रद्धावश अपने हाथों से ही विहार बनाना आरम्भ कर देते थे। वैशाली का एक दर्जी विहार बनाने का श्रेय लेने के लिए अपने हाथ से ही मिट्टी सानता था, ईंट जोड़ता था और दीवाल उठाता था। हाँ, उसकी दीवाल तीन बार गिर पड़ी।

साधारणतः सभी विहार सारे बौद्ध संघ की वस्तु होते थे। पर्यटन करते हुए भिक्षु सभी विहारों में समानाधिकार से बस सकते थे। जेतवन के विहार का दान देते समय अनाथपिण्डिक ने संकल्प किया था—'मैं अखिल विश्व के भिक्षुओं के उपयोग के लिए इसे दे रहा हूँ। सभी भिक्षु जो यहाँ हैं, अथवा भविष्य में आयेंगे, यहाँ सुविधापूर्वक रहें।'[4]

---

१. विहार का एक पर्याय ही आराम हो गया। देखिये चुल्लवग्ग ५.२७.२ तथा ५.२६.१

२. चुल्लवग्ग १.१७.२

३. चुल्लवग्ग ६.३

४. चुल्लवग्ग ६.६.१., ६.९.१; ६.११.१ और ६.१६.१

गौतम के जीवन-काल के पश्चात् बौद्ध संस्कृति की धारा मे पर्याप्त बल रहा। इसके सर्वप्रथम उन्नायक महाराज अशोक हुए। उन्होंने भिक्षुओं के लिए असंख्य विहारों का निर्माण कराया, जिनमें से कुछ अब भी मिलते हैं। ईसवी शती के पहले से ही अजन्ता में बौद्ध विद्यालयों के लिए गुफा-विहारों की रचना का समारम्भ हुआ और आठवीं शती तक नई-नई गुफायें बनती रहीं। इन गुफाओं के गुप्तकालीन चित्र और मूर्तियों का आदर्श भव्य है। इनके अतिक्ति पर्वतों मे असंख्य गुफा-विहारो की रचना कर दी गई। ऐसे गुफा-विहारों से दक्षिण भारत भरा पड़ा है।

चौथी शती के विहारों की परिस्थिति का वर्णन फाह्यान के उल्लेखो से मिलता है। इसके अनुसार कश्यप बुद्ध का संघाराम पर्वत काटकर बनाया गया था। यह पाँच तला था। इनमें से प्रत्येक तल किसी पशु-पक्षी की आकृति का बना था। पहला तल हाथी के आकार का था। इसमें ५०० गुहागृह थे। दूसरा तल सिंह के आकार का था। इसमें ४०० कोठरियाँ थीं। तीसरा घोड़े के आकार का था, जिसमें ३०० कोठरियाँ थीं। चौथा बैल के आकार का था और उसमे २०० कमरे थे। पांचवाँ तल कबूतर के आकार का था। इसमें केवल १०० कोठरियाँ थीं। सबसे ऊपर एक जल-प्रताप था। इसकी धारा ऊपरी तल से नीचे तक चक्कर करती आती थी और द्वार के सामने से निकल जाती थी। सभी गुहा-गृहों में प्रकाश आने के लिए गवाक्ष बने थे और नीचे से ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं।

फाह्यान के लेखानुसार सुवास्तु प्रदेश के उद्यान जनपद में ५०० संघाराम थे। पेशावर (पुष्पपुर) जनपद के संघाराम में ७०० भिक्षु रहते थे। आधुनिक काबुल के लोई प्रदेश मे ३,००० भिक्षुओं के रहने का प्रबन्ध था। पोना (आधुनिक बन्नू) में भी ३,००० भिक्षु रहते थे। पंजाब प्रदेश को पार करते हुए फाह्यान को अनेक विहार मिले और उसका अनुमान है कि इन विहारों में लाखों भिक्षु रहते थे। मथुरा के आसपास के २० विहारों में ३,००० से अधिक भिक्षु रहते थे। फाह्यान के अनुसार भारत के सभी जनपदों के राजाओं और सेठों ने भिक्षुओं के लिए विहार बनवाये और उनसे सम्बद्ध खेत, घर, वन, आराम, प्रजा और पशु का दान कर दिया। परवर्ती राजा भी इस दान को अक्षुण्ण रखते थे। विहारों में संघ को भोजन, पेय, वस्त्र आदि मिलते थे और वर्षावास करने वालों को सभी सुविधायें प्रदान की जाती थीं। संकाश्य के बौद्ध विहार में ४,००० श्रमण रहते थे। उन सबको संघ के भण्डार से भोजन मिलता था। फाह्यान ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करके वहाँ के विहारों का परिचय लिखा है।

फाह्यान के पश्चात् चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने ६३० ई० से ६४५ ई० तक भारत में रहकर विभिन्न प्रदेशों का पर्यटन करते हुए विशेष रूप से तत्काली शिक्षण-संस्थाओं

का प्रादेशिक क्रम से ऐतिहासिक परिचय लिखा है। ह्वेनसाँग के अनुसार उस समय भारत में लगभग ६,००० विहार थे और उनमें ढाई लाख भिक्षु और उनके आचार्य रहते थे।

नालन्दा विहार

सातवीं शती से कुछ बौद्ध संस्थाओं के विश्वविद्यालय रूप में विकसित होने के उल्लेख मिलते हैं। इनमें नालन्दा, वलभि, विक्रमशिला आदि सारे एशिया में प्रख्यात थे। नालन्दा विश्वविद्यालय के समीप से होकर एक छोटी नदी बहती थी। उस प्राचीन युग में नालन्दा के आसपास वनराजि की अतिशय शोभा रही होगी। आजकल वहाँ केवल शस्य श्यामला धरती की ही रमणीयता है। नालन्दा से कुछ मीलों की दूरी पर पहाड़ियों और सोतों की शोभा निराली है।

ह्वेनसाँग के लेखानुसार नालन्दा-क्षेत्र को ५०० सेठों ने १० करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं से क्रय करके गौतम बुद्ध को समर्पित किया था। इस क्षेत्र से गौतम का पहले से ही सम्बन्ध था। यहीं पर गौतम के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र का जन्म हुआ था। यहाँ के आम्रवन में कई दिनों तक रहकर गौतम ने शिष्यों को सदाचार और विनय की शिक्षा दी थी।[1] सम्भवतः इन बातों का विचार करके ही अशोक ने वहाँ पर एक विहार का निर्माण कराया था। फिर शक्रादित्य (सम्भवतः कुमार गुप्त ४१४-४४५ ई०) ने यहाँ पर एक बड़े विहार की स्थापना की। आगे चल कर पाँचवीं शती में बुद्ध गुप्त, तथागत गुप्त, नरसिंह गुप्त, बालादित्य, वज्र आदि अनेक राजाओं ने यहाँ विहार बनवाये। इसकी ख्याति इतनी बढ़ी कि केवल भारत के ही नहीं, अपितु, अन्य देशों के भी कुछ प्रमुख राजाओं ने नालन्दा में विहार बनवा कर अपनी कीर्ति अमर की। सुमात्रा के राजा बालपुत्र ने नवीं शती में विहार बनवाया था और अपने मित्र राजा देवपाल से नालन्दा के विद्यालय के लिए पाँच गाँवों का दान करवाया था।

विहारों की रचना वास्तुकला की दृष्टि से उच्चकोटि की थी। शक्रादित्य के विहार में गौतम की एक मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई थी। प्रतिष्ठापक की दी हुई तत्सम्बन्धी वृत्ति का उपयोग करने के लिए ४० भिक्षु नित्य वहाँ भोजन करने जाते थे। बालादित्य ने गौतम की मूर्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए ३०० फुट ऊँचा मन्दिर बनवाया था। इस मन्दिर का अलंकरण मनोरम था। ह्वेनसाँग के नालन्दा में रहते समय सम्राट् हर्षवर्धन की ओर से काँसे का एक मन्दिर बनवाया जा रहा था। विहार की परिधि के बाहर इस मन्दिर से लगभग २०० फुट पूर्व की ओर पूर्णवर्मा का बनवाया हुआ जो छः तला मन्दिर था, उसमें ८० फुट ऊँची ताँबे की बनी हुई गौतम

---

१. महापरिनिब्बानसुत्त १.१५-१८

बुद्ध की मूर्ति थी । उपर्युक्त विहारों के निर्माता प्रायः राजा रहे हैं । ऐसी परिस्थिति में हम कल्पना कर सकते हैं कि इनके भवन राजकीय वैभव के अनुरूप होंगे। आठवीं शती के यशोवर्मा के शिलालेख में नालन्दा की विहारावली के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनकी शिखर-श्रेणी बादलों का चुम्बन करती थी, मानो विधाता ने पृथिवी के लिए आकाश में विराजमान मनोरम माला बना दी हो ।

नालन्दा-विश्वविद्यालय के सघन कुंजों और उपवनों में ह्वेनसाँग का मन रमता था । मनोरम कासारों के रुचिर जल में नील पद्म अपनी पँखुरियों का विकास करते थे । विद्यालय की शोभा कनक-वृक्षों से विशेष मनोहर प्रतीत होती थी । इनके रक्तिम कुसुमों के गुच्छे चित्ताकर्षक थे । आम्रमंजरी और उसके हरित पत्र मन को मोह लेते थे । विद्यालय के समीप दस स्नानागार बने हुए थे । नहाने के समय घण्टा बजता था । भवनों की उच्चता का निरूपण करते हुए ह्वेनसाँग लिखता है—इसका मानमन्दिर प्रातःकाल के कुहरे में अदृश्य हो जाता है । इसके ऊपर के कमरे मानो बादल में छिपे रहते हैं । पर्वतों के समान ऊँचे विद्यालयो के शिखर पर ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती है । इनकी खिड़कियों से लोग वायु और बादलों के परिवर्तन का अनुमान कर लेते हैं । यहीं से सूर्य-चन्द्र भी दिखाई पड़ते हैं । बाह्य मन्दिर के चार विभाग हैं । इसकी वलभि रंगीन है और इसके लाल स्तम्भों पर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं । स्तम्भों का प्रसाधन-कर्म मन को मोह लेता है । कठरों को विविध प्रकार से अलंकृत किया गया है । छत के खपड़ों से प्रतिफलित होकर सूर्यरश्मि सहस्रों भागों में बिखर जाती है । मन्दिरों के बनाने में सुन्दर ईंटों को इस प्रकार जोड़ा गया है कि उनके जोड़ दिखाई नहीं पड़ते ।[1]

नालन्दा का विश्वविद्यालय अतिशय विशाल था । उसकी खुदाई करने पर जो अवशेष मिले हैं, उनको देखने से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है । नालन्दा के विद्यालय का क्षेत्र एक मील लम्बा और आधा मील चौड़ा खोदा गया है । भवनों के अवशेषों से ज्ञात होता है कि उनकी सापेक्षिक अवस्थिति का परिकल्पन विशद विवेचन के पश्चात् किया गया था । भवनों का विन्यास कलात्मक ढंग से किया गया था । उनकी अवस्थिति में क्रम था और सर्वत्र मेल मिलाया गया था । प्रधान विद्यालय में सात बड़े हाल थे । इनके अतिरिक्त ३०० बड़े कमरे व्याख्यान देने के लिए थे । सबसे बड़ा विहार २०३ फुट लम्बा और १६८ फुट चौड़ा मिला है । दीवालें लगभग ७ फुट चौड़ी हैं । जिन ईंटों से दीवालों की जोड़ाई हुई है, वे भली भाँति सुघड़, पकी हुई और सुडौल हैं । ईंटों का जोड़ तो कहीं-कहीं दिखाई तक नहीं पड़ता । विहार की कोठरियाँ ९½ फुट से लेकर १२ फुट तक लम्बी थीं । सोने के लिए कोठरियों में

१. ह्वी-ली के नालन्दा-वर्णन प्रकरण के आधार पर ।

चबूतरे बने थे और पुस्तक तथा दीप रखने के लिए समुचित स्थान बनाये गये थे। पुस्तकालय के लिए तीन भवन थे--रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक।

नालन्दा-विश्वविद्यालय बारहवीं शती तक चलता रहा। बारहवीं शती के अन्तिम भाग में बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में आये हुए आक्रमणकारियों ने नालन्दा को मिटा-सा दिया। पाँचवीं शती से लेकर ग्यारहवीं शती तक नालन्दा विश्वविद्यालय में नये भवनों का निर्माण होता रहा और यह संस्था भारतीय विद्याओं के लिए सर्वोच्च केन्द्र रही। ग्यारहवीं शती में पाल राजाओं का विशेष संरक्षण पाकर विक्रमशिला का विश्वविद्यालय नालन्दा से बढ़ कर महत्त्वपूर्ण हो चुका था। नालन्दा विश्वविद्यालय ग्यारहवीं और बारहवीं शती में विक्रमशिला से सम्बद्ध होकर चलता रहा।

नालन्दा के विश्वविद्यालय में ह्वेनसाँग के समय में विद्यार्थियों और आचार्यों की सम्मिलित संख्या १०,००० थी। प्रतिदिन लगभग १०० व्याख्यान दिये जाते थे। शीलभद्र सर्वोच्च आचार्य थे। नालन्दा में बौद्ध संस्कृति के ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण, तर्क और साहित्य की शिक्षा दी जाती थी और वैदिक संस्कृति के ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाता था। ह्वेनसाँग के अनुसार वहाँ तीन वेद, वेदान्त तथा सांख्य की शिक्षा दी जाती थी। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे विषयों की शिक्षा दी जाती थी। ऐसे विषयों में ज्योतिष, पुराण, धर्मशास्त्र आदि का सम्भवतः समावेश हुआ हो। नालन्दा में पढ़ने के लिए चीन, कोरिया, तिब्बत, तोखार, जापान आदि देशों से भी विद्यार्थी आते थे।

वलभि-विहार

नालन्दा के प्रायः समकालीन वलभि का बौद्ध विश्वविद्यालय काठियावाड़ प्रदेश में प्रतिष्ठित रहा है, यद्यपि इसका अन्त आठवीं शती के अन्तिम भाग में ही अरबों के आक्रमण के कारण हो गया। वलभि के प्रथम विहार की नींव राजकुमारी दुड्डा ने डाली थी। दूसरे विहार की प्रतिष्ठा राजा धरसेन प्रथम ने ५८० ई० में की थी। इस विहार का नाम श्री वप्पपाद था। आचार्य स्थिरमति की अध्यक्षता में इस विहार की नींव पड़ी थी। वलभि प्रदेश में विहारों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती रही। ह्वेनसाँग के समय में वहाँ १०० से अधिक विहार थे और उनमें ६०० से अधिक विद्यार्थी रहते थे। इनके अतिरिक्त सैकड़ों देव-मन्दिर भी थे। यहीं के एक विहार में रहते हुए गुणमति और स्थिरमति ने कुछ धर्म-ग्रन्थों की रचना की थी, जिनका सम्मान जनता में विशेष रूप से हुआ।

नालन्दा की भाँति वलभि में भी विद्यार्थी सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करते थे और लगभग दो-तीन वर्षों तक महान् आचार्यों की संगति में रहकर तर्क द्वारा अपने सन्देहों को मिटाते हुए अपने पाण्डित्य को परिपक्व करते थे। इस प्रकार समाज में वलभि

के आचार्यों की अतिशय प्रतिष्ठा होती थी। वलभि-विश्वविद्यालय के महाद्वारों पर वहाँ के सर्वोत्कृष्ट विद्वानों और आचार्यों के नाम श्वेत अक्षरों में लिख कर उनकी प्रतिष्ठा की जाती थी। इस विश्वविद्यालय को अनेक राजाओं और धनिकों की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी। वलभि प्रदेश के मैत्रक-वंशीय राजाओं ने सहायता देकर इसके अभ्युदय में योग दिया था।

विक्रमशिला-विहार

नालन्दा की भाँति बिहार-प्रदेश में विक्रमशिला का विश्वविद्यालय आठवीं शती से तेरहवीं शती तक चलता रहा। इसकी स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने गङ्गा नदी के तट पर किसी पहाड़ी के ऊपर विहार वनवा कर की थी।[१] फिर तो प्रायः सभी पालवंशी राजाओं ने समय-समय पर आवश्यक सहायता देकर तथा मन्दिर, विहार और विद्यालय भवन वनवा कर इस विश्वविद्यालय को नित्य संवर्धित किया। विश्वविद्यालय-भवनों की उच्चता और दृढ़ता का इससे बढ़ कर क्या प्रमाण हो सकता है कि इसके विनाश करने वाले वख्तियार खिलजी को यह राजकीय दुर्ग से समायुक्त नगर प्रतीत हुआ और इसी भ्रम से बहुत चावपूर्वक उसने इस संस्था का सर्वस्व नष्ट कर डाला।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में भारत के तत्कालीन महान् आचार्यों को चुन-चुन कर स्थान दिया गया और यह संस्था सैकड़ों वर्षों तक केवल भारत में ही नहीं, अपितु समग्र एशिया में प्रख्यात हो गई। लगभग ४०० वर्षों तक तिब्वत से असंख्य विद्यार्थी हिमालय को लाँघ कर विक्रमशिला मे अपनी ज्ञान-तृष्णा को वुझाते रहे। तिब्वत के छात्रों से विक्रमशिला का एक छात्रावास भरा रहता था। यह छात्रावास तिब्वती छात्रों के लिए ही वनवाया गया था। वारहवीं शती में विक्रमशिला में विद्यार्थियों की संख्या ३,००० थी। इससे पूर्ववर्ती शतियों में बौद्ध धर्म के अभ्युदय के दिनों में विद्यार्थियों की संख्या अवश्य ही अधिक रही होगी।

धर्मपाल ने जो विहार वनवाया था, उसके चारों ओर सुदृढ़ दीवाल थी। मध्य में बौद्ध मन्दिर था। मन्दिर की भित्तियों पर महाबोधि के दृश्यों का तक्षण किया गया था। अन्य छोटे-मोटे मन्दिरों की संख्या १०० से ऊपर थी। धर्मपाल ने १०८ आचार्यों की नियुक्ति की और साथ ही सुव्यवस्था के लिए अन्य पदाधिकारियों का चुनाव किया था। विश्वविद्यालय की भित्तियों और द्वारों पर संस्था के सर्वोच्च विद्वानों और आचार्यों के चित्र वने हुए थे, जिनमें दीपंकर और अतिश सर्वोपरि थे।

---

१. अभी तक विक्रमशिला की अवस्थिति का निश्चित ज्ञान नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। संभवतः यह आजकल के 'पथरघाट' पर रही हो। यह स्थान भागलपुर से २४ मील दूर है।

शनैः-शनैः छः महाविद्यालयों का निर्माण हुआ और इनके बीच में एक विशाल शाला बनवाई गई। इस शाला के छः द्वार छः विद्यालयों की ओर थे। विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए छः द्वार-पण्डितों के द्वारा परीक्षित होकर उनकी अनुमति लेना आवश्यक होता था। दसवीं शती के अन्तिम भाग में प्रथम द्वार पर कश्मीर के रत्नव्रज तथा द्वितीय द्वार पर गौड देश के ज्ञानश्री-मित्र बैठते थे और अन्य चार द्वारों पर रत्नाकर शान्ति, वागीश्वर-कीर्ति, नरोप और प्रज्ञाकर-मति नामक आचार्य आसन ग्रहण करते थे।

विक्रमशिला के आचार्यों में दीपंकर का नाम अमर रहेगा। दीपंकर का जन्म ६८० ई० में गौड प्रदेश में राजकुल में हुआ था। किशोरावस्था में दीपंकर को विराग हो गया और कृष्णगिरि के विहार में राहुल गुप्त से और ओदन्तपुरी के विहार में शीलरक्षित, धर्मरक्षित और चन्द्रकीर्ति से शिक्षा ग्रहण करते हुए ४० वर्ष की अवस्था में बौद्ध धर्म और दर्शन के सर्वोच्च विद्वान् हो गये। दीपंकर ने तिब्बत में बौद्ध संस्कृति का प्रचार भी किया। उनके रचे हुए ग्रन्थों की संख्या लगभग २०० थी।

बङ्गाल और मगध के राजा रामपाल ने ग्यारहवीं शती के अन्तिम भाग में अपने नाम पर बसाई हुई रामावती नामक नगरी में जगद्दल-विहार की स्थापना की। इस विहार का अन्त भी नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों के साथ ही तेरहवीं शती के आरम्भिक काल में हो गया। इस विहार से विभूति-चन्द्र, दानशील, मोक्षाकर-गुप्त, शुभकर आदि आचार्य और ग्रन्थकार सम्बद्ध रहे हैं। तिब्बत के विद्यार्थियों का इस विहार से भी सम्बन्ध रहा है।

ओदन्तपुरी का विहार कभी बहुत अभ्युदयशील रहा। अभयकर गुप्त के समय में इस विहार में १,००० भिक्षु रहते थे। इस विहार से प्रभाकर नायक महान् आचार्य का सम्बन्ध रहा है। पालवंशीय राजाओं ने इस संस्था के संवर्धन के लिये भरपूर सहायता दी और वैदिक और बौद्ध विचार-धारा के असंख्य ग्रन्थों का दान करके इसे समृद्धिशाली बनाया।

जैन विद्यालय

जैन संस्कृति की आचार्य-परम्परा तीर्थंकरों से आरम्भ होती है। प्रायः तीर्थंकर अनागार हुए हैं। अन्तिम तीर्थंकर महावीर का दिगम्बर होना प्रसिद्ध है। ऐसे तीर्थंकरों की शाला का भवनों में होना सम्भव नहीं था। उनके शिष्य-संघ आचार्यों के साथ ही देश-देशान्तर में पर्यटन करते थे। आरम्भिक युग की यह रीति प्रायः परवर्ती युग में भी सदैव प्रचलित रही। गणधरों के साथ भी उनके सैकड़ों शिष्यों के भ्रमण करने के वृत्तान्त मिलते हैं। शनैः-शनैः जैन मुनियों तथा आचार्यों के लिए भी गुफा-मन्दिर तथा तीर्थ-क्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे। इन विद्यालयों का स्वरूप बहुत कुछ वैदिक और बौद्ध संस्कृति के विद्यालयों के अनुरूप ही था।

शिक्षण

वैदिक काल में सर्वप्रथम आचार्य देवरूप में प्रतिष्ठित हुए थे। आचार्यरूप में जो देवता ऋग्वेद में प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें इन्द्र और अग्नि प्रमुख हैं।[1] दोनों देवों के व्यक्तित्व के अनुरूप तत्कालीन मानव-आचार्यों के व्यक्तित्व की सम्भावना हो सकती है। ऋग्वेद में अग्नि-प्रचेता (विशेष ज्ञानी), विश्ववेदा (सर्वज्ञ), जातवेदा (जो कुछ उत्पन्न हुआ, उसे जानने वाला), धियावसु (जिसकी बुद्धि ही धन है), सत्यमन्मा (सत्य को जानने वाला), विश्वानि वयुनानि विद्वान् (विविध विद्याओं को जानने वाला), धीनां यन्ता (बुद्धि को प्रेरणा देने वाला) आदि विशेषण मिलते हैं।[2] ऋग्वैदिक धारणा के अनुसार आचार्य अङ्गिरा के रूप में अग्नि का अवतार हुआ था।[3] इस युग में अग्नि के असंख्य कामों में से कुछ इस प्रकार परिगणित किये जा सकते हैं--क्रत्वा चेतिष्ठो विशाम् (प्रजा को चेतना देने वाला) तथा त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः (वरुण की भाँति व्रतों की प्रतिष्ठा करने वाला) आदि।[4] इन्द्र के आचार्य-स्वरूप व्यक्तित्व का परिचय इन विशेषणों से मिलता है--न त्वा वां अस्ति देवता विद्वानः (तुम्हारे समान विद्वान् कोई अन्य देवता नहीं), शिक्षानर (शिक्षण के लिए नेता), हृदः निःवरयस्तमांसि (यजमानों के हृदय से अन्धकार को दूर कर देते हो), चोदय धियमसेर्न न धाराम् (बुद्धि को तलवार की धार के समान प्रखर कर दो)।[5]

---

१. शतपथ ब्राह्मण ११.५.४.१ में उपनयन के अवसर पर आचार्य विद्यार्थी से कहता है--तुम इन्द्र के शिष्य हो। तुम अग्नि के शिष्य हो। तुम मेरे शिष्य हो। छान्दोग्य उ० ४.१० के अनुसार अग्नि ने उपकोसल को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी। ईशोपनिषद् १८ में अग्नि को आचार्य माना गया है। महाभारत वनपर्व ४४.३-४ में अर्जुन का इन्द्र से अस्त्र-शस्त्र-विद्या सीखने का प्रकरण है। अन्य देवता भी आचार्य-रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं--ईशोपनिषद् ११,१५ तथा १६ में पूषा और अथर्ववेद ११.५.१४-१५ में मृत्यु और वरुण आचार्य हैं।

२. ऋग्वेद १.४४,५८,७३,१४५,१८९; ३.३; ७.४ आदि

३. ऋ० १.७४.५ तथा १.७५.२

४. ऋ० १.६५.५ तथा ७.१.४

५. ऋ० १.१६५.९; ४.२०.८; ५.३१.९; ६.४७.१०

आचार्य

वैदिक

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आचार्य, जिनके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र हैं, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे। उनकी अपरिमित विद्वत्ता का परिचय इसी बात से मिलता है कि उन्होंने स्वयं वैदिक मन्त्रों की रचना की और आनुषङ्गिक ज्ञान और दर्शन का प्रवर्तन किया। आचार्य में अग्नि की तेजस्विता और इन्द्र की वीरता प्रधान थीं। वह ऋषि था, कवि था और स्वभावतः ऐसा व्यक्ति पुरुप्रिय (लोकप्रिय) होगा ही।[1] तत्कालीन राष्ट्रीय अभ्युत्थान सम्बन्धी विचार-धारा में अवगाहन करने वाले ऋषि देवताओं के सन्निकट थे। वे स्वयं पुरोहित, ऋत्विक् होता, अध्वर्यु आदि होते थे। इन आचार्य-ऋषियों का आचार उच्चकोटि का था। जो आचार्य कुल ऐसे सत्साहित्य की संवर्धना कर सका था, उसकी चरित्र-सम्बन्धी उच्चता आज अनुपमेय कही जा सकती है। ऋग्वेद के अनुसार सद्विचार वाले धीर कवि, जो मन लगाकर देवताओं की आराधना करते थे, ब्रह्मचारी को ऊँचा उठाकर उसे श्रेष्ठ बना देते थे।[2]

किसी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में साधारणतः सर्वप्रथम हाथ उसके माता-पिता का होता है। माता-पिता ही आरम्भ में अपने पुत्र को, जो कुछ वे स्वयं जानते हैं, अथवा जो कुछ उसको बतलाने योग्य समझते हैं, सिखा देते हैं। वैदिक कालीन विद्वानों के सम्बन्ध में इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान को वे अपने पूर्वजों से सीखते थे और जितना ज्ञान वे अपने निजी प्रयत्न से संवर्धित करते थे, उसे अपनी चिर-संचित निधि मानकर उत्तराधिकार के रूप में अपने पुत्र को सिखा जाते थे।[3] ऐसे आचार्यों के पास पढ़ने के लिए उनके पुत्रों के अतिरिक्त

---

१. ऋग्वेद ५.३१.९ के अनुसार आचार्य अध्यापन के बल पर स्तुत्य था। आचार्य-रूप में अग्नि के विशेषण ऋग्वेद में हैं—विश्वविद् १०.९१.३; ऋषि ३.१ १७, कवि ३.३.४, विद्वानों या विपश्चितों में असुर ३.३.४, पुरुप्रिय ३.३.४, पुरोहित, ऋत्विक् और होता १ १। अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है—तुमसे काव्य, मनीषा और उक्थ उत्पन्न होते हैं। ऋ० ४.११

२. युवा सुवासा परिवीत आगात् स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥ ऋ० ३.८.४

३. महाभारत में माता के द्वारा बालक को सदाचार की शिक्षा देने का उल्लेख है। अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा पिता या कुटुम्ब के अन्य सदस्यों से प्राप्त होती थी। द्रोण, व्यास आदि का अपने पुत्रों को शिक्षा देना सर्वविदित ही है। वनपर्व १८३.२७-२८

गाँव के अन्य विद्यार्थी भी होते थे। शिक्षण के क्षेत्र में वह आचार्य-पिता सभी विद्यार्थियों का पिता बन जाता था। पिता का आचार्यत्व उस युग की विशेषता थी और यह विशेषता इतनी प्रगाढ़ थी कि आगे चल कर आचार्य को पितृ-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। कालान्तर में आचार्य पिता से बढ़ कर प्रतिष्ठित हुआ।[1]

वैदिक काल से धारणा रही है कि आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता है। अथर्ववेद के अनुसार उपनयन संस्कार के अवसर पर आचार्य शिष्य को गर्भ में धारण करता है और तीन रात्रि तक उदर में उसका भरण-पोषण करके चौथे दिन उसको जन्म देता है।[2] इस प्रकार आचार्य का मातृत्व स्वयं सिद्ध है।[3] आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता था। वह अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर ही असंख्य विद्यार्थियों को आकर्षित कर लेता था।[4] कुछ आचार्यों का जीवन तपोमय था।[5]

वैदिक काल में अध्यापन का कार्य धन के अर्जन के लिए नहीं होता था। उस युग के आचार्यों ने समझ लिया था कि जैसे सूर्य का काम स्वभावतः प्रकाश देना है और नदी का काम जल देना है, उसी प्रकार हम स्वभावतः ज्ञान देते हैं। वह पढ़ाता था, जसे सूर्य प्रकाश देता है। जैसे प्रकाश पाने वाले को सूर्य के अस्तित्व तथा पोषण की चिन्ता नही करनी पडती, वैसे ही ज्ञान प्राप्त करने वाले के ऊपर आचार्य के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व नही था। जैसे प्रकृति स्वभावतः स्वयं सूर्य के पोपण, संवर्धन और स्थिति की चिन्ता करती है, वैसे ही वन-भूमि की प्राकृतिक समृद्धि आचार्य के पोषण और संवर्धन की सुव्यवस्था करती थी। इस प्रकार शिक्षक आचार्य का व्यक्तित्व गरिमामय था। इसका वर्णन करते हुए वैदिक साहित्य में कहा गया है--अध्ययन और अध्यापन दोनों ही आनन्द के निस्यन्द हैं, मन युक्त हो जाता है। स्वतन्त्र होकर व्यक्ति नित्य समृद्धि पाता है। वह शान्ति से सोता है।[6]

---

१. विष्णु-धर्मसूत्र ३०-४४; गौतम २.५६; मनु २.१४६

२. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातुं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। १.५.३

३. निरुक्त २.४ में आचार्य को माता-पिता मानने की सीख दी गई है। आचार्य के पिता रूप में प्रतिष्ठित होने के उल्लेख शतपथ ब्रा० ११.१.४.१२ आपस्तम्ब ध० सू० १.१.१.१६-१८; गौतम १.८; विष्णु सू० ३०.४४-४५; वसिष्ठ २.३-५; मनुस्मृति २.१४४-१४८; शान्ति पर्व १०८.२२-२३ आदि में मिलते है। प्रश्नोपनिषद् में आचार्य के विषय में--त्वं हि नः पिताः योऽस्माकं परंपारं तारयसीति।। ६-८

४. अथर्ववेद ११.५.१६

५. शतपथ-ब्रा० ४४.१.६.२६-३३

६. शतपथ-ब्राह्मण ११.५.७.१

उपनिषद्कालीन आचार्य प्रायः महर्षि थे। प्रश्नोपनिषद् में आचार्य पिप्पलाद का वर्णन मिलता है। उनके नाम से ही प्रतीत होता है कि उनके तपोमय जीवन में आधिभौतिक सम्पन्नता को स्थान नहीं मिला था।[1] आचार्य ने अपने जिज्ञासु शिष्यों से कहा—तुम लोग एक वर्ष तक यहीं तपोमय जीवन-यापन करो। फिर प्रश्न पूछना। यदि मुझे उत्तर ज्ञात होगा तो सब कुछ बताऊँगा। पिप्पलाद के व्यक्तित्व की उच्चता उनके इस वाक्य से सिद्ध होती है। ऋषि का तपोमय जीवन में विश्वास था। आचार्य की ज्ञाननिष्ठा सात्त्विक थी, तभी तो उन्होंने कहा कि यदि ज्ञात होगा तो बताऊँगा।[2] साधारणतः आचार्य विनयी थे। अतएव वे समावर्तन संस्कार के अवसर पर कह सकते थे—हम आचार्यों के जो सुचरित हों, वे तुम्हारे लिए अनुकरणीय हैं, अन्यथा नहीं। जो हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनको तुम्हें आसन देना चाहिए।[3] उस युग का आचार्य सत्यनिष्ठ था। तभी तो वह अपने स्नातक से कह सकता था—सत्यं वद। धर्म चर। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि।[4]

आचार्य के समीप आने वाले शिष्यों को अतिथि मानकर उन्हें सम्मानित किया जाता था और उनको भोजन और आवास की यथाविधि सुविधा दी जाती थी।[5] ऐसे आचार्य प्रायः समृद्धिशाली गृहस्थ थे। एक ऐसे ही आचार्य ने अपने व्यक्तित्व के विकास की कामना इन शब्दों में प्रकट की है—इन्द्र मेरी मेधा का संवर्धन करें। मैं अमरता धारण करूँ। मेरा शरीर अतिशय कर्मनिष्ठ बने। मेरी जिह्वा मधुरतम वाणी बोले। मैं कानों से अतिशय सुन सकूँ, अर्थात् सुन-सुन कर अपना ज्ञान बढ़ा सकूँ। मैंने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, उसका संरक्षण इन्द्र करें। मेरे पास वस्त्र, गौ, अन्न-पान आदि की सतत प्रचुरता रहे। मेरे पास ऊन वाले पशुओं की सुश्रीकता रहे। मेरे पास ब्रह्मचारी आयें। मैं मानवों में यशस्वी बनूँ। धनिकों से बढ़कर धनी बनूँ। मैं ब्रह्ममय बन जाऊँ। इस प्रकार मैं शुद्ध

---

१. पिप्पलाद का अर्थ 'पीपल का फल खाने वाला' है। ऐसे ही आचार्य कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक हैं। ये कण खाकर जीवन-यापन करते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि सभी उपनिषद्कालीन आचार्य ऐसे ही दीन-हीन तपस्वी थे। याज्ञवल्क्य जैसे धनी गृहस्थ आचार्य भी उस युग में प्रतिष्ठित थे। बृहदारण्यक ३.१.२

२. प्रश्नोप० १–२ ३—४. तैत्तिरीयोप० शिक्षावल्ली ११

५. कठोपनिषद् यम और नचिकेता का संवाद १.१.६। नवागन्तुक विद्यार्थियों के आचार्य के द्वारा आतिथ्य का उल्लेख तिलमुट्ठि-जातक २५२ में भी मिलता है।

बन जाऊँगा। जिस प्रकार जल नीचे की ओर बहता है, जैसे मास वर्ष में लीन हो जाता है, उसी प्रकार चारों ओर से ब्रह्मचारी मेरे पास आते रहे। मुझको प्रतिभाशाली बनाइये। हे इन्द्र, मुझे अपने ही समान बना लीजिये।[1] इस अवतरण में जिस आचार्य के व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है, वह और उसके समकालीन आचार्य नित्य अपना ज्ञान बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। उनका जीवन पवित्र था। त्र भोजन-वस्त्र और जीवन की अन्य सुविधायें दूसरोंको भी प्रस्तुत कर सकते थे।[2] उपनिषद्‌कालीन आचार्य का व्यक्तित्व मधुर था। उसकी वाणी मधुर थी। वह अपने ज्ञान की निर्झरिणी स्वान्तः सुखाय सतत प्रवाहित रखना चाहता था। आचार्य की धारणा थी कि व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वाध्याय और प्रवचन समान रूप से आवश्यक है। वह बारंबार कामना करता था कि मेरा और मेरे शिष्य का अध्ययन तेजस्वी हो।[3] यह विचार शिष्य और आचार्य की सुदृढ़ एकता की अभिव्यक्ति करता है।

उपनिषद्-युग मे साधारणतः शिक्षक ब्राह्मण थे, पर कुछ क्षत्रिय राजा भी उस समय उच्चकोटि के दर्शन के विद्वान् थे। उनके पास अध्ययन के लिए ब्राह्मण विद्यार्थी भी जाते थे। ऐसे राजाओं मे काशिराज अजातशत्रु का नाम सुप्रसिद्ध था।[4] राजा जनक भी ब्रह्मविद्या में निष्णात थे। उनसे आचार्य याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गाये मिली थीं।[5] जब याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी तो उपकृत होकर जनक ने कहा—आपको नमस्कार। यह सारा विदेह और मैं आपका ही हूँ।[6]

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली अनुवाद ४

२. आचार्य आरुणि ने अपनी लौकिक समृद्धि का स्वयं परिचय देते हुए कहा है—मेरे पास स्वर्ण, गौ, अश्व, दासी, कम्बल और वस्त्र पर्याप्त मात्रा में हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् ६.२.७

३. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली का आरम्भ।

४. बृहदारण्यक उपनिषद् २.१.१५

५. बृहदारण्यक ३.१.२ तथा २.४.१। राजा जनक ने जो गाये उपहार में दी थीं, उनमें से प्रत्येक की सींग में १० पाद स्वर्ण बँधा था। सर्वोच्च ब्रह्म (ब्रह्मिष्ठ) होने के उपलक्ष्य मे ऋषि को यह उपहार मिला था। राजाओं को दार्शनिक ज्ञान देकर उनसे धन लेने की विधि याज्ञवल्क्य ने अपनाई थी। बृ० उ० ४.१.२

६. बृहदारण्यक उ० ४.२.४

विद्यार्थी का अन्तेवासी नाम ब्राह्मण-युग से मिलता है।[१] ब्रह्मचारी का एक पर्याय आचार्यकुलवासी मिलता है। विद्यार्थी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर आजीवन आचार्य के घर में रह सकते थे।[२] इस प्रकार आचार्य का केवल हृदय ही विशाल नहीं था, अपितु उसके कुटुम्ब की सदस्यता बहुत बड़ी थी।

महाभारतीय आचार्य

तक्षशिला के आयुर्वेदाचार्य ने जीवक का सात वर्षों तक भरण-पोषण किया और उसकी शिक्षा समाप्त हो जाने पर भरपूर धन मार्ग-व्यय के लिए दिया, जिससे वह तक्षशिला से साकेत तक आ सका। जीवक ने अपने आचार्य के उपकार का आभार जीवन भर वहन किया और उन्हें २,००,५०० औंस स्वर्ण स्वयं अर्जित करके दिया।[३]

आचार्य प्रायः विद्यार्थियों की सेवाओं से अतिशय प्रसन्न रहते थे। कभी-कभी तो वे किसी मन्दबुद्धि विद्यार्थी की सेवाओं से प्रसन्न होकर नई-नई योजनाओं के अनुसार उसे ज्ञान देने का भरसक प्रयत्न करते थे।[४] इस युग की धारणा के अनुसार आचार्य अपनी साधना के बल पर मरने के पश्चात् ब्रह्मलोक जाते थे।

उपनिषद्-काल के पश्चात् ऐसा युग आया, जिसमें एक आचार्य के सैकड़ों शिष्य होने लगे थे। इनमें से बहुत से विद्यार्थियों को आचार्य अपनी ओर से भोजन देता था और विद्यार्थी उसके घर का काम करते थे। ऐसे विद्यार्थियों को धम्म-अन्तेवासिक कहा जाता था। आचार्य के घर न तो इतना काम हो सकता था और न वह इतना धनी होता था कि सभी विद्यार्थियों को भोजन-वस्त्र आदि दे सके। धनी विद्यार्थी शुल्क रूप में एक सहस्र मुद्रा देकर आचार्य-कुल के सदस्य हो सकते

१. शतपथ ५.१.५.१७; तैत्तिरीयोपनिषद् १.११

२. छान्दोग्य उ० २.२३.१

३. महावग्ग ८.६–८

४. नंगलीस जातक १२३ के अनुसार आचार्य बोधिसत्त्व अपने भक्त किसी मन्दमति विद्यार्थी को नई-नई उपमाओं और बातों को कहने का अवसर प्रस्तुत करके उससे प्रश्न पूछते थे, जिससे उसकी पर्यवेक्षण और वर्णन-शक्ति बढ़े। जब आचार्य ने विशेप प्रयत्न करके भी देखा कि शिष्य की बुद्धि का विकास होना असम्भव है तो उसे मार्ग-व्यय देकर घर भेज दिया। वह धम्म-अन्तेवासिक था और आचार्य के घर सेवा करते हुए निःशुल्क भोजन आदि सब कुछ पाता था।

थे। दीन विद्यार्थियों के लिए सनातन सुप्रतिष्ठित भिक्षा-वृत्ति का मार्ग खुला था।[1] आचार्य शुल्क देने वाले विद्यार्थियों को भी अपनी ओर से धन लगाकर उनके अध्ययन काल तक उनका भरण-पोषण करता था। उनका दिया हुआ १,००० मुद्राओं का शुल्क उनके ऊपर पूरे अध्ययन-काल के व्यय का अंशमात्र था।

जातकों मे कुछ ऐसे आचार्यो के उल्लेख मिलते हैं, जो अपने अप्रतिम ज्ञान के द्वारा अभिमानी शिष्यों को विनयी बनाते थे। कुछ विद्यार्थियों को कभी-कभी भ्रम हो जाता था कि हम आचार्य के बराबर जान चुके हैं और फिर वे आचार्य की सेवा में नहीं जाते थे। ऐसी परिस्थिति में आचार्य को अपनी असाधारण विद्वत्ता का परिचय देना पड़ता था। फिर भी आचार्य के मन में शिष्यों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव नही उत्पन्न होता था।[2]

निरुक्त में आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति आचार शब्द से बतलाते हुए कहा गया है कि आचार को ग्रहण कराने वाला व्यक्ति आचार्य है।[3] आचार्य तभी आचार ग्रहण करा सकता था, जब वह स्वयं आचार-निष्ठ हो। प्रायः विद्यार्थियों को सदाचारी बनाने के लिए आचार्य का उपदेश पर्याप्त होता था।[4]

रामायण और महाभारत मे भरद्वाज, अगस्त्य, वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, द्रोण, परशुराम, अर्जुन आदि अनेक आचार्यो के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है। रामायण के अनुसार आचार्य भरद्वाज महात्मा, ऋषि, व्रतपरायण, और एकाग्रचित्त तपस्वी है। वे राम का स्वागत अर्घ्य और मधुपर्क से करते हैं और उनके भोग के लिए नाना-विध अन्न, रस, मूल, फल आदि प्रस्तुत करते हैं।[5] आचार्य ने भरत, उनके परिवार और सेना के खाने-पीने और रहने की जो व्यवस्था की इससे उनकी समृद्धिशालिता का परिचय मिलता है। वे तपस्वी और मुनि तो अवश्य थे, पर उनकी इच्छामात्र से ही अभीष्ट वस्तुओं का संभार प्रस्तुत हो सकता था।[6] वसिष्ठ ने भी विश्वामित्र का आतिथ्य करने के अवसर पर ऐसी ही दैवी शक्ति के

---

१. सुसीम जातक १६३। तिलमुट्ठि जातक २५२ के अनुसार धम्म-अन्तेवासिक दिन में आचार्य का काम करते थे और रात्रि में शिल्प सीखते थे। शुल्क देने वाले विद्यार्थियों को काम नहीं करना पड़ता था।

२. मूलपरियाय जातक २४५

३. आचार्यः अस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा। निरुक्त १.४। यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.१.१४

४. चुल्लनन्दिय जातक २२२। तिलमुट्ठि जातक २३२

५. वा० रा० अयोध्याकाण्ड ५४वाँ सर्ग

६. वा० रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६१

द्वारा विविध प्रकार की वस्तुओं का संग्रह कर दिया था।[1] महाभारत के अनुसार आचार्य कण्व तपस्वी महर्षि थे। वे रजोगुण से सर्वथा मुक्त और व्रतपरायण थे। महर्षि व्यास ने आचार्य का कर्तव्य बताते हुए कहा है—जो मनुष्य ब्रह्मलोक में अक्षय निवास चाहता हो, उसका कर्तव्य है कि विद्यार्थियों को सदा वेद पढ़ाए। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया है कि तुम लोग वेदों का विस्तार करो। उन्होंने भविष्य में आचार्य बनने के लिए उद्यत शिष्यों को मार्ग-निर्देश किया है—तुम लोग अपने शिष्यों को कभी किसी अनुचित या भयदायक काम में न लगाना। आचार्य का उद्देश्य होना चाहिए कि सभी मनुष्य दुःखों के पार हो जायें तथा सबका अभ्युदय हो। धार्मिक विधि से प्रश्नों का उत्तर न देने से मृत्यु हो सकती है। व्यास ने चारों वर्णों को शिक्षा देने की योजना अपने शिष्यों के समक्ष प्रस्तुत की और स्वाध्याय करते रहने का महत्त्व समझाया। आगे चल कर जब व्यास के शिष्य आचार्य हुए तो वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके यज्ञ कराते हुए अपनी जीविका प्राप्त कर लेते थे। समाज में उनका अतिशय आदर था। सर्वत्र वे अपनी योग्यता के कारण विख्यात थे। शिष्यों के प्रति आचार्य की जो आत्मीयता होती थी, उसकी कल्पना व्यास के इन शब्दों से हो सकती है—अपने प्रिय शिष्यों से वियोग होने के कारण आज मेरा मन विशेष प्रसन्न नहीं है।[2] आचार्य और उनके प्रिय शिष्यों की संगति उपमेय रही है।

रामायण मे आचार्य अगस्त्य के व्यक्तित्व का निरूपण किया गया है। आचार्य अपने कर्म से लोक-विश्रुत थे। उनके पुण्य-कर्म लोकहितकारी थे। उनके प्रभाव से उस प्रदेश में राक्षसों के अत्याचार पर रोक लग गई थी। वे प्रशान्त और निर्वैर थे। सारा लोक उनकी पूजा करता था। वे सदा सज्जनों का हित करने में तत्पर रहते थे। अगस्त्य महामुनि और तपस्वी थे। अगस्त्य में सूर्य की तेजस्विता थी। उन्होंने वानप्रस्थ धर्म के अनुकूल राम, लक्ष्मण और सीता को भोजन दिया और फल-मूल और पुष्प से उनकी पूजा की। अगस्त्य ने राम को वैष्णव धनुष भी दिया।[3]

यह उन आचार्य-महर्षियों के व्यक्तित्व की गरिमा थी, जो राम को उनकी ओर आकर्षित करती थी। राम ने समसामयिक महर्षियों का दर्शन करके अपने को पवित्र माना। उन्होंने प्राचीन महर्षियों की चरित-गाथा का ध्यानपूर्वक श्रवण किया।

उच्च कोटि के महाभारतीय आचार्य वेतन लेकर वेद नहीं पढ़ा सकते

---

१. वा० रा० बाल० सर्ग ५३

२. महाभारत शान्तिपर्व ३२७ और ३२८ अध्याय से

३. वा० रामायण अरण्य० सर्ग ११,१२ से

थे। महाभारत के अनुसार यदि किसी ने वेतन लेकर वेद पढ़ाया तो प्रायश्चित्त के बिना उसकी शुद्धि नहीं हो सकती थी।[1]

राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए जो आचार्य नियुक्त होते थे, उनकी उपाधि महाभारत में [illegible] मिलती है। धार्मिक धर्म एवं अन्य शास्त्रों के भी कोविद होते थे।[2]

सूत्र साहित्य में आचार्य के कर्तव्य-पथ का उच्चतर निदर्शन मिलता है, जिसके अनुसार आचार्य अपने शिष्य को पुत्र की भाँति स्नेह करते हुए सावधानी से पढ़ावे और उससे कुछ भी गुप्त न रखे।[3] उससे कभी इतना काम न ले कि उसके अध्ययन में बाधा पड़े। यदि आचार्य ने अध्यापन में किसी प्रकार की उदासीनता दिखाई तो वह आचार्य नहीं रह जाता था। उपनयन के लिए वही आचार्य चुना जाता था, जिसमें परम्परागत पाण्डित्य हो और जो स्वयं उच्चकोटि का विद्वान् हो।[4] पाणिनि के अनुसार गुरु और शिष्य परस्पर भ्राता के समान रहा करते हैं।[5]

आचार्य के अनुशासनमय जीवन की रूप-रेखा भी प्रस्तुत की गई। आचार्य गृहस्थ होने पर भी ऐसा जीवन बिताता था कि उसे देख कर किसी प्रकार का विकार शिष्यों के मन में नहीं उत्पन्न होता था। उसकी रहन-सहन से गौरव टपकता था। वर्षा और शरद् में वह ब्रह्मचारी की भाँति रहकर अपनी स्त्री से अलग रहता था। वह चारपाई पर लेटे-लेटे या उसी पर बैठकर भी नहीं पढ़ा सकता था। वह माला और अनुलेपन आदि से अपना अलंकरण नहीं करता था। आचार्य आधी रात के पश्चात् नहीं सोता था। उसी समय से वह विद्यार्थियों को उनके पाठ बताता था अथवा स्वयं मन ही मन स्वाध्याय करता था। रात के तीसरे पहर भी वह अध्यापन करता था। इसके पश्चात् भी वह सो नहीं सकता था। भले ही किसी खम्भे का सहारा लेकर ऊँघ ले। वह हीन व्यक्तियों से मिलता नहीं था और भीड़ से दूर रहता था। वह तैर कर नदी नहीं पार करता था और उसी नाव पर बैठता था, जिसकी दृढ़ता पर उसे पूरा विश्वास होता था। वह व्यर्थ इधर-उधर थूकता नहीं था और न घास काटता या ढेले फोड़ता था।[6]

---

१. शान्तिपर्व ३४.६

२. सभापर्व ५.३१

३. इस स्नेह का यह तात्पर्य नहीं था कि विद्यार्थी मनमाना आचरण करे। विद्यार्थी को सुधारने के लिए आचार्य उससे अनशन तक करा सकता था या उसके ढीठ होने पर उसे संस्था से निकाल सकता था। आपस्तम्ब ध० सू० १.२.८.२८-२९

४. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.८.२४-२७; १.१.१.११-१२

५. अष्टाध्यायी ४.४.६२ ६. आप० ध० सूत्र १.११.३२

अनेक आचार्य राजमन्त्री होते थे। वे शासन-कार्य संभालते हुए ७०० विद्यार्थियों के शिक्षण का कार्य भी करते थे।[1]

मनु ने प्रत्येक विद्वान् ब्राह्मण का परमावश्यक कर्तव्य निर्धारित किया कि वह नित्य अध्यापन यज्ञ के रूप में करे। इसीलिए मनु ने कहा है—अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः।[2]

परवर्ती आचार्य

भारतीय साहित्य में आचार्य के व्यक्तित्व की जो रूप-रेखा समय-समय पर निरूपित की गई है, वह आदर्श रूप में अमर प्रतिष्ठा पाती रही। कादम्बरी म बाण ने आचार्य जाबालि का इस प्रकार वर्णन किया है—उन्होंने अत्यन्त उग्र तपस्या की थी। उनको चारों ओर से महर्षियों ने घेर रखा था। श्वेत भस्म से उनका शरीर धवल हो रहा था। सिर पर जटायें शोभायमान थीं। उनके ललाट पर त्रिपुण्ड बना हुआ था। कन्धे से धवल यज्ञोपवीत लटक रहा था। उन्होंने स्थिरता पर्वत से, गम्भीरता समुद्र से, तेजस्विता सूर्य से, प्रशम चन्द्रमा से और निर्मलता आकाश-तल से ले रखी थी। वे दीन-अनाथ और विपन्न लोगों को शरण देते थे। वे सभी विद्याओं के आश्रय थे। इनके व्यक्तित्व की ज्योति से सारा आश्रम आलोकित था और सर्वत्र शान्ति विराजती थी। बाण ने स्वयं देखे हुए एक आचाय का परिचय इन शब्दों में दिया है—

> विवृण्वतो यस्य विसारि वाङ्मयं दिने दिने शिष्यगणा नवा नवा।
> उपस्सु लग्नाः श्रवणेऽधिकां श्रियं प्रचक्रिरे चन्दन-पल्लवा इव॥
>
> कादम्बरी

पौराणिक युग के आचार्य के व्यक्तित्व की रूप-रेखा प्रायः वैसी ही रही, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है। विष्णुपुराण के अनुसार आचार्य अपने भोजन मे से कुछ भाग अपने शिष्यों के लिए तथा भूखे लोगों को देता था।[3] मत्स्य पुराण के अनुसार उसी व्यक्ति को आचार्य होना चाहिए, जो अवस्था में वृद्ध हो और निर्लोभ, आत्मज्ञानी, अदाम्भिक, विनम्र तथा मृदु स्वभाव वाला हो।[4] इस युग में विद्यादान के द्वारा आचार्य के स्वर्ग या मोक्ष पाने की धारणा थी।[5]

---

१. दीघनिकाय २.६ महागोविन्दसुत्त।

२. मनुस्मृति ३.७०। दक्षस्मृति में भी ब्रह्मयज्ञ में वेद का अध्यापन सम्मिलित किया गया है। दक्ष० २.१३

३. विष्णु पु० ३.११.८०

४. मत्स्यपुराण १४५.२८

५. विद्यादानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
येन दत्तेन चाप्नोति शिवं परं कारणम्॥ पद्म पुराण उत्तर ख० ११७ वाँ अध्याय

आठवीं शती में आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ। शंकर से आचार्यों की एक परम्परा का आरम्भ होता है, जो भारतीय इतिहास में पूरे मध्य युग तक चलती रही और आजतक चल रही है। शंकर की प्रतिभा अलौकिक थी। उन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में ही वैदिक साहित्य में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। बाल्यावस्था में ही शंकर ने संन्यास ले लिया था। शंकर कर्मयोगी थे। वे अपने युग के सर्वोच्च आचार्य बने। उन्होंने अपने अद्वैत वेदान्त के प्रकाश-स्तम्भ के रूप में विशाल भारत के चारों कोनों पर मठ के रूप में विश्वविद्यालयों की स्थापना की। शंकर के व्यक्तित्व में चतुर्दिक् प्रतिभा का समन्वय था। वे कोरे दार्शनिक ही नहीं थे। उनकी गद्य-लेखन-शैली आज भी आदर्श मानी जाती है। उनका काव्य सर्वगुण सम्पन्न है। उनका ऋषि-जीवन उदात्त है और भारत का सांस्कृतिक अभ्युत्थान करने की उनमें अप्रतिम योग्यता थी।

कुछ आचार्यों की विवादशीलता उल्लेखनीय रही है। विवाद की परिपाटी का आरम्भ सम्भवतः भारत में संस्कृति के अरुणोदय के साथ ही हुआ था। वैदिक साहित्य मे विद्वानों की परिषदों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें शास्त्रार्थ-पद्धति से विद्वानों के साथ ही समाज के ज्ञान का संवर्धन होता था। आचार्यों का विवाद से डरना निन्दनीय समझा जाता था। भारतीय धारणा के अनुसार केवल जीविका के लिए ही यदि आचार्य का ज्ञान हुआ तो आचार्यत्व की कोई महिमा नहीं है। ऐसा आचार्य मानो ज्ञान का क्रय-विक्रय करता है। आचार्य को ती शास्त्रार्थ-पद्धति से समाज के समक्ष अपने ज्ञान की गरिमा का परिचय देना पड़ता था। यही उनकी उच्चता थी। शंकराचार्य के शास्त्रार्थ प्रख्यात हैं।

बौद्धाचार्य

बौद्ध शिक्षण में गौतम के व्यक्तित्व की सर्वोपरि महिमा थी। आचार्य-रूप मे गौतम ने जो निजी आदर्श उपस्थित किया, वह बौद्ध शिक्षण के परवर्ती आचार्यों के लिये पथ-प्रदर्शक बनकर रहा। गौतम ने भारत के सभी विद्यालयों के भिक्षुओं के लिए नियम बनाया और सर्वत्र घूम-घूम कर देखा कि उन नियमों का यथाविधि पालन तो हो रहा है अथवा उनमें किसी परिवर्तन की कहाँ तक आवश्यकता है। गौतम में अदम्य उत्साह था, कर्मण्यता की कल्पनातीत शक्ति थी और नई-नई विषम परिस्थितियों को सुलझाने के लिए प्रत्युत्पन्न बुद्धि और समाधान की क्षमता थी। सारे भारत के भिक्षु गौतम के समीप अपने सन्देहों को मिटाने के लिए आते थे और अपने विवादों का निपटारा गौतम के सहारे करते थे।[1]

गौतम का जन्म राजकुल में हुआ था। उन्होंने राजोचित आधिभौतिक

१. महावग्ग १३.७, ५.१३.८ तथा ७.१.१

भोगों को त्याग दिया, क्योंकि उनसे वास्तविक सुख या शान्ति मिलती हुई न दिखाई दी। गौतम ने आरम्भ में तप का मार्ग अपनाया, पर उससे भी उन्हें सन्तोष न हुआ। अन्त में उन्हें चार आर्य सत्य और अष्टाङ्गिक मार्ग का बोध हुआ। यह खोज न तो नई थी और न रहस्यमयी ही थी, पर इसके द्वारा गौतम का वह व्यक्तित्व प्रस्फुटित हुआ था, जिसमें शान्ति और गौरव की असीम शोभा परिलक्षित हो रही थी। यह वही व्यक्तित्व था, जिसके सम्पर्क में यदि कोई आया तो प्रभावित और मुग्ध होकर रहा और वह निरन्तर सोचने लगा कि वह कौन-सा ज्ञान है, जो गौतम को इतनी उच्चता और भव्यता प्रदान कर रहा है।

गौतम में मानवता के प्रति सच्ची सहानुभूति थी। उन्होंने अपना जीवन लोक-कल्याण के लिए समर्पित कर दिया था। गौतम ने आचार्य बनने वाले अपने शिष्यों को उपदेश दिया—'तुम लोग जाओ और सर्वजनीन हित करते हुए भ्रमण करो। संसार के सभी प्राणियों के प्रति दया-भाव रखते हुए, सभी लोगों के कल्याण, लाभ और मंगल के लिए प्रयत्न करो। तुममें से दो किसी एक दिशा में न जायँ। तुम उस जीवन-दर्शन का प्रचार करो, जिसका आदि, मध्य और अवसान कल्याणमय है। पूर्ण, पवित्र और सत् जीवन की घोषणा करो।[१] इस वाणी के पीछे गौतम की वही सहानुभूति अन्तर्हित है, जिसने उन्हें जीवन भर लोकोपकार के लिए तत्पर रखा और उसी समय से सदा के लिए बौद्ध दर्शन और धर्म के त्यागी स्वयंसेवकों का उत्साह बढ़ाया।

गौतम की वाणी मधुर थी। उनका स्वभाव मृदुल था। उन्होंने विषम परिस्थितियों में भी किसी प्रकार चित्त में विकार नहीं आने दिया। यदि किसी ने उनको गाली दी तो उन्होंने प्रेमपूर्वक उसको शान्त करके अपना अनुयायी बना लिया।[२] गौतम ने कहा है—मैं मरना भी नहीं चाहता, जब तक मेरे शिष्यों का व्यक्तित्व उदात्त न हो जाय।[३]

गौतम ने रात-दिन अपने शिष्यों की मानसिक और शारीरिक प्रगति की चिन्ता की। वे देखते रहते थे कि किस भिक्षु के मनोविकार क्या हैं। वे

---

१. अंगुत्तर निकाय ४.१.४।

२. एक बार किसी गृहस्थ ने गौतम को जब बहुत बुरा-भला कहा तो गौतम ने पूछा—यदि किसी भिक्षुक को कोई भिक्षा दे और भिक्षुक उसे न ले तो वह भिक्षा किसकी होगी ? गृहस्थ ने उत्तर दिया—भिक्षा देने वाले की ही भिक्षा रह जायेगी। गौतम ने कहा—मैंने तुम्हारी गाली स्वीकार नहीं की है। यह किसकी रही ? यह तुम्हारे ऊपर ही तो पड़ी। मेरी तो बड़ी हानि हुई कि तुम जो मेरे मित्र थे अब मित्र न रहे। मज्झिम निकाय ७५

३. दीघनिकाय महापरिनिब्बाण सुत्तन्त २.३

यथाशीघ्र उसे सत्पथ का अनुशासन करके अभ्युदय-पथ पर लगा देते थे। गौतम ने एक बार किसी भिक्षु को, जो अतिसार से पीड़ित होकर मल में परिलिप्त था, अपने हाथों से ही साफ करके उसका बिस्तर बदला और विहार के सभी भिक्षुओं को बुला कर शिक्षा दी--जो कोई रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है। यही वह आचार्यत्व का आदर्श है, जो संघ में सदा प्रतिष्ठित रहा और जिसके होने के कारण विहार में शिष्यों और आचार्यों के बीच कुटुम्ब का वातावरण बन गया। आचार्यों के लिए नियम था कि सदाचार की शिक्षा दें। उत्तम रीति से पढ़ायें। जितनी विद्या का ज्ञान हो, वह सारी शिष्य को दे दें। शिष्य के गुणों की प्रशंसा करें। जब कहीं बाहर जायें तो ऐसी व्यवस्था कर दें कि शिष्य को खाने-पीने की असुविधा न हो।[1] गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके अनेक शिष्य उस युग के सुप्रसिद्ध आचार्य हुए। इनमें से आनन्द, महामौद्गल्यायन, सारिपुत्र, राहुल, उपालि आदि सुप्रसिद्ध हैं। प्रथम शती ईसवी में मिलिन्द-प्रश्न का रचयिता आचार्य नागसेन अपने युग का सर्वोच्च व्याख्याता था। वास्तव में बौद्धाचार्य माता-पिता थे।[2]

फाह्यान ने चौथी शती के पाटलिपुत्र के आचार्य राधास्वामी के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए लिखा है--राधास्वामी विशुद्ध विवेक और ज्ञान से सम्पन्न थे। उनका आचार विमल था। जनपद का राजा उनको आचार्य मान कर सम्मानित करता था। जब राजा उनसे बातचीत करने जाता था तो उनके समक्ष बैठने का साहस नहीं करता था। राजा श्रद्धा-भक्ति से यदि कभी उनका हाथ छूता तो हाथ छूटते ही श्रमण झट पानी से धो डालता था। आचार्य की अवस्था ५० वर्ष से अधिक थी। सारे जनपद में उनका सम्मान था। इस एक मनुष्य से बौद्ध धर्म की ख्याति सर्वत्र फैल रही थी।

सातवीं शती के बौद्ध आचार्यों के व्यक्तित्व का निरूपण ह्वेनसाँग की रचनाओं में मिलता है। ह्वेनसाँग स्वयं उन आचार्यों से अध्ययन कर चुका था। वह भारत में अपनी शिक्षा पूर्ण करके नालन्दा के विश्वविद्यालय में सर्वोच्च आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुआ। ह्वेनसाँग ने नालन्दा के विश्वविद्यालय के भूतपूर्व सर्वोच्च आचार्यों में धर्मपाल और चन्द्रपाल की गणना की है। वे बौद्ध दर्शन के सर्वोच्च विद्वान् थे। आचार्य गुणमति और स्थिरमति का यश दूर-दूर फैला हुआ था। प्रभाकर मित्र का तर्क प्रांजल था। ज्ञानचन्द्र का चरित्र आदर्श था और प्रज्ञा विशद थी।

---

१. बुद्धचर्या सिगालोवाद सुत्त १३ तथा चुल्लवग्ग ८. २६

२. सचे अन्तेवासिको गिलानो होति, यावजीवं उपट्ठातब्बो वुट्ठानमस्स आगमतेब्बं ति। महावग्ग १.६.३

जिनमित्र का वार्तालाप उच्च स्तर का होता था। शीलभद्र की प्रतिभा परिपक्व होने पर भी प्रच्छन्न-सी थी। ह्वेनसांग के अनुसार ये सभी आचार्य सर्वविद्या-विशारद थे और उन्होंने अनेक लब्धप्रतिष्ठ शास्त्रों की रचना की थी, जिनकी उस युग में प्रसिद्धि हो चुकी थी। इनमें से शीलभद्र नालन्दा के कुलपति थे और उन्होंने ह्वेनसांग के अध्यापन में विशेष रुचि दिखलाई थी।[1] इन आचार्यों के सम्बन्ध में इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनमें अपने अध्ययन और व्यक्तित्व के विकास के प्रति अनुपम अभिरुचि थे। वे उत्साहपूर्वक जीवन भर अध्ययन और अध्यापन में तल्लीन रहते थे और मनोयोगपूर्वक बौद्ध दर्शन से सम्बद्ध साहित्य का संवर्धन करते रहते थे ।

बौद्ध आचार्यों की सबसे बढ़कर उदात्त चरित-गाथा है उनका न केवल भारत में ही, अपितु विदेशों में जाकर भारतीय संस्कृति के सन्देश का आलोक विस्तृत करके धर्म-विजय प्राप्त करना। इन आचार्यों के जीवन-पथ में असंख्य संकट और कठिनाइयाँ आई होंगी, जिनकी हम कल्पना नहीं कर सकते। उन्होंने विदेशों में जाकर वहाँ की भाषा सीखी, विदेशी भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की और उन देशों की संस्कृति के आचार्यों का सहयोग प्राप्त करके अपनी सांस्कृतिक निधि का वितरण किया।

जैन आचार्य

जैन शिक्षण के आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के व्यक्तित्व की छाप रही है। बौद्धाचार्यों की भाँति जैनाचार्य भी अपना जीवन और शक्ति मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न में लगा देते थे।[2] आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की रूप-रेखा जो आगे बनी, वह कुछ-कुछ इस प्रकार थी—वह सत्य को छिपाता नहीं था और न उसका प्रतिवाद करता था। वह अभिमान नहीं करता था और न यश की कामना करता था। वह मन्त्र-तन्त्र के द्वारा आचार्य-मार्ग को दूषित नहीं करता था। वह कभी अन्य धर्मों के आचार्यों की निन्दा नही करता था। सत्य कठोर होने पर भी उसके लिए अत्याज्य था। वह सदैव सद्विचारों का प्रतिपादन करता था। वह सज्जनों और गुणवान् व्यक्तियों के साथ रहता था और शनैः-शनैः अज्ञान के भ्रम में पड़े हुए शिष्य को भी सत्पथ का प्रदर्शन कराता था। शिष्य को डाँट-डपट कर या अपशब्द कह कर वह काम नहीं लेता था। वह धर्म के रहस्य को पूर्ण रूप से जानता था। वह शास्त्रज्ञ था। उसका जीवन तपोमय था। उसकी व्याख्यान-शैली शुद्ध थी। वह कुशल, विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित था।[3]

---

१. वाटर्स भाग २ पृ० १६४-१६६
२. आचारांग १.६.५.२-४
३. सूयगडंग १.१४.१६-२७

जैन-शिक्षण में परवर्ती युग में आचार्य और उपाध्याय नामक दो कोटियाँ मिलती हैं। आचार्य वह मुनि है, जो अपने आपको तथा दूसरों को आचार से समन्वित कर देता है। इस प्रकरण में आचार है दर्शन, ज्ञान वीर्य, चरित्र और तप। वह मुनि उपाध्याय है, जो स्वयं तीन रत्न--सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चरित्र से युक्त होता है और नित्य धर्मोपदेश में तत्पर रहता है।[1]

शिक्षण-विधि

वैदिक काल में आरम्भ से ही सूक्तों को कण्ठाग्र करने की रीति थी। उसी समय से लेकर आज तक साधारणतः किसी भी संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थ को और विशेषतः वेदों और वेदाङ्गों को कण्ठस्थ करने का प्रचलन मिलता है।[2] यज्ञों और उत्सवों के अवसर पर वैदिक सूक्तों का सस्वर गायन होता था। ऐसे पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए थी। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ हाथ की गति से की जाती थी। लोगों की भावना थी कि मन्त्रों का अशुद्ध पाठ करने से पाप लगता है और कभी-कभी तो स्वरों का हेर-फेर हो जाने से अर्थ का अनर्थ हो सकता था।[3] ऐसी परिस्थिति में पाठ की शुद्धि के लिए आचार्य और विद्यार्थी बहुत सतर्क रहते थे। इस प्रकार की शिक्षा में आचार्य का आदर्श रूप में स्वयं पाठ समुपस्थित करना और फिर विद्यार्थियों को उसे दुहराना तथा साथ ही आचार्य के द्वारा अशुद्धियों की ओर विद्यार्थी का ध्यान आकर्षित करना स्वाभाविक विधि थी। ऋग्वेद के 'अनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्' में इसी विधि का निर्देश किया गया है।[4]

वैदिक शिक्षण

ऋग्वेद के मन्त्रों को देखने से प्रतीत होता है कि अनेक मन्त्र विशेष परिस्थितियों

---

१. द्रव्य-संग्रह ३.२.५२-५३

२. यह विवादग्रस्त समस्या है कि ऋग्वेद के विद्वान् लिखना जानते थे कि नहीं। भारतीय ध्वनि-विन्यास का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करने पर स्पष्ट प्रकट होता है कि बिना लिपिबद्ध किए हुए इसका वह स्वरूप ही नहीं बन सकता था। योरपीय विद्वान् भी जिस युग की रचना इन वेदों को मानते हैं, उसमें विश्व के कई भागों में लिखने की रीति थी। भारत के वैदिक महर्षि इन परिस्थितियों में लिखना न जानते हों, यह आश्चर्यजनक लगता है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि लोग वैदिक साहित्य को लिपि-बद्ध करने के पक्ष में नहीं थे।

३. पाणिनि-शिक्षा के अनुसार वृत्र ने इन्द्र को मारने के लिए जो यज्ञ किया था, उसमें स्वर के अशुद्ध उच्चारण से फल ठीक उलटा मिला।

४. ऋग्वेद ७.१०३.५; ५.४४.१

में देवताओं का आह्वान करके उनकी सहायता पाने के लिए रचे गए हैं अथवा उनके माध्यम से यजमानों की प्रशंसा की गई है। ऐसे मन्त्रों की रचना करने के लिए जो होनहार कवि आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे, उन्हें मन्त्र-रचना का सतत अभ्यास कराया जाता था और उनके नये रचे हुए श्लोकों की त्रुटियों को दूर किया जाता था। नित्य नये कवियों का अभ्युदय हो रहा था और नई-नई स्तुतियाँ रची जा रही थीं।[1]

वैदिक मन्त्रों को कण्ठस्थ करने के लिए और साथ ही उनके पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिए विविध प्रकार के पाठ होते थे। यथा—

संहिता-पाठ

यत् पुरुषेण । हविषा । देवा यज्ञमतन्वत ।

पद-पाठ

यत् । पुरुषेण । हविषा । देवा । यज्ञम् । अतन्वत ।

क्रम-पाठ[2]

यत् पुरुषेण । पुरुषेण हविषा । हविषा देवा । देवा यज्ञम् । यज्ञमतन्वत ।
अतन्वतेत्यतन्वत ।

जटा-पाठ

यत् पुरुषेण पुरुषेण यद्यत्पुरुषेण । पुरुषेण हविषा हविषा पुरुषेण पुरुषेण हविषा । हविषा देवा देवा हविषा हविषा देवा । देवा यज्ञं यज्ञं देवा देवा यज्ञम् । यज्ञमतन्वतातन्वत यज्ञं यज्ञमतन्वत । अतन्वतेत्यतन्वत ।

घन-पाठ

यत् पुरुषेण पुरुषेण यद्यत् पुरुषेण हविषा हविषा पुरुषेण यद्यत् पुरुषेण हविषा । पुरुषेण हविषा हविषा पुरुषेण पुरुषेण हविषा देवा देवा हविषा पुरुषेण पुरुषेण हविषा

---

१. ऋग्वेद १. २४ सूक्त शूनःशेप की रचना है। यह सूक्त केवल वैयक्तिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए रचा गया था। ऋग्वेद १. १२६ सूक्त कक्षीवान् की स्वानुभूत घटना का वर्णन है।

२. क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ में भी स्वर-विन्यास का निर्देशन स्वत् है। इन पाठों में एक ही पद को वारंवार पढ़ने की विशेषता है। जटा-पाठ में ...पाद छः बार तक उच्चारित करना पड़ा है। उदाहरण के लिए देखिए 'देवा'।

देवा । हविषा देवा देवा हविषा हविषा देवा यज्ञं यज्ञं देवा हविषा हविषा देवा यज्ञम् । देवा यज्ञं यज्ञं देवा देवा यज्ञमतन्वतातन्वत यज्ञं देवा देवा यज्ञमतन्वत । यज्ञमतवन्तान्वत यज्ञं यज्ञमतन्वतात । अतन्वतेत्यतन्वत ।

उपर्युक्त विधि से वैदिक साहित्य को कण्ठस्थ रखने वालों का प्रयास स्तुत्य है । इसीसे वदिक साहित्य अपने शुद्धतम रूप में सहस्रों वर्षों तक अक्षुण्ण बना रहा । सम्भव है कि ऐसे कण्ठाग्र-परायण पण्डितों को वेदों का अर्थ और रहस्य जानने के लिए पूरा समय न मिल पाता हो और कण्ठाग्र-मात्र करना ही परवर्ती युग मे अद्‌भुत सिद्धि मान ली गई हो । संहिता-युग के पश्चात् सदा ऐसे चलते-फिरते ग्रन्थ-रूप पण्डितों की प्रतिष्ठा रही है ।[1] ऐसे ज्ञानियों में बहुत से ऐसे भी होते थे, जो अर्थ न जानते हुए ही वेदों को रटते थे । आलोचकों ने ऐसे पण्डितों को 'ठूँठ वृक्ष' अथवा 'भारहार' आदि परिहासास्पद उपाधियों से सम्बोधित किया । भारतीय धारणा के अनुसार वेदों का अर्थ जानने वाला इस लोक में कल्याण भोगता है और ज्ञान से पाप के धुल जाने पर स्वर्ग मे जा पहुँचता है ।[2] ऐसी परिस्थिति में वैदिक शिक्षण-पद्धति में अर्थ-विवेचन का प्रायः सदा महत्त्व रहा ।

ऋग्वेद के अनुसार दार्शनिक शिक्षण की एक पद्धति थी, विद्वानों की परिषद् में जिज्ञासुओं का प्रश्न पूछना । जिज्ञासु विनयपूर्वक जिज्ञासा प्रकट करते थे । वे कहते थे—हम पाक (न जानने वाले) हैं । इस विषय में कुछ न जानते हुए हम पूछ रहे हैं । इस विषय को जो जानता हो, वह उत्तर दे ।[3] कैसे शिक्षा दें—इस विषय में पिता का पुत्र को प्रेमपूर्वक कुछ सिखाना आदर्श रहा है ।[4]

ब्राह्मणकालीन शिक्षण-पद्धति की कल्पना उपनयन के अवसर पर आचार्य के द्वारा विद्यार्थी को गायत्री सिखाने की विधि से हो सकती है । आचार्य पहले गायत्री का पाठ पदशः करता था फिर आधे का और अन्त में पूरे का । शिष्य दुहराता जाता

---

१. एक ही बार सुनकर याद कर लेने वाले विद्यार्थियों को श्रुतधर कहा जाता था । कथासरित्सागर १.२.६१ इत्सिंग ने ऐसे लोगों के विषय में लिखा है—मैं स्वयं ऐसे लोगों से मिला हूँ । *Record of the Western World p. 183.*

२. निरुक्त में प्रतिपादन किया गया है—स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वदं न विजानाति योऽर्थम् । योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो नतज्ज्वलति कर्हिचित् ।। निरुक्त १.१८-१९

३. ऋग्वेद १.१६४.४-७

४. शतपथ ११.५.४.१५

था ।[1] इस युग की शिक्षण-विधि में प्रश्नोतर का विशेष महत्त्व था । प्रश्नों की रूप-रेखा इस प्रकार थी--अग्निहोत्री क्या जान कर प्रवास करता है ? वह कैसे इस ज्ञान को प्राप्त करता है ? अग्नियों के द्वारा कैसे उसकी सतत प्रतिष्ठा होती है ? कैसे वह कह सकता है कि उसका घर से प्रवास नहीं हुआ ? उत्तर इस प्रकार दिए जाते थे--जो सबसे अधिक प्रगतिशील है, वही प्रवास करता हुआ देखा जाता है । इस प्रकार उसकी वृद्धि प्रकट होती है और उसकी अग्नियाँ उसकी प्रतिष्ठा करती हैं । अपनी मानसिक वृत्तियों के कारण वह प्रोषित नहीं होता ।[2]

यज्ञ-विद्या सम्बन्धी जो व्याख्यान ब्राह्मण-साहित्य में मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि आचार्यों के व्याख्यानों में प्रक्रिया-सम्बन्धी विस्तार होते थे और उन प्रक्रियाओं के रहस्यों और प्रभावों का सोदाहरण विवेचन किया जाता था ।[3]

शनैः-शनैः ज्ञान की गरिमा बढ़ी । तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार वैदिक विषयों का अध्ययन गाँव में मन ही मन मौखिक उच्चारण किये बिना ही करने का विधान बना । गाँव से बाहर अरण्यों में उन विषयों का अध्ययन वाचा अर्थात् वाणी से बोलकर करने की पद्धति चली ।[4] सम्भवतः पाठकों को ध्यान रहता था कि उनके पाठों को अयोग्य व्यक्ति न सुन सकें ।

अपने ज्ञान की परिपक्वता और पूर्णता की प्रतिष्ठा करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी भ्रमण करते हुए विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों से विवाद करते थे । विवाद मे परास्त होने पर वे कभी-कभी स्वयं विजयी विद्वान् के शिष्य बनकर उनसे विद्या सीखते थे । ऐसे विवाद वैदिक काल से प्रायः सदा होते आये हैं । विवादों में आजकल के शास्त्रार्थ की भाँति हठधर्मिता नहीं होती थी । विवादों के द्वारा सत्य का अनुसन्धान कर लेना तथा उसके आधार पर अपने व्यक्तित्व का विकास करना प्रधान उद्देश्य होता था ।[5]

---

१. ऋग्वेद १०.३९.६ । महाभारत के अनुसार
मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया ।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ।। आदि १४.२

२ शतपथ ११.३.१.५-६ ३. श० प० ११.४.१.१०-१२

४. तै० आ० २.११.१२-१५

५. ऐसे विवादों के उदाहरण के लिए देखिये ऋग्वेद ५.१०.७१ । शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक तथा स्वैदायन के विवाद के लिए देखिये ११.४.१.१-६ । बृहदारण्यक उ० ३.१ के अनुसार याज्ञवल्क्य का कुरुपाञ्चालों के साथ विवाद हुआ था । छान्दोग्य० १.८ में शिलक, चैकितायन तथा प्रवाहण के शास्त्रार्थ का उल्लेख है । वैदिक, जैन, बौद्ध आदि संस्कृतियों के आचार्यों में परस्पर शास्त्रार्थ होते थे । ह्वेनसांग ने ऐसे अनेक शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है । शंकर-दिग्विजय में शंकर का मण्डन मिश्र से जो विवाद हुआ था, वह सुप्रसिद्ध है । कथा-सरित्सागर १.८.२४ के अनुसार व्याकरण-सम्बन्धी शास्त्रार्थ आठ दिन तक चलते रहते थे ।

ब्राह्मण-साहित्य की भाँति उपनिषद्-साहित्य भी प्रायः आचार्य-महर्षियों के द्वारा शिष्यों के समक्ष दिये हुए व्याख्यानों का संग्रह है। ईशोपनिषद् में इस प्रकार की व्याख्यान-शैली का उल्लेख नीचे लिखे श्लोक में किया गया है :—

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नः तद्विचक्षिरे।।

प्रायः ऐसे व्याख्यान प्रश्नोत्तर के रूप में हैं। विद्यार्थी के मन में शंका होती थी। वह अपनी शंकाओं को समाधान करने के लिए महर्षि के समक्ष प्रस्तुत करता था। महर्षि उसके प्रश्नों का उत्तर देते थे। केनोपनिषद् में आरम्भ में ही विद्यार्थी आचार्य से पूछता है—मन, प्राण, वाणी, नेत्र और श्रोत्र किसकी प्रेरणा से अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होते हैं? इसके उत्तर में आचार्य ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी व्याख्यान देते हैं। इस प्रश्नोत्तर में सम्भवतः आचार्य के एक शिष्य की ही कल्पना है। उसी को वारंवार सम्बोधित करते हुए सारा भाषण दिया गया है। आचार्य के प्रति किसी शिष्य की उपनिषद् सम्बन्धी जिज्ञासा इस प्रकार उपनिबद्ध की गई है—'उपनिषदं भो ब्रूहीति।'[1] उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन के अन्त में आचार्य कहता था—उक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।[2] उपनिषद् के प्रवचन में तत्सम्बन्धी उपयोगिता का दिग्दर्शन भी कराया जाता था। इसके द्वारा व्याख्यान के विषय में विद्यार्थी की अभिरुचि जागरित की जाती थी। केनोपनिषद् में आचार्य ने अपने भाषण के अन्त में ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में कहा है—इसको जानने वाला स्वर्ग-लोक में प्रतिष्ठित होता है। कठोपनिषद् में आचार्य यम ने 'ओ३म्' की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि ओ३म् का बोध जिसको हो जाता है, उसकी कामनायें पूरी हो जाती हैं। ओ३म् श्रेष्ठ आलम्बन है, इसको जान कर विद्वान् ब्रह्मलोक में पूज्य होता है।[3]

आचार्य और शिष्य में प्रवचन या व्याख्या का सम्बन्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार आचार्य और अन्तेवासी के बीच प्रवचन सन्धान है। इसी से विद्या-सन्धि की उत्पत्ति होती है।[4]

---

१. महाशय, आप उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन दें।

२. उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन समाप्त हुआ, मैंने ब्रह्म-विषयक उपनिषद् पर व्याख्यान दे दिया। केन उ० ४.७

३. कठोपनिषद् १.२.१६-१७। इस उपनिषद् में विद्यार्थी नचिकेता और आचार्य यम के प्रश्नोत्तर संगृहीत हैं।

४. तै० उ० ३.३

तत्कालीन आचार्य ब्रह्मज्ञान के गूढ़ रहस्यों को उपमा द्वारा सुबोध बनाते थे। आत्मा, शरीर, बुद्धि और मन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और मन पगहा है।[1] कभी-कभी आचार्य आध्यात्मिक रहस्यों का बोध कराने के लिए चाक्षुष कल्पना का अवलम्बन लेते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि ने श्वेतकेतु को आत्मा के सम्बन्ध में प्रवचन देते समय जब देखा कि शिष्य की समझ में आध्यात्मिक रहस्य नहीं आ रहा है तो चाक्षुष कल्पना कराने के लिए उन्होंने वट के फल को टुकड़े-टुकड़े करवा कर समझाया। आचार्य और शिष्य का इस प्रसङ्ग में इस प्रकार वार्तालाप हुआ--

श्वेतकेतु--मुझे आप फिर समझायें।
आचार्य--ठीक है, तुम वट का एक फल लाओ।
श्वेतकेतु--यह है, भगवन्
आचार्य--इसको फोड़ो।
श्वेतकेतु--यह फोड़ा, भगवन्।
आचार्य--इसमें क्या देख रहे हो ?
श्वेतकेतु--नन्हें बीज, भगवन्।
आचार्य--इनमें से किसी एक को फोड़ो।
श्वेतकेतु--यह फोड़ा।
आचार्य--इसमें क्या देख रहे हो ?
श्वेतकेतु--भगवन्, कुछ भी नहीं।

आचार्य--जिस अणिमा को तुम नहीं देख रहे हो, उसी अणिमा का बना हुआ यह महान् वट-वृक्ष है। सोम्य, श्रद्धा करो। आत्मा भी उसी प्रकार वह अणिमा है, जिससे यह सारा विश्व है। श्वेतकेतु, तुम भी वही हो।

श्वेतकेतु--भगवन्, आप मुझे फिर समझायें।[2]

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।

२. छान्दोग्य० ६.१२। बृहदारण्यक उपनिषद् में राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य को ब्रह्मविषयक ज्ञान देने के लिए किसी सोये हुए मनुष्य के पास उसे ले जाकर जगाया और फिर गार्ग्य से पूछा--यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था, जब यह व्यक्ति सोया हुआ था ? इस प्रकार प्रश्नोत्तर द्वारा शिक्षा दी गई। बृ० उ० २.१.१६

श्वेतकेतु की समझ में न आने पर अनेक उदाहरणों के द्वारा आचार्य ने उपर्युक्त विषय को दस बार समझाया।

ऊपर के इस व्याख्यान से प्रकट होता है कि आचार्य की वाणी मधुर होती थी। वह शिष्य का सम्बोधन करते हुए उसे सोम्य कहता था और शिष्य आचार्य को भगवन् कहता था। उपनिषदों में अन्यत्र भी आचार्य के शिक्षण में शिष्यों के उत्साह-संवर्धन का सफल प्रयास मिलता है। कठोपनिषद् में आचार्य ने शिष्य से कहा है--उठो, जागो, श्रेष्ठ आचार्यों को पाकर बोध प्राप्त करो।[1] प्रवचन के आरम्भ में आचार्य कभी-कभी ऐसे वाक्य भी कहता था—सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।[2] ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।[3] (हम दोनों को यश, ब्रह्मवर्चस् साथ प्राप्त हों। हमारी साथ ही रक्षा करो। हम साथ पोषण प्राप्त करें। साथ ही बलशाली बनें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर विद्वेष न करें।)

इस प्रकार की आचार्य और शिष्य की परस्पर भावनाओं और विचारों से अध्ययन करने के लिए उदात्त वातावरण बन जाता था।

आध्यात्मिक रहस्यों का चाक्षुप ज्ञान कराने के लिए शिष्य को उपवास तक करना पड़ता था। श्वेतकेतु १५ दिन का उपवास करने पर जब वेद-मन्त्रों को विस्मृत कर बैठा तो आचार्य ने उसे समझाया--मन अन्नमय है।[4] भृगु ने बारंबार तपस्या करके अन्न में ब्रह्म के स्वरूप को जाना। इस प्रकार शिक्षणविधि में तप का महत्त्व था।[5]

आचार्य कभी-कभी विद्यार्थियों से प्रश्न पूछ कर उनकी शंकाओं का समाधान करते थे। अश्वपति ने अपने छः शिष्यों में से प्रत्येक से पूछा—तुम किसको आत्मा समझ कर उपासना करते हो? प्रत्येक के उत्तर सुनकर उनका विवेचन करके त्रुटियाँ बतला दीं।[6] अन्त में व्याख्यान किया।

---

१. क० उ० ३.१४
२. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ३.१
३. तै० उ० ब्रह्मानन्दवल्ली का आरम्भ
४. छान्दोग्य० ६.७
५. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली
६. छान्दोग्य० ५.११-१८। बृहदारण्यक उ० ४.२.१ में याज्ञवल्क्य ने जनक से प्रश्न पूछा और उनके उत्तर न देने पर प्रवचन आरम्भ कर दिया।

उपनिषद्-युग में आचार्य का शिक्षण में विशेष महत्त्व था। अपने आप सीखी हुई विद्या अच्छी समझी जाती थी।[1] फिर भी तत्कालीन शिक्षण को गौरवान्वित करने में जिज्ञासु विद्यार्थियों की ज्ञानपरायणता को ही प्रथम कारण कहा जा सकता है। आचार्य से जो कुछ श्रवण किया, उसे मनन और निदिध्यासन के द्वारा संवर्धित करके तदनुकूल व्यक्तित्व का विकास करने वाले ब्रह्मचारी महान् थे।

उपनिषद् का ज्ञान प्रारम्भ में वैयक्तिक निधि के रूप में विकसित हुआ। उस समय विभिन्न आचार्यों से शिक्षा पाने के लिए उत्सुक विद्यार्थी सदैव तत्पर रहते थे। जहाँ कहीं ज्ञात हुआ कि कोई विद्वान् दर्शन के उच्च तत्त्वों का विशेषज्ञ है, झट विद्यार्थी उसके पास पहुँचकर उस नई वस्तु को सीख लेते थे। इस प्रकार उपनिषद्-ज्ञान का शिक्षण प्रायः यथावसर ही प्राप्त किया जा सकता था। जनक पहले से ही उपनिषद् के विद्वान् थे। स्वयं गृहस्थाश्रम का जीवन बिताते थे। उपनिषद् के आचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य के आने पर उनके अभिनव ज्ञान का परिचय पाकर वे कहने लगे—नमस्कार। हे याज्ञवल्क्य, मुझे शिक्षा दीजिए। यह कह कर वे आसन से उठ पड़े।[2]

वैदिक संहिताओं के अध्ययन-अध्यापन की शैली प्रायः पूर्ववत् रही। आचार्य दो पद या अधिक पदों का उच्चारण करता था। पहला शिष्य उनमें से पहले पद की आवृत्ति करता था। फिर अन्य शिष्य शेष पदों को दुहराते थे। यदि सामासिक पद होते थे तो आचार्य केवल एक पद बोलता था। यदि आवश्यकता हुई तो आचार्य उच्चारण-विधि का भी निदर्शन करता था। इस प्रकार प्रश्न समाप्त हो जाता था। फिर सभी शिष्य उसको दुहराते थे।[3]

वैदिक शिक्षण-विधि का परिचय सूत्र-साहित्य में प्रायः मिलता है। इसके अनुसार अध्ययन करने के लिए आचार्य और शिष्य दोनों अग्निहोत्र के उत्तर की ओर बैठते थे। आचार्य का मुँह पूर्व की ओर और शिष्य का पश्चिम की ओर होता था। शिष्य आचार्य का पादाभिवन्दन करके अपने हाथ पर जल छिड़क कर दाहिना घुटना

१. आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठा प्रापदि। छा० उ० ४.९.३ आचार्य का महत्त्व प्रायः सदा ही रहा है। एकलव्य ने द्रोणाचार्य का आचार्यत्व न पाकर उनकी मूर्ति बनाकर अपना काम चलाया। महाभारत आदि० १३१.३३–३४। नारद के अनुसार तो—

कुन्थकस्याधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः॥ पराशर-माधवीय भाग १ पृ० १४४

२. बृहदारण्यक उ० ४.२.१

३. ऋक् प्रातिशाख्य पटल १५

टेक कर बैठ जाता था। वह अपने हाथों से कुशों के मध्य भाग को पकड़ लेता था। आचार्य उन्हीं कुशों को सिरे पर बायें हाथ से पकड़ कर दाहिने हाथ से उन पर पानी छिड़कता था।[1] इसके पश्चात् शिष्य के प्रार्थना करने पर आचार्य गायत्री मन्त्र से अध्यापन आरम्भ करता था।[2]

पढ़ते समय शिष्य आचार्य से न अधिक दूर और न अधिक निकट बैठता था। पलथी लगाकर नहीं बैठता था। वह पढ़ते समय सावधान होकर आचार्य की वाणी सुनने के लिए उत्सुक रहता था। बैठने के लिए वह हाथ से न तो भूमि का और न किसी अन्य वस्तु का सहारा लेता था। विद्यार्थी सदैव गुरु की ओर मुँह किये रहता था, चाहे गुरु उसकी ओर न भी देखता हो। यदि एक शिष्य होता था तो वह गुरु को दाहिनी ओर बैठता था। यदि अनेक शिष्य होते थे तो वे अपनी सुविधानुसार बैठ जाते थे।[3]

महाभारतीय शिक्षण

महाभारत-काल में अक्षरशः पढ़े जाते थे, साथ ही मन्त्रों को कण्ठाग्र करके छन्दों का विश्लेषण करने की रीति प्रचलित थी।[4] उपनिषदों की भाँति महाभारत में भी कई स्थलों पर आचार्यों के भाषण संगृहीत हैं। अध्यापन की साधारण शैली थी--शिष्यों का प्रश्न पूछना और आचार्य का उत्तर में व्याख्यान देना। एक व्याख्यान की रूप-रेखा इस प्रकार है---आचार्य के पास उसके मेधावी शिष्य ने आकर सिर से प्रणाम करके कहा--'हे विप्र, मैं निःश्रेयस-परायण होकर आपके समीप आया हूँ। आप कृपा करके बतायें श्रेय क्या है। मैं कहा से आया, आप कहाँ से और अन्य प्राणी कहाँ से उत्पन्न हुए? प्राणी कैसे जीते हैं? सत्य, तप, गुण, कल्याण-पथ, सुख, पाप आदि क्या हैं? इन प्रश्नों का वास्तविक उत्तर आपको छोड़कर कौन दे सकता है? हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ, मेरा परम कौतूहल है। लोकप्रसिद्ध है कि आप मोक्ष, धर्म और अर्थ में कुशल हैं। आपको छोड़कर कोई और सर्वसंशयच्छेता नहीं है और हम लोग संसार में पुनर्जन्म से डरते हैं। हम मोक्ष चाहते हैं।' व्याख्यान की उपर्युक्त भूमिका से हम तत्कालीन शिक्षण के वातावरण की कल्पना कर सकते है। उस आचार्य-महर्षि ने विद्यार्थी की जिज्ञासा को

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५.२.१.८ के अनुसार कुश मेध्य (पवित्र) है। इसके परिधान से अपवित्र भी पवित्र बन जाता है। ७.३.२.३ के अनुसार इसका अग्रभाग दैवी है। शतपथ १.१.३.४--५ के अनुसार कुश उस पवित्र जल का प्रतीक है, जो वृत्र के मरे हुए शरीर से अपवित्र नहीं हुआ। इस प्रकार उसकी पावन शक्ति अक्षुण्ण है।

२. सांख्यायन-गृह्यसूत्र २.७   ३ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १.२.६

४ महा० वनपर्व १६७.८

विधिवत् महत्त्व दिया और एक-एक प्रश्न का उत्तर प्राचीन महर्षियों की परम्परागत दार्शनिक विचार-धारा के अनुरूप समझाया।[1] कुछ आचार्यों के पास अधिक से अधिक दो-चार शिष्य ही रहते थे।[2]

मनुस्मृति में शिक्षण-विधि की जो संक्षिप्त रूप-रेखा दी गई है, वह परवर्ती युग में आदर्श मान ली गई। इसके अनुसार उपनयन हो जाने के पश्चात् आचार्य शिष्य को आरम्भ में शौच, आचार, अग्नि-होत्र, सन्ध्योपासन आदि की शिक्षा देता था। अध्ययन आरम्भ करने के पहले नित्य ही विद्यार्थी हल्का वस्त्र पहन कर शास्त्रीय विधि से आचमन करता था।[3] वह आचार्य के चरण का स्पर्श करता था और हाथ जोड़कर बैठ जाता था।[4] अध्ययन आरम्भ करने के पहले आचार्य कहता था--अधीष्व भो। विद्यार्थी अध्ययन आरम्भ करने के पहले कहता था 'ओ३म्'। अध्ययन समाप्त करते समय भी विद्यार्थी 'ओ३म्' कहता था और अन्त में आचार्य के चरणों का दोनों हाथों से स्पर्श करता था।[5] शिष्यों के समक्ष मधुर और प्राजंल वाणी के माध्यम से सीख देने का विधान मनु ने नीचे लिखे श्लोक में मिलता है--

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ २.१५९

पाणिनि ने शिक्षण-विधि में पारायण-शैली का उल्लेख किया है। अर्थ समझे बिना ही पढ़ते जाने वाले विद्यार्थी का नाम पारायणिक था।[6] पाँच, सात या नव वार पढ़कर कण्ठाग्र करने की रीति थी। परीक्षा में उच्चारण करते समय एक, दो या तीन अशुद्धि करने वालों को क्रमशः ऐकान्यिक, द्वैयन्यिक तथा त्रैयन्यिक कहा जाता था।[7] शिक्षण के चार अंग माने जाते थे--ग्रहण, धारण, ज्ञान तथा प्रयोग। इनमें से प्रयोग कार्य रूप में परिणित थी।[8]

आचार्य खड़े हों तो खड़े होकर, बैठे हों तो बैठकर, चलते हों तो चलकर

१. आश्वमेधिकपर्व अध्याय १४

२. आदि प० ३.१६; ३.८३

३. आचमन के माध्यम से जल विद्यार्थी को निरलस और स्फूर्तिमान बना देता था।

४. मनुस्मृति २.७१। पढ़ते समय हाथ जोड़कर जो अजलि बनाई जाती थी, उसका नाम ब्रह्मांजलि था।

५. मनुस्मृति २.६९–७४

६. पाणिनि-सूत्र ५.१.७२

७. पाणिनि-सूत्र ४.४.६३–६४ ८. नाट्यशास्त्र १.२२

और सोये हों तो सोकर प्रश्न पूछना चाहिए। अन्यथा गुरु का अपमान समझा जाता था।[1]

वदिक शिक्षण में ब्रह्म-स्वर का महत्त्व था। ब्रह्म-स्वर था--स्पष्ट, विज्ञेय, मंजु, श्रवणोय, विन्दु (धारा-प्रवाह) क्रमानुकूल, गम्भीर तथा निनादी (उच्च)।[2]

वैदिक मन्त्रों को दिन में पढ़ कर रात्रि में कुक्कुट की ध्वनि से समय पर उठ कर विद्यार्थी उसे दुहराते थे। उठने का समय लगभग चार बजे ब्राह्म मुहूर्त था। इसी में ब्रह्म (वेद) का पाठ हो सकता था।[3]

वैदिक साहित्य के साथ-साथ अन्य शास्त्रीय विषयों को कण्ठाग्र करने की रीति आज तक प्रचलित रही है, पर भारतीय साहित्य वैदिक काल के पश्चात् इतना विशाल हो गया कि कुछ गिने-चुने ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषयों को पुस्तकों से पढ़ने को प्रथा अपनाई गई। उस प्राचीन काल में पुस्तकों का अभाव था। न तो उस समय प्रेस थे और न कागज। ऐसी परिस्थिति में ग्रन्थों की यदि एक प्रति भी होती तो उसका पारायण होता था और उसको सुनने वालों की संख्या सैकड़ों तक जा पहुँचती थी। काव्य के ग्रन्थों और इतिहास-पुराणों का पठन-पाठन इसी प्रकार प्रचलित रहा। नाटकीय काव्यों का आनन्द रंग-मंच पर अभिनय के द्वारा सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो सकता था।[4] फिर भी उच्चकोटि के काव्य-ग्रन्थों को समग्र तथा पुराणेतिहास आदि को आंशिक रूप से कण्ठाग्र करने की रीति का भारत में लोप नहीं हुआ।

वैदिक अध्ययन का आरम्भ उपाकर्म-विधि से श्रावण की पूर्णिमा के दिन होता था। तब से लेकर पाँच मास तक अध्ययन चलता था। पौष की पूर्णिमा के दिन उत्सर्जन-विधि होती थी और उसी समय वेदों का अध्ययन समाप्त हो जाता था। वैदिक मन्त्रों की पवित्रता का ध्यान रखते हुए आवश्यक था कि शुद्ध मन से शुद्ध स्थान पर और शुद्ध समय में उनका पाठ किया जाय। प्राकृतिक वातावरण के अशान्त होने पर अनध्याय रहता था। समाज मे किसी प्रकार की अशान्ति का कारण उपस्थित होने पर भी वेद-पाठ वन्द रहता था। वैदिक काल में अनध्यायों की संख्या स्वल्प थीं। सूत्र और स्मृति-युग में अनध्याय के दिनों और अवसरों को संख्या वहुत अधिक वढ़ गई।[5]

---

१. दीघनिकाय अम्बट्ठसुत्त १.३ २. जनवसभसुत्त दीघनिकाय में २.५

३. गामणीचण्ड जातक २५७

४. काव्य की दो कोटियाँ श्रव्य (सुनने योग्य) और दृश्य (देखने योग्य) इसी आधार पर प्रतिष्ठित हुईं।

५. इस विवरण के लिए देखिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.३.९-१२। अनध्याय की विस्तृत सूची भी इसी प्रकरण में है।

परवर्ती शिक्षण

सातवीं शती की वैदिक शिक्षण-पद्धति का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है। वह लिखता है—आचार्य साधारण अर्थ की व्याख्या कर देते हैं और फिर भावार्थ और गूढ़ तत्त्व समझा देते हैं। वे विद्यार्थियों को कर्मण्य बना देते हैं और कुशलतापूर्वक उनको प्रगति के पथ पर अग्रसर कर देते हैं। वे आलसी और मन्दबुद्धि को भी कर्तव्यपरायण और प्रतिभाशाली बना देते हैं। यदि प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी किसी कारण से अध्ययन से विरक्त हो जाता था तो आचार्य उसको छोड़ता नहीं था, अपितु किसी न किसी प्रकार उसे अध्ययन में लगाए रख कर उसका अध्ययन सफलता से समाप्त करा ही देता था।[1] अनेक आचार्यों से प्राप्त विद्या स्थिर मानी जाती थी।[2]

ग्यारहवीं शती के भारत-यात्री अलबेरूनी ने तत्कालीन भारतीय शिक्षण के सम्बन्ध में लिखा है कि ब्राह्मण वेदों को बिना समझ ही पाठ करके कण्ठस्थ कर लेते हैं। एक से सुन कर दूसरा कण्ठस्थ करता है। ब्राह्मणों में वेदों का अर्थ जानने वाले स्वल्प ही हैं। उन लोगों की संख्या तो और भी कम है, जिनका पाण्डित्य इतना बढ़ा हो कि वैदिक विषयों और उनकी टीकाओं पर धार्मिक विवाद कर सकें।[3]

विद्या प्राप्ति के लिए श्रुति, मनन, निदिध्यासन और निर्विकल्पक का उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व था।[4]

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि प्राचीन वेदाध्यापन की परिपाटी चलती आ रही थी और साधारणतः सभी ब्राह्मण वेद के कुछ भाग कण्ठाग्र कर लेते थे, पर ऐसे उच्च कोटि के विद्वानों की कमी थी, जो वैदिक साहित्य के गूढ़ रहस्यों को जानते हों और उनका अध्यापन कर सकते हों। यह युग भारतीय शिक्षण के ह्रास का द्योतक कहा जा सकता है। इस युग में भी वेदों के लिखने का प्रचलन नहीं था।[5] ज्योतिष के शिक्षण में परिलेख या चित्रों का सहारा लिया जाता था।[6]

बौद्ध शिक्षण

बौद्ध शिक्षण-पद्धति का आदर्श स्वयं गौतम बुद्ध ने प्रतिष्ठित किया था। गौतम को उपनिषद् के आचार्यों की भाँति गूढ़तम रहस्यों का रहस्यात्मक भाषा में

१. वाटर्स ह्वेनसांग भाग १ पृ० १६०
२. भागवत में 'न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरस्यात्सुपुष्कलम्'
३. अलबेरूनी का भारत परिच्छेद १२, पृ० २९
४. विवेक-चूडामणि ३६५
५. अलबेरूनी का भारत परिच्छेद १२, पृ० ३० तथा परिच्छेद १, पृ २९-३०
६. सूर्य-सिद्धान्त ६.१

वर्णन नहीं करना था। उन्हें जो कुछ कहना था, वह सारा का सारा प्रत्यक्ष सरल और सुग्राह्य था। उनकी व्याख्यान-शैली कभी-कभी प्रश्नोत्तर के रूप में चलती थी, अन्यथा सरल शब्दों में मन पर सीधे प्रभाव डालने वाली बातें श्रोताओं के समक्ष रख दी जाती थीं। उनका व्याख्यान सुनते हुए कभी भी श्रोताओं को प्रतीत नहीं होता था कि हम कोई रहस्यमय ज्ञान की चर्चा सुन रहे हैं। गौतम ने अपनी शिक्षण पद्धति का विवेचन करते हुए स्वयं कहा है, 'जिस प्रकार समुद्र की गहराई शनैः शनैः बढ़ती है, सहसा नहीं, हे भिक्षुओ, उसी प्रकार इस धर्म की शिक्षा शनैः शनैः होनी चाहिए, पद-पद चल कर ही अर्हत् बना जा सकता है।'[1] इस कथन से प्रतीत होता है कि विद्यार्थी या भिक्षु की योग्यता देखकर ही व्याख्यान का स्तर नियत होता था। गौतम ने शिष्यों को अपनी-अपनी भाषा में उपदेश ग्रहण करने का सरल मार्ग खोल दिया।

गौतम के शिक्षण में प्रासङ्गिक उपमा, दृष्टान्त, उदाहरण और कथा का समावेश होता था। इनके द्वारा उनकी शिक्षा प्रायः सुबोध हो जाती थी। गौतम के नीचे लिखे व्याख्यान के अवतरण से उनके शिक्षण की कल्पना की जा सकती है--

गौतम बुद्ध ने शीशम के वृक्ष की कुछ पत्तियाँ तोड़कर, उन्हें हाथ में लेकर अपने शिष्यों से कहा--मेरे शिष्यो, तुम क्या सोचते हो, जो पत्तियाँ मेरे हाथ में हैं, वे अधिक हैं अथवा जो वृक्षों पर हैं? शिष्यों ने कहा—जो थोड़ी सी पत्तियाँ आपके हाथ में हैं, वे उतनी नहीं हैं, जितनी वृक्षों पर हैं। गौतम ने समझाया--उसी प्रकार, हे शिष्यो, जो कुछ मैंने तुमको बताया है, वह जितना मुझे ज्ञात है, उससे बहुत कम है और मेरे शिष्यो, वह सब मैंने क्यों नहीं बताया है क्योंकि मेरे शिष्यो, तुम्हें उससे कोई लाभ नहीं होगा। उससे तुम्हारे व्यक्तित्व के विकास में कोई प्रगति नहीं होगी। उससे सांसारिकता की ओर से विमुख होकर कामनाओं के नियन्त्रण में कोई सहायता नहीं मिलती और न उससे शान्ति, ज्ञान, प्रकाश और निर्वाण आदि ही मिल सकेंगे। अतएव मैंने वह अतिरिक्त ज्ञान तुम्हें नहीं दिया।[2]

गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके शिष्यों ने स्वयं पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाना और परिपक्व करना आरम्भ किया। विहारों में सुत्त, विनय और धम्म के प्रगतिशील विद्यार्थी एक साथ रखे जाते थे जिससे अपने साथियों के साथ सुत्त के पाठ से, विनय के विमर्श से और धर्म के पर्यालोचन से उनको ज्ञान बढ़ाने की सुविधा मिले।[3]

१. चुल्लवग्ग ६.१.४
२. संयुत्त निकाय ५.४३७
३. चुल्लवग्ग ४.४.४

विद्यार्थी अपने पाठ के पूर्ण रूप से कण्ठाग्र हो जाने पर संघ के बीच पाठ करते थे। इस प्रकार सारे संघ के लिए धर्मोपदेश की योजना बनी थी और पाठ करते-करते भिक्षुओं में आचार्य बनने की योग्यता भी आ जाती थी।[१]

गौतम ने अपने शिष्यों की जिज्ञासा को प्रखर बनाने की चेष्टा की और सदा के लिए बौद्ध शिक्षण में शिष्यों के तर्क और पर्यालोचन को प्रतिष्ठित कर दिया था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया—किसी वस्तु को सुनकर उसे स्वीकार न कर लो और न यही समझो कि यह सदा से लोक-प्रतिष्ठित परम्परा से सत्य ही है। कभी भी सहसा परिणाम न निकालो कि यह ऐसा ही है। इसलिए किसी कथन को सच न मान लो कि यह हमारी पुस्तकों में पाया जाता है और न इसी कल्पना के आधार पर किसी बात को सच मान लो कि यह स्वीकरणीय है और न इसी से सच मान लो कि यह आचार्य का कथन है। तभी किसी बात को सच मानो, जब स्वयं समझ लो कि यह कुशल है, अनवद्य है तथा सुख और हित के लिए है।

ईसवी शती के आरम्भिक युग की बौद्ध शिक्षण-पद्धति का एक आदर्श मिलिन्द-प्रश्न में मिलता है। इस पद्धति में प्रश्नोत्तर के माध्यम से दैनिक जीवन की घटनाओं के सामञ्जस्य पर सूक्ष्म दार्शनिक तथ्यों के रहस्योद्घाटन का सफल प्रयास मिलता है। यह शैली सरस है और साथ ही पाठक के मन में सदैव उत्सुकता जागरित करके उसके मस्तिष्क को वस्तुओं के दार्शनिक पक्ष की ओर प्रवृत्त कर देती है।

फाह्यान ने लिखा है कि आचार्य मौखिक शिक्षा देते हैं। यद्यपि पुस्तकें उस युग में थीं, पर शिक्षा देने के लिए उनका उपयोग नहीं होता था।[२]

जैन शिक्षण

जैन शिक्षण-पद्धति बौद्ध शिक्षण-पद्धति के प्रायः समान थी। जिस प्रकार बौद्ध शिक्षण का आदर्श गौतम ने प्रस्तुत किया था, उसी प्रकार जैन शिक्षण के प्रवर्तन का श्रेय महावीर को है। महावीर के कुछ व्याख्यानों के संग्रह अंग-साहित्य में मिलते हैं। महावीर के अनुसार 'जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं, वैसे ही शिष्यों को नित्य दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए।'[३] जिससे शिष्य सक्षेप में कुछ नहीं समझ

---

१. दद्दर जातक १७२ की वर्त्तमान कथा। गौतम ने शिक्षण के द्वारा शिष्यों को उपदेश, आख्यान, प्रज्ञापन, प्रतिष्ठापन, विवरण, सरलीकरण, दूसरों के आक्षेप का निराकरण आदि में समर्थ बनाने का आदर्श रखा। दीर्घनिकाय २.३

२. फाह्यान यात्रा-विवरण पृ० ७६

३. आचाराङ्ग १.६.३.३

पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था, जिससे शिष्य को समझ में आ जाय। आचार्य अर्थ का अनर्थ नहीं करते थे। वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे। वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नहीं कहते थे।[1]

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ। विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना सन्देह दूर करता था। विद्यार्थी वारंवार आवृति करके अपने पाठ को कण्ठस्थ कर लेता था। फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था।[2] प्रश्न पूछने के पहले विद्यार्थी हाथ जोड़ लेता था।[3]

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पाँच अंग थे—वाचना (पढ़ना), पृच्छना (पूछना), अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन), आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा धर्मोपदेश (व्याख्यान देना)।[4]

भारतीय विद्यार्थियों की श्रमशीलता सदैव प्रसिद्ध रही है। वे आचार्य की सेवा दिन-रात करने को प्रस्तुत रहते थे साथ ही अध्ययन के लिए उनमें अदम्य उत्साह था। किसी एकान्त कोने में बैठकर दीप जलाकर पढ़ने और जब दीप का तेल समाप्त हो जाय तो उपले जलाकर प्रकाश कर लेने की रीति का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है।[5]

अनुशासन

भारतीय शिक्षण में विद्यार्थी-जीवन तपोमय माना गया है। लोगों की धारणा रही है कि तप के द्वारा मनुष्य की चित्त-वृत्तियाँ ज्ञान की ओर प्रवृत्त हो सकती हैं। विद्या-प्राप्ति के मार्ग में सांसारिक बन्धन, भोग-विलास अथवा मनोरंजन को बाधक माना गया। 'ब्रह्मचर्य' शब्द उसी तपोमय जीवन का प्रतीक है।[6]

---

१. सूयगडग १.१४.२४-२७

२. उत्तराध्ययन २९.१८ तथा १.१३

३. उत्तराध्ययन १.२२

४. वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः। तत्त्वार्थसूत्र ९.२५

५. महाभाष्य ३.१.२६ पर भाष्य

६. ब्रह्मचर्य वह चर्य (जीवन-विधि) है, जो ब्रह्म की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। महाभारत में ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या। उद्योग ४४.२। वैदिक धारणा के अनुसार ब्रह्म वह ऐकान्तिक और मूल सत्ता है, जिससे विश्व की सृष्टि होती है। ब्रह्म में ही सारा विश्व प्रतिष्ठित है।

वैदिक अनुशासन

आचार्य के व्रत में रहकर व्यक्तित्व के विकास की योजना का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इसके अनुसार आचार्य के व्रत में रहने से विशुद्ध दृष्टि पाने की संभावना होती है।[1] अपने व्रत के द्वारा ब्रह्मचारी देवताओं का अंग माना जाता था।[2] ब्रह्मचारी को समाज में सूर्य-रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। अथर्ववेद के अनुसार सूर्य की भाँति प्रभासम्पन्न होकर वह अपने तप से देवताओं और आचार्यों को पूर्ण कर देता है। वह अपनी समिधा, मेखला, श्रम और तप से लोकों को पूर्ण बनाता है। ब्रह्मचारी की दाढ़ी बढ़ी होती थी, वह भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाता था।[3]

वैदिक युग में व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास माना जाता था ब्रह्म को उपर्युक्त दृष्टि से देखना और साथ ही ब्रह्म सम्बन्धी उपर्युक्त सत्य की अनुभूति करना। जो व्यक्ति यह अनुभूति कर लेता था, उसके सम्बन्ध में मान्यता होती थी कि उसका ब्रह्म से तादात्म्य हो चुका है (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति)। ब्रह्म की अनुभूति का प्रथम साधन वेदों का अध्ययन था। इस साधन को भी ब्रह्म माना गया और वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो जीवन-चर्या नियत हुई, उसे ब्रह्मचर्य कहा जाने लगा। तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली २ के अनुसार 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व, तपो ब्रह्मेति'। ब्रह्मज्ञान का साधन होने से तप को ब्रह्म कहा गया। ब्रह्म को जानने के दूसरे साधन स्वाध्याय और संयम हैं। इनको ब्रह्म रूप में प्रतिष्ठित करते हुए विष्णु पुराण में कहा गया है—

स्वाध्यायसंयमाभ्यां स दृश्यते पुरुषोत्तमः।
तत्प्राप्तिकरणं ब्रह्म तदेतदिति पठ्यते ।। ६.६-१

इस प्रकार गौण रूप से वेद, तप, स्वाध्याय और संयम को ब्रह्म माना गया और साध्य और साधन में अन्तर मिटता-सा गया। परिणामतः महाभारत में ब्रह्मज्ञान के साधन ब्रह्मचर्य को ही ब्रह्म मान लिया गया—

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।।

बौद्ध संस्कृति में ब्रह्मचर्य शब्द का ब्रह्म और वेद आदि से सम्बन्ध न रहा। ब्रह्मचर्य का अर्थ इस संस्कृति में था अष्टाङ्गिक मार्ग। चुल्लवग्ग १०.१। जैन संस्कृति के अनुसार ज्ञान, दया और काम-विनिग्रह ब्रह्म हैं। इनमें प्रतिष्ठित होने वाला ब्रह्मचारी है· नीतिवाक्यामृत पृ० ६६। उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य का साधारणतः अर्थ 'पवित्र जीवन-विधि' है।

१. ऋ० १.३१.

२. ऋ० १०.१०९.५

३. अथर्ववेद ११.५

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि विद्यार्थी-जीवन तप:प्रधान था और विद्यार्थी की रहन-सहन और वेषभूषा तपस्वियों के समान थी।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आचार्य विद्यार्थी को शिक्षण के प्रथम दिन ही आदेश देता था—अपना काम करो, कर्मण्यता ही शक्ति है। अग्नि में समिधा डालो, अपने मन को अग्नि से तथा पवित्र ओजस्विता से समिद्ध करो, सोओ मत।[1] वैदिक ब्रह्मचर्य दीर्घसत्र के रूप में प्रतिष्ठित था। इस यज्ञ का प्रतीक था नित्य का होम। तत्कालीन धारणा के अनुसार विद्यार्थी बनते समय ब्रह्मचारी के चार भागों म से तीन क्रमशः अग्नि, मृत्यु और आचार्य में प्रवेश करते हैं। चौथा भाग उसी में रह जाता है। वह इन भागों को समिधा लाकर अग्नि से, भिक्षा माँगकर मृत्यु से तथा सेवा करके आचार्य से पुनः प्राप्त करके अपने व्यक्तित्व को पूर्ण कर लेता है।[2]

विद्यार्थी के तपोमय जीवन की रूप-रेखा स्पष्ट की गई थी। उसे धरातल पर सोना चाहिए था, उच्चासन पर नहीं। उसे संगीत, नृत्य और परिभ्रमण से दूर रहना चाहिए था। उसे ब्रह्मतेज का अभिमान नहीं करना चाहिए था और न ख्याति, निद्रा, क्रोध, आत्म-प्रशंसा, सौंदर्य और सुगन्धि की कामना करनी चाहिए थी।[3] विद्यार्थी के चारों ओर पवित्र वातावरण की कल्पना की गई थी। नियम था कि वह घर-उधर न थूका करे और न श्मशान में जाय।[4]

विद्यार्थी के तपोमय जीवन की रूप-रेखा में उपनिषद्-काल में अतिशय विस्तार हुआ। इसके अनुसार तप और ब्रह्मचर्य पर्याय-से हो गये।[5] मौन, अनाशकायन (भोजन न करना), अरण्यायन (वन में रहना) आदि ब्रह्मचर्य के स्वरूप माने गये।[6] ब्रह्मविद्या के विद्यार्थी के लिए पाप से विराग, चित्त की शान्ति, समिधा और जितेन्द्रियता आवश्यक गुण माने गये। तप, दम और कर्म को उपनिषद् सम्बन्धी ज्ञान के लिए प्रधान साधन माना गया।[7] भृगु को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक बार

1. शतपथ 11.5.4.5। सोओ मत का तात्पर्य परवर्ती उल्लेखों के अनुसार गुरु के सोने पर सोना और उनके जागने के पहले उठ जाना है। इस प्रकार की निद्रा को सोना नहीं कहते। आपस्तम्ब गृ० सू० 1.1.4.28
2. शतपथ 11.4.3.3
3. गोपथ-ब्राह्मण 2.5.7 तथा 2.1-9
4. गोपथ० 2.5.7
5. प्रश्नोपनिषद् 1.2
6. छान्दोग्य० 8.5
7. कठोप० 2.24, मुण्डकोप० 1.2.13, केनोप० 4.8

तप करना पड़ा था ।[१] इस युग में ब्रह्मचारी आचार्य की गौएँ चराते हुए तथा आचार्य की अनुपस्थिति में १२ वर्ष तक हवन करते हुए दिखाई पड़ते हैं ।[२]

सूत्रयुगीन नियमों के अनुसार भिक्षा में प्राप्त अन्न को विद्यार्थी पहले आचार्य को दिखलाता था और उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट वस्तुओं को खाता था। आचार्य के अनुपस्थित होने पर उसके कुटुम्ब के किसी सदस्य को अथवा अन्य किसी विद्वान् ब्राह्मण को दिखाकर उसकी अनुमति से भोजन किया जा सकता था।[३] विद्यार्थी अपनी थाली में कुछ नहीं छोड़ता था और भोजन कर लेने के पश्चात् थाली को धो देता था ।[४] उसके लिए मधु और मांस-भोजन का निषेध था ।[५] खाते समय पास में जल रखने का नियम था । शनैः-शनैः भोजन करने का विधान था और खाते समय मौन, सन्तुष्ट और निर्लोभ वृत्ति की आवश्यकता निर्धारित की गई थी ।[६] बौधायन ने विद्यार्थियों को यथेच्छ मात्रा में भोजन करन का आदेश दिया है ।[७]

विद्यार्थी को आचार्य के घर में रहना पड़ता था । वह अन्यत्र नहीं रह सकता था । वह दिन में नहीं सो सकता था । रात्रि में ब्राह्म मुहूर्त में जग कर अपना नाम लेकर वह आचार्य को प्रणाम करता था । प्रातःकालीन भोजन के पहले ही वह गाँव के सभी वृद्ध ब्राह्मणों को नमस्कार करता था ।[८] सोने के पहले विद्यार्थी आचार्य के चरण को धोता था और उसकी आज्ञा लेकर सोने जाता था। सोते समय वह अपना पैर आचार्य की ओर नहीं करता था । विद्यार्थी स्वयं बैठे हुए कभी आचार्य से प्रश्न नहीं पूछता था । यदि आचार्य खड़े होकर प्रश्न पूछते थे तो वह भी स्वयं खड़ा होकर उत्तर देता था। वह चलते समय आचार्य के पीछे-पीछे रहता था या दौड़ता था। वह आचार्य के समीप कभी जूते पहन कर या सिर ढके हुए या हाथ में कुछ ले कर नहीं जाता था । आचार्य के समीप विद्यार्थी सावधान-चित्त होकर बैठता था और उसकी वाणी को अतिशय ध्यानपूर्वक सुनता था । वह बैठते समय ध्यान रखता था कि मुझसे होकर वायु आचार्य की ओर तो नहीं जा रही है ।[९]

१. तै० उ० भृगुवल्ली
२. छान्दोग्य० ५.४.५
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.३.३१-३५
४. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.३.३७-३८
५. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१४.६ तथा गौतम ध० सू० २.१३
६. गौ० ध० सू० २.४१
७. बौधायन २.७.३१-३३
८. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.२.११,१७,२४; १.२.५.१२-२२
९. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.६.१-१७

विद्यार्थी के लिए नित्य स्नान, सन्ध्या और समिधाधान धार्मिक जीवन के प्रमुख अंग थे। उसका स्नान साधारण होता था। स्नान करने के पश्चात् वह सन्ध्या करता था। स्नान करते समय जल-क्रीडा और तैरने के मनोरंजन निषिद्ध थे।[1] शरीर का संस्कार विद्यार्थी के लिए केवल स्नान-विधि तक ही सीमित था। उसके लिए गन्ध और अलंकारों का उपयोग पूर्णरूप से निषिद्ध था। वह केशों का एक गुच्छा बना कर सिर पर बाँध लेता था अथवा सिर पर शिखा छोड़कर शेष केश का मुण्डन करा देता था।[2] वह सूँघने के लिए पेड़-पौधों के पत्तों और फूलों को नहीं तोड़ता था। वह जूते, छाते, रथ आदि भोग-विलास की वस्तुओं का कभी उपयोग नहीं करता था।[3]

विद्यार्थी दण्ड (लाठी) धारण करते थे। इस दण्ड का विद्यार्थी-जीवन में उपयोग था। लाठी लेकर कर वह आचार्य की गायें चरा सकता था, उसके बल पर अन्धकार में चल सकता था अथवा जल में प्रवेश कर सकता था। आश्वलायन ने नियन बनाया है कि दण्ड देखने में सुन्दर और सीधा होना चाहिए और आग से जला न होना चाहिए।[4] विद्यार्थी के लिए नियम था कि वह दण्ड को सदैव सुरक्षित रखे।

विद्यार्थी के साधारणतः दो परिधान होते थे—उत्तरीय और वास। सनातन परम्परा के अनुसार उत्तरीय विभिन्न वर्ण के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न पशुओं के चर्म के बने होते थे। समय-समय पर कम्बल भी उपयोग में लाया जा सकता था।[5] उत्तरीय यज्ञोपवीत की भाँति बायें कन्धे के ऊपर से होते हुए दाहिनी बाँह के नीचे रखकर धारण किया जाता था। उत्तरीय को सदा पहनना आवश्यक नहीं था। वास से ब्रह्मचारी कटि-प्रदेश के नीचे अवश्य ढके रहते थे।[6]

सूत्रयुगीन विद्यार्थी नाच-तमाशे और भीड़-भाड़ से दूर रहता था। वह गप्प में अपना समय नहीं लगाता था। वह सदैव ही अपनी शक्ति और समय का विचार-पूर्वक उपयोग करता था। वह स्त्रियों से केवल अपनी आवश्यकता भर की बात कर सकता था।[7] विद्यार्थी कभी हँसता नहीं था। यदि उसे कभी हँसना ही पड़ता तो

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.२.३०
२. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.२. २५,२७,३१,३२ तथा गौतम ध० २.१३
३. आपस्ताम्ब ध० सू० १.२.७.४.५
४. आश्व० १.१६-१३
५. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.३-६
६. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.२.३८
७. आपस्तम्ब ध० सू० १.१.३.११-१६। गौतम ध० सू० २.१३ में नृत्य, संगीत, परनिन्दा, भीरुता आदि को भी ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य बतलाया गया है।

हाथ से मुँह ढक लेता था। वह स्त्रियों के सम्पर्क में नहीं आता था और उनके लिए मन में किसी प्रकार की कामना नहीं लाता था।[१] स्वाध्याय या वेदाध्ययन को तप माना गया है।[२] ऐसी स्थिति में अध्ययन के साथ मनोरंजन को स्थान कैसे मिल सकता था ?

विद्यार्थी को क्षमाशील, जितेन्द्रिय, अथक परिश्रमी, कर्तव्य-परायण, विनयी, कर्मण्य, आत्मविजयी, स्फूर्तिशील, क्रोधरहित और ईर्ष्यारहित होना चाहिए था।[३] उसके लिए आत्म-प्रशंसा, पराक्षेप आदि दुर्गुण सर्वथा परित्याज्य माने जाते थे।[४] उसे कभी कटु भाषण नहीं करना चाहिए था। उनके लिए नियम बना था कि जिह्वा, बाहु तथा पेट पर संयम रखे।[५] आचार्य से पूछे बिना विद्यार्थी कभी उनसे बात नहीं करता था। वह कभी आचार्य का स्पर्श नहीं करता था और न उनके साथ कानाफूसी करता था। आचार्य के समक्ष हँसना, उन्हें आदेश देना, उनका नाम लेना आदि काम विद्यार्थी के लिए निषिद्ध थे। घोर आवश्यकता पड़ने पर ही वह इन उपायों से आचार्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकता था।[६] गौतम ने ब्रह्मचारी के लिए जँभाई लेने और उँगली चटकाने आदि का निषेध किया है।[७]

महाभारतीय अनुशासन

विद्या और सुख को परस्पर विरोधी बतलाते हुए महाभारत में कहा गया है—

> **सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।**
> **सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥ उद्योग० ४०.६**

ब्रह्मविद्या के लिए त्वरा और हर्ष को बाधक माना गया। ब्रह्मचारी के आचार-व्यवहार को चार चरणों में विभक्त किया गया। आचार्य का नित्य अभिवादन करना, पवित्र और प्रमाद-रहित होकर मान और रोष को छोड़ देना प्रथम चरण है। द्वितीय चरण के अनुसार मन, वचन और कर्म द्वारा प्राण और धन से भी आचार्य का प्रिय करना चाहिए। आचार्य के उपकार का सदैव ध्यान रखते हुए और अपने संवर्धन के लिए आचार्य का उपकार मानते हुए विद्यार्थी का प्रसन्न मन से आचार्य का सम्मान करना तृतीय चरण है। समावर्तन के समय आचार्य का

१. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.७.९–१०
२. तैत्तिरीय आरण्यक २.१४.३; मनुस्मृति २.१६६
३. अपस्तम्ब ध० सू० १.१.३.१७-२४
४. आपस्तम्ब ध० सू० १.२.७.२४
५. गौतत ध० सू० २.१६,२२
६. गौ० ध० सू० १.२.८.१४-१६
७. गौतम ध० सू० २.१५

प्रत्युपकार करना और तब भी यह न समझना कि मैं कुछ कर रहा हूँ, चतुर्थ चरण है।[1] ब्रह्मचारी के लिए छः कर्म नियत किये गये—सन्ध्या, स्नान, जप, होम, स्वाध्याय और अतिथि-पूजन।[2] वह आचार्य के घर में रहते हुए सबके सो जाने पर सोये और सबसे पहले उठे। वह उठते ही शिष्य और दास के करने योग्य सभी कामों को स्वयं करे। उसे सभी घरेलू कामों को करने में दक्ष होना चाहिए था। वह अपने व्यवहार में सबके प्रति उदार होता था, किसी के प्रति आक्षेप नहीं करता था और पवित्र, दक्ष एवं मृदुभाषी होता था। वह सभी वस्तुओं की ओर जितेन्द्रिय की दृष्टि से देखता था। वह आचार्य के खाने-पीने, उठने-बैठने और सोने के पश्चात् ही स्वयं खाता-पीता, उठता-बैठता या सोता था। वह अपने हाथ को उत्तान करके गुरु के चरणों का स्पर्श करता था।[3] गन्ध-रसादि का वह सेवन नहीं करता था।[4] प्रश्न पूछते समय वह औचित्य का ध्यान रखता था। वह स्वयं गुण-सम्पन्न, शान्त और प्रियंकर होता था और नित्य आचार्य के साथ छाया की भाँति बना रहता था।[5] *अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा के लिए भी विद्यार्थियों को* तपोमय जीवन अपनाना पड़ता।[6] नियम था कि मान छोड़ कर पढ़े।[7]

अधीयानः पण्डित मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्तिलोका न चास्य तद् ब्रह्म फलं ददाति।।
आदि प० ८५.२३

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिद्ध्यति ब्रह्मचारी।।
आदिपर्व ८६.२

महाभारत में कुछ शिष्यों की कर्तव्यपरायणता का उल्लेख मिलता है। आरुणि को आचार्य ने खेत की मेंड़ बाँधने के लिए भेजा था। इस प्रयास में असफल होने पर वह स्वयं उस स्थान पर लेट गया, जहाँ मेंड़ बननी चाहिए थी

१. महाभारत उद्योग प० ४४.१०-१५
२. महा० शान्तिपर्व ६१.२०
३. दाहिने हाथ से दाहिना पैर और बायें हाथ से बायाँ पैर स्पर्श करने की रीति थी। महा० शान्तिपर्व २४२.२२
४. महा० शान्तिपर्व २४२वाँ अध्याय
५. महा० आश्वमेधिक पर्व ३५.१३.१४
६. महा० आदिपर्व १३०.४
७. मानेनाधीतं तु भयंकरम् आदि प० ८५.२४
भारत का शाश्वत सिद्धान्त रहा है—विद्या विनयेन शोभते।

और वहाँ से तभी उठा जब आचार्य ने आकर उसे बुलाया। आरुणि ने उठते ही कहा—आज्ञा दीजिए भगवन्, अब और क्या करूँ।[1] उपमन्यु पूरे दिन गुरु की गायें चराता था और भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाता था। आश्रम में रहते हुए उसे घनघोर कष्ट का सामना करना पड़ा।[2] वेद नामक शिष्य गुरु की सेवा में सदा संलग्न रहता था और शीत, उष्ण, भूख-प्यास आदि से कष्ट सहता था। वह आचार्य के प्रति मन में कभी विकार नहीं लाता था।[3] गौतम के शिष्य उत्तंक ने अपने व्रतों से आचार्य को इतना प्रसन्न कर लिया था कि आचार्य उसको आश्रम से गृहस्थ बनने के लिए विदा ही नहीं करते थे। वह वहीं वृद्ध हो चला। आचार्य के लिए वह वन से काठ तक लाता था। उत्तंक ने स्वयं आचार्य से एक दिन निवेदन किया—आप ही में मेरा मन लगा रहा। आपका मैं प्रिय करता रहा। आप में मेरी भक्ति बनी रही। आपके ही भावों में मैं रँगा रहा। मुझे वृद्धावस्था का आना ज्ञात तक न हुआ। मैंने सुख नहीं जाना।[4] बृहस्पति का पुत्र विद्यार्थी कच आचार्य शुक्र की गायें चराता था।[5] परिधान के लिए अनिवार्य नियम थे। तभी तो धनुर्वेद की शिक्षा के लिए राजकुमार तक को मृग-चर्म धारण करना पड़ता था।[6]

विद्यार्थी-जीवन के अनुशासन के सम्बन्ध में मनु की योजना सर्वोपरि प्रतिष्ठित मानी जा सकती है। उन्होंने विद्यार्थी के भोजन, वस्त्र, मेखला, यज्ञोपवीत कमण्डलु आदि के विषय में विस्तृत नियम बनाये हैं। मनु का स्पष्ट विचार है कि जिसके भाव दूषित होते हैं और जो इन्द्रियों के विषयों के चक्कर में पड़ा है, वह वेद का अध्ययन नहीं कर सकता है। इन्द्रियों के अनुभवों से जिसे हर्ष और विषाद नहीं होता, वही जितेन्द्रिय है। जितेन्द्रिय होकर ही विद्या प्राप्त की जा सकती है। विद्यार्थी को मनु के अनुसार नित्य समिधा से हवन करना चाहिए था और पृथ्वी पर सोना चाहिए था।[7] विद्यार्थी को सदैव अपने तप का संवर्धन करना चाहिए और स्नान करने के पश्चात् देवता, ऋषियों और पितरों का तर्पण करना चाहिए। उसे मधु, मांस, गन्ध, विलेपन, माला, रस, स्त्री, सिरका, आसव आदि का परित्याग करना चाहिए और प्राणियों की हिंसा नहीं करना चाहिए। मनु के नियमों के

---

१. महा० आदिपर्व ३.२१-३०
२. महा० आदिपर्व ३.३४-३७,५१
३. महा० आदिपर्व ३.७६
४. अश्वमेधिक पर्व ५५.१५-१६
५. आदि प० ७१.२६
६. सभापर्व ४.२८
७. मनुस्मृति २.४४-१२१

अनुसार चलने वाला विद्यार्थी शरीर का अनुलेपन नही कर सकता था, आँखों का सौदर्य काजल से नही वढा सकता था और न छाता या जूता धारण कर सकता था। वह सभी प्रकार के मनोरंजनों से दूर रहता। निन्दा, असत्य और कलह में वह नहीं पडता था। वह स्त्रियो की ओर देखता तक नहीं था। आचार्य की पूजा का प्रवन्ध करने के लिए वह जल-कलश, पुष्प, गोबर, मिट्टी, कुश आदि सामग्री ला देना था। गुरु के समीप, वह अन्न, वस्त्र और वेष की दृष्टि से हीन रहता था। ब्राह्मण-ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता था।[1]

मनु ने नियम बनाया कि शिष्य आचार्य का नाम न ले। वह आचार्य के भाषण और चेष्टाओं का अभिनय न करे। यदि कही गुरु की निन्दा होती हो तो वहाँ कान वन्द कर ले या अन्यत्र चला जाय। गुरु की पूजा निकट से करनी चाहिए और उनके निकट होकर अपनी वात सुनानी चाहिए। गाडी, कोठा, चटाई, चट्टान, फलक और नाव पर गुरु के साथ बैठा जा मकता था, अन्यत्र नही।[2]

ब्रह्मचारी के केश का मुण्डन हो सकता था अथवा वह सिर पर जटा रख सकता था या शिखामात्र की जटा वना सकता था। यदि सूर्योदय के समय तक वह सोया रहता था तो उसे दिन भर जप करते हुए उपवास करके आत्मशुद्धि करनी पड़ती थी। यदि सूर्यास्त के समय ब्रह्मचारी सोया रहता था तो उसे प्रायश्चित करके आत्मशुद्धि करनो पडती थी। नियम था कि दोनो सन्ध्याओ के समय आचमन करके यम-नियमपूर्वक एकाग्रचित्त होकर पवित्र प्रदेश मे वैठ कर यथाविधि उपासना करे।[3]

क्षत्रिय ब्रह्मचारी की सनातन रूप-रेखा का वर्णन भवभूति ने उत्तरराम-चरित मे इस प्रकार किया है—

> चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
> भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वच रौरवीम्।
> मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकं
> पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलय दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥ ४.२०

(लव की पीठ पर दोनो ओर तूणीर थे, जिसमें रखे हुए वाण उसकी चूडा मे चुम्बित हो रहे थे। भस्म की रेखा से बनाये हुए पवित्र चिह्न वाली छाती

---

१. मनुस्मृति २.१७५-१९४। क्षत्रिय और वश्य ब्रह्मचारी भिक्षा माँगने के अधिकारी नही थे।

२. मनु० २.१९५-२०५

३. मनु० २.२१९-२२९

पर मृगचर्म का आवरण था। मँजीठ रंग की धोती मूर्वा की मेखला से नियन्त्रित हो रही थी। उसके हाथों में अक्षसूत्र की माला वाला धनुष और पिप्पल का दण्ड था।)

अपराध करने वाले विद्यार्थियों को साधारण दण्ड देने की रीति थी। डाँटने-फटकारने के अतिरिक्त शरीरिक दण्ड देने का विधान भी था। आर्थिक दंड नहीं दिये जाते थे। अतिशय शीतल जल से नहलाना भी दण्ड रूप में नियम था। गौतम ने लिखा है कि कठोर दण्ड देने वाला आचार्य भी दण्डनीय है। महाभाष्य में वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ करने में अशुद्धि करने पर चपेटा जड़ देने की रीति का उल्लेख किया गया है। राजकुमारों तक की बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए शारीरिक दण्ड दिया जा सकता था।[1] ऐसे विद्यार्थियों को समावर्तन के अवसर पर भी आचार्य कहने से नहीं चूकते थे—तात, तू कठोर, परुष तथा दुस्साहसी है। ऐसे लोगों का सब समय एक-सा नहीं होता। वे महादुःख और महाविनाश को प्राप्त होते हैं। तू कठोर मत हो। ऐसा मत कर, जिससे पीछे पछताना पड़े।[2]

बौद्ध अनुशासन

बौद्ध शिक्षण-पद्धति के अनुशासन में प्रायः सर्वत्र मध्यमा प्रतिपदा दृष्टिगोचर होती है। गौतम बुद्ध ने स्वयं तप करके देख लिया था कि शरीर को कष्ट देने वाले तप के द्वारा ज्ञान का प्रकाश और शान्ति का मिलना सम्भव नहीं है। गौतम ने देव-पूजा, पितृ-तर्पण, सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्ड-विधियों को निःसार बतलाया।[3] उन्होंने विद्यार्थियों के जीवन के आचार-व्यवहार की जिस पद्धति को निरूपित किया, उसमें शरीर को कष्ट देने वाले व्यवहार नहीं दिखाई पड़ते। गौतम ने शरीर को स्वस्थ रखने वाले सभी उपादानों को संग्रह करने का नियम बनाया, पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में शिक्षा दी कि भोग-विलास की वस्तुओं का परित्याग करना ही पड़ेगा। शरीर को कष्ट देना और भोग-विलास में पड़ना दोनों ही विद्यार्थी के ज्ञान-मार्ग में समान रूप से बाधक हैं।[4]

गौतम के समय से शरणत्रय और दश-शिक्षापद नामक व्रत भिक्षुओं को आरम्भ से लेने पड़ते थे। शरणत्रय के अनुसार भिक्षु बौद्ध, धर्म और संघ की

---

१. तिलमुट्ठिजातक २५२। पञ्चतन्त्र के अनुसार विद्या गुरु विनयवृत्त्या-ऽतिविषमा।

२. चुल्लनन्दिय जातक २२२

३. गौतम ने कहा है—मैं यह दारुदाह छोड़ कर अपनी आभ्यन्तर ज्योति जलाता हूँ। नित्य अग्नि वाला, एकान्त चित्त वाला होकर मैं ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता हूँ। यही सच्ची शुद्धि है। बुद्धचर्या भरद्वाज सुत्त।

४. महावग्ग १.१.७

शरण में जाता था । इन व्रतों के ग्रहण करने का अभिप्राय है कि बौद्ध भिक्षु के लिए गौतम के जीवन के आचार-व्यवहार आदर्श थे और गौतम के व्यक्तित्व की छाप भिक्षुओं पर पड़ती थी । धर्म की शरण लेना पवित्र जीवन का द्योतक है । संघ की शरण में जाने का तात्पर्य था इस प्रकार आचार-व्यवहार रखना कि संघ की प्रतिष्ठा रहे और किसी प्रकार उसकी सुव्यवस्था में गड़बड़ी न हो ।

दश-शिक्षापद में अहिंसा-व्रत को सर्वोच्च स्थान मिला । इसके पश्चात् किसी के द्वारा दी हुई वस्तु न लेना, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्य बोलना, मादक द्रव्यों का सेवन न करना, समय पर ही भोजन करना, नृत्य-गीत आदि कौतुकों से अलग रहना, गन्ध-माला-विलेपन-आभूषण आदि के द्वारा शरीर का अलंकरण न करना, ऊँची या बड़ी शय्या पर न सोना, स्वर्ण-रजत आदि धातुओं को न लेना आदि विधान हैं । ये सभी नियम प्रायः वैदिक शिक्षण-पद्धति के अनुरूप हैं ।

दश-शिक्षापद तो नकारात्मक विधान है । प्रायः इन्हीं का समन्वयात्मक और साक्षात् विधान अष्टांगिक मार्ग में मिलता है । अष्टांगिक मार्ग है—दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्मान्त आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक् अर्थात् पूर्ण और विशुद्ध होना ।[1] इनके अतिरिक्त भिक्षुओं के लिए सप्तरत्नों की प्रतिष्ठा की गई थी ।[2]

भिक्षु के लिए नियम था कि वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर संयम रखे और सभी विषयों के प्रति अनासक्त हो । उसे अध्यात्मरत होना चाहिए । भिक्षु को

---

१. कुशल और अकुशल जानना सम्यक् दृष्टि है । संसार को छोड़ने का विचार सम्यक् संकल्प है । सत्य, मधुर एवं सबको अच्छी लगने वाली बात कहना सम्यक् वाणी है । हिंसा, अदत्तादान आदि से अलग रहना सम्यक् कर्मान्त है । दोषमयी जीविकाओं से बचना सम्यक् आजीव है । अपनी शक्तियों का सदुपयोग सम्यक् व्यायाम है । वस्तु-स्थिति का सच्चा आकलन सम्यक् स्मृति है । चित्त की एकाग्रता सम्यक् समाधि है ।

२. सप्तरत्न इस प्रकार है—

चार स्मृति के उपस्थान—शरीर, वेदना, चित्त और धर्म के प्रति जागरूक रहना ।

चार सम्यक् प्रधान—सद्गुणों का संरक्षण, अलब्ध गुणों का उपार्जन,

चार ऋद्धियाँ—दृढ़ संकल्प, उद्योग, उत्साह, आत्मसंयम

पांच इन्द्रियाँ—श्रद्धा, समाधि, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा

पाँच बल—श्रद्धा, समाधि, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा का बल

सात बोध्यंग—स्मृति, धर्म-प्रविचय, वीर्य, प्रीति प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा

अष्टांगिक मार्ग—देखिये पादटिप्पणी न० १

चिन्तन करके बोलना चाहिए। वह संसार की किसी वस्तु के प्रति ममता न रखे। यदि उसकी कोई वस्तु चली भी जाय तो उसे शोक नहीं होना चाहिए। संसार के सभी प्राणियों के प्रति वह मैत्री-भावना विकसित करे। उसे सदैव संसार की दुःखमयता का ध्यान रखना चाहिए। उसे अकेले रह कर चित शान्त करके लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करना चाहिए। ऐसे भिक्षु का चित्त प्रांजल और शान्त होता था।[१] विद्यार्थी को सभी परिस्थितियों में सावधान रहना चाहिए।[२]

सांघिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हुए गौतम ने निर्देश किया है--'भिक्षुओ, पशु भी परस्पर प्रेम आदर और विश्वास के साथ रहते हैं। तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिए कि तुम्हारा प्रकाश तुम्हारे आगे शोभा पाये। तुमने इसीलिए संसार छोड़ा और उत्तम आचार की शिक्षा ग्रहण की। अपने से बड़ों को प्रणाम करना, उनका आदर करना, उन्हें आसन देना तथा भोजन एवं पान प्रस्तुत करना चाहिए।[३]

गौतम ने अपने जीवन-काल में भिक्षुओं के उत्तरदायित्व को समझते हुए उन्हें कुछ छूट भी दी। उन्होंने निर्देश किया--यदि भिक्षु चाहे तो वन में रहे या गाँव के पड़ोस में बसे। वह भिक्षा माँग कर खाये या उपासकों का निमन्त्रण स्वीकार करे। चाहे चीथड़े पहने या उपासकों का दिया हुआ वस्त्र दान में ग्रहण करे। वह चाहे तो वर्षाकाल को छोड़कर आठ मास तक वृक्ष के नीचे सोये।[४]

भिक्षाटन सम्बन्धी नियम सोच-विचार कर बनाये गये थे। भिक्षु को विधिवत् वस्त्र पहन कर गाँव में प्रवेश करना चाहिये। किसी घर में भिक्षु का आना और वहाँ से जाना शालीनतापूर्वक होना चाहिए। उसे वहाँ न तो देर तक रुकना चाहिए और न शीघ्रता करनी चाहिए और न तो बहुत समीप ही और न बहुत दूर ही खड़ा होना चाहिये। उसको समझने की चेष्टा करनी चाहिये कि लोग भिक्षा देना चाहते हैं कि नहीं। यदि गृहिणी आसन से उठकर चम्मच धोती हुई या थाली साफ करती हुई दिखाई देती तो वह समझ लेता था कि भिक्षा मिलने वाली है। भोजन लेते समय उसे अपनी संघाटी (उत्तरीय) को बायें हाथ से उठा लेना चाहिये, जिससे उसका पात्र दिखाई पड़े। दोनों हाथों में पात्र लेकर उसमें भोजन लेना चाहिये। भोजन देने वाली स्त्री के मुँह की ओर नहीं देखना चाहिये। यदि चटनी मिलने की आशा हो तो रुके, अन्यथा पात्र को चीवर से ढक कर धीरे-धीरे सावधानी से लौट चले।[५]

---

१. धम्मपद भिक्खुवग्ग   २. महापरिनिब्बाण सुत्त २. ३ से
३. चुल्लवग्ग ६.६.४   ४. चुल्लवग्ग ७.३.१५
५. चुल्लवग्ग ८.५

भिक्षा माँग कर जो भिक्षु सबसे पहले लौटता था, उसे विहार के सभी भिक्षुओं के लिए आसन, जल, पाद-पीठ, तौलिया आदि की व्यवस्था यथास्थान करनी पड़ती थी, जिससे सभी के लिए आते ही आते भोजन करने की सुविधा प्राप्त हो सके। भोजन के पश्चात् भोजनशाला की स्वच्छता तथा आसन और पाद-पीठ आदि को यथास्थान रखने का काम अन्त में आने वाले भिक्षुओं को करना पड़ता था।[1]

वन में रहने वाले भिक्षुओं को गौतम ने आदेश दिया था कि तुम्हें समय पर उठ कर थविका (झोले) में पात्र रख कर, उसे कन्धे पर टिका कर, उत्तरीय को ठीक से ओढ़ कर, चट्टी पहन कर अपने बरतनों को ठीक-ठिकाने रखना चाहिए। तुम्हें पीने का पानी, हाथ-पैर धोने का पानी, आग आदि दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रखना चाहिए।[2]

भिक्षुओं के पास साधारणतः तीन वस्त्र संघाटी, अन्तरवासक और उत्तरासंग पहनने के लिए होते थे। संघाटी दो तथा अन्तरवासक और उत्तरासंग एक-एक उपयोग में लाये जा सकते थे। उत्तरासंग गले से लेकर घुटने तक लटकता था और वैदिक उत्तरीय के समकक्ष होता था। संघाटी लुंगी की भाँति पहनी जाती थी। इसको कमर पर स्थिर रखने के लिए कपड़े की पट्टी से बाँधते थे। इस पट्टी का नाम कायबन्ध था। अन्तरवासक बनिआइन की भाँति पहना जाता था।[3] इनके अतिरिक्त जल छानने के लिए और मुँह पोंछने के लिए कपड़े होते थे और कपड़े का बना झोला होता था।[4] प्रावार नामक वस्त्र पूरे शरीर को ढकने के काम में आता था।[5] फोड़े-फुंसियों के होने पर भिक्षु अलग से एक कपड़ा उन्हें आच्छादित करने के लिए रखते थे।[6] वर्षा ऋतु में बरसाती स्नान करने के लिए भिक्षुओं का तीन हाथ लम्बा और सवा हाथ चौड़ा एक वस्त्र होता था। भिक्षुणिओं के स्नान के लिए विशेष प्रकार का वस्त्र होता था।[7] वे कंचुकी भी पहनती थीं।[8] भिक्षु ऊनी वस्त्र पहन सकते थे।

---

१. चुल्लवग्ग ८.५

२. चुल्लवग्ग ८.६.२.३। गौतम ने यह नियम उस परिस्थिति में बनाया जब कुछ वनवासी भिक्षुओं के चोरों को आग, पानी आदि न दे सकने पर उन्होंने समझा कि ये भिक्षु नहीं हैं।

३. महावग्ग ८.१३; ५.२९

४. महावग्ग ८.२०

५. महावग्ग ८.१.३६

६. महावग्ग ८.२०

७. महावग्ग ८ १५.१५

८. भिक्खुनी पातिमोक्ख ४.४०.९६

साधारणतः रुई, क्षौम, रेशम तथा सन के वस्त्र पहनने का प्रचलन था।[1] सोने के लिए चटाई पर चादर बिछाई जाती थी।[2]

आरम्भ में भिक्षु परित्यक्त वस्त्र को अपना कर उसी से अपना काम चलाते थे। वे श्मशानों से पंसुकूल नामक वस्त्र लाकर पहनते थे। आगे चलकर उपासक-गृहस्थों से दान में प्राप्त वस्त्रों को अपने उपयोग में लाने का नियम स्वयं गौतम बुद्ध ने बनाया।[3] भिक्षुओं के वस्त्र रंगे होते थे। रंग वृक्षों और लताओं की जड़, तना, छाल, पत्ते, फूल और फलों से बना लिये जाते थे।[4]

बौद्ध संस्कृति में स्नान की सुव्यवस्था थी। विहारों में उष्ण स्नान करने के लिए स्नानागार बने हुए थे। उस कमरे में आग जलती थी। भिक्षु स्वयं इस कमरे को स्वच्छ कर लेते थे। स्नानागार में विविध प्रकार के चूर्ण, पानी से भीगी मिट्टी और घड़ों में जल रखा रहता था। छोटे भिक्षु जेठे भिक्षुओं का अङ्ग-मर्दन कर देते थे। उष्ण स्नान करने के लिए चेहरे पर मिट्टी पोतकर स्नानागार में प्रवेश किया जाता था। उष्ण स्नान कर लेने के पश्चात् शीतल होने के लिए अलग से एक कमरा होता था।[5]

भिक्षुओं की रहन-सहन साधारणतः सुखावह थी। वे पैरों की रक्षा के लिए जूता, नेत्रों की ज्योति बढ़ाने के लिए अंजन और रोगों का निवारण करने के लिए विविध प्रकार की औषधियों का उपयोग कर सकते थे। विहारों में जीवन की नित्य प्रति की सभी आवश्यक वस्तुओं का संग्रह किया जाता था। मितव्ययिता के साथ-साथ उपयोग में आने वाली वस्तुओं के प्रति अनासक्ति भिक्षुओं की रहन-सहन की विशेषतायें रही हैं।

बौद्ध भिक्षु प्रायः इधर-उधर भ्रमण करते थे और योग्य आचार्यों को पाकर वहीं अध्ययन करने लगते थे। ऐसी परिस्थिति में प्रवासी भिक्षुओं की सुविधा के लिए गौतम बुद्ध ने स्वयं नियम बनाये थे।

जब प्रवासी भिक्षु को किसी आराम में प्रवेश करना होता था तो वह अपना जूता उतार कर, उसे स्वच्छ करके, अपने वस्त्रों को अच्छी प्रकार पहन कर सावधानी से धीरे-धीरे भीतर आता था। जहाँ-कहीं भी आराम में अन्य भिक्षु गये होते थे, वहाँ जाकर वह एक ओर पड़े हुए आसन पर बैठ जाता था। वह हाथ-पैर धोने के लिए पानी के विषय में पूछ लेता था कि कहाँ रखा है। वह प्यास होने पर पानी पी लेता था। फिर वह अपने जूते को सूखे कपड़े से और तत्पश्चात् गीले कपड़े से पोंछ लेता था और उन कपड़ों को धोकर एक ओर फैला देता था। वह अपने रहने

---

१. भिक्खुनी पातिमोक्ख ८.४.२ २. भिक्खुनी पातिमोक्ख ८.१६

३. महावग्ग ८.१.३५; ८.४.१ ४. महावग्ग ८.१०

५. चुल्लवग्ग ८.८

के लिए कोठरी पूछ लेता था और उस स्थान का परिचय प्राप्त कर लेता था, जहाँ से उसे भिक्षा प्राप्त हो सकती थी। वह अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं की सूचना प्राप्त कर लेता था। यदि भिक्षु को कोई रिक्त विहार मिलता तो वह उसके द्वार पर पहले खटखटाता था। थोड़ी देर प्रतीक्षा कर लेने के पश्चात् वह स्वयं द्वार खोलता था और द्वार पर खड़े होकर झाँकता था। भीतर प्रवेश करने पर यदि उसे विहार धूलि-धूसरित मिलता तो वहाँ की सभी वस्तुओं का शनैः-शनैः मार्जन कर देता था और सारे कचरे को बाहर फेंक देता था। अन्त में रहने के लिए कोई समुचित स्थान चुन लेता था।[1]

उपर्युक्त नियमों से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि किसी प्रवासी भिक्षु को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। गौतम ने इसी प्रकार के पक्के नियम विहार में रहने वाले भिक्षुओं के लिए बनाए थे कि प्रवासियों को वहाँ आने पर अपना घर-सा प्रतीत हो। छोटे भिक्षुओं का कर्तव्य था कि ज्यों ही किसी प्रवासी बड़े भिक्षु को आता हुआ देखें, उसके लिए आसन, जल, पादपीठ, पैर पोंछने के लिए तौलिया आदि की व्यवस्था कर दें। वे उससे जाकर मिलते ही उसके उत्तरीय, कमण्डलु आदि यथास्थान रखने के लिए ले लेते थे। उससे जलपान के लिए पूछते थे। उसका जूता पोंछ देते थे। अन्य भिक्षु भी उसे प्रणाम करते थे, उसके सोने का प्रबन्ध कर देते थे और आवश्यक वस्तुओं का परिचय करा देते थे।[2] प्रवासी भिक्षु जब किसी विहार को छोड़ कर जाने लगता था तो विहार की सभी वस्तुओं को यथास्थान रखकर जाने की अनुमति लेता था। यदि विहार चूता होता था तो वह उसके नवीकरण की व्यवस्था कर देता था, अन्यथा उस विहार की सभी वस्तुओं को इस प्रकार रख देता था कि वे वर्षा में भीग कर नष्ट न हों।[3]

भिक्षुओं की रहन-सहन और आचार-व्यवहार की रूप-रेखा स्वयं गौतम बुद्ध ने प्रस्तुत की। जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ी, परिस्थितियों के अनुकूल आचार-व्यवहार सम्बन्धी विधान बनाये गये। बौद्ध शिक्षण में ज्ञान की प्रधानता कम से कम आरम्भिक युग में उतनी नहीं थी, जितनी आचार-निष्ठता की। बौद्ध भिक्षुओं का आचार-व्यवहार उनके जीवन के केवल कुछ वर्षों तक के लिए ही नहीं होता था। सारा जीवन ही एकरस होता था। वैदिक शिक्षण का ब्रह्मचर्याश्रम तपोमय था,

१. चुल्लवग्ग ८.१

२. चुल्लवग्ग ८.२ महापरिनिब्बाण सुत्त २ के अनुसार एक भिक्षु को दूसरे भिक्षु के लिए गुप्त या प्रकट रूप से कायिक और वाचिक काम करना चाहिए। सब कुछ बाँट कर खाना चाहिए।

३. चुल्लवग्ग ८.३

पर बौद्ध शिक्षण का भिक्षु-जीवन वह आदर्श जीवन था, जिसे बुद्ध ने सभी शान्ति चाहने वाले लोगों के लिए जीवन भर के लिए साधारण रूप मे प्रस्तुत किया था।

गौतम ने भिक्षुओं के जीवन के आचार-व्यवहार की जो रूप-रेखा प्रतिष्ठित की, वह आगे चल कर भी प्रायः वैसी ही बनी रही और उसी रूप में विदेशी भिक्षुओं के द्वारा भी अपनायी गई। फाह्यान के भारत-यात्रा-वर्णन से ज्ञात होता है कि खोतान प्रदेश के गोमती विहार में तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। भोजन का समय होने पर घंटा बजता था और सभी भिक्षु खाने के लिए भोजन-शाला मे पहुँचते थे। वे सभी वहाँ शालीनतापूर्वक व्यवहार करते थे और यथास्थान पंक्तियों मे बैठ जाते थे। सारा वातावरण निःशब्द होता था। पात्रों का शब्द भी नही सुनाई पड़ता था। सभी मौन रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर हाथ से सकेत-मात्र करते थे। कीचा-प्रदेश के भिक्षुओं के सम्बन्ध मे उसने लिखा है कि उनका आचार आश्चर्यजनक है—इतना विधि-निषेधात्मक है कि वर्णनातीत है।

मथुरा के विहारो का वर्णन करते हुए फाह्यान ने लिखा है कि विहार में संघ को भोजन-पान तथा वस्त्र मिलता है और वर्षा ऋतु में अतिथियों को आवास मिलता है। आगन्तुक भिक्षुओ के प्रति शिष्टाचार का निरूपण करते हुए फाह्यान ने लिखा है कि स्थायी भिक्षु उनके लिए प्रत्युद्गमन करते है और उनके वस्त्र और भिक्षापात्र स्वयं ले आते हैं। उनके लिए पैर धोने का जल और सिर में लगाने का तेल दिया जाता है। उनके विश्राम कर लेने पर पूछा जाता है कि आपने कितने दिनों से प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर उनके लिए योग्यतानुसार रहने का स्थान दिया जाता है और यथानियम उनके साथ व्यवहार किया जाता है।

जैन अनुशासन

जैन शिक्षण मे भिक्षुओं के लिए शारीरिक कष्ट को अतिशय महत्त्व दिया गया। विद्यार्थी को यदि अपने व्रतों का पालन करने मे मरना ही पड़े तो वह अच्छा माना गया, पर व्रत-भङ्ग करना उचित नही समझा गया। यदि उपवास का व्रत लिया तो मरने की शंका उपस्थित होने पर भी उसे छोड़ा नही जा सकता था। शरीर को नङ्गा रखना प्रथम व्रत था। इस प्रकार शरीर कांटा-कुश, जाड़ा-गर्मी और वर्षा तक दंशक प्राणियों से उत्पन्न कष्टों के सहने के लिए अभ्यस्त हो जाता था। इस दिशा मे महावीर स्वामी का जीवन आदर्श माना गया। 'महावीर अनागार होकर नंगे भ्रमण करते थे। लोग उनकी हँसी उड़ाते थे और ताड़ना भी करते थे, पर वे इन बातों पर ध्यान न देते हुए केवल दार्शनिक चिन्तन मे लीन रहते थे। लाढ-प्रदेश में तो लोगों ने उन पर कुत्तों से आक्रमण करवाया, और उनको

अवस्था को स्वल्पतर करने को इतनी उत्कट कामना तत्कालीन विचारकों में उत्पन्न हो गई थी कि रामायण में राम और सीता की अवस्था क्रमशः १३ और ६ वर्ष प्रकट करने वाले प्रक्षिप्त श्लोक जोड़ दिए गए, यद्यपि निश्चित प्रमाणों के आधार पर उनकी अवस्था के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे युवा थे।

विवाह के लिए पति की अवस्था से कन्या की अवस्था का कम होना आवश्यक विधान के रूप में मान्य हुआ। कन्या की अवस्था वर की अवस्था से तीन वर्ष कम होनी चाहिए थी।[1] ब्रह्मचर्य की पूर्ण अवधि तक आश्रम में रहकर स्नातक हो कर लौटने वाले युवकों के विवाह के योग्य कन्याओं की अवस्था के विषय में तो आधुनिक दृष्टि से हास्यास्पद नियम बने। मनु के अनुसार ३० वर्ष का वर और १२ वर्ष की कन्या अथवा २४ वर्ष का वर और ८ वर्ष की कन्या का विवाह होना चाहिए था। वर और कन्या की आयु में तीन और एक का अनुपात महाभारत और विष्णुपुराण में भी समीचीन माना गया।[2] इसके अनुसार ३० और २१ वर्ष के वर के लिए क्रमशः दस और सात वर्ष की कन्या से विवाह होना चाहिए।

वाह्य दृष्टि से विवाह के लिए शारीरिक सौन्दर्य का अतिशय महत्त्व है। स्वयंवर-विधि इस दृष्टि से वर और वधू के साक्षात् परीक्षण के लिए वैदिक काल से ही प्रायः सदा प्रचलित रही है। ऋग्वेद में मनोरम रूपवाली कन्या का स्वयं भलीभाँति सजधज कर वर चुनने का उल्लेख मिलता है।[3] वर भी अपनी वेश भूषा और सौन्दर्य के द्वारा कन्याओं को अपनी ओर आकृष्ट करते थे।[4] उस समय कन्याओं के सौन्दर्य-निरूपण के शाश्वत मानदण्डों को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी।[5]

सूत्र और स्मृति-युग मे लक्षण-सम्पन्न और स्वस्थ व्यक्ति को वर चुनने का स्पष्ट विधान बना।[6] जिन कुलों में असाध्य रोगों से पीड़ित लोग हों, उनमें कन्या

---

१. वात्स्यायन-कामसूत्र ३.१.२। गौतम ४.१; वसिष्ठ ८.१

२. मनुस्मृति ६.६४; महाभारत अनु० ४४ १४ विष्णु पु० ३.१०.१६

३. ऋ० वे० १०.२७.१२

४. ऋ० १.११५.२; अथर्व० २.३०; ३.२५

५. एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिं विमृष्टान्तराम् सा मध्ये संग्राह्येति।। शतपथ १.२.५.१६

६. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र १.३.२०

नहीं प्रदान करनी चाहिए।[1] मनु की दृष्टि में नारी के सौन्दर्य की अतिशय प्रतिष्ठा थी। उन्होंने मत दिया है कि यदि बुरे कुल में भी स्त्री-रत्न हो तो उसे ग्रहण करना चाहिए।[2] कामसूत्र के अनुसार रूप, शील और लक्षण से सम्पन्न, सर्वांग सुन्दर और प्रकृत्या स्वस्थ शरीर वाली कन्या तथा उसी के सदृश वर का विवाह होना चाहिए।[3] आश्वलायन ने भी आदेश दिया है कि बुद्धि, रूप, शील और लक्षण से सम्पन्न नीरोग कन्या से विवाह करना चाहिए।[4] आपस्तम्ब के अनुसार जिस कन्या में मन और नेत्रों का निबन्ध हो, उसी कन्या को विवाह के द्वारा प्राप्त करके कोई व्यक्ति समृद्धिशाली हो सकता है। किसी अन्य लक्षण को कन्या में ढूंढ़ना ही नहीं चाहिए।[5] कन्या के नाम तक में रमणीयता की अभिव्यक्ति ढूंढ़ी जाने लगी थी।[6]

शारीरिक सौन्दर्य के प्रति अतिशय अभिरुचि स्वाभाविक थी। फिर भी कुछ आचार्यों ने स्पष्ट ही कहा है कि बुद्धिहीन कन्या के साथ जीवन दूभर हो जाता है। भले ही उसके पास धन, रूप और बान्धव न हों, पर प्रज्ञा होनी ही चाहिए।[7] वर में भी बुद्धि और गुण की उत्कृष्टता आवश्यक मानी जाती थी।[8] मनु ने वैदिक अध्ययन से रहित कुलों को विवाह-सम्बन्ध के लिए अयोग्य बतलाया है। इसका कारण बताते हुए हारीत ने कहा है कि माता-पिता के अनुरूप ही सन्तान होती है।[9]

वर में विद्या के साथ ही सच्चरित्रता का होना विशेष गुण माना जाता था। क्रोधरहित, सदैव प्रसन्नचित्त, सुशील व्यक्ति को कन्या देना उचित समझा जाता

१. मनु० ३.६–७
२. मनु० २.२३८
३. कामसूत्र ३.१.२; मनु ३.८–१०
४. आश्व० गृह्य० १.५.३
५. आ० ध० सूत्र ३. २१। कामसूत्र के ३.१.१४ में इस विषय का प्रायः इन्हीं शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। भारद्वाज-गृह्यसूत्र १.११ में उपर्युक्त कथन का भाव नीचे लिखे श्लोक में व्यक्त किया गया है—

यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते।
तां विद्यात् पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति॥

६. याज्ञवल्क्य १.५२
७. भरद्वाज १.११
८. आश्व० गृ० सू० १.५.२; बौधायन ध० सू० ४.१.२०
९. मनु० ३.६–७

र्या। यदि भूल से किसी पतित या शील-रहित व्यक्ति से विवाह हो ही जाय तो उस विवाह-सम्बन्ध को भंग करके उस दुष्ट पुरुष के चंगुल से कन्या को बचा लेने तक का विधान बनाया गया।[1]

वैदिक काल से ही लोग भ्रातृहीन कन्याओं से विवाह करने में हिचकते थे। ऐसी कन्यायें प्रायः जीवन भर कुमारी रह जाती थीं। उनको अमाजु या पितृसद् की उपाधि दे दी जाती थी।[2] परवर्ती युग में स्पष्ट नियम बने कि भ्रातृहीन कन्याओं से विवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि तत्कालीन धार्मिक विधान के अनुसार ऐसी कन्याओं के पुत्र पिता के न होकर अपने नाना के हो जाते हैं।[3] इसके लिए प्रायः विवाह के पूर्व ही कन्या का पिता भावी पति से प्रतिज्ञा करा लेता था। ऐसी कन्याओं को पुत्रिका की उपाधि मिलती थी। तत्कालीन समाज में ऐसी पुत्रिका का पति कोई नहीं होना चाहता था। भ्रातृहीन कन्याओं के पिता के समक्ष यह समस्या थी कि उनका विवाह कैसे सम्पन्न हो? वे स्पष्ट शब्दों में कन्या को पुत्रिका बनाने के समय का परित्याग कर सकते थे, पर बिना कहे हुए भी यदि उनके मन में पुत्रिका बनाने का विचार होता तो कन्या पुत्रिका मान ली जाती थी और उसका पुत्र नाना का हो जाता था।[4] ऐसी परिस्थिति में नियम बना कि भ्रातृहीन कन्या से विवाह ही न करो। कहीं वह पुत्रिका न हो जाय।[5]

प्राचीन काल में प्रायः सदा ही अनुलोम विवाह शास्त्र-सम्मत रहा है और व्यवहार रूप में भी ऐसे असंख्य विवाह हुए जिनमें वधू की जाति वर से हीनतर होती थी। मनु ने अनुलोम विवाह का समर्थन तो किया है, पर उन्होंने सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ माना है। वर और वधू की योग्यता के विषय में शाश्वत धारण रही है—
चान्द्रायण व्रत के प्रायश्चित के द्वारा हो सकती है। कुछ शास्त्रकारों ने ऐसे

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्।। भागवत १०.६०.१५

शास्त्रीय दृष्टि से सगोत्र, सपिण्ड और सप्रवर विवाहों का निषेध है। दक्षिण भारत में सपिण्ड होने पर भी मामा या फूफा की कन्या को विवाह के योग्य माना तो अवश्य गया, पर मनु की दृष्टि में ऐसे विवाह करने वालों की शुद्धि

---

१. वराह गृ० सू० १०.१,६
२. ऋ० वे. १.१२४.७; २.१७.७; ८.२२.५
३. नाभ्रात्रीमुपयच्छेत...अभ्रातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः। निरुक्त ३.५
४. अभिसन्धिमात्रात् पुत्रिकेत्येकेषाम्। गौतम २८.१७
५. मनुस्मृति ३.११

सपिण्ड विवाह को उचित भी माना है।[1] यदि भूल से भी कहीं सप्रवर या सगोत्र विवाह हो जाता था तो पति को चान्द्रायण व्रत करना पड़ता था और उस स्त्री से पत्नी का सम्बन्ध-विच्छेद करके जीवन भर उसका भरण-पोषण करना पड़ता था। यदि कहीं सगोत्र या सप्रवर विवाह जान-बूझ कर किया हो तो वह पति स्वयं ब्राह्मण नहीं रह जाता था और उसकी सन्तान भी चाण्डाल मानी जाती थी।[2]

विवाह के सम्बन्ध में किसी प्रकार अपने लाभ का ध्यान रखना उचित नहीं माना जाता था। इसी दृष्टि से नियम बना कि कोई व्यक्ति अपनी कन्या का किसी कुल में विवाह करके उस कुल से अपने पुत्र के विवाह के लिए कन्या न ग्रहण करे। इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति को दो कन्यायें देना अथवा दो भाइयों का दो बहिनों से विवाह करना अनुचित माना गया।[3] कन्याओं के साथ दहेज देने का प्रचलन समृद्धिशाली वर्ग में सुदूर प्राचीनकाल से ही रहा है।[4]

वधू-प्राप्ति की योजना

स्नातकों का विवाह साधारणतः उनकी योग्यता, विद्या और चरित्र के द्वारा उत्तम कुल की योग्य कन्याओं से अनायास हो जाता था। स्नातकों के ब्रह्मज्ञान पर मुग्ध होकर कुछ उच्च कोटि के नागरिक अपनी कन्या उन्हें दान में देते थे। इस प्रकार की वैवाहिक योजना का नाम ब्राह्म विवाह था।[5] मनु ने इस विवाह की परिभाषा देते हुए कहा है कि कन्या को वस्त्र पहना कर, पूजा करके वेदज्ञ

---

१. स्मृतिचन्द्रिका पृ० ७०-७४, पराशर-माधवीय पृ० ६३-६८

२. संस्कार-प्रकाश में आपस्तम्ब से उद्धृत देखिये पृ० ६८०। बौधायन के अनुसार किसी व्यक्ति की वंश-परम्परा का अन्तिम महान् ऋषि जिसके नाम पर उस कुल का नाम पड़ता है, गोत्र है। उस कुल में गोत्र-संस्था के पहले जो प्रतिभाशाली महर्षि हुए हों, उन्हें प्रवर कहते हैं। माता और पिता के वंशानुक्रम में पड़ने वाले सभी लोग सपिण्ड हैं।

३. स्मृतिमुक्ताफल का वर्णाश्रम-धर्म पृ० १४८

४. ऋग्वेद ६.२८.५; अथर्व० ५.१७.१२। महाभारत के अनुसार पाण्डवों को अनेक विवाहों में पर्याप्त दहेज प्राप्त हुए थे। अन्यत्र आदिपर्व २२० में, चुल्लकालिङ्ग जातक ३०१ में भी इसका उल्लेख मिलता है। कथा-सरित्सागर ८.१.७०-७८ तथा ७.६.२१४-२१६

५. यह विवाह ब्रह्मवर्ग में प्रचलित था। ब्रह्म वे लोग थे जो ब्रह्मविद्या से सम्पन्न होते और समदर्शी थे। महा० शान्तिपर्व ७६.२। अथर्ववेद के अनुसार

ब्रह्मश्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
ब्रह्मदेवा ननुक्षियति ब्रह्मदेवीजनीर्विशः॥ १०.२.२१

कभी-कभी कन्यायें भिक्षा में भी प्राप्त होती थीं। आदिप० ४२.१३

और शीलवान् स्नातक को अपने घर बुलाकर दे देना ब्राह्म विवाह है। प्राचीन काल के दार्शनिक कुलों में ब्रह्मज्ञान का महत्त्व था। उनमें ब्राह्म विवाह का प्रचलन प्रायः सदा रहा। क्षत्रियों में ब्राह्म विवाह के समकक्ष उन स्वयंवरों की योजना थी, जिनमें क्षत्रिय-कुमार को अपने सर्वोच्च पराक्रम का प्रदर्शन करके कन्या प्राप्त होती थी। स्वयंवरों के वर्णन से प्रतीत होता है कि वर और वधू के लिए उस युग में देश-भेद और जाति-भेद का महत्त्व स्वल्प ही था।

ब्राह्मण-विद्वानों की योग्यता की परख कभी-कभी यज्ञ-सम्पादन में होती थी। यज्ञ-सम्पादन करते हुए स्नातक की योग्यता पर मुग्ध होकर यजमान दक्षिणा-रूप में अपनी कन्या उसे दान दे देते थे। इस विधि का नाम दैव विवाह था। इसके माध्यम से प्रायः क्षत्रिय यजमानों की कन्यायें ब्राह्मण स्नातकों को प्राप्त होती थीं।

कुछ स्नातकों को अपने विवाह के लिए कन्या प्राप्त करने में एक जोड़ी बैल और गाय कन्या के पिता को देना पड़ता था। ऐसे स्नातक वैदिक ऋषियों के कुल के होते थे, जिनमें कृषि और पशु-पालन के द्वारा समृद्धिशाली रहने की रीति थी। गाय-बैल की जोड़ी सम्भवतः स्नातक की अपनी ऋषित्व-सम्बन्धी समृद्धि-शालिता का परिचय देने के लिए थी।[1] यह आर्ष विवाह है।

प्राचीन समाज में कुछ महर्षियों के कुल प्राजापत्य व्रत का पालन करते थे।[2] इस व्रत का पालन करने वाले दम्पती पूरा जीवन प्रायः गृहस्थाश्रम में बिताते थे। कन्या का पिता वर से उपर्युक्त आशय की प्रतिज्ञा लेकर कन्या-दान करता था।[3] यह प्रजापति मनु से सम्बद्ध मानव-विवाह है।[4] मनु के युग में

---

१. मनु ने इस विवाह की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥३.२९

यह शुल्क रूप में नहीं था। मनुस्मृति ३.५३। भाग० ८.८.२ के अनुसार समुद्र-मंथन के समय ऋषियों ने रत्नों में से गाय को ही माँग कर लिया था, जिससे उनको मेध्य हवि प्राप्त हो। ऋषियों की गो-प्रियता के लिए देखिये ऋ० १.१५४.६; ४.३३.१; ६.२८.१ गाय ही ऋषियों का प्रमुख धन था। ऋक्सूक्तवैजन्ती पृ० २४५

२. प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति-व्रत की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस व्रत को लेने वाले पुत्र और कन्या आदि सन्तति-परम्परा उत्पन्न करते हैं। १.१५

३. मनु ने प्राजापत्य विवाह की परिभाषा इस प्रकार दी है—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥३.३०

४. मानव कौन हैं—इसकी व्याख्या करते हुए मनु ने कहा है—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।

मानव सांस्कृतिक दृष्टि से देवताओं से भिन्न लोग थे।

शतपथ ब्रा० १३.४.३.३, १४

जनसंख्या-वृद्धि कराने की समस्या अवश्य रही होगी। उसी युग में देव कोटि के लोगों की सन्तति होना सम्भवतः विलासिता के कारण बन्द-सा हो गया होगा।[1]

उपर्युक्त चार योजनाओं के द्वारा कन्या-ग्रहण करना स्नातक के लिए समीचीन था। मनु के अनुसार इन योजनाओं के अनुकूल जो विवाह होते हैं, उनके माध्यम से ब्रह्मवर्चस्वी सन्तान होती है।[2] इनके अतिरिक्त विवाह के लिए वधू प्राप्त करने की चार अन्य योजनायें—गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच थीं। इनका प्रचलन प्रायः गन्धर्व, असुर, राक्षस और पिशाच जाति के लोगों में विशेष रूप से था। स्नातक के लिए इन योजनाओं से वधू प्राप्त करने का निषेध था।[3] राजकुमार या राजा कन्या के पिता के पास दूत भेज कर उससे विवाह का प्रस्ताव स्वीकृत कराते थे। क्षत्रियों के लिए राक्षस विवाह प्रशंसित रहा है। नागरिक संस्कृति में गान्धर्व विवाह को उत्तम माना गया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वैवाहिक प्रकरण में केवल भारत की ही नहीं विश्व की अन्य जातियों के विवाहों की विधियों का संस्मरण है। असुर तो अमेरिका वासी थे जैसा वराहमिहिर ने लिखा है मानव लोक हम लोगों का पृथ्वी के इस ओर है। इसके ठीक दूसरी ओर असुरों का देश है।[4]

वैवाहिक विधि

वैवाहिक विधि का प्रथम परिचय वैदिक साहित्य से मिलता है। यह संस्कार कन्या के घर पर सम्पन्न होता था। वहीं पर स्नातक अपने इष्ट-मित्र और सम्बन्धियों के साथ आ जाता था। वहाँ कन्या के सम्बन्धी पहले से एकत्र होते थे। अतिथियों का स्वागत सुस्वादु भोजन से किया जाता था।[5] कन्या का पाणिग्रहण करते समय वर कहता था—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगोऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ ऋ० वे० १०.८५.३६

१. रामायण वा० का० ३६.४०

२. मनुस्मृति ३.३९

३. मनु० ३.३१-३४,४१-४२। गन्धर्व अपने नाचने-गाने या शारीरिक सौंदर्य से मोहित कन्या को स्वेच्छया अपना कर उससे विवाह कर लेते थे। असुर लोगों के पास असीम सम्पत्ति थी, जिसे देकर वे कन्या का क्रय करने में गौरव मानते थे। राक्षस बलशाली थे। वे बलात् छीन कर वधू प्राप्त करते थे। पिशाच चोर होते थे। वे चोरी करके कन्या प्राप्त करते थे।

४. पंचसिद्धान्तिका १३.४

५. ऋग्वेद १०.८५; १०.१७.१; ४५.८; अथर्ववेद ९.१०.१४.२.५९

(मैं तुम्हारा पाणि सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ, जिससे मुझ पति के साथ तुम वृद्धावस्था तक रहो। भग, अर्यमा सविता और पुरन्धि देवताओं ने तुमको मेरे लिए दिया है, जिससे मैं गार्हपत्य का पालन कर सकूं।)

पिता देवताओं और विशेष रूप से अग्नि के समक्ष वर के लिए कन्या का दान करता था। इस अवसर पर सम्मान्य पुरुष दम्पत्ति को इन शब्दों में आशीर्वाद देते थे—तुम दोनों सदैव साथ रहो। कभी तुम्हारा वियोग न हो। अपने घर में जीवन भर तुम दोनों पुत्रों और पौत्रों के साथ आनन्दपूर्वक क्रीडा करो। हे इन्द्र, तुम इस वधू को सुपुत्रवती और सौभाग्यशालिनी बनाओ। इसे दस पुत्र प्रदान करो। पति को ग्यारहवां बना ओ। यह ससुर, सास, ननद और देवर के लिए सम्राज्ञी बने।

विवाह की विधि शनैः-शनैः अधिक जटिल होती गई। वैदिक विवाह की सांस्कारिक विधियाँ स्वल्प थीं; क्योंकि वे प्रधानतः आर्य-समुदाय की ही थीं। कालान्तर में आर्येतर जातियों के वैवाहिक लोकाचार भी सम्मिलित होते रहे। परिणामस्वरूप इस संस्कार की विधियों का अतिशय विस्तार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य-विधियों को मूल केन्द्र मान कर विविध प्रदेशों में रहने वाली आर्येतर जातियों के विविध सांस्कारिक विधान उसके साथ जोड़े गये और प्रायः प्रत्येक प्रदेश मे नई-नई स्थानीय विधियों के साथ संयुक्त होने पर आर्य-विधि के विविध रूप बन गये।

सूत्रकार आश्वलायन ने उपर्युक्त स्थिति को दृष्टि-पथ में रख कर कहा है—'विभिन्न प्रदेशों और गाँवों में इस संस्कार की विभिन्न रीतियाँ प्रचलित हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने देश के आचार को अपनाये। मैं उन्हीं विधियों का उल्लेख करूँगा, जो सभी देशों में साधारणतः पाई जाती हैं।'[1]

आश्वलायन के अनुसार मण्डप की वेदिका में विवाह की अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। यही अग्नि विवाह का साक्षी है। यह देवताओं का प्रतिनिधि है। अग्नि के पश्चिम की ओर दृषद् (चक्की) और उत्तर की ओर जल-कलश रखे जाते थे। घट की जल से पूर्णता भारतीय संस्कृति की भूमा की अभिव्यक्ति करती है। पूर्णता ही सृष्टि के समारम्भ का द्योतक है। दृषद् सम्भवतः स्थिरता का प्रतीक है। ऐसे वातावरण में हवन के पश्चात् वैवाहिक विधि आरम्भ होती थी। तत्पश्चात् विवाह-संस्कार सम्पन्न होता था। वर कन्या का पाणि-ग्रहण करते हुए ऋग्वेद के मन्त्र 'गृभ्णामि' आदि का गायन करता था।[2] इसके पश्चात् वर कन्या को अपने

---

१. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १.७.१-२

२. पाणि-ग्रहण अखण्ड मैत्री-सम्बन्ध की स्थापना के लिए होता था। केवल वैवाहिक सम्बन्ध करने के अवसर पर ही पाणि-ग्रहण नहीं होता था, अपितु मित्रता का सम्बन्ध करने के लिए भी अग्नि के समक्ष पाणि-ग्रहण किया जाता था। रामायण के अनुसार राम और सुग्रीव का मैत्री सम्बन्ध इसी विधि से सम्पन्न हुआ था।

नेतृत्व में जलकलश-सहित अग्नि की की प्रदक्षिणा कराता था। वह कन्या को सम्बोधित करके कहता था—'मैं पुरुष हूँ, तुम नारी हो ; तुम नारी हो, मैं पुरुष हूँ। मैं द्यौ (आकाश) हूँ, तुम पृथ्वी हो। मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो। हम दोनों विवाह करें। एक दूसरे के लिए प्रिय, रोचनशील और प्रसन्न मन वाले होकर हम दोनों सन्तान उत्पन्न करें। हम लोगों का जीवन सौ वर्ष का हो।' प्रत्येक बार प्रदक्षिणा कर लेने पर वह कन्या को चक्की के पत्थर पर चढ़ाता था और कहता था—इस पत्थर पर चढ़ो। पत्थर की भाँति ही स्थिर बनो। शत्रुओं को जीतो। उन्हें पदाक्रान्त करो। इसके पश्चात् कन्या अर्यमा, वरुण और पूषा देवों के लिए लावा का होम करती थी। इस अवसर पर प्रत्येक देव को होम करने के साथ वर कहता था—कन्या ने अमुक देव के लिये अग्नि में होम किया है। वह देव कन्या को यहाँ से मुक्त करें। यदि वधू की शिखायें गुँथी होती थीं तो वर उन्हें खोलता था और कहता था कि मैं तुम्हें वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ।

अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया सप्तपदी होती थी। वर के नेतृत्व में वधू सात पद अपराजिता (उत्तर-पूर्व) दिशा में चलती थी। इनमें से एक पदी अन्न के लिए, द्विपदी बल के लिए, त्रिपदी धन-समृद्धि के लिए, चतुष्पदी सुख के लिए, पंचपदी सन्तान के लिए, षट्पदी ऋतुओं के लिए तथा सप्तपदी सख्य-भाव के लिए थी। पति कहता था—हम दोनों अनेक पुत्र प्राप्त करें। वे सभी दीर्घायु हों।

इसके पश्चात् वर-वधू के सिरों को एक साथ करके पुरोहित उन पर जल छिड़कता था। रात में वे किसी वृद्धा ब्राह्मणी के घर में वास करते थे, जिसके पति और पुत्र जीवित होते थे। रात्रि के समय ध्रुव, अरुन्धती और सप्तर्षियों को नक्षत्र-मण्डल में देख कर वधू कहती थी—मेरा पति जीवित रहे। मुझे सन्तान उत्पन्न हो।

वधू के पति के घर प्रयाण करते समय मार्ग में जो घर पड़ते थे, वहाँ घोषणा की जाती थी कि यह नववधू सौभाग्य लिए चलती है। वधू के पति के घर में प्रवेश करते समय मन्त्र पढ़ा जाता था कि तुम्हारी सन्तान के द्वारा इस घर में आनन्द की अभिवृद्धि हो। घर में वधू और उसके पति साथ बैठते थे। वैदिक मन्त्रों से हवन होता था। अन्त में पति दही खाते हुए मन्त्र-गायन करता था—सभी देवता हम दोनों के हृदय को संयुक्त करें। शेष दही को वह पत्नी के लिए दे देता था और पत्नी के हृदय-प्रदेश का लेप कर देता था। उस दिन से तीन रात, बारह रात या एक वर्ष-पर्यन्त वे क्षार और लवण नहीं खाते थे, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे, अलंकार धारण नहीं करते थे और धरातल पर सोते थे। एक वर्ष तक ऐसा व्रत कर लेने पर जो सन्तान विवाहित दम्पती से उत्पन्न होती थी, वह ऋषि होती थी।[1]

---

१. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १.५-८

परवर्ती युग में वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना की प्रक्रियाओं का अधिक विकास हुआ। इसका परिचय नीचे लिखे विवरण से मिलता है :—

वर-प्रेक्षण, वाग्दान या कन्या-वरण के द्वारा वैदिक काल में भी कन्या के पिता के पास वर की ओर से कुछ लोग जाकर विवाह का प्रस्ताव करते थे।[1] फिर तो वर स्वयं अपने मित्रों के साथ जाकर कन्या के पिता की विवाह-सम्बन्धी अनुमति लेने लगा। वर आरम्भ में शची की पूजा कर लेने के पश्चात् सजी-धजी वधू की पूजा करता था और कामना करता था कि तुम सौभाग्य, स्वास्थ्य और सन्तान का संवर्धन करो।[2] परवर्ती युग में वर की अवस्था स्वल्प ही होती थी। एसी परिस्थिति में उसका पिता ही दो-चार मित्रों के साथ कन्या के पिता के घर जाकर उससे अपने पुत्र के लिए कन्या की याचना करता था। कन्या का पिता कुटुम्ब के सभी सदस्यों का मत लेकर अपनी स्वीकृति दे देता था। यही वाग्दान था—'मैं अपनी कन्या को आपके पुत्र के लिए दान दे देता हूँ। मैंने वचन से यह कन्या सन्तानोत्पत्ति के लिए दे दी है। आप ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। आप प्रसन्न मन से कन्या का पर्यवेक्षण करें।' वर का पिता कहता था—'आपने कन्या-दान किया। मैंने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया।' इसके पश्चात् वर का पिता कन्या की पूजा धन, वस्त्र और पुष्प आदि से करता था। अन्त में ब्राह्मण आशीर्वाद देते थे।[3]

विवाह के दिन मण्डप बनाने का काम होता था, जिसे मण्डपकरण कहा जाता था। उसी दिन समय-ज्ञान के लिए घटिका-यन्त्र का निर्माण होता था। इसी युग से ववाहिक प्रसाधन-कर्म में हरिद्रा-लेपन का प्रचलन महत्त्वपूर्ण रहा है।

समञ्जन की विधि में वर और वधू दोनों के हृदयों के एकीकरण की कामना वदिक मन्त्रों से की जाती थी। कन्या का पिता वर और वधू का अनुलेपन करते हुए कामना करता था कि लेपन उन दोनों के स्नेह का प्रतीक हो। परस्पर समीक्षण या अन्त:पट की प्रक्रिया में वर और वधू के बीच फैलाई हुई तिरस्करिणी को शुभ मुहूर्त में हटा दिया जाता था, जिससे वे एक दूसरे को देख सकें। तिरस्करिणी पड़े रहने के समय ब्राह्मण मङ्गलाष्टक का पाठ करते हैं। तिरस्करिणी हटाते समय ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ वर करता था। इस प्रक्रिया का तात्पर्य सम्भवत: यह था कि दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी के बीच किसी प्रकार का दुराव नहीं होना चाहिए।

---

१. ऋ० वे० १०.८५.६,१५,३३

२. वीरमित्रोदय भाग २ पृ० ८१०

३. उपर्युक्त विधि के स्थान पर इसके ठीक विपरीत आधुनिक वर-वरण (तिलक) की विधि चल पड़ी है। यह रीति भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में बहुत प्राचीन नहीं है।

गोत्रोच्चार-विधि में कन्या-दान के पहले एक बार या तीन बार वर और कन्या के पूर्वजों के नाम का गायन होता था, साथ ही उनके गोत्र और प्रवर का एक या तीन बार नामोच्चारण होता था। प्राचीन ऋषियों से वर और कन्या का सम्बन्ध बतला कर समाज को वैवाहिक सम्बन्ध के औचित्य और गरिमा का परिचय देना इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य था।

चाहे जिस किसी विधि से भी कन्या प्राप्त की गई हो, उसको विवाहित तभी माना जा सकता था, जब अग्नि को साक्षी बनाकर संस्कार सम्पन्न किया जाय।[1] ऐसा करने की आवश्यकता उस समाज के लिए विशेष थी, जिसमें गान्धर्व विवाह का प्रचलन बढ़ रहा था।[2]

गृहस्थ-जीवन

समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्नातक का विवाह होता था और उसका गृहस्थ-जीवन आरम्भ होता था। प्राचीन भारत में विद्यार्थी-जीवन में व्यक्तित्व के विकास के लिए जो योजना बनी थी, उसमें प्रायः ज्ञान और तपोमय भावना के साथ लोकोपयोगी विषयों का शिक्षण आवश्यक अङ्ग था। इस प्रकार सुशिक्षित नागरिक अपने ज्ञान और शक्तियों को अपने कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र का अभ्युदय करने में लगा देने का अवसर पाता था। उपर्युक्त उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक पूरा करना व्यक्तित्व के विकास के लिए द्वितीय सोपान के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। गृहस्थ रहकर कोई भी विद्वान् व्यक्ति उस समाज का ऋण चुकाने में समर्थ होता था, जिसकी उदारता के बल पर वह विद्यार्थी-जीवन में अपने लिए भोजन, वस्त्र और आवास आदि की आवश्यकताओं से निश्चिन्त रहता था।

गृहस्थाश्रम की महिमा की प्रतिष्ठा करते हुए विष्णुपुराण में कहा गया है—

> वेदाहरण-कार्याय तीर्थस्नानाय च प्रभो
> अटन्ति वसुधां विप्रा पृथ्वी-दर्शनाय च।
> अनिकेता ह्यनाहारा यत्र सायंगृहाश्च ये,
> तेषां गृहस्था सर्वेषां प्रतिष्ठा योनिरेव च॥[3]

---

1. भासरचित नाटक अविमारक में नारद की उक्ति तथा कामसूत्र ३.५.११
2. व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः।
   मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूजितः।
   सुखत्वाद् बहुक्लेशादपि चावरणादिह॥
   अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः॥
   कामसूत्र ३.५.२९-३०
3. विष्णुपुराण ३.९.१२-१३

वैदिक गृहस्थ

वेद-युगीन गृहस्थों का जीवन सदाचार-निष्ठ था। वे सतत् उद्योग करके अपने उपभोग की प्रचुर सामग्री प्राप्त कर लेते थे।[1] यज्ञों में गृहस्थ-ऋषि देवताओं से प्रार्थना करते थे कि हमें भरपूर अन्न, धन और सौभाग्य की प्राप्ति हो और हमारे पास असंख्य पशु हो जायें।[2] यज्ञों में पुरोहित को सैकड़ों गायें, घोड़े, रथ और स्वर्ण-मुद्रायें प्राप्त होती थीं। ऐसे समृद्धिशाली गृहस्थ समाज का अभ्युदय करने में समर्थ थे। वे नित्य नई स्तुतियों की रचना करके उनसे देवताओं के लिए यज्ञ करते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार देवता प्रसन्न होते हैं। यज्ञ के माध्यम से उन्हें देवताओं के सान्निध्य की प्रतीति होती थी। इसके प्रभाव से वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते थे। देवताओं के चरित की जो कल्पना वैदिक साहित्य में मिलती है, उसके अनुसार वे कर्मण्य, उदार, सत्यपरायण, सहानुभूतिमय, पराक्रमी और उत्साह-सम्पन्न हैं।[3] इन्हीं गुणों को गृहस्थों ने अपने जीवन में ढालने का सफल प्रयास किया।

वैदिक काल से इस देश में प्रायः सदा ही अतिथियों का बहुविध आदर-सत्कार करने की योजना सदा प्रतिष्ठित रही है। लोगों को इस उच्च सिद्धांत का बोध हो गया था कि जो मनुष्य अकेले खाता है, वह निरा पापी है।[4] तत्कालीन समाज को अतिथि शब्द इतना प्रिय था कि लोग अपने नाम में अतिथि जोड़ लेते थे।[5] उस युग के मानव ने सहस्र-पोष्य की कल्पना की थी। इसके अनुसार एक व्यक्ति के द्वारा सहस्रों के पोषण की सम्भावना सहज ही उसकी उच्चता सूचित करती है।[6]

वैदिक गृहस्थ का जीवन अतिशय धार्मिक था। प्रातः और सायं अग्निहोत्र के विधान में हवन का प्रचलन था। हवन में प्रधानतः अग्नि की स्तुति होती

---

१. उदाहरण के लिए ऋग्वेद १.११६.३ के अनुसार उषा-काल से ही मानव ही क्या पशु-पक्षी भी काम में जुटे हैं। ऋग्वेद १०.३४.१३ में शिक्षा दी गई है—जुआ मत खेलो। खेती करो। जो धन है, उसी को भोगो। अपने पशुओं और स्त्री की चिन्ता करो। यह शिक्षा सभी अकर्मण्य लोगों के लिए चेतावनी-रूप में है।

२. ऋग्वेद १.४८.१-१६; १.४३.७; ६.१२.६; ७.१.५,२३,२४

३. उदाहरण के लिए देखिए अथर्ववेद १२.१.४८ के अनुसार पृथ्वी मूर्ख और विद्वान् दोनों का भरण-पोषण करती है। अच्छे बुरे सब उस पर रहते हैं।

४. केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्वेद १०.११७.६

५. ऐसे नाम मेधातिथि और अतिथिग्व आदि हैं। अग्नि को ऋग्वेद ५.८.२ में पूर्व्य अतिथि की उपाधि दी गई है।

६. ऋग्वेद ६.३५.१

थी। दोपहर या दिन के किसी अन्य भाग में सोम-यज्ञ सम्पन्न होता था। विविध देवताओं के लिए विभिन्न यज्ञों का प्रचलन था। उनके कृषि के काम में, पशु-पालन में तथा अज्ञानान्धकार को दूर करने में सदैव देवताओं की सहायता और तदनुकूल स्तुति अपेक्षित थीं।[1]

वैदिक गृहस्थ के व्यक्तित्व का परिचय उसकी नीची लिखी कामना से हो सकता है—हे इन्द्र, मुझे श्रेष्ठ धन दो। धन और दक्षतापूर्ण चेतनता प्रदान करो और मुझे सम्पत्तिशाली बनाओ। हमारी सम्पत्तियों का पोषण करो। शरीर को स्वच्छ बनाओ। हमारी वाणी में मधुरता भर दो। मेरे दिनों को सुदिन बनाओ।[2] हे वरुण, मुझे किसी धनी और दानशील व्यक्ति से कुछ याचना न करनी पड़े।[3] ऋण भोगने वाले के लिए तो मानो उषा का उदय होता ही नहीं। मुझे दूसरे का धन न मांगना पड़े।[4] यजुर्वेद में गृहस्थ की सूर्य से प्रार्थना है—हे देव, सभी पापों को मुझसे दूर रखें। जो कुछ कल्याणप्रद हो, उसे मुझे दें।[5]

देवताओं की भाँति पितरों की कल्पना ऋग्वेद के युग में हो चुकी थी। देवताओं के साथ लोग पितरों की स्तुति करते थे और उनके लिये सोम, हवि और स्वधा का समर्पण करते थे। पितरों से आशा की जाती थी कि वे प्रसन्न होकर अपने वंशजों को रक्षा करेंगे, उनकी सहायता करेंगे और उन्हें शान्ति प्रदान करके हानि से बचायेंगे। पितरों से धन और शक्ति मिलने की सम्भावना भी थी। वैदिक आर्यों ने पितरों को सत्यनिष्ठ माना और उनके पथ-प्रदर्शन से अनुगृहीत हुए।[6] पितरों के स्वरूप की उपर्युक्त कल्पना के आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज पितरों के रहस्यमय साहचर्य की अनुभूति करता था और समाज के चरित्र-निर्माण में पूर्वजों की सत्यपरायणता और सहायशीलता का अच्छा योग रहा होगा। लोगों के समक्ष मृत्यु और वृद्धावस्था का भय तो रहता ही नहीं होगा, जब वे सोचते होंगे कि मरने के पश्चात् पितृ-कोटि में आ जाने पर अतिशय सुख की सम्भावना है।[7]

---

१. ऋ० १.४३.२,६

२. ऋ० २.२१.६

३. ऋ० २.२७.१७

४. ऋ० २.२८.६

५. शुक्लयजुर्वेद संहिता ३०.३

६. ऋ० १०.१५

७. ऋ० १.११६.२५ में कक्षीवत् ने अपने सम्बन्ध में कहा है—मेरे पास अच्छी गायें हों। मेरे पुत्र अच्छे हों। मैं दीर्घायु को देखते और भोगते हुए वृद्धावस्था में वैसे ही प्रवेश करूँ, जैसे अपने घर में प्रवेश करता हूँ।

समृद्धिशाली गृहपति का समाज में सम्मान था। उनकी उदारता से तत्कालीन ऋषियों का भरण-पोषण होता था। महर्षि भरद्वाज ने कामना की है—हे देव, हमें किसी वीर, धनी और प्रचुर दक्षिणा देने वाले गृहपति से मिलाओ।[1]

परवर्ती वैदिक साहित्य में गृहस्थों का अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अदम्य उत्साह दिखाई पड़ता है। वे कामना करते थे कि मेरा व्यक्तित्व वर्चस्विता, तेजस्विता, बल और ओजस्विता से समन्वित हो। मेरा व्यक्तित्व मधुर हो जाय, जिससे मैं लोगों के बीच प्रभावोत्पादक बातें कह सकूँ।[2] अथर्ववेद का गृहस्थ ऋत, सत्य, तप, धर्म, कर्म, श्रम, राष्ट्र, वीर्य, बल, लक्ष्मी, समृद्धि आदि की उदात्त कल्पनाओं के द्वारा स्वयं उदात्त बन चुका था। वह इनके द्वारा प्राप्य आनन्द, मोद, प्रमोद आदि भावों की अनुभूति करता था।[3] उसकी कल्पना थी कि सत्य, ऋत, तप, ब्रह्म, यज्ञ आदि पृथ्वी को धारण करते हैं।[4] समाज को धारण करने के लिए भी उन्होंने इन्हीं गुणों को आवश्यक माना था। वे पृथ्वी से प्रार्थना करते थे—हमें गौ, अश्व, पक्षी के साथ ही वर्चस्विता प्रदान करो। जिस प्रकार स्वर्ण की आभा पड़ने से कोई वस्तु स्वर्णिम हो जाती है, वैसे ही मुझे चमका दो। मुझसे कोई द्वेष न करे। मुझे उस गन्ध से सुरभित कर दो, जो कमलों में है।[5]

गृहस्थाश्रम के सुसंयत और तपोमय जीवन का नाम ब्रह्मचर्य था। लोगों की कल्पना थी कि संयम और पवित्र जीवन के द्वारा मानव में उस शक्ति का आविर्भाव होता है, जिससे समाज का सर्वोच्च कल्याण किया जा सकता है।[6] प्रायः सभी नागरिक स्वयं सुप्रतिष्ठित होकर श्रीसम्पन्न और वैभवशाली होना चाहते थे।[7] संभवतः उपर्युक्त उद्देश्य से ही वे अपने शरीर को कर्मण्य और सक्षम बनाये रखने की इच्छा करते थे। वे पृथ्वी की स्तुति करते हुए कामना करते थे—हमारा दाहिना या बायाँ पाँव फिसल न जाय, जब हम उठते, बैठते, खड़े होते या चलते-फिरते हैं। हम चाहे कितने ही वृद्ध क्यों न हो जायँ, हमारी देखने की शक्ति क्षीण न हो।[8]

---

१. ऋग्वेद ६.५३.२ २. अथर्ववेद ९.१.१७–२२

३. अथर्ववेद ११.७.१७,१८,२६ ४. अथर्ववेद १.१२.१

५. अथर्व० १२.१

६. अथर्व० ११.५.१६ के अनुसार आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता है। ११.५.१७ के अनुसार ब्रह्मचर्य और तप के द्वार राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। ब्रह्मचर्य के बल पर ही आचार्य ब्रह्मचारियों को पाता है। ब्रह्मचर्य और तप से देवताओं ने मृत्यु को मार भगाया। अथर्व० ११.५.१९

७. अथर्व० १२.१.६३ ८. अथर्व० १२.१.२८,३३

पुरुष रहते हैं। घर में पेय सामग्री भरपूर प्रस्तुत थी। अमृत और घृत से भरा घड़ा होता था, जिसमें से यथेच्छ पी लेना ही शेष काम था। घर के एक भाग में अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित होती थी।[1]

अथर्ववेद के अनुसार अतिथि साक्षात् ब्रह्म है। उस समय अतिथि का सत्कार यज्ञ-रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस यज्ञ में अतिथि पुरोहित होता था और आतियेय यजमान होता था। सत्कार सम्बन्धी सारी विधियों को क्रमशः याज्ञिक विधियों के समकक्ष मान्यता प्राप्त हुई थी।[2] अतिथि का अतिशय महत्त्व गृहस्थ के पाप दूर कर देने में माना गया। तत्कालीन धारणा के अनुसार अतिथि आतियेय को स्वर्ग-लोक का अधिकारी बना देता है।[3]

अतिथि को सबसे पहले भोजन दिया जाता था। लोगों का विश्वास था कि जो मनुष्य अतिथि के पहले खा लेता है उसके घर के इष्ट और पूर्त विनष्ट हो जाते हैं। उसके घर में दूध और रस का अभाव हो जाता है। सभी लोग बलहीन हो जाते हैं। वहाँ किसी प्रकार का अभ्युदय सम्भव नहीं होता। सन्तान और पशु की भी कमी हो जाती है। यश और कीर्ति मिट जाती है। श्री और सहमति भी उस घर को छोड़ कर चल देते हैं। ऐसी परिस्थिति में नियम बना कि स्वादिष्ठ वस्तुयें पहले अतिथि को दी जायें।[4]

अथर्वयुगीन धारणा के अनुसार अतिथियों के लिए विविध प्रकार के भोज्य देने से विभिन्न यज्ञों के फल प्राप्त होते हैं। अतिथि के लिए जलमात्र लेकर प्रस्तुत होने वाले मनुष्य को सन्तान की समृद्धि सम्भव होती है। वह मनुष्य प्रतिष्ठित हो जाता है और अपनी सन्तान का प्रेमपात्र बना रहता है।[5] उस युग में अतिथि को देखते ही गृहस्थ का हृदय उल्लसित हो जाता था। वह मधुर वाणी से उसका अभिनन्दन करता था। कुटुम्ब के सभी लोग काम छोड़ कर अतिथि के स्वागत में तत्परतापूर्वक जुट जाते थे।[6]

शतपथ ब्राह्मण में गृहस्थ के लिए पाँच महायज्ञों का विधान बना। गृहस्थ का कर्तव्य था कि वह नित्य इन यज्ञों का सम्पादन करे। पंच महायज्ञों में ब्रह्म-यज्ञ सर्वप्रथम है। ब्रह्मयज्ञ या वेदों का स्वाध्याय। इसका सम्पादन करने से

१. अथर्ववेद ३.१२
२. विशेष विवरण के लिए देखिये अथर्ववेद ६.६.१-१२
३. अथर्ववेद ६.६.१८-२३
४. अथर्ववेद ६.६.३१-३६
५. अथर्व० ६.६.४०-४६
६. अथर्व० ६.६.५२-६०

जीवन-सम्बन्धी उपर्युक्त सौष्ठव के लिए आवश्यकता थी अत्यधिक धन की। उनको पृथ्वी से भरपूर धन मिलता था। खेती करते हुए वे प्रचुर मात्रा में अन्न उत्पन्न करते थे। भारत के विशाल प्राङ्गण में पशुओं के चरने के लिए घास के मैदान सदैव हरे-भरे रहते थे। इस प्रकार वे अधिकाधिक पशुओं का पालन कर सकते थे। पृथ्वी के रत्नों और धातुओं की सम्पन्नता का अतिशय महत्त्व था। पृथ्वी सहस्र धाराओं के माध्यम से उन्हें रत्न और धातु आदि देती थी। ऋषि ने पृथ्वी की प्रशंसा करते हुए कहा है--

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथ्वी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ अथर्व० १२.१.४४

(अपने गर्भ में विविधि प्रकार की निधि धारण करने वाली पृथ्वी मेरे लिए मणि और हिरण्य देगी। उदारतापूर्वक धन देने वाली पृथ्वी हम सबको धन देगी।)

ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में पृथ्वी की खनिज सम्पत्ति का महत्त्व लोगों को भली भाँति ज्ञात हो गया था और वे श्रम से सम्पत्ति प्राप्त करके अपनी रहन-सहन को ऊँचा बना रहे थे।

अपने व्यक्तित्व का उचित दिशा में विकास करके ही अथर्वयुगीन मानव कह सकता था--

यद्वदामि मधुमत् तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः ॥ अथर्व० १२.१.५८

(जो कुछ बोलता हूँ, मधुर बोलता हूँ। जो कुछ मैं चाहता हूँ, वह मुझे प्राप्त हो जाता है। मैं प्रतिभाशाली हूँ। मैं जागरूक और उद्यमी हूँ। जो मेरे ऊपर आक्रमण करते हैं, उन्हें मैं परास्त करता हूँ।)

तत्कालीन गृहस्थों में से कुछ ऐसे मन्त्र-रचयिता थे, जो आधिभौतिक अभ्युदय के लिए व्यापार करते थे। इस व्यापार में वे सौगुना उपार्जन करने के लिए प्रवृत्त होते थे।[1]

अथर्ववेद के गृहस्थ के घर की रूप-रेखा कुछ-कुछ इस प्रकार थी--घर में अनेक वीर पुत्र-पौत्र हैं। उसमें घोड़े, गायें और बहुविध सम्पन्नता विराजती हैं। वहाँ घी, दूध आदि के पान से महान् सौभाग्य प्रकट हो रहा है। घर क्या है--आश्रम है, बड़ी-सी छत और उसमें भरा हुआ है पवित्र धान्य। घर में बछड़े और बालक आते-जाते हैं। सन्ध्या के समय दुआर गायें आ पहुँचती हैं। घर तो फूस का ही है, पर बहुत सुखप्रद है और धन-धान्य-सम्पन्न है। उसमें अनेक स्वस्थ और वृद्ध

१. अथर्ववेद ३.१५

पुरुष रहते हैं। घर में पेय सामग्री भरपूर प्रस्तुत थी। अमृत और घृत से भरा घड़ा होता था, जिसमें से यथेच्छ पी लेना ही शेष काम था। घर के एक भाग में अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित होती थी।[1]

अथर्ववेद के अनुसार अतिथि साक्षात् ब्रह्म है। उस समय अतिथि का सत्कार यज्ञ-रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस यज्ञ में अतिथि पुरोहित होता था और आतियेय यजमान होता था। सत्कार सम्बन्धी सारी विधियों को क्रमशः याज्ञिक विधियों के समकक्ष मान्यता प्राप्त हुई थी।[2] अतिथि का अतिशय महत्त्व गृहस्थ के पाप दूर कर देने में माना गया। तत्कालीन धारणा के अनुसार अतिथि आतिथेय को स्वर्ग-लोक का अधिकारी बना देता है।[3]

अतिथि को सबसे पहले भोजन दिया जाता था। लोगों का विश्वास था कि जो मनुष्य अतिथि के पहले खा लेता है उसके घर के इष्ट और पूर्त विनष्ट हो जाते हैं। उसके घर में दूध और रस का अभाव हो जाता है। सभी लोग बलहीन हो जाते हैं। वहाँ किसी प्रकार का अभ्युदय सम्भव नहीं होता। सन्तान और पशु की भी कमी हो जाती है। यश और कीर्ति मिट जाती हैं। श्री और सहमति भी उस घर को छोड़ कर चल देते हैं। ऐसी परिस्थिति में नियम बना कि स्वादिष्ठ वस्तुयें पहले अतिथि को दी जायें।[4]

अथर्वयुगीन धारणा के अनुसार अतिथियों के लिए विविध प्रकार के भोज्य देने से विभिन्न यज्ञों के फल प्राप्त होते हैं। अतिथि के लिए जलमात्र लेकर प्रस्तुत होने वाले मनुष्य को सन्तान की समृद्धि सम्भव होती है। वह मनुष्य प्रतिष्ठित हो जाता है और अपनी सन्तान का प्रेमपात्र बना रहता है।[5] उस युग में अतिथि को देखते ही गृहस्थ का हृदय उल्लसित हो जाता था। वह मधुर वाणी से उसका अभिनन्दन करता था। कुटुम्ब के सभी लोग काम छोड़ कर अतिथि के स्वागत में तत्परतापूर्वक जुट जाते थे।[6]

शतपथ ब्राह्मण में गृहस्थ के लिए पाँच महायज्ञों का विधान बना। गृहस्थ का कर्तव्य था कि वह नित्य इन यज्ञों का सम्पादन करे। पंच महायज्ञों में ब्रह्म-यज्ञ सर्वप्रथम है। ब्रह्मयज्ञ था वेदों का स्वाध्याय। इसका सम्पादन करने से

---

१. अथर्ववेद ३.१२
२. विशेष विवरण के लिए देखिये अथर्ववेद ९.६.१-१२
३. अथर्ववेद ९.६.१८-२३
४. अथर्ववेद ९.६.३१-३९
५. अथर्व० ९.६.४०-४९
६. अथर्व० ९.६.५२-६०

स्वर्गलोक की प्राप्ति सम्भव मानी गई। इस यज्ञ के माहात्म्य का परिचय देने के लिए ही सम्भवतः कहा गया कि अन्य यज्ञों में दक्षिणा रूप में प्रदान की हुई सारी पृथ्वी और धन से जो लोक प्राप्त होते हैं, उनसे तिगुने अच्छे लोक ब्रह्म-यज्ञ के द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। स्वाध्याय से प्रसन्न होकर देवता स्वाध्यायी को विविध प्रकार के अभ्युदयों से समायुक्त कर देते हैं। स्वाध्याय के विषय थे वेद, वेदांग, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, नाराशंसी, गाथा आदि। तत्कालीन धारणा के अनुसार स्वाध्याय से देवताओं को मधु की हवि प्राप्त होती है और स्वाध्यायी के पितरों को घी और मधु की धारा प्राप्त हो जाती है। चाहे कोई किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, उसे कुछ न कुछ स्वाध्याय तो नित्य करना ही चाहिए।[1] ब्रह्मयज्ञ के स्वाध्याय में गृहस्थ के व्यक्तित्व के विकास की अनूठी योजना मिलती है।

शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म-यज्ञ के अतिरिक्त पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ और अतिथि-यज्ञ का विधान मिलता है। पितृ-यज्ञ में पितरों की परितृप्ति के लिए स्वधा के साथ जल आदि समर्पित किया जाता था। देव-यज्ञ में स्वाहा के साथ समिधा आदि से देवताओं का परितोष किया जाता था। भूत-यज्ञ में प्राणियों की परितृप्ति के लिए नित्य बलि दी जाती थी। अतिथि-यज्ञ में अतिथि के लिए जल आदि प्रस्तुत करके उनका परितोष किया जाता था।[2] उपनिषद्-युग में महायज्ञों का विधान प्रायः इसी प्रकार है।[3]

उपनिषद्-युगीन

उपनिषद्-कालीन गृहस्थ के जीवन की रूप-रेखा का प्रारम्भिक परिचय इन शब्दों में मिलता है—किसी पवित्र देश में स्वयं स्वाध्याय करते हुए, पुत्र और शिष्यों का अध्यापन करते हुए, उन्हें धार्मिक बनाते हुए, आत्मा में सभी इन्द्रियों को सम्प्रतिष्ठित करके, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसामय व्यवहार करते हुए वह पूर्ण जीवन बिताये।[4] उपर्युक्त जीवन-विन्यास का सूत्रपात समावर्तन-संस्कार सम्बन्धी

---

१. शतपथ ब्रा० ११.५.६

२. शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.२

३. स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत् पितृभ्यो निपृणाति यत् प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्यगृहे श्वापदा वयांसि आपिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति, तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकाया रिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति। बृहदारण्यक उप० १.४.१६

४. छान्दोग्य० ८.१५.१

आचार्य के उस भाषण से होता है. जिसमे वह कहता था—सत्यं वद, धर्मं चर आदि। गृहस्थ-जीवन के मूल सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—दम, दान और दया करना सभी विद्वान् पुरुषों के कर्तव्य हैं।[१] तैत्तिरीयोपनिषद् में गृहस्थ के लिए स्वाध्याय और प्रवचन को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाकर उनके साथ ही तप, दम, शम, अग्निहोत्र, अतिथि, मानुष, प्रजा (सन्तान) आदि के प्रति उनका ध्यान आकर्षित किया गया है।[२]

तत्कालीन जीवन-पद्धति के लिए सत्पथ का सर्वाधिक महत्त्व था। समाज का अनायास ही अभ्युदय करने के लिए प्रवचन अर्थात् निःशुल्क अध्यापन को उसके लिए कर्तव्य रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। गृहस्थ स्वाध्याय करते हुए उच्चकोटि का आचार्य होता था। वह देवता और पितरों के लिए यज्ञ करता था और आतिथ्य को धर्म का प्रमुख अंग मानता था। ये चारों विधान—स्वाध्याय, देव यज्ञ, पितृ-यज्ञ और आतिथ्य—शतपथ ब्राह्मण के महायज्ञों के समकक्ष हैं। शतपथ ब्राह्मण का भूत-यज्ञ उपनिषद् के अग्निहोत्र में समन्वित है। गृहस्थ-जीवन में अग्निहोत्र की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि अग्निहोत्र सभी प्राणियों के भरण-पोषण का प्रतीक है। जिस प्रकार क्षुधित बालक माता का आश्रय लेते हैं, वैसे ही सभी भूत अग्निहोत्र का आश्रय लेते हैं।[३]

उपनिषद्-काल के गृहस्थ आधिभौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से नित्य अपना अभ्युदय करने के लिए उद्यत रहते थे। स्वाध्याय और प्रवचन के अतिरिक्त वे उच्च दार्शनिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महान् आचार्यों के समीप जाते थे अथवा उनसे भेंट होने पर अपने सन्देहों का निराकरण करते थे। राजा स्वयं भी दार्शनिक विवादों की व्यवस्था करके ज्ञान के प्रसार में सहयोग देते थे।[४] तत्कालीन नागरिक की प्रार्थना इन शब्दों में होती थी—हे देव, मैं अमरता धारण करूँ। मेरा शरीर कर्मण्य हो। मेरी जिह्वा मधुमत्तम हो। कानों के द्वारा मैं बहुश्रुत

१. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ११, वृहदारण्यक ५.२

२. तै० शीक्षावल्ली ९

३. यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते,
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते। छान्दोग्य उ० ५.२४.५

४. माण्डूक्य उप० १.३ के अनुसार शौनक नामक महाशाल (गृहस्थ) ने अंगिरा से ब्रह्मविषयक प्रश्न पूछा था। छान्दोग्य उप० ५.११ के अनुसार प्राचीन शाल, सत्ययज्ञ आदि ने पहले स्वयं ब्रह्मविषयक मीमांसा की। अन्त में वे राजा अश्वपति के पास प्रश्न पूछने के लिए गये। ब्रह्म विषयक वाद-विवाद का आयोजन करने वालों में राजा जनक का नाम सर्वोपरि है। बृहदारण्यक उप० ४.१

बनूँ। हे सूर्य, तुम दिशाओं के सर्वोत्तम कमल हो। मैं स्वयं मनुष्य-जाति का सर्वोत्तम कमल बन जाऊँ।[1]

उपनिषद् कालीन ब्रह्मज्ञान के आचार्यों के द्वारा आधिभौतिक अभ्युदय के लिए जो योजना बनाई गई, उसके अनुसार 'सारा जगत् ईश से व्याप्त है। किसी के धन के लिए लोभ नहीं करना चाहिए।' इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं था कि मानव अकर्मण्य होकर बैठे। उसे काम करते हुए ही १०० वर्ष जीने की कामना करनी चाहिए।[2] गृहस्थ के लिए प्रकाशमय जीवन प्रशस्त माना गया। वह अपने पशु, सन्तान और कीर्ति से महान् समझा जाता था। मानव का महामनस्वी होना आवश्यक गुण था। उसके जीवन की सफलता इस बात में थी कि वह अन्नाद (बहुभोजी) हो।[3] मनुष्य में शरीर का सौष्ठव भी होना चाहिए। किसी अंग में विकार नहीं होना चाहिए।[4] मनुष्य का प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस्विता और भोज्य पदार्थ आदि से समायुक्त होना संहिताओं के ज्ञान के फल-स्वरूप माना गया। विद्वान् ब्राह्मण के पास वस्त्र, भोजन, पान और विविध प्रकार के पशुओं का समूह होना चाहिए।[5] तत्कालीन समृद्धिशाली विद्वान् गृहस्थ ही कामना कर सकता था कि मैं अपने इस घर में अभ्युदय करके सहस्र लोगों का पोषण करने योग्य बन जाऊँ।[6]

महाभारतीय गृहस्थ

गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधारा का भारतीय संस्कृति में सदा सम्पोषण होता रहा। गृहस्थ के आचार और विशेषतः पंच महायज्ञों के पुण्यात्मक प्रभाव का प्रायः सभी शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। उपनिषद्-काल के पश्चात् गृहस्थों की समृद्धिशालिता के सम्बन्ध में दो निश्चित मत मिलते हैं—प्रथम, मनुष्य अधिक से अधिक धन अर्जन करके गृहस्थ-धर्म का पालन गौरवपूर्वक करे और दूसरा, धन उपार्जन करने के चक्कर में न पड़े। फिर भी गृहस्थ-धर्म का पालन केवल उसी धन से करता रहे, जो कुछ आकाशवृत्ति से आ जाय। पहली

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ४.१; बृहदारण्यक उपनिषद् में दिशामेक-पुण्डरीकमसि आदि।

२. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। ईशावास्योपनिषद्

३. छान्दोग्य उप० २.११,१२

४. छान्दोग्य उप० २.१९

५. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली ३.४; ४.१–२

६. बृहदारण्यक उप० ६.४.२४–२८

विधि में गृहस्थ-धर्म के पालन में आधिभौतिक दृष्टि से उत्कृष्टता है और दूसरी विधि आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय की उच्चता का परिचायक रही है। पहली विधि प्रायः ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरी जातियों के लिए थी और दूसरी प्रधानतः ब्राह्मणों के लिए थी। दोनों विधियों में गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को अक्षुण्ण रखा गया।

महाभारत में गृहस्थ-जीवन के गौरव की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है— गृहस्थ के पास धन, गौ, भृत्य तथा अतिथि अधिकाधिक संख्या में होने चाहिए। इनके बिना वह कृश है।[1] गृहस्थ सभी प्राणियों के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी है। गृहस्थाश्रम की त्यागमयी प्रवृत्तियों का आकलन करते हुए इसे यज्ञ का पर्याय माना गया और इस यज्ञ की सार्थकता इस प्रकार सिद्ध की गई—

सविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना।। महा० वनपर्व २.५३

(गृहस्थ के धन में सभी प्राणियों का भाग है। उसे उन सबके लिए कुछ न कुछ देना है, जो अपना भोजन स्वयं नहीं पकाते।)

गृहस्थ यदि दरिद्र भी हो तो उसके घर पर सभी प्राणियों के लिए तृण, भूमि, पानी और मधुर वाणी का अभाव तो होना ही नहीं चाहिए। उसे आर्त के लिए शयन, थके व्यक्ति के लिए आसन, प्यासे के लिए पानी और भूखे के लिए भोजन आदि देना ही चाहिए।[2] इनको यथाविधि देने के लिए गृहस्थ के पास पर्याप्त धन होना आवश्यक था।

गृहस्थ-जीवन को महाभारत में कठोर और मुनिजनोचित कहा गया है। इसमें भी इन्द्रियों के भोगों के प्रति विरक्ति होनी चाहिए। कम से कम इन्द्रियों के ऊपर संयम होना ही चाहिए। इन्द्रियों के विषयों के प्रति अनासक्त होना, शठता और कपट से दूर रहना, परिमित आहार करना, अपने व्यवहार में सत्य, मृदु भाषण, दया और क्षमा की प्रतिष्ठा करना आदि गृहस्थ के आवश्यक गुण माने गये। इनके अतिरिक्त देवता और पितरों के लिए यज्ञ और ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए दान का आवश्यक विधान बना।[3]

महाभारतीय धारणा के अनुसार गृहस्थाश्रम के यज्ञ से देवता, शास्त्रों के श्रवण, अभ्यास और धारण से ऋषि तथा सन्तान उत्पन्न करने से प्रजापति प्रसन्न होते हैं। अतिथि के आने पर उसका आतिथ्य न करना अत्यन्त हानिकारक माना गया। लौकिक विश्वास था कि जिस गृहस्थ के द्वार से अतिथि निराश होकर

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ८.२४
२. महा० वनपर्व २.५४-५५
३. महा० शान्तिपर्व ६१.९-१५

लौटता है, वह उस गृहस्थ को अपना सारा पाप दे डालता है और स्वयं उसका पुण्य लेकर चल देता है।[1] अतिथि-यज्ञ के पंचदक्षिण-यज्ञ नामक पाँच अंगों की कल्पना हुई। ये पाँच अंग हैं—अतिथि को देखना, उसके प्रति मन से स्नेह करना, उससे बोलना, उसके पीछे चलना और उसकी उपासना करना।[2]

ब्राह्मण-गृहस्थ को महाभारत के अनुसार स्वल्प संग्रह करना चाहिए। ब्राह्मण के लिए बहुत अधिक धन अनर्थ का कारण होता है। धन से अभिमान और मोह उत्पन्न होते हैं। ब्राह्मण के मोहग्रस्त होने पर धर्म का विनाश हो जाता है और धर्म का नाश होने पर प्राणियों का अस्तित्व ही मिट जाता है।[3] ब्राह्मण के अकिंचन होने पर ही संस्कृति की प्रतिष्ठा की सम्भावना देखकर नियम बना कि सबसे अच्छे वे ब्राह्मण हैं, जो कापोती वृत्ति से रहते हैं।[4] उन्हें नित्य ही वेदों के अध्ययन-अध्यापन में लगे रहना चाहिए। उनसे थोड़े ही नीचे वे लोग माने गये, जो केवल दिन भर के लिए अन्न का संग्रह कर लेते हैं। इनका कर्त्तव्य था कि अध्ययन-अध्यापन के साथ दान देते रहें। यदि कोई ब्राह्मण कहीं मास भर के लिए अन्न संग्रह करता तो वह हीनतर कोटि का गिना जाता था। उसका कर्त्तव्य था कि अध्ययन-अध्यापन और दान के अतिरिक्त यज्ञ-सम्पादन करे। सबसे निकृष्ट वे ब्राह्मण गिने जाते थे, जो वर्ष भर के लिए अन्न संग्रह करते थे। सभी ब्राह्मणों के लिए तपोमय जीवन का विधान बना, जिसके अनुसार ब्राह्मण को दिन में तथा रात्रि के पहले पहर में नहीं सोना चाहिए, प्रातः-सायं भोजन करना चाहिए और बीच में कुछ खाना नहीं चाहिए। चाहे कापोती वृत्ति का ही ब्राह्मण क्यों न हो, उसके लिए आवश्यक था कि अपने द्वार पर आये हुए छोटे-बड़े सबका आतिथ्य करे। इस प्रकार संन्यासी से लेकर चाण्डाल तक उसके आतिथ्य की परिधि में आते थे।[5]

---

१. महा० शा० प० १९१.९-१८

२. चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पंचदक्षिणः॥ महा० अनुशासन पर्व ७-६

३. अनर्थो ब्राह्मणस्यैव यद्वित्तनिचयो महान्।
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेत् संप्रमोहयेत्॥
ब्राह्मणेषु प्रमूढेषु धर्मो विप्रणशेद् ध्रुवम्।
धर्मप्रणाशो भूतानामभावः स्यान्न संशयः॥

महा० अनुशासनपर्व ३१.१९-२०

४. कपोत की भाँति दाने चुन कर जीविका चलाना कापोती वृत्ति है।

५. महाभारत शान्तिपर्व २४३वाँ अध्याय

महाभारत में इस समस्या पर विचार किया गया है कि मानव के व्यक्तित्व के विकास लिए संन्यास लेना आवश्यक है कि नहीं अथवा क्या गृहस्थाश्रम में ही व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास सम्भव है ? तत्कालीन विचारकों का मत है कि व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास के लिए ब्रह्मज्ञान आवश्यक है। ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गृहस्थाश्रम के कर्मकाण्ड और संन्यास-आश्रम की ब्रह्मनिष्ठता समान रूप से उपयोगी हो सकती हैं। महाभारत के अनुसार अनेक राजा और ब्राह्मण गृहस्थाश्रम में रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सके हैं। ब्रह्मज्ञान भी भगवान् का यजन होता है। उपर्युक्त जीवन-विन्यास के द्वारा किसी भी आश्रम में रहता हुआ मानव सनातन ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[1]

गृहस्थ-जीवन की उपर्युक्त प्रवृत्तियों का समर्थन तत्कालीन बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। इन ग्रन्थों में मानवता का जो उच्च आदर्श प्रतिष्ठित किया गया है, उसकी रूप-रेखा इस प्रकार है—मनुष्य को किसी की वस्तु का अपहरण नहीं करना चाहिए और न कभी झूठ बोलना चाहिए। यश पाने पर प्रमाद नहीं करना चाहिए। धार्मिक विधि से धन प्राप्त करना चाहिए—धोखा-धड़ी से नहीं। भोग विलास की सामग्री पाने पर प्रमाद नहीं करना चाहिए। मनुष्य का चित्त स्थिर होना चाहिए। उसकी श्रद्धा दृढ़ होनी चाहिए। वह स्वादिष्ठ वस्तुओं को कभी अकेले न खाय। प्रत्यक्ष या परोक्ष होने पर कभी सज्जनों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। जैसा कहे, वैसा ही करना चाहिए।[2] ऐसी परिस्थिति में गृहस्थ की जीविका का उत्तम कोटि का होना आवश्यक ही है। 'जो धन या यश आत्मपतन या अधर्माचरण से प्राप्त होता है, वह कदापि स्पृहणीय नहीं है।[3] इस युग में प्रत्येक नगर और गाँव में कम से कम कुछ गृहस्थ आतिथ्य करने के लिए विख्यात थे। उनके द्वार पर छोटे-बड़े भिक्षु बिना रोक-टोक पहुँच ही जाते थे। यदि अतिथि कोई महात्मा हुआ तो उसका उच्च कोटि का सत्कार होता था। किसी सेठ ने अपनी कुलरीति का परिचय इन शब्दों में दिया है—हमारे द्वार पर कोई भिक्षुक, श्रमण या ब्राह्मण ऐसा नहीं आया, जो बिना कुछ पाये लौट गया हो। हमारे पिता-पितामह के समय से ही यह नियम चला आता है कि हम लोग अतिथि के लिए आसन, पानी और अन्य वस्तुयें देते हैं। हम उत्तम लोगों की सेवा भली भाँति करते हैं, मानो व अपने सम्बन्धी हों।[4]

भारत की उपर्युक्त आतिथ्य-प्रियता इस देश की सांस्कृतिक प्रगति में

---

१. महाभारत शान्तिपर्व २६८.१३; २६९.२१

२. कक्कारु-जातक ३२६

३. लाभगरह-जातक

४. पीठ-जातक ३३७

अतिशय सहायक सिद्ध हुई है। इसी के द्वारा तत्कालीन सर्वोच्च दार्शनिक और विचारकों का अनायास ही गृहस्थों के सम्पर्क में आना सम्भव होता था। इस प्रकार गृहस्थों को जीवन-दर्शन के उच्च तत्त्वों को उनसे सीखने का स्वर्ण अवसर मिलता था। आतिथ्य का अवलम्बन लेकर ही भारत में असंख्य संस्कृति के उन्नायक रोटी-पानी की झंझट से सर्वथा और सर्वदा मुक्त होकर दिन-रात अपने व्यक्तित्व का विकास करने में लग सके। जहाँ-कहीं उनमें यह योग्यता आई कि वे मानवता को अभ्युदय का पथ दिखा सकें, वे यत्र-तत्र-सर्वत्र लोगों से मिलते-जुलते हुए करते रहे। इस प्रकार उन्होंने उच्च जीवन का दीप भारत के कोने-कोने में इस प्रकार जलाया कि उसका शाश्वत प्रकाश शतियों तक अपनी अप्रतिम प्रभा से जगमगाता रहा है। वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृति के असंख्य-आचार्य और शिष्यों को सतत प्रेमभाव से सहस्रों वर्षों तक इन्हीं गृहस्थों ने भोजन, वस्त्र, शयनासन और आवास दिया। कल्पना कीजिये—गौतम बुद्ध अपने साथ ५०० भिक्षुओं को लेकर गाँव-गाँव और नगर-नगर भ्रमण करते हैं। तत्कालीन भारतवासी, चाहे वह किसी मत का अनुयायी क्यों न रहा हो, उनका यथाशक्ति स्वागत करने के लिए प्रस्तुत है। व्यक्तिगत रूप से अथवा पूरा गाँव या नगर मिलकर इस पूरे जनसमूह को श्रद्धापूर्वक खिलाता-पिलाता है और इनके रहने के लिए विहार बना देता है। इस श्रद्धा के बल पर ही उनको अवसर मिलता है कि वे तत्कालीन सर्वोच्च विचारक और प्रवुद्ध महात्मा के अनुभवों को सुन सकें और उनके प्रवचनों से अपनी बौद्धिक समस्याओं का समाधान करा सकें।[1]

स्मार्त गृहस्थ

सूत्र और स्मृति-साहित्य में गृहस्थ के दैनिक जीवन का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। गृहस्थ के लिए नियम था कि वह रात्रि के पहले और अन्तिम पहर में जागता रहे। इस प्रकार गृहस्थ का दिन-रात्रि के अन्तिम पहर से लेकर एक पहर रात बीत जाने तक का होता था। रात्रि के मध्य के दो पहर—छः घण्टे सोने के लिए नियत थे। शेष छः पहर अर्थात् १८ घण्टों में गृहस्थ कब क्या करे और कैसे करे—यह नियत किया गया।

रात्रि के समय ब्राह्ममुहूर्त में लगभग तीन बजे शय्या छोड़ते समय गृहस्थ पवित्र विचारों से मन को शुद्ध करता था। इसके पश्चात् वह शौच, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पंचमहायज्ञ, अग्निहोत्र, दोपहर के समय भोजन, जीविकोपार्जन, अध्ययन-अध्यापन, सायंकालीन संध्या, दान और सोना—गृहस्थ के लिए नित्य या आह्निक

१. ऐसे प्रकरणों के लिए देखिए महावग्ग और चुल्लवग्ग। सारा बौद्ध साहित्य ऐसे प्रकरणों से ओतप्रोत है। धार्मिक नेताओं और उनके अनुयायियों के प्रति भारत की सदा अनुपम श्रद्धा रही है।

कर्म के रूप में करता था। इन सभी प्रक्रियाओं के लिए विस्तृत नियम समय-समय पर बनाये गये।

दिन में कर्मण्य बने रहने के लिए तथा अपनी शक्तियों का सत्कर्मो में ही उपयोग करने के लिए लोग नित्य ही अपनी बुद्धि को शुद्ध करना आवश्यक समझते थे। यों तो मानव का समग्र ज्ञान उसके लिए साधारण रूप से पथप्रदर्शक होकर कर्तव्य और तत्संबंधी विधि का बोध कराता ही है, फिर भी प्रातःकालीन नित्य चिन्तन से मानव के हृदय में सत्पथ के प्रति अभिनव उत्साह का सवर्धन होना स्वाभाविक है। गृहस्थ के लिए धर्म और अर्थ के विषय में चिन्तन की रीति का यही आधार रहा है। इसके साथ ही वह कहीं सांसारिक आधिभौतिकवाद में अधिक निमग्न न हो जाय, वह शारीरिक क्लेशों का, उनके कारणों का तथा वेदों के दार्शनिक तत्त्व का विचार करता था।[1]

शौच का विधान प्रत्यक्षतः शरीर की शुद्धि के लिए था, पर उसका विशेष महत्त्व मानव की आधिभौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों को स्फुरणशील बना देने में है। भारतीय विचारधारा के अनुसार शौच धार्मिक जीवन का प्रथम सोपान है। यह ज्ञान का आयतन है। इसमें श्री का निवास होता है। इससे मन प्रसन्न होता है। यह देवताओं को प्रिय है। इससे आध्यात्मिक ज्ञान में सहायता मिलती है और शौच का सबसे बढ़कर महत्त्व बुद्धि को प्रखर बना देने में है।[2] शौच सम्बन्धी विधानों के द्वारा नगरों और गाँवों को गन्दगी से बचाया गया और वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल तथा देवमूर्तियों के लिए पवित्र वातावरण का आयोजन किया गया।[3] शौच के पश्चात् मिट्टी और जल से १० बार बायें हाथ की और ७ बार दोनों हाथों की सफाई करने का नियम बनाया गया। इसके साथ ही पाद-प्रक्षालन और तीन बार आचमन करने का विधान था।[4]

दन्तधावन के लिए विविध वृक्षों की टहनियों के विभिन्न गुणों का आकलन किया गया, साथ ही दातून की मोटाई और लम्बाई के सम्बन्ध में नियम बने। दन्तधावन सूर्योदय से पहले ही कर लेने का विधान था। भोजन के पश्चात् भी

---

१. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ मनु० ४.९२

२. शौचं नाम धर्मादिपथो ब्रह्मायतनं श्रियोऽधिवासो मनसः प्रसादनं देवानां प्रियं शरीरे क्षेत्र-दर्शनं बुद्धिप्रबोधनम्। हारीतः गृहस्थ-रत्नाकर पृ० ५२२

३. मनुस्मृति ४.४५-५२

४. मनुस्मृति ५.१३६-१३९

मुख-शुद्धि के लिए दातून करने का प्रचलन था। दातून करते समय मौन रहना आवश्यक था।[1]

दन्तधावन के पश्चात् नित्य स्नान का विधान था। स्नान किये बिना कोई धार्मिक विधि नहीं सम्पादित की जा सकती थी।[2] वास्तव में भारतीय जलवायु में शरीर की शुद्धि और स्फूर्ति के लिए नित्य स्नान करना आवश्यक है। आयुर्वेद की दृष्टि से सायं-प्रातः स्नान होना चाहिए।[3] कुछ धर्मशास्त्रकारों ने भी गृहस्थों के लिए दो बार स्नान करने का नियम प्रस्तुत किया है।[4] स्नान के लिए वह जल सर्वोत्तम माना गया, जिसमें प्रवाह होता था। मनु ने नदी, झील, सरोवर आदि को स्नान करने के लिए उपयुक्त बताया है। गृहस्थ के लिए स्नान की सरल और सुविधापूर्ण विधि नियत थी। पानी में प्रवेश करने के पहले और प्रवेश कर लेने पर स्नायी वैदिक मन्त्रों का पाठ करता था। वह मिट्टी और गोबर का साबुन की भाँति उपयोग कर सकता था। स्नान कर लेने पर भीगे वस्त्रों के साथ जल में ही वह देव, ऋषि और पितरों का तर्पण करता था। नंगे होकर स्नान करना निषिद्ध था। स्नान के पश्चात् शुद्ध वस्त्र धारण करके सन्ध्या की जाती थी। सन्ध्या कर लेने पर प्रातः-सायं हवन किया जाता था। इसके पश्चात् ऋग्वेद के मन्त्रों का पारायण होता था।

उपर्युक्त सभी काम दिन निकलने के दो घड़ी पश्चात् तक समाप्त हो जाते थे। तब से लेकर दोपहर तक जीविकोपार्जन करने लिए श्रम करने का समय होता था।

भारतीय धारणा के अनुसार किसी भी मनुष्य को अपने चार ऋणों से मुक्ति पाना आवश्यक है।[5] इन ऋणों से मुक्त होने के लिए वैदिक काल से पंचमहा-यज्ञों की योजना रही है।

---

१. विष्णु-धर्मसूत्र ६१ तथा चरक-सूत्रस्थान ५.६८

२. कुछ धर्मशास्त्रकारों ने दन्तधावन से तो छुटकारा किसी-किसी दिन के लिए दे दिया है, पर स्नान से नहीं। पद्मपुराण उत्तरखण्ड २३३.२ के अनुसार रविवार को दातून न करके केवल १२ कुल्ले से मुख-शुद्धि होनी चाहिए। महाभारत के अनुशासनपर्व १२७.४ में अमावस्या के दिन दातून न करने का विधान है।

३. चरक-सूत्रस्थान ८.१८

४. याज्ञवल्क्य १.९५, १००

५. ये ऋण हैं देव, ऋषि, पितृ और मानव या समाज के। इनमें से मानव ऋण की चर्चा महाभारत आदिपर्व १११.१४ में मिलती है। कादम्बरी में बाण ने—देव-पितृ-मनुष्याणामानृण्यमेवनोपगतः में इसी चौथे ऋण की चर्चा की है। शेष तीन ऋण प्रसिद्ध हैं।

आतिथ्य की सामाजिक उपयोगिता प्रत्यक्ष है। धार्मिक दृष्टि से आतिथ्य का अतिशय महत्त्व बतलाया गया है। आतिथ्य के माध्यम से स्वर्ग की प्राप्ति, मानसिक शान्ति और पापों से निवृत्ति की सम्भावना मानी जाती थी।[1] अतिथि-रूप में आये हुए योगी का सत्कार करने से मानव के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। यति साक्षात् विष्णु है।[2] अतिथियों को विभिन्न प्रकार के भोजन देने से विविध प्रकार के वैदिक यज्ञों के सम्पादन का पुण्य बतलाया गया. यथा दूधमिश्रित भोजन से वही फल मिलता है, जो अग्निष्टोम यज्ञ से।[3]

अतिथियों में श्रोत्रिय, आचार्य, ऋत्विक, राजा और स्नातक के लिए सूत्र और स्मृति-युग में मधुपर्क समर्पण करने की रीति थी, जब वे कम से कम एक वर्ष के अन्तर से अतिथि बन कर किसी गृहस्थ के यहाँ पहुँचते थे।

गृहस्थ अपने आश्रित जनों और अतिथियों के भोजन कर लेने पर स्वयं खाता था। यदि कहीं भोजन की कमी पड़ जाती थी तो स्वयं गृहपति, उसकी पत्नी और बालक भूखे रह सकते थे, पर दास को अवश्य भोजन देने का नियम था।[4]

भोजन

गृहस्थ भूलकर भी ऐसी वस्तुयें नहीं खा-पी सकता था, जो पहले से ही अतिथि आदि को न दी गई हों। भोजन के लिए शास्त्रीय विधि इस प्रकार थी—गृहस्थ को जल से हाथ-मुँह और पैर धोकर लिपे-पुते, पवित्र और रमणीय स्थान पर भोजन करने के लिए आसन पर बैठाना चाहिए। भोजन करते समय सर्वतः शान्ति के लिए स्थिर आसन, एकान्त स्थान और मौन-व्रत अपनाना चाहिए। असमय-भोजन नहीं करना चाहिए। पहला भोजन दिन में दोपहर के समय और दूसरा एक पहर रात जाते-जाते कर लेना चाहिए। इन दोनों भोजनों के बीच फल-मूल आदि खाये जा सकते थे।[5] भोजन के लिए जिन पात्रों का उपयोग होता था, वे धातुओं या पत्तों के बने होते थे। स्वर्ण की थाली से लेकर कमल के पत्ते तक भोजन के लिए काम में लाये जाते थे। इनके अतिरिक्त लकड़ी और मिट्टी के बरतन खाने के लिए उपयोग में लाये जाते थे। स्वच्छता के लिए विविध प्रकार के विधान बनाये गये थे। भोजन के पहले और पीछे दो बार आचमन किया जाता था।[6] भोजन करते समय उत्तराच्छा-

१. आप० ध० सू० २.३.६.६ तथा २.३.७.५; विष्णु-धर्मसूत्र ६७.३३

२. दक्ष० ७.४२-४४; वृद्धहारीत ८.८६

३. आप० ध० सू० २.३.७.४ पितृयज्ञ और देवयज्ञ से इस कोटि की सत्ताओं के सम्पर्क में उच्चतर कर्म करने की प्रेरणा मिलती थी। यथा 'यद्देवा अकुर्वन, तत् करवाणि' शतपथ ब्रा० ६.३.२६

४. आपस्तम्ब ध० सू० २.५.६.११ ५. आप० ध० सूत्र २.८.१६.१०

६. आप० ध० सू० १.५.१६.६

दन से शरीर का ऊपरी भाग ढका होता था, पर सिर पर कोई कपड़ा या पगड़ी नहीं रखी जाती थी।[1]

भोजन की सर्वोच्च उपयोगिता के लिए उसके प्रति प्रशंसनीय भावना रखना आवश्यक माना गया। नियम था कि ज्यों ही भोजन परोसा जाय, खाने वाला तत्काल उसका अभिनन्दन करे। भोजन को देखते ही चित्त को उल्लसित हो जाना चाहिए। भोजन करते समय उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। आदर के साथ खाये हुए भोजन से बल और तेजस्विता का संवर्धन होता है और अनादर से खाया हुआ भोजन इनका विनाश करता है।[2]

भोजन करते समय मुँह चलाने की ध्वनि नहीं सुनाई पड़नी चाहिए। मुँह में ग्रास डालते समय अँगुलियों का स्वल्प भाग मुँह में जाना चाहिए। भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में नियम बने हुए थे। तत्कालीन धारणा के अनुसार भोजन की मात्रा न जानने वाले संकट में पड़ते हैं। भोजन सोच-विचार कर करना चाहिए। केवल रसास्वादन के लिए भोजन नहीं होना चाहिए, अपितु शरीर को चलाने, भूख मिटाने और श्रेष्ठ जीवन बिताने के लिए भोजन होना चाहिए। पेट में जब चार-पाँच ग्रास खाने के हेतु स्थान रिक्त रहे, तभी पानी पी लेना चाहिए और भोजन समाप्त कर देना चाहिए।[3] उपर्युक्त नियम का स्पष्टीकरण भोजन की मात्रा को नाप-जोख कर सन्तुलित करके पूरा हुआ। नियम बना कि गृहस्थ को ३२ ग्रास खाना चाहिए, पर इतनी मात्रा में तो भोजन होना ही चाहिए कि काम करने की पूरी शक्ति बनी रहे।[4]

शयन

शयन-सम्बन्धी नियम बने हुए थे। सोते समय सिर उत्तर या पश्चिम दिशा में नहीं होना चाहिए। सिर को शरीर के शेष भाग से अधिक ऊँचाई पर रखना

१. आप० ध० सू० २.८.१९.१२

२. गौतम० ९.५९; वसिष्ठ-धर्मसूत्र ३.६९; मनु० २.५४-५५। तैत्तिरीय ब्राह्मण २.१.११ के अनुसार, प्रातःकालीन भोजन के लिए कहना चाहिए—तुम सत्य हो, तुम्हारा परिषेक ऋत से करता हूँ। सायंकालीन भोजन के सम्बन्ध में कहना चाहिए—तुम ऋत हो। सत्य से तुम्हारा परिषेक करता हूँ। आप० ध० सू० २.२.३ ११ के अनुसार भोजन पक जाने का समाचार सुनते ही कहना चाहिए—भलीभाँति पका भोजन तेजस्विता प्रदान करता है।

३. आपस्तम्ब ध० सू० २.८.१९.५–६ वसिष्ठ० १२.१९-२०; सक जातक २५५

४. आप० ध० सू० २.४.९.१३; २.५.९.१२; वसिष्ठ ध० सू० ६.२०–२१

चाहिए। नंगे होकर सोना अथवा टूटी-फूटी चारपाई पर या पलाश की बनी शय्या पर सोना निषिद्ध था। श्मशान, निर्जन घर, मन्दिर, गोशाला, पर्वत-शिखर या अशुद्ध प्रदेश सोने के लिए समुचित स्थान नहीं माने जाते थे। दुष्ट पुरुषों या स्त्रियों से घिर कर सोना भी अनुचित माना जाता था। दिन में या गोधूलि-वेला में सोना निषिद्ध था। अपने गुरुओं की शय्या पर सोना वर्जित था।[1] सोने के पहले रात्रि-सूक्त के जप का विधान था। इसके साथ ही विष्णु-नमस्कार तथा अगस्त्य, माधव, महाबली, मुचकुन्द, कपिल तथा आस्तीक मुनि की स्तुति की जाती थी। सिरहाने मांगलिक वस्तुओं से भरा जलपूर्ण कलश रखा जाता था तथा वरुण देवता-सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों से अपनी रक्षा की जाती थी।[2]

धार्मिक ग्रन्थों में गृहस्थों की रहन-सहन के सम्बन्ध में कुछ सामयिक नियम भी मिलते हैं, यथा वैशाख मास में तेल लगाना, दिन में सोना, काँसे के बर्तन मे भोजन करना, खाट पर सोना, घर में स्नान करना, रात्रि में भोजन करना आदि निषिद्ध हैं।[3]

गृहस्थ का अपने विद्यार्थी-जीवन के आचार्य से सम्बन्ध बना रहता था। यदि आचार्य अपने ही गाँव का हुआ तो जीवन भर गृहस्थ प्रायः नित्य ही उसका दर्शनमात्र करने के लिए उसके द्वार पर जा पहुँचता था। आचार्य के समक्ष वह सदैव ऐसा व्यवहार करता था, मानो अभी विद्यार्थी हो। वह नित्य कुछ स्वाध्याय करता रहता था। यदि पहले के पाठों में कुछ कम समझ में आया होता तो वह आचार्य से पढ़ लेता था। प्रतिवर्ष अध्ययन-सत्र के आरम्भ होने के समय वह उपाकर्म विधि से अध्ययन का समारम्भ करता था।[4]

गृहस्थ के जिस व्यक्तित्व का निदर्शन ऊपर किया गया है, वह भारत में सदा आदर्श-रूप में प्रतिष्ठित रहा। मनु ने उपर्युक्त आदर्श को लेकर गृहस्थाश्रम-जीवन की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की, उसके अनुसार गृहस्थ ब्राह्मण चार प्रकार के थे––ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ, स्वाध्यायनिष्ठ तथा कर्मनिष्ठ। मनु की दृष्टि से इनमें

१. विष्णु-धर्मसूत्र ७०। पौराणिक योजना के अनुसार घर पर सिर को पूर्व की ओर, विदेश में पश्चिम की ओर और ससुराल में दक्षिण की ओर रख कर सोना चाहिए। पद्मपुराण उत्तर खण्ड २३३.७५

२. पद्मपुराण उत्तरखण्ड २३३.७६–८५

३. स्कन्दपुराण वैष्णवखण्ड वैशाख-मास-माहात्म्य ४.१–२

४. आपस्तम्ब ध० सू० २.२.५

से ज्ञाननिष्ठ सर्वश्रेष्ठ थे ।[1] तपोनिष्ठ गृहस्थ ब्राह्मण सपरिवार तपस्या करते थे । ऐसे तपोनिष्ठ ब्राह्मणों की कथायें पुराणेतिहासों में प्रायः मिलती हैं ।[2]

मनु ने कुछ ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया है, जो ब्राह्मणोचित कर्मों से विरत हो चुके थे । ऐसे ब्राह्मण यज्ञ कराने वाले, वैद्य, व्यापारी, पशुपाल, कुशीलव, धन लेकर शिक्षा देने वाले, युद्ध-विद्या के आचार्य, खेती से जीविका चलाने वाले आदि थे । मनु ने इन सबको परित्याज्य बताया है ।[3] ऐसी स्थिति में ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए क्या करे ? प्राचीन काल में इस प्रश्न का उत्तर सरल था । विद्वान् ब्राह्मणों के लिए जीविका की कोई झंझट नहीं थी । समाज से उनको पर्याप्त दान एवं भोजन के लिए निमन्त्रण आदि मिलते थे । फिर भी यदि काम न चला तो खेत कट जाने पर और बाजार उठ जाने पर अन्न के दाने चुनने का काम ब्राह्मण अपना सकता था ।

मनु ने पंक्ति-पावन ब्राह्मणों की कल्पना प्रस्तुत की है ।[4] सभी वेदों और तत्सम्बन्धी प्रवचन में अग्रगण्य और वेदज्ञों के कुल में उत्पन्न ब्राह्मण पंक्ति-पावन कहे जाते थे । इस कोटि में वेद का अर्थ जानने वाले, वेद को पढ़ाने वाले और सहस्र गायों को दान देने वाले ब्राह्मण भी आते हैं ।[5] मनु के अनुसार श्रेष्ठ ब्राह्मण वे हैं, जो क्रोध नहीं करते, सदा प्रसन्न रहते हैं और लोक के आप्यायन में तत्पर हैं ।[6] ब्राह्मण की कामना हो सकती थी—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति ।। मनु० ३.२५९

---

१. मनुस्मृति ३.१३४–१३५

२. उदाहरण के लिए देखिए आश्वमेधिक पर्व ९०.२४ से आगे । कुरुक्षेत्र का एक ब्राह्मण स्त्री, पुत्र, पुत्र-वधू आदि के साथ उञ्छ-वृत्ति से अपनी जीविका उपार्जित करता था । पूरा परिवार तपस्वी था । छठी वेला आने पर सपरिवार भोजन करता था । एक बार कई दिनों के पश्चात् उसे सत्तू का भोजन मिला । वह ज्यों ही सपरिवार खाने बैठा कि एक अतिथि आ पहुँचा, जिसकी भूख सारा सत्तू खाने पर ही मिटी । अन्त में पूरे परिवार को उस दिन उपवास करना पड़ा । इस ब्राह्मण को ब्रह्मपद की प्राप्ति हुई । गृहस्थाश्रम में रहते हुए उपर्युक्त विधि से तप की सुविधा प्रदान करके मनु ने वानप्रस्थ और संन्यास की सर्वोच्च उपयोगिता के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया ।

३. मनुस्मृति ४.२–१६

४. जिन लोगों के साथ बैठने से दूषित जन-समूह पवित्र होता है, वे पंक्ति-पावन हैं ।

५. मनुस्मृति ३.१८६ ६. मनु० ३.२११

(हमारे कुटुम्ब के दाताओं का अभ्युदय हो। वेद और सन्तान की अभिवृद्धि हो। हमारी श्रद्धा कम न हो। हमारे पास दान देने के लिए बहुत कुछ हो।)

ऐसा प्रतीत होता है कि मनु के युग में ब्राह्मण-गृहस्थ के समक्ष कम से कम दो आदर्श थे—प्रथम प्राचीन ऋषियों की वैभव-सम्पन्नता तथा द्वितीय गृहस्थ होते हुए भी तप और त्याग। द्वितीय आदर्श तप और त्याग को बौद्ध और जैन आचार्यों ने केवल प्रव्राजकों के लिए नियत किया था। मनु ने सिद्ध किया कि प्रव्रज्या लेकर आत्म-विकास करना सम्भव है, परन्तु विना प्रव्रज्या लिये हुए घर पर या कुटुम्ब में रहते हुए सर्वोच्च आत्मविकास हो सकता है। प्रव्रज्या में वस्तुओं का त्याग होता है। वह कुटुम्ब में रहकर सम्भव है। ऐसी स्थिति में युवावस्था में गृहस्थाश्रम का परित्याग मनु की दृष्टि में बहुत समीचीन नहीं रहा। मनु ने स्पष्ट कहा—गृहस्थाश्रम में यज्ञ का सम्पादन करके और पुत्र उत्पन्न करके संन्यास ले। यदि कोई ऐसा नहीं करता तो वह नीचे गिरता है।[१] युवावस्था में गृहस्थाश्रम में रहकर ऋत और अमृत आदि वृत्तियों से जीविका चलाने वाला अश्वस्तनिक व्यक्ति तपस्वी ही है।[२] मनु की इस योजना में बौद्ध और जैन संस्कृतियों का युवावस्था का तपोमय जीवन समन्वित है और साथ ही वैदिक संस्कृति के गृहस्थाश्रम की अवश्यंभाविता अक्षुण्ण रह जाती है। बौद्ध, और जैन संस्कृतियों के अनुयायी युवक भिक्षा-ग्रहण करते हुए दृष्टिगोचर हो सकते थे। मनु ने नौजवानों का भीख माँगना और वह भी अपनी भूख मिटाने के लिए कभी भी उपयुक्त वृति नहीं मानी। उन्होंने भिक्षा को मृतवृत्ति माना।[३] ऐसी स्थिति में मनु का मध्यम मार्ग था—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥ मनुस्मृति ४.३

---

१. मनु० ६.३६-३७

२. ऋत-वृत्ति खेतों में छूटे हुए दानों को चुनकर होती थी। अमृत-वृत्ति अयाचित धन से होती थी। अश्वस्तनिक उनकी उपाधि थी, जो केवल उतनी ही वृत्ति एकत्र करते थे, जिसमें से कुछ भी अगले दिन के लिए शेष नहीं रह जाता था। मनु० ४.३-८; भागवत ७.११.१६

३. मनुस्मृति ४.५। यह नियम गृहस्थों के लिए था। वानप्रस्थ के मुनि में भी यदि काम करने की शक्ति हो तो उसके लिए भीख माँगना मनु ने अनुचित बतलाया है। मनु की दृष्टि में अत्यन्त वृद्धावस्था में केवल संन्यासी भीख माँगने के अधिकारी थे। मनु के पूर्ववर्ती और परवर्ती शास्त्रकारों का भी प्रायः यही मत रहा है।

(जीवन-यात्रा-मात्र चलाते रहने के लिए अपने योग्य अनिन्दित कर्मों के द्वारा शरीर को बिना कोई कष्ट दिये हुए धन का संचय करना ही चाहिए।)

मनु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने वाला गृहस्थ-ब्राह्मण घर में रहते हुए भी आधिभौतिक दृष्टि से बहुत सुखी जीवन नहीं बिता सकता था। जिस प्रकार संसार के अन्य लोग झूठ-सच बोलते हुए टेढ़े-मेढ़े उपायों से धन कमाते हैं, वैसे तो वह धन-अर्जन कर ही नहीं सकता था। वह शिलोञ्छ-वृत्ति से जीवन-यापन करता हुआ यदि सुखी हो सकता था तो इसके लिए एकमात्र कारण उसकी संयम और सन्तोष की वृत्ति थी। मनु के अनुसार सुख सन्तोष में है। असंतोष अधिकाधिक धन एकत्र करने की प्रवृत्ति है। वह दुःख को ही उत्पन्न करता है। यदि सन्तोष-वृत्ति से ब्राह्मण की जीविका नहीं चल पाती तो विशेष स्थितियों में वह राजा, यजमान और अपने छात्रों के समक्ष धन की इच्छा प्रकट करता था।[1] ब्राह्मण-गृहस्थ का जीवन गौरवास्पद था। उसकी वेष-भूषा, वाणी और बुद्धि उसकी अवस्था, कर्म, अर्थ, श्रुत और कुल के अनुरूप होती थी।[2]

मनु ने ब्राह्मण-गृहस्थ के जीवन की जैसी रूप-रेखा दी है, उसके अनुसार ब्राह्मण को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूरा अवसर मिलता था। मनु ने आदेश दिया है कि बुद्धि का संवर्धन करने के लिए ब्राह्मण वेद और शास्त्रों का नित्य अध्ययन करे। अध्ययन करने से मानव का ज्ञान प्राञ्जल होता है।[3] वास्तव में उस युग का गृहस्थ-ब्राह्मण अपने स्वाध्याय और अध्यापन के लिए प्रसिद्ध था।[4]

पौराणिक गृहस्थ

गृहस्थ-जीवन की रूप-रेखा पौराणिक काल में पौराणिक संस्कृति के अनुकूल बनी। पौराणिक संस्कृति में मूर्ति-पूजा, उपवास, तीर्थ-यात्रा, पूर्त-निर्माण, मन्त्र-जप, भगवान् के स्वरूप का ध्यान, नाम संकीर्तन, श्रवण, वन्दन, चरण-सेवन, प्रसाद-ग्रहण, भक्तों की सेवा आदि के द्वारा केवल स्वर्ग ही नहीं मोक्ष भी सुलभ माना गया।[5]

---

१. मनुस्मृति ४.३४

२. मनुस्मृति ४.१०-१८। गृहस्थ के गौरव के विशेष परिचय के लिए देखिये मनुस्मृति ४.३३-८२,१३०-१६०

३. मनु० ४.१९-२० अध्ययन की विस्तृत रूप-रेखा के लिए देखिये मनु० ४.९५-१०२

४. मनु० ४.१७ पद्मपुराण उत्तरखण्ड २३३.८० के अनुसार गृहस्थ को रात्रि का पहला और अन्तिम पहर वेदाभ्यास में व्यतीत करना चाहिए।

५. उदाहरण के लिए देखिये पद्मपुराण सृष्टिखण्ड; भागवत ७.१४.२७-३३

महापुरुषों के आख्यानों के पठन-पाठन का मोक्ष पाने की दिशा में अप्रतिम महत्त्व बतलाया गया है ।[1] विष्णु का एक नाम सभी वेदों से बढ़कर माना गया ।[2] इस प्रकार की धारणाओं से गृहस्थाश्रम-जीवन की एक अभिनव दिशा की ओर समाज की प्रवृत्ति की कल्पना की जा सकती है ।

मनु के द्वारा निर्दिष्ट गृहस्थ-जीवन की विविधता आर्थिक दृष्टि से प्रायः सदा बनी रही । पुराणों में एक ओर तो गृहस्थ के लिए धन की अनुपम महिमा बताई गई और दूसरी ओर धनहीनता को गृहस्थ की उन्नति का प्रथम सोपान कहा गया ।[3] धन नित्य दुःख देता है । यह एक ओर तो दुर्लभ है, पर है आत्मा की मृत्यु । विद्वान् भी धन से मोहित हो जाता है ।[4] भागवत में धन से यथाशीघ्र छुटकारा पाने की उपयोगिता का निदर्शन इस प्रकार मिलता है--मनुष्य जब निर्धन हो जाता है तो उसके सम्बन्धी उसे छोड़ देते हैं । वारंवार प्रयत्न करने पर भी किसी व्यक्ति को ईश्वर यदि धनी नहीं बनने देता है तो यह उसका अनुग्रह है। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति धन कमाने की इच्छा छोड़ देता है और भगवद्-भक्तों की शरण में जा पहुँचता है । कुछ देवता प्रसन्न होकर यदि अपने भक्त को धनी बना देते हैं तो वह प्रमत्त होकर उन्हीं देवताओं को भूल जाता है।[5] दरिद्रता का उपयोग गृहस्थ के लिए भागवत के अनुसार इस प्रकार है--श्रीमद के साथ स्त्री, द्यूत, आसव आदि होते ह । जो दुष्ट श्रीमद से अन्धे हैं, उनके लिए दरिद्रता अंजन है । दरिद्र औरों को भी अपने समान देख सकता है । वह किसी को कष्ट नहीं देना चाहता । जो दुःख वह भोगता है, वह तप है ।[6]

भागवत का उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रायः अभिनव है । इसके अनुसार यदि गृहस्थ धनी भी हो जाय तो उसे अत्यन्त सरल जीवन बिताना चाहिए । अपने धन का आडम्बर कभी भी प्रदर्शनीय नहीं है ।[7]

---

१. भागवत ४.१२.४४-५२ तथा ८.४.१७-२५

२. विष्णोरेकैकनामैव सर्ववेदाधिकं मतम् । पद्मपुराण उत्तर खण्ड २८१.२७

३. उदाहरण के लिए देखिये विष्णुपुराण ३.११.२३ के अनुसार मनुष्य को धनार्जन के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि धन के द्वारा ही सोम, हवि और पाक यज्ञों की प्रतिष्ठा होती है । दूसरी ओर भागवत ८.२२.२४ तथा १०.८८.८ के अनुसार दरिद्रता भगवान् की प्रसन्नता का परिचायक है। 'तं भ्रंशयामि संपद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ।'

४. भागवत ११.३.१६; ८.२२.१७

५. भागवत १०.८८.८-११ ६. भागवत १०.१०.८-१६

७. भागवत ७.१५.३; ११.१७.५१

भागवत में गृहस्थ-जीवन को बहुत उच्च नहीं माना गया। इसके अनुसार विद्यार्थी-जीवन की अवधि पूरी होने पर ब्रह्मचारी चाहे तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे या सीधे वानप्रस्थ या संन्यास ले ले। इस प्रकार गृहस्थाश्रम को अनिवार्य नहीं माना गया।[1] भागवत की दृष्टि में गृहस्थ साधारणतः व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने में असमर्थ होता है। फिर भी इस ग्रन्थ में गृहस्थाश्रम को अभ्युदय के मार्ग में सर्वथा बाधक नहीं माना गया है, अपितु गृहस्थ के लिए निष्काम कर्मयोग की उपयोगिता बतलाई गई है। इसके अनुसार 'कुटुम्ब में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए और न प्रमाद करना चाहिए। जिस प्रकार यात्रा में पथिक मिल जाते हैं, वैसे ही पुत्र, स्त्री और बन्धु-बान्धवों के संगम को भी समझना चाहिए। घर में अतिथि की भाँति रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम के बन्धन निर्मम और निरभिमान व्यक्ति को बाँध नहीं सकते। गृहस्थाश्रम के कर्तव्य को पूरा करता हुआ गृहस्थ भक्त बन कर चाहे घर पर रहे या वानप्रस्थ ले या संन्यासी बन जाय—कोई अन्तर नहीं पड़ता। कुटुम्ब में रहते हुए यदि कोई व्यक्ति आसक्ति रख कर विषय-भोगों में पड़ा रहता है तो वह तमोमय नरक में जा गिरता है।'[2]

भागवत में गृहस्थ की दिनचर्या का निरूपण किया गया है। मनुष्य घर पर रहते हुए भी गृहोचित कर्मों का सम्पादन करे और उन्हें वासुदेव को समर्पित कर दे। वह महामुनियों की सेवा करता रहे। उसे सदैव भगवान् की अवतार-सम्बन्धी कथायें सुननी चाहिए। भगवान् में श्रद्धा रखनी चाहिए। ऐसे लोगों के साथ रहना चाहिए, जो स्वयं उपशान्त हों। जिस प्रकार स्वप्न से उठा हुआ मनुष्य स्वप्न की वस्तुओं के प्रति कोई आसक्ति नहीं रखता, वैसे ही सत्संगति के प्रभाव से धीरे-धीरे अपने में और कुटुम्ब के लोगों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। अपने शरीर की उपासना नाममात्र के लिए करनी चाहिए। वह विरक्त होते हुए भी रागी पुरुष की भाँति ही अपने कर्तव्यों का पालन करे। जाति के लोग, माता-पिता, पुत्र, भाई-बन्धु और अन्य मित्र लोग जैसा कहें या चाहें उसका अनुमोदन निर्मम होकर कर देना चाहिए।[3]

भागवत में गृहस्थ के लिए सन्तोष-वृत्ति का समर्थन करते हुए कहा गया है कि यदि धन प्राप्त ही हो जाय तो भी उसका संग्रह नहीं करना चाहिए, अपितु यथाशीघ्र उसे संसार के सभी प्राणियों के हित के लिए लगा देना चाहिए। मनुष्य का अधिकार तो केवल उतने ही धन पर है, जितने से उसका पेट भर जाय। इससे अधिक धन को जो अपना मानता है, वह चोर है और दण्डनीय है। मानवेतर पशु-पक्षी को भी अपने पुत्र के समान ही समझे। गृहस्थ को धर्म, अर्थ और काम के लिए बहुत कष्ट

---

१. भागवत ११.१७.३८ २. भागवत ११.१७.५२-५८

३. भागवत ७.१४.१-६

नहीं उठाना चाहिए। अपने धन को मानव से लेकर कुत्ते, चाण्डाल पर्यन्त सभी जीवों के लिए बाँट कर भोगना चाहिए।[1]

गृहस्थ के धन-संग्रह के सम्बन्ध में पद्मपुराण का मत समीचीन प्रतीत होता है। इसके अनुसार गृहस्थ को अपनी जीविका-वृत्ति कम करने की इच्छा रखनी चाहिए। उसे धन बढ़ाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन तथा यज्ञों के सम्पादन से ब्राह्मण को वह उच्च गति नहीं मिलती, जो सन्तोष के द्वारा प्राप्त हो सकती है। ब्राह्मण को दान लेने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जो सन्तोषी नहीं है, वह स्वर्ग पाने का अधिकारी नही है। गृहस्थ अपने गुरुजनों और भृत्यों के उद्धार की इच्छा से अथवा देवताओं और अतिथियों का तर्पण करने के लिए दान ले सकता है, किन्तु दान को अपनी तृप्ति का साधन नहीं बनाना चाहिए।[2] साधारण नियम यही था कि वह दान न ले, क्योंकि दान लेने से ब्राह्मण का तप, तेज और यश तीनों नष्ट हो जाते है। यदि शिलोञ्छ-वृत्ति से काम न चले तो यज्ञ और अध्यापन के माध्यम से धन-अर्जन किया जा सकता है।[3]

गृहस्थ के रहने योग्य स्थान का विवेचन मनु ने किया है। इसके अनुसार गृहस्थ को वहीं रहना चाहिए, जहाँ उसे अभ्युदयात्मक जीवन बिताने की सुविधायें हों और किसी प्रकार की बाधायें न आती हों।[4] पुराणों में इस विषय का कुछ विस्तृत विवेचन मिलता है। इसके अनुसार 'जहाँ ऋण देने वाले, वैद्य, श्रोत्रिय, ब्राह्मण और जलपूर्ण नदी न हों, वहाँ नहीं रहना चाहिए। विद्वान् उसी देश में रहे, जहाँ राजा शत्रु-विजयी, बलवान् और धर्मपरायण हो। जिस प्रदेश का राजा पराक्रमी हो, पुरवासी संयमी एवं न्यायशील हो, प्रजा ईर्ष्या न करती हो, वहाँ का निवास भविष्य में सुखदायक होता है। जिस प्रदेश में निरलस किसान हों, वे सब प्रकार के अन्न उत्पन्न करते हों, वहाँ बुद्धिमान् मनुष्य को रहना चाहिए। जहाँ विजय के इच्छुक, पहले के शत्रु तथा सदा उत्सव मनाने में लीन रहने वाले लोग हों, वहाँ निवास नहीं करना चाहिए।'[5] मानव-व्यक्तित्व के विकास में मानसिक शान्ति और समृद्धि की आवश्यकता

---

१. भागवत ७.१४.७-११

२. पद्मपुराण स्वर्ग-खण्ड ५७.७०-८०

३. भागवत ११.१७.४१

४. मनुस्मृति २.२४ के अनुसार ब्रह्मावर्त, मध्यदेश एवं आर्यावर्त देशों में द्विजातियों को रहना चाहिए। जिस देश में कृष्णसार मृग नहीं विचरण करते, वह म्लेच्छों का देश है। कृष्णसार मृग वाले प्रदेश यज्ञिय हैं। छान्दोग्य उप० ८.१५.१ के अनुसार स्नातक को गृहस्थाश्रम के लिए किसी पवित्र प्रदेश को चुनना चाहिए। कुछ स्नातक-गृहस्थ गाँव के बाहर घर बना लेते थे। आपस्तम्ब ध० सू० २.९.२२.८

५. मार्कण्डेय-पुराण ३४वाँ अध्याय

पड़ती है। इस दृष्टि से अपने रहने के स्थान का संचयन सदा ही अतिशय महत्त्वपूर्ण रहा है।

भारतीय काव्य में गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा प्रायः उपर्युक्त विधि से ही मिलती है। कालिदास के अनुसार गृहस्थाश्रम में वह शक्ति है, जिससे सबका उपकार किया जा सकता है।[१] राजा रघु गृहस्थ-धर्म का पालन करता हुआ स्नातक कौत्स का आतिथ्य करने के लिए अपने सिंहासन से उठकर आगे बढ़ता है और विधि-पूर्वक उसकी पूजा अर्घ्य से करता है। राजा स्नातक से कहता है--आपके स्वागतमात्र से ही मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ। मेरा मन आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए उत्सुक है। रघु सब कुछ विश्वजित् यज्ञ में दान दे चुका है, फिर भी स्नातक की आवश्यकता पूरी करने के लिए सन्नद्ध है।[२] रघुवंश के राजाओं का परिचय देते हुए कालिदास ने कहा है—वे विधिपूर्वक हवन करते थे। याचकों की इच्छायें पूरी करते थे। अपराधियों को यथोचित दण्ड देते थे। समय पर जागते थे। वे त्यागी, सत्यवादी, मितभाषी, यशस्वी और विजिगीषु थे।[३] तत्कालीन आतिथ्य का वर्णन कालिदास ने कुमारसम्भव में किया है। हिमालय ने सप्तर्षियों का आतिथ्य किया। वह अर्घ्य लेकर दूर से ही उनकी ओर दौड़ गया। उसने विधिपूर्वक ऋषियों का सत्कार किया, अन्तःपुर में ले आया और बेत के आसन पर बिठाकर स्वयं बैठा। उसने महर्षियों की प्रशंसात्मक स्तुतियाँ की और कहा कि आप लोगों के दर्शन से मैं कृतकृत्य हुआ। आज्ञा दीजिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ।[४]

विद्वान् गृहस्थों के उत्तरदायित्व का निरूपण करते हुए बाण ने बताया है कि उनको देव, पितर और मनुष्य के ऋण से मुक्त होना रहता है, पुत्र-पौत्र की परम्परा में अपने वंश की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है, अनन्त दक्षिणायें देकर महायज्ञ करने पड़ते हैं। उनके सत्र, कूप, प्रपा, प्रासाद, तड़ाग और आराम आदि कीर्तनों के द्वारा पृथ्वी अलङ्कृत होती है। उनका अमर यश आकल्प दिशाओं में फैल जाता है। वे गुरुओं का अनुवर्तन करके उन्हें सुख पहुँचाते हैं और स्नेही बन्धु-बान्धवों का उपकार करते हैं। वे प्रणयी जनों को समग्र विभव दे देते हैं एवं साधुओं का संवर्धन करते हैं। वे अपने अनुजीवियों के लिए समान रूप से बाँट कर भोग करते हैं। वे अभ्यागतों की तृष्णा मिटा देते हैं और धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि करते हैं।[५] राजा की दिन-चर्या का उल्लेख करते हुए बाण ने लिखा है--वह दोपहर तक सभा में बैठ कर

१. सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते। रघुवंश ५.१०
२. रघुवंश ५वाँ सर्ग
३. रघुवंश सर्ग १.६-७
४. कुमारसम्भव ६ ५०-६३
५. कादम्बरी पृ० २६६, २८०

राजकार्य करता था। इसके पश्चात् वह व्यायाम, स्नान, तर्पण, सूर्योपस्थान, शिवपूजन, हवन, विलेपन, भोजन आदि करता था।[1]

बौद्धगृहस्थ

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में गृहस्थ का जीवन प्रायः उपर्युक्त विधानों के अनुरूप था। जैन और बौद्ध संन्यासी जीविका के लिए गृहस्थों के ऊपर आश्रित थे और इस प्रकार उनके निकट सम्पर्क में आने पर गृहस्थों के व्यक्तित्व का अध्यात्मिक दिशा में विकास हुआ। विहार में किसी कार्य से जाने वाले नागरिकों को उचित शिक्षा मिलती थी।[2] भोजन देने वाले गृहस्थ के ज्ञान का संवर्धन करने के लिए प्रवचन दिये जाते थे।[3] गृहस्थ भी बौद्धाचार्यों के साथ रह कर उनके जीवन और आचार से शिक्षा ग्रहण कर सकते थे।[4]

बौद्ध संस्कृति में गृहस्थ भी बुद्ध, उनके धर्म और संघ की शरण लेते थे। उन्हें चार आर्य सत्यों का आभास मिलता था। गौतम का भाषण सुनकर गृहस्थ कहने लगता था--जो औंधा हो गया था, उसे आपने ठीक प्रस्तुत कर दिया। जो गुप्त था, उसे आपने प्रकट कर दिया। जो पथ-भ्रष्ट था, उसे आपने मार्ग पर ला दिया। आपने अँधेरे में प्रकाश ला दिया। आपने स्पष्ट विधि से जीवन-दर्शन को समझा दिया।[5]

स्वयं गौतम गृहस्थों का सम्मान करते थे।[6] बौद्ध भिक्षु गृहस्थों के उपकार से कृतज्ञ होते थे। फिर भी साधारणतः बौद्धाचार्यों का मत है कि यथाशीघ्र गृहस्थाश्रम को छोड़ देने में ही कल्याण है। जो नहीं छोड़ सकते, वे भले ही गृहस्थ-उपासक बने रहें। उपासक बनना व्यक्तित्व के विकास की सबसे पहली सीढ़ी मानी गई।

---

१. कादम्बरी पृ० १५-१६

२. चुल्लवग्ग ४.४ ६ तथा महावग्ग ६.२८.१

३. महावग्ग ६.२३.३

४. महावग्ग ५.१३.१

५. महावग्ग ५.१.९-११

६. गौतम गृहस्थों को दयनीय नहीं समझते थे। यदि कोई भिक्षु किसी सदाचारी गृहस्थ के प्रति बुरा व्यवहार करता तो गौतम के निर्देशानुसार उसे उस सदाचारी गृहस्थ से क्षमा माँगनी पड़ती थी। चुल्लवग्ग १.२२। गृहस्थ की प्रतिष्ठा का मूल कारण गौतम का स्वयं भी अनेक पूर्वजन्मों में बोधिसत्त्व रहकर गृहस्थ-जीवन बिताना है। मनुष्य किसी जन्म में अपने कर्मानुसार निर्वाण प्राप्त कर सकता है। हाँ, अधिक से अधिक सदाचारी होने में उसका कल्याण है।

उपासक से आशा की जाती थी कि वह बौद्ध साधुओं की उत्कृष्टता देखकर स्वयं उनके समान बनने के लिए प्रव्रज्या ले लेगा।[1]

बौद्ध गृहस्थ संघ की सेवा के लिए दान देते थे और शारीरिक श्रम से भी संघ को लाभ पहुँचाते थे। वे रोगी भिक्षुओं का परिचय प्राप्त करके उनके लिए आवश्यक वस्तुये प्रस्तुत करते थे।[2]

गौतम बुद्ध गृहस्थों को सदाचार के पथ पर प्रगतिशील बना देने के लिए भाषण देते थे। कभी-कभी गृहस्थ-नागरिकों की बड़ी सभायें उनका भाषण सुनने के लिए एकत्र होती थी। पाटलिग्राम के गृहस्थ-उपासकों की सभा में भाषण देते हुए गौतम ने कहा—दुराचारी की पाँच प्रकार की हानियाँ होती है। वह अपने आलस्य के कारण महादरिद्र हो जाता है। सर्वत्र उसकी निन्दा होने लगती है। वह जहाँ-कहीं भी महापुरुषों के बीच जाता है, लज्जा के कारण उसका सिर झुका रहता है। मरते समय वह चिन्ता मे ग्रस्त रहता है और परलोक में नरक में जा गिरता है। इसके विपरीत सदाचारी के पाँच लाभ होते है।[3] इस प्रकार के असंख्य उपदेश गौतम ने अपने जीवन भर अधिकाधिक मानवों के समक्ष रखे। उनके भाषणों में साधारणतः गृहस्थ-जीवन के सभी पक्षों को उज्ज्वल बनाने वाली सूक्तियों का संग्रह होता था। महामंगल की जो योजना प्रस्तुत की गई, वह समग्र मानवता को जीवन की प्रायः सभी परिस्थितियो मे अभ्युदय प्रदान करने के लिए थी।[4] गौतम के अनुसार

---

१. महावग्ग ५.१३ और ५.१; सुत्तनिपात, वम्मिक सुत्त १७.२९

२. महावग्ग ६ २३.३ के अनुसार सुप्रिया नामक गृहपत्नी ने किसी रोगी-भिक्षु को इच्छा पूरी करने के लिए उसे मांस भोजन देने का संकल्प किया। उस दिन नगर मे मांस का विक्रय नही होता था। ऐसी परिस्थिति में उसने अपनी जाँघ का मांस काट कर उसे भिक्षु के लिए दिया। उस युग में लोगों की धारणा थी कि संघ का आतिथ्य करने से लोक-परलोक में अभ्युदय की संभावना है। महावग्ग ६.२५.५

३. महावग्ग ६.२८.४५

४. महामंगल की योजना है—मूर्खो के सहवास से दूर रहना, सत्पण्डितों का संग करना, पूज्य लोगों की पूजा करना, अनुकूल प्रदेश मे रहना, पूर्व जन्म के पुण्य और सन्मार्ग मे मन को लगाना, विद्या और कला की शिक्षा ग्रहण करना, सद्व्यवहार करना, सुभाषण, माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्र आदि की रक्षा, कामों को ठीक से करना, नम्रता, सन्तोष, कृतज्ञता, क्षमा, मधुर भाषण, सत्संग, तप,

यदि श्रद्धालु गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग—ये चार गुण हैं तो वह इस लोक में तथा परलोक में भी शोक नहीं करता।[1]

गौतम ने जीवन भर प्रयत्न किया कि जो कोई उनके सम्पर्क में आये, वह अपना अभ्युदय-पथ सोच और समझ ले। उन्होंने अपने अनुयायियों को सीख दी—सदैव मानवता को सत्पथ दिखाओ। भिक्षुओ, अब तुम बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए भ्रमण करो। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो, जो आदि, मध्य और अन्त में कल्याणकारी है।[2]

गौतम बुद्ध के पश्चात् कालान्तर में बौद्ध संस्कृति की महायान शाखा प्रस्फुटित हुई। महायान के अनुसार कोई गृहस्थ जीवन के किसी क्षेत्र में क्यों न हो, प्रव्रज्या लिए बिना भी निर्वाण प्राप्त कर सकता है, वह चाहे व्यापारी, शिल्पी, राजा, दास या चाण्डाल ही क्यों न हो। ऐसे गृहस्थ को निर्वाण प्राप्त कराने के साधन दया, मैत्रीभावना, उदारता, त्याग, आत्म-बलिदान, बुद्ध और बोधिसत्त्वों की भक्ति आदि हैं।[3] महायान की यह सुविधा भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग और भक्ति-पथ के अनुरूप पड़ती है। भक्ति की महिमा शनैः-शनैः बढ़ती गई। ऐसी परिस्थिति में बुद्ध की पूजामात्र से, स्तूप की पूजा करने से और उस पर फूल-माला आदि चढ़ाने से अतिशय पुण्य की सम्भावना मानी गई।[4] तत्कालीन धारणा के अनुसार 'जिस किसी ने बुद्ध के उपदेशों का श्रवणमात्र कर लिया है, जिसने कोई भी पुण्य का काम किया है और पवित्र जीवन बिताया है, वह बुद्ध हो सकता है। जो चैत्यों की पूजा करते हैं, स्तूप बनवाते हैं, बुद्धि की मूर्ति बनवाते हैं, स्तूपों के पास संगीत का आयोजन करते हैं अथवा भूल से भी बुद्ध के प्रति पूजा भावना मन में लाते हैं, वे सभी सर्वोच्च पद—निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।'[5]

ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों का ज्ञान, निर्वाण-पद का साक्षात्कार। सुत्तनिपात महामंगल सुत्त १—८

१. सुत्तनिपात आडवक सुत्त

२. अंगुत्तर निकाय ४.१.१४

३. महायान सूत्रालंकार २ पृ० १९ और आगे। मिलिन्द प्रश्न ६.२.४ के अनुसार गृहस्थ के लिए निर्वाण पाना असम्भव नहीं है। ऐसे अनेक गृहस्थ हो चुके हैं, जिन्होंने निर्वाण पाया है।

४. महावस्तु २.३६२ और आगे

५. सद्धर्मपुण्डरीक २.६१ और आगे

जैनगृहस्थ

जैन संस्कृति में प्रायः आरम्भ से गृहस्थों के व्यक्तित्व के विकास की योजना सुव्यवस्थित विधि से प्रस्तुत की गई है।[1] साधारणतः जैनमतानुयायी गृहस्थ उन्हीं नियमों और व्रतों को अंशतः अपनाता था, जिनको जैन मुनि पूर्णरूप से अपनाता था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का व्रत मुनि और गृहस्थ दोनों को समान रूप से लेना पड़ता था। मुनि के लिए यह महाव्रत होता था और वे इनको सर्वतः ग्रहण करते थे, पर गृहस्थ के लिए इनको सर्वतः ग्रहण करना असंभव ही है। ऐसी परिस्थिति में उनका व्रत केवल आंशिक होता था। उनके आंशिक व्रत का नाम अणुव्रत था।

उपर्युक्त व्रतों की पूरी छान-बीन की गई और उनके सूक्ष्म रहस्यों को अतिचार के रूप में प्रस्तुत किया गया।[2] अहिंसा के अतिचार बन्ध, वध, अतिभारारोपण और अन्नपान-निरोध हैं। किसी प्राणी को बाँधना बन्ध है। उस पर अधिक भार लादना अतिभारारोपण है। उसको भोजन न देना या कम भोजन देना अन्नपान-निरोध है। सत्य के अतिचार मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख-क्रिया, न्यासापहार और साकार-मन्त्र-भेद हैं। किसी के रहस्य को प्रकाशित करना रहोभ्याख्यान है। दूसरे का हस्ताक्षर बनाकर लेख बनाना कूटलेख-क्रिया है। किसी की धरोहर में गड़बड़ी करना न्यासापहार है और किसी के आकार को देखकर उसकी बातें जानना और उनका प्रकाशन करना साकार-मन्त्र-भेद है। अस्तेय के अतिचार स्तेन-प्रयोग, तदाहृतदान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार हैं। चोर को नियुक्त करना स्तेन-प्रयोग है। उसकी लाई हुई वस्तु को रखना तदाहृत-दान है। विरुद्धराज्यातिक्रम में अनुचित व्यापार की प्रवृत्ति होती है। कम या अधिक नाप-तौल हीनाधिक-मानोन्मान है और अशुद्ध वस्तुओं की मिलावट प्रतिरूपक व्यवहार है।[3]

ब्रह्मचर्य के अतिचार परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीडा और तीव्राभिनिवेश हैं। दूसरों का वैवाहिक सम्बन्ध

१. जैन संस्कृति के आरम्भिक साहित्य का संग्रह 'अंग' है। 'अंग' साहित्य का एक ग्रन्थ उवासगदसाओ है। इसमें जैन गृहस्थों के व्यक्तित्व के विकास का निरूपण किया गया है।

२. ऐसा प्रतीत होता है कि स्वार्थ-साधन करने के लिए अर्थ का अनर्थ करने वाले कुछ व्यक्ति अवश्य रहे होंगे, जिनको दृष्टि-पथ में रखकर अतिचारों का विवेचन करना पड़ा। अन्यथा अतिचारों की कल्पना द्वारा व्रतों की अभिव्यक्ति कराने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

३. तत्त्वार्थसूत्र ७.२५-२६

स्थापित करना पर विवाहकरण है। दूसरों की विवाहित या अविवाहित स्त्रियों से सम्बन्ध रखना इत्वरिका-परिगृहीत और अपरिगृहीत-आगमन के अन्तर्गत आते हैं। अनङ्गक्रीड़ा काम-विहार है। मन में काम-भावनाओं को जागरित होने देना भी तीव्राभिनिवेश है। अपरिग्रह-व्रत के अतिचारों के द्वारा गृहस्थ के खेत, घर, सोना-चाँदी, धन-धान्य, दास-दासी आदि की मात्रा मर्यादित होती थी।

अणुव्रतों के साथ गृहस्थ को तीन गुणव्रत--दिक्, देश और अनर्थदण्ड से विरति तथा चार शिक्षा-व्रत--सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण तथा अतिथि-संविभाग--लेने पड़ते थे। दिशाओं में आने-जाने की परिधि नियत करना दिग्व्रत है। यह मर्यादा पूरे जीवन के लिए होती थी। कभी भी थोड़े समय के लिए आने-जाने की मर्यादा नियत की जाती थी। यह देश-व्रत है। दूसरों की हानि करने का विचार अनर्थदण्ड है। सामायिक व्रत में गृहस्थ प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में नित्य कुछ समय तक आध्यात्मिक तत्त्वानुशीलन करता था। प्रोषधोपवास के अनुसार गृहस्थ दोनों पक्षों की अष्टमी और चतुर्दशी को भोजन से विरत रहने का व्रत लेता था। अपने काम में आने वाली सभी वस्तुओं की मात्रा नियत करना उपभोग-परिभोग-परिमाण है। अतिथि-संविभाग के द्वारा अतिथियों का स्वागत होता था और पहले अतिथि को भोजन देकर स्वयं भोजन करने का व्रत लिया जाता था। इन व्रतों में से सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथि-संविभाग क्रमशः वैदिक संस्कृति के ब्रह्मयज्ञ, व्रतोपवास और अतिथि-यज्ञ के समकक्ष पड़ते हैं।[1]

गृहस्थ के जीवन का अन्त सल्लेखना-विधि से होना चाहिए था। इसके अनुसार शुद्ध मन होकर, सभी मनोविकारों से मुक्त होकर और सभी लोकों को क्षमा प्रदान करके अपने सभी पापों की आलोचना की जाती थी और अन्त में महाव्रतों का पालन करते हुए शोक, भय, विषाद, अरति आदि से चित्त को विमुक्त करके भोजन-पेय का सर्वथा त्याग करके समाधि-मरण अपना लिया जाता था।[2]

---

१. गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के सूक्ष्म रहस्यों को अतिक्रमों के रूप में प्रस्तुत किया गया। इनके अनुसार व्रती दूसरे का परिहास तक नहीं कर सकता था। उसके लिए व्यर्थ की बकवास पर रोक थी। आसन बिछाते समय उसे देखना पड़ता था कि कोई छोटा-सा भी जीव तो नीचे नहीं पड़ता। व्रती हरे भोज्य नहीं खा सकता था और न शीतल जल पी सकता था। पीने के पहले जल उबालना पड़ता था। उसका भोजन सुपक्व होना चाहिए था। तत्त्वार्थसूत्र ७.३०-३६

२. तत्त्वार्थ-सूत्र ७.२२,३७

वानप्रस्थ

वैदिक साहित्य के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि उस युग में ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम की योजनाओं के अतिरिक्त 'वानप्रस्थ' आश्रम की योजना भी थी। इस योजना के अनुसार प्रारम्भिक युग में किसी भी अवस्था का व्यक्ति वानप्रस्थ-विधि से व्यक्तित्व का विकास करने के लिए सामाजिक जीवन को छोड़कर चल ेता था। इस प्रकार विद्यार्थी-जीवन के पश्चात् वानप्रस्थ के तपोमय जीवन का ामारम्भ सम्भव था।

व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास के लिए ब्रह्मचर्याश्रम का ज्ञान और गृहस्थाश्रम का कर्मयोग कभी भी सभी विचारकों के द्वारा एकमात्र माध्यम नहीं माने गये। कुछ विचारकों के अनुसार प्रकृति के बीच रहकर तप:साधना के द्वारा ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। ऐसे विचारकों ने गृहस्थाश्रम की उपेक्षा तो नहीं की, पर उनका निश्चित मत था कि गृहस्थाश्रम का सांसारिक जीवन अभ्युदय के पथ में सर्वथा उपयोगी नहीं है। यदि सम्भव हो तो गृहस्थाश्रम अपनाना ही नहीं चाहिए। यदि गृहस्थ हो ही गया तो यथाशीघ्र घर छोड़कर वन की शरण लेनी चाहिए। गृहस्थाश्रम की उपेक्षा-सम्बन्धी विचार-धारा का परिपोषण आगे चलकर जैन और बौद्ध संस्कृतियों में विशेष रूप से मिलता है। वैदिक संस्कृति के अनुसार जब विराग हो जाय तभी घर छोड़ देने का विधान तो है. पर इस संस्कृति में गृहस्थाश्रम की ादैव प्रतिष्ठा रही और कुछ विचारकों का तो यह निश्चित मत रहा कि गृहस्थ रहते हुए भी निष्काम कर्मयोग और भगवत्भक्ति के द्वारा मानव मोक्ष पा सकता है।

उपनिषद्-युग के पहले गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में दो स्पष्ट मत थे—(१) गृहस्थाश्रम को न अपनाये अथवा इसे यथाशीघ्र छोड़ दे। (२) गृहस्थ रहकर निष्काम कर्मयोग द्वारा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करते हुए अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करे।[1] परवर्ती युग में वैदिक संस्कृति में

---

१. उपनिषद्-काल तक वैदिक संस्कृति में वानप्रस्थ और संन्यास को विशेष प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी। गौतम० ३.३५ के अनुसार कुछ लोग गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ मानते थे।

उपर्युक्त दोनों विचार-धाराओं का समन्वय किया गया। इस समन्वय के अनुसार साधारण लोगों के लिए नियम बना कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थ-जीवन बिताते समय यदि सांसारिक जीवन से विरति हो जाय तो घर छोड़ दे और वन में जाकर तप करे।[1] सूत्र और स्मृति-युग में २५ वर्ष गृहस्थ और वानप्रस्थ दोनों आश्रमों में से प्रत्येक के लिए नियत किये गये।

मानव-जीवन के अभ्युदय-पथ में गृहस्थाश्रम की उपेक्षा न करते हुए सापेक्षतः उसकी प्रतिष्ठा करके वैदिक संस्कृति ने जिस मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है, वह इस संस्कृति को अमर और लोकप्रिय बनाने में सहायक हुआ है। बौद्धिक पक्ष लेते हुए किसी भी साधारण मानव को युवावस्था में सांसारिक जीवन से अलग करके तपश्चर्या में लगा देना कठिन नहीं है, पर उसकी मनोवृत्तियों को सदा के लिए काम-वासनाओं से अलग रखना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य ही है। भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक विरागी युवकों की कथा-गाथायें मिलती हैं, जो काम-वासनाओं के वेग से बहक कर तपोमय जीवन से गिर गये।[2] बौद्ध और जैन संस्कृतियों में युवक विरागियों की संख्या बहुत अधिक थी। ऐसी परिस्थिति में इन दोनों संस्कृतियों में पथ-भ्रष्ट विरागियों की संख्या स्वभावतः कम नहीं रही।[3] बौद्ध संस्कृति को पतनोन्मुख बनाने में ऐसे पथ-भ्रष्ट युवकों का हाथ रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के चार वर्गों में से गृहस्थाश्रम में काम की प्रतिष्ठा करके वैदिक संस्कृति ने मानव-जीवन के विकास की जो योजना बनाई थी, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक समीचीन सिद्ध हुई और इसके अनुसार तपोमय जीवन बिताने वाले लोगों को पथ-भ्रष्ट होने के अवसर कम उपस्थित हो सकते थे।

---

१. इस समन्वय का पर्यालोचन करते हुए विन्टरनित्ज ने लिखा है—

Lastly as has so often been the case in the history of Indian thought, the Brahmans had the knack of bringing into line with their own priestly wisdom and orthodoxy even such ideas as were in opposition to them. They succeeded in doing this by means of the doctrine of the four Aśramas whereby the ascetic and hermit life was made an essential part of the Brahmanical religious system.

A History of Indian Literature Vol. I p. 233

२. बुद्धचरित ४.६-२१

३. *Jain : Life in Ancient India p. 200 and 202*

गृहस्थाश्रम का त्याग क्यों

गृहस्थाश्रम के प्रति विराग का सर्वप्रथम परिचय मुनियों और यतियों की संस्था में मिलता है।[१] सम्भवतः ये ऐसे लोग थे, जो गृहस्थों की बस्तियों से दूर रह कर तपोमय जीवन बिताते थे। गृहस्थोपयोगी यज्ञ और सांसारिक ऐश्वर्य से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था।[२] सम्भवतः वैदिक साहित्य का 'आरण्यक' भाग इसी कोटि के तपस्वियों की रचना थी। आरण्यक साहित्य का अध्ययन ऐसे लोगों के लिए निषिद्ध था, जो नगर या गाँव में गृहस्थ का जीवन बिताते हों। केवल अरण्य में रहने वाले लोग ही आरण्यक के अध्ययन के अधिकारी थे।[३]

उपनिषद्-काल में अरण्यायन को ब्रह्मचर्य माना गया है।[४] यह अरण्यायन वानप्रस्थ का प्रतीक है। अरण्य में तप और श्रद्धा से समायुक्त जीवन शान्त होता था। इस प्रकार का वानप्रस्थ-जीवन बिताने वाले लोग विद्वान् थे। ब्रह्मचर्य की

---

१. ऋग्वेद १०.१३६ में केशी नामक मुनि का उल्लेख है और मुनियों की रहन-सहन की चर्चा की गई है। ऋग्वेद ७.५६.८ में मुनि का उल्लेख है। ऋग्वेद ८.१७,१४ के अनुसार इन्द्र मुनियों का सखा है। तैत्तिरीय संहिता ६.२.७.५ तथा ऐतरेय ब्राह्मण ७.२८ के अनुसार इन्द्र ने यतियों को शालावृकों का भोजन बना दिया। पंचविंश ब्राह्मण १४.४.७ के अनुसार असुरों ने मुनिमरण नामक स्थान पर वैखानसों को मारा था और इन्द्र ने उन्हें पुनर्जीवित कर दिया। इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि मुनि आर्यवर्ग के थे और उनके समकक्ष यति असुर-वर्ग के थे।

२. विन्टरनित्ज ने मुनियों और यतियों के सम्बन्ध में लिखा है—

While, then, the Brahmans were pursuing their barren sacrificial science, other circles were already engaged upon those highest questions which were atleast treated so admirably in the Upaniṣads. From these circles, which originally were not connected with the priestly caste, proceeded thc forest hermits and wandering ascetics, who not only renounced the world and its pleasures, but also kept aloof from the sacrifices and ceremonies of the Brahmans. Different sects more or less opposed to Brahmanism, were soon formed from those same circles, among which sects Buddhists attained to such great fame. *A History of Indian Literature Vol. I p. 23E*

३. *A History of Indian Literature Vol. I p. 234*

४. छान्दोग्य उप० ८.५.३

भाँति उनकी जीवन-पद्धति का नाम भैक्षचर्या था।[1] उपनिषद् में भैक्षचर्या के लिए उद्यत मानव की मानसिक वृत्तियों का निदर्शन इस प्रकार किया गया है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।
मुण्डक उपनिषद् १.२.१२

(कर्म के द्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण को वैराग्य हो जाता है। वह समझ लेता है कि कर्म से प्राप्य वस्तु की शाश्वत प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। वह वास्तविक ज्ञान-विज्ञान की खोज में हाथ में समिधा लेकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाता है।)

ज्ञान-विज्ञान का यह सोपान ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ही हो सकता था। सम्भव है, वैराग्यपरक मनःस्थिति गृहस्थाश्रम में रह कर होती हो। याज्ञवल्क्य का विराग गृहस्थ-जीवन के पश्चात् हुआ था। याज्ञवल्क्य गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मज्ञानी थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार वानप्रस्थ या भिक्षाचर्य के लिए सर्वप्रथम आत्मा का इस स्वरूप में ज्ञान हो जाना चाहिए कि आत्मा ही भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से परे है। आत्मा के इस स्वरूप को जानकर जो ब्राह्मण पुत्र, धन, लोक-परलोक आदि की इच्छा से ऊपर उठकर भिक्षाचर्य अपना लेते हैं, वे मुनि हैं।[2] आत्मा को जानने के लिए यज्ञ, दान, तप और अनाशक—चार साधन माने गये हैं। आत्मा को जान कर लोग मुनि होते हैं। आत्मलोक की इच्छा करते हुए लोग प्रव्रज्या लेते हैं। यही आध्यात्मिक वृत्ति किसी आत्मज्ञानी की मानसिक वृत्तियों को इस प्रकार सुधार सकती थी कि वह गृहस्थाश्रम को नहीं अपनाता था। वह पुत्र की कामना नहीं करता था।[3] याज्ञवल्क्य की भाँति ब्रह्मज्ञानी भले ही कुछ समय तक गृहस्थ-जीवन बिता ले, फिर भी याज्ञवल्क्य के आदर्श के अनुरूप वह प्रव्रज्या लेकर ही अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास कर सकता था।[4]

गृहस्थ-जीवन की उपेक्षा का परिचय नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के विधान से भी मिलता है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के द्वारा जीवन भर आचार्य-कुल में रह कर ज्ञान प्राप्त करना और गृहस्थ-जीवन की ओर प्रवृत्त न होना कम से कम इतना तो सिद्ध ही करता है

१. मुण्डक उप० १.२.११; १.२.७–१०
२. बृहदारण्यक उप० ३.५.१
३. बृहदारण्यक उप० ४.४.२२
४. बृहदारण्यक उप० ४.५.१,२ १५

कि उस युग में कुछ लोग ऐसे भी थे, जो व्यक्तित्व के विकास में गृहस्थ-जीवन को रुकावट मानते थ।[1] वानप्रस्थ-जीवन भी इसी विचार-धारा के अनुरूप विकसित हुआ।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ-जीवन बहुत कुछ ब्रह्मचर्य-जीवन के समान ही है।[2] ब्रह्मचर्य की तपोमय वृत्ति और ज्ञान की खोज वानप्रस्थ-आश्रम में अक्षुण्ण बनी रहती है और चरम सीमा तक पहुँच जाती है। गृहस्थ रह कर कोई व्यक्ति अपनी शक्तियों को पूर्णरूपेण आध्यात्मिक प्रगति के लिए साधारणतः नहीं लगा सकता। ऐसी परिस्थिति में नियम बना कि गृहस्थाश्रम का परित्याग करके अरण्य के शान्तिमय वातावरण में तप, श्रद्धा और भिक्षाचर्य के द्वारा ब्रह्म-विषयक चरम सत्य को सोचा और समझा जाय।

उपनिषद्-कालीन वानप्रस्थ की योजना और तत्सम्बन्धी गृहस्थ-जीवन के परित्याग की भावना का आधार दृढ़ प्रतीत होता है। यह योजना अपने विशुद्ध रूप में भारतीय संस्कृति के क्षेत्र मे सदैव बनी रही, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वानप्रस्थ की रूप-रेखा यहीं तक सीमित रह जाती है। गृहस्थ-जीवन का परित्याग करके वनों मे रहने वाले तपस्वियों की कालान्तर मे अनेक कोटियाँ बनी।

उपनिषद्-काल मे वानप्रस्थ-जीवन के प्रति लोगों की अभिरुचि बढ़ी और ऐसे लोगों की संख्या कुछ कम न रही, जो ब्रह्मपरायण होने के उद्देश्य से गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करना चाहते हों अथवा जिन्होंने गृहस्थाश्रम मे कुछ दिनों रह कर उसे छोड़ न दिया हो और वन का मार्ग अपनाया हो। सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ माता-पिता अपने पुत्र को ब्रह्मलोक-परायण बनाने के उद्देश्य से उसके गृहस्थ न होने की कामना करते थे।[3] वे अपने पुत्र के जन्म के दिन निरन्तर अग्नि जलाते थे। पुत्र की अवस्था बढ़ जाने पर उससे कहते थे कि यदि तुम गृहस्थ बनना

१. पूर्ववर्ती युग में ७५ वर्ष की अवस्था तक भरद्वाज के ब्रह्मचर्य पालन करने का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०

२. वानप्रस्थ के लिए ब्रह्मचारी नाम ब्रहाछत्त जातक ३३६ में मिलता है।

३. मुनि के तपोमय जीवन की उच्चता से उस युग में लोग अतिशय प्रभावित थे। इसी भावना की अभिव्यक्ति सीता के नीचे लिखे वाक्य से होती है--

अक्षया तु भवेत्प्रीतिः श्वश्रूश्वसुरयोर्मम
यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः।। रामायण अरण्य० ९.२९

चाहते हो तो तीनों वेदों का अध्ययन करो और यदि ब्रह्मलोक जाना चाहते हो तो अग्नि लेकर वन मे चले जाओ। वह वन में आश्रम बनाकर अग्निहोत्र के माध्यम से अग्नि की परिचर्या करता था।[1] ऐसा विश्वास था कि जीवन भर इस प्रकार अग्नि की परिचर्या करने से महाब्रह्मा प्रसन्न होते हैं और अग्निहोत्री ब्रह्मलोकगामी होता है।

ब्रह्मपरायण होने का दूसरा मार्ग था ऋषि-प्रव्रज्या लेना। यह प्रव्रज्या तपोमय थी। इसमें जंगल के फल-फूल खाते हुए जीवन-यापन करना पड़ता था।[2] ब्रह्मपरायण बनने वाले लोगों को गृहस्थ-जीवन बन्धन-स्वरूप प्रतीत होता था। ऐसे लोग गृहस्थ के उत्तरदायित्व से निकल भागने में पराक्रम मानते थे।[3] जैसे किसी गृहस्थ को वानप्रस्थ-मुनि का जीवन कठोर प्रतीत होता है, उसी प्रकार किसी वानप्रस्थ-मुनि के लिए गृहस्थाश्रम दोषों से पूर्ण प्रतीत होता था। इस आश्रम में रहते हुए बोधिसत्त्व ने गृहस्थाश्रम के दुर्गुणों का निदर्शन इस प्रकार किया है—परिश्रम न करने वाले का घर नहीं रहता। यदि झूठ न बोले तब भी गृहस्थी नहीं चलती। दूसरों को दण्ड दिये बिना अथवा अपकार किये बिना गृहस्थाश्रम हो ही नहीं सकता। इस प्रकार छिद्रों से पूर्ण और कठिन गृहस्थाश्रम-जीवन को कौन अपनाये?[4]

प्राग्बौद्ध काल मे ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ऋषि-प्रव्रज्या लेने वालों की संख्या बहुत अधिक थी। उनके संघ में ५०० भिक्षु हो सकते थे। इस प्रकार के

---

१. नंगुट्ठ जातक १४४ तथा असातमन्त जातक ६१। संभवतः अग्नि की परिचर्या करने वाले ऐसे ही वानप्रस्थ मुनि का उल्लेख धम्मपद के सहस्सवग्गो ८ में मिलता है।

२. नंगुट्ठ जातक १४४ तथा संकप्प जातक २५१

३. बन्धनागार जातक २०१ के अनुसार बोधिसत्त्व ने ऋषि-प्रव्रज्या लेने के उद्देश्य से अपनी गर्भवती स्त्री और बच्चे को छोड़कर रात्रि में हिमालय का मार्ग पकड़ा। इस बन्धन को तोड़ने में जो वीरता उन्होंने दिखाई, उसका निरूपण उन्हीं के शब्दों म इस प्रकार है—रस्सी या लोहे के बन्धन को पण्डितों ने दृढ़ नहीं माना है। पुत्र और स्त्री के प्रति आसक्ति ही दृढ़ बन्धन है। इससे पतन होता है। यह कठिनाई से छुड़ाने योग्य है। इसको भी तोड़कर विद्वान् चल देते हैं। वे काम-सुखों के प्रति उपेक्षा-भाव रखकर उसे छोड़ देते हैं।

४. बन्धनख जातक २३५। भिस जातक ४८८ में गृहस्थ-जीवन के काम-वर्ग की भर्त्सना की गई है।

उनके उपनिवेश ही हिमालय पर्वत पर बसे हुए थे।[1] वानप्रस्थ-मुनियों के आश्रम विद्यालयों के समकक्ष पड़ते थे। उन विद्यालयों में शिक्षा पाने के लिए प्रव्रज्या लेना आवश्यक था और वहाँ प्रवेश प्राप्त करने के लिए अनेक विद्यार्थी प्रव्रज्या ले लेते थे।[2]

केवल विद्वानों की नहीं, अपितु साधारण राजाओं की यही धारणा थी कि वृद्धावस्था गृहस्थ-जीवन के लिए उपयुक्त नहीं है। ज्यों ही सिर के बाल श्वेत होने लगते थे कि राजा समझ लेता था कि मेरी प्रव्रज्या का समय आ गया है।[3]

इसम कोई सन्देह नहीं कि प्राय: लोग व्यक्तित्व के विकास के लिए वानप्रस्थ-जीवन अपनाते थे, पर ऐसे वानप्रस्थ-मुनियों का सर्वथा अभाव नहीं था, जो गृहस्था-श्रम के श्रम से मुक्ति पाने के लिए तपस्वी की वेषा-भूषा धारण कर लेते थे। तपस्वी का तत्कालीन समाज में बड़ा मान था। यह तो कोई व्यक्ति सरलता से परख ही नहीं सकता था कि कोई मुनि वास्तव में तपस्वी है अथवा निरा ढोंगी है। ऐसी परिस्थिति में साधारणत: सभी मुनियों को अच्छा से अच्छा भोजन मिल जाता था। आलसी लोगों के लिए इससे बढ़कर क्या सुविधा हो सकती थी? अनेक आलसी इस सुविधा का अनुचित लाभ उठाकर पेट पालने-मात्र के लिए ढोंगी तपस्वी बन गये।[4]

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में गृहस्थ-जीवन के प्रति जिस उपेक्षा-भाव की धारा प्रवाहित की गई, उससे वैदिक संस्कृति अछूती नहीं रह सकी। वैदिक संस्कृति में भी गृहस्थ-जीवन के इन्द्रिय-सुखों को प्रलोभन-मात्र मानकर यथाशीघ्र उन्हें छोड़ने की सीख दी गई। महाभारत में गृहस्थ-जीवन का विवेचन करते हुए नीचे लिखी कथा कल्पित की गई है[5]—

कोई ब्राह्मण किसी घने वन में जा रहा है। वह वन के दुर्गम भाग मे जा पहुँचता है। उसे सिह, व्याघ्र, हाथी और रीछ आदि भयकर जन्तुओं को

---

१. तित्तिर जातक ११७

२. ब्रह्मछत्त जातक ३३६ और सेतकेतु जातक ३७७ और महाभारत में भी हिमालय प्रदेश में ऋषियों के एक आश्रम का वर्णन है, जहाँ उपकुलपति वानप्रस्थों को ही शिक्षा और दीक्षा देता था।

३. मखादेव जातक ९

४. सेतकेतु जातक ३७७

५. महा० स्त्रीपर्व अध्याय ५, ६ तथा ७

देखकर भय होता है। वह वन में किसी सुरक्षित स्थान को ढूँढ़ते हुए देखता है कि वह चारों ओर जाल से घिरा है। एक भयंकर स्त्री ने उसे अपनी भुजाओं से घेर रखा है। पर्वत के समान सिर वाले साँप भी उसे घेरे हुए हैं। उसे वन में एक कुआँ दिखाई देता है, जिसमें लतायें और घास उग आई हैं। ब्राह्मण भटकता हुआ उसी में गिर पड़ता है और लता-जाल में फँस कर सिर नीचे पैर ऊपर लटकता है। उसे कुयें में बड़ा साँप दिखाई देता है। साँप के एक ओर हाथी खड़ा है। हाथी श्वेत और काले वर्ण का है। उसके छः मुख और १२ पैर हैं। वह धीरे-धीरे कुयें की ओर आ रहा है। कुयें के तटीय वृक्षों पर मधुमक्खियों के छत्ते हैं, जिनसे मधु की धारायें चू रही हैं। ब्राह्मण मधु की धाराओं को पी रहा है। उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती है। जिस वृक्ष से वह लटका है, उसे श्वेत और काले चूहे काट रहे हैं। उसके चारों ओर भय ही भय है। फिर भी वह मस्त होकर मधु पिये जा रहा है।'

उपर्युक्त कथानक का वन संसार है। हिंस्र जीव व्याधियाँ हैं। स्त्री वृद्धावस्था है। कुआँ मनुष्य-देह है। साँप काल है। वह सबको खा जाता है। कुएँ के भीतर की लता संसार में जीवन की आशा है। छः मुँह वाला हाथी संवत्सर है। छः ऋतु उसके मुख हैं और १२ मास पैर हैं। उस वृक्ष को काटने वाले चूहे दिन और रात हैं। मानव की विविध कामनायें मधुमक्खियाँ हैं। मक्खियों के छत्ते से चूने वाला मधु भोगों से प्राप्त होने वाला सुख है। इसी सुख में लोग साधारणतः मग्न हैं।

इस कथानक के द्वारा शिक्षा दी गई है कि संसार का रहस्य समझ कर उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए। वे निरा मूढ़ हैं, जो संसार की व्याधियों से पीड़ित होकर विरक्त नहीं होते। यदि कोई व्याधियों से बचता जाय तो अन्त में वृद्धावस्था का चंगुल तो है ही। इसी से भाँति-भति के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से घिर कर मज्जा और मांस-रूपी कीचड़ से भरे हुए आश्रय-हीन देह-रूप गढ़े में मानव पड़ा रहता है। वर्ष, मास पक्ष और दिन-रात—सभी मानव के रूप और आयु का नाश किया करते हैं। ये सब काल के प्रतिनिधि हैं। बुद्धिमान् पुरुष को संसार से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। जो बुद्धिहीन पुरुष भाँति-भाँति के माया-मोह में फँसे हुए हैं और जिन्हें बुद्धि के जाल ने बाँध रखा है, वे विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं। ज्ञानी महापुरुष तो सनातन ब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं।

यदि मुनि-मार्ग अभ्युदय के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है तो क्या गृहस्थाश्रम का परित्याग करके वन की यथाशीघ्र शरण ली जाय ? इस समस्या पर धर्मशास्त्रों में जो विवेचन मिलता है, वह स्वभावतः वैदिक प्रवृत्तियों के अनुकूल होने के कारण

निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में ऐसे लोगों की प्रचुर संख्या रही है, जो धर्मशास्त्रों के अनुकूल जीवन-यापन करते थे। ऐसी परिस्थिति में धर्मशास्त्रों के विवेचन में तात्कालीन जनमत का परिचय मिल सकता है। गृहस्थ और वानप्रस्थ-आश्रमों के शृंखलाबद्ध होने के पहले उनकी सापेक्ष उपयोगिता के सम्बन्ध में विवाद चल पड़ा था। उस युग में मुनि-वर्ग का कहना था कि जिन ८०,००० ऋषियों ने पुत्र की कामना की, वे दक्षिण ओर अयमा के मार्ग से गये और श्मशान मिला। दूसरे ८०,००० ऋषियों ने पुत्र की कामना नहीं की, उन्हें अर्यमा मार्ग से उत्तर ओर जाने पर अमरत्व मिला। इस मत को पौराणिक बताया गया है। इसके अनुयायियों की संख्या वैदिक काल में कम न थी। उपर्युक्त मत का प्रतिवाद करते हुए वेदों के आधार पर कहा गया है कि सस्त्रीक होकर यज्ञ करना चाहिए। इस वैदिक मत के सामने पौराणिक मत की प्रतिष्ठा कहाँ रही? पुत्र भी तो अमरत्व है। केवल शरीरतः पिता पुत्र से भिन्न है, अन्यथा सन्तान-रूप में पिता अमर होता है।[1]

जैसा हम पहले देख चुके हैं, मनु ने गृहस्थाश्रम की सर्वोच्च प्रतिष्ठा वैदिक आदर्शों के अनुरूप की है, फिर भी उन्होंने क्रमशः वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों को अपनाने का आदेश दिया है।[2] मनु ने गृहस्थाश्रम से बचने वालों का भयावह चित्र खींचा है। भले ही वानप्रस्थाश्रम छोड़ दिया जाय, पर मनु की दृष्टि में गृहस्थाश्रम तो अनिवार्य है।[3] मनु का संन्यास कर्मयोग के समकक्ष है, जिसमें संन्यासी घर पर रह सकता है।[4] यदि कोई व्यक्ति जीवन भर गृहस्थ रहे तो मनु की दृष्टि में वह अच्छा है, निन्दनीय नहीं।

पुराणों में सूत्र और स्मृतियों की भाँति गृहस्थाश्रम की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गई है और गृहस्थ-जीवन के पंचमहायज्ञों द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी सुलभ बनाई गई है।[5] फिर भी नियम बनाया गया कि घर में रहते हुए मर जाना बन्धन

---

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.९.२३। इस ग्रन्थ में समन्वय का पथ अपनाते हुए कहा गया है कि गृहस्थ और वानप्रस्थ में से कोई एक दूसरे से बड़ा-छोटा नहीं है। आप० ध० सू० २.९.२३.१४। इस उद्धरण में सम्भवतः अथर्ववेद के ११.५.१९ के 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' का संस्मरण है। पुत्र के द्वारा अमरत्व पाने की कल्पना का आधार ऋग्वेद ५.४.१० का 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्' है।

२. मनुस्मृति ६.१,३३,३४

३. मनु० ६.३७,४१

४. मनु० ६.९५

५. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ४७.६

का कारण है। कम से कम मृत्यु किसी तीर्थस्थान में होनी चाहिए ।[1] श्रीमद्भागवत में गृहस्थाश्रम के निष्काम कर्मयोग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव बताई गई है, पर इस ग्रन्थ में गृहस्थ-जीवन की साधारणतः ऊँची प्रतिष्ठा नहीं दिखाई देती ।[2] गृहासक्त की दुर्गति भागवत के अनुसार अवश्यम्भावी है ।[3] भागवत का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है—

> यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
> गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ।। ११.७.७४

(यह मानुषलोक मुक्ति का अनावृत द्वार है। इसे पाकर जो पक्षी की भाँति गृह में आसक्त है, वह आरूढच्युत है।)

महाभारत की भाँति भागवत में भी गृहस्थाश्रम में आसक्त व्यक्ति की विपत्तियों का निदर्शन किया गया है और आदेश दिया गया है कि इस आश्रम को छोड़ो। यह अंगनाश्रम है ।[4] भागवत के अनुसार वेद ऐसे कर्म का प्रतिपादन नहीं करता, जो यज्ञों के द्वारा गृहस्थ सम्पादित करता है। फिर कर्म क्या है—

> तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया ।। ४.२९.४९

(कर्म वही है, जिससे हरि सन्तुष्ट होते हैं। विद्या वही है, जिससे हरि के प्रति बुद्धि प्रवृत्त होती है।)

भागवत में गृहस्थाश्रम को अनिवार्य नहीं माना गया। भागवत के मत के अनुसार नन्हें बालक भी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवृत्त होने के पहले वैराग्य लेकर अन्त मे मोक्ष-पथ के पथिक बन सकते हैं ।[5]

आश्रमों की इस तारतम्यात्मक गुत्थी को सुलझाने के लिए जो उपाय किये गये, उनमें से सर्वप्रथम था इन सभी आश्रमों का यथासाध्य समन्वय कर देना। इस समन्वय की रूप-रेखा बहुत-कुछ इस प्रकार रही है—ब्रह्मचर्य-आश्रम प्रायः वानप्रस्थ और संन्यास से मिलता-जुलता है। ऐसी परिस्थिति में किसी का ब्रह्मचर्य से विरोध नहीं हो सकता था। ब्रह्मचर्य के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता था। कठिनाई गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध मे आती

---

१. पद्मपुराण सृष्टिखंड ४७.२५२–२५५
२. भागवत ४.३०.१९-२० तथा ११.१७.५५
३. भागवत ११.१७.५६-५८
४. भागवत ४.२९.५२-५५ तथा ११.८.७
५. भागवत ६.५.२१,३३

थी। गृहस्थ का उत्तरदायित्व यद्यपि सम्माननीय है, पर गृहस्थ के लिए सांसारिक जीवन के चक्कर में पड़ कर पतन की अधिक सम्भावना है, अभ्युत्थान की नहीं। इस कठिनाई की प्रतीति आरम्भिक युग से हो चुकी थी। प्रायः सदा ही शास्त्रकारों का सुझाव रहा है कि गृहस्थी की झंझट बहुत न बढ़ाई जाय और जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च बनाने का प्रयत्न किया जाय, भले ही आधिभौतिक दृष्टि से गृहस्थ हीन क्यों न हो। इस दिशा में 'कर्मयोग' का अतिशय महत्त्व है। 'कर्मयोग' के सिद्धान्त में गृहस्थजीवन और संन्यास का वैज्ञानिक समन्वय किया गया है। गृहस्थ यदि भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करे और भागवत के अनुसार निधन जीवन बिताये तो उसके लिए घर भी वन है। वानप्रस्थ-आश्रम सबसे अधिक कठोर है। इस कठोरता को अपनाने का प्रधान कारण यही रहा है कि वन में जाकर किसी-किसी विद्वान् को वे सारी सुविधायें और चित्त की शान्ति मिल सकती थी, जिनके द्वारा वह व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने में पूर्ण रूप से सफल हो सकता था। गृहस्थ के लिए सीमायें रहती हैं--वह थोड़ा ही देख सकता है, सुन सकता है और जान सकता है, क्योंकि वह गृह के खूँटे से बँधा होता है। उसका पगहा उसे जितनी दूर जाने दे सकता है, उतनी ही दूर वह जा सकता है। घर छोड़ने वाले के समक्ष यह कठिनाई नहीं रहती। उसके लिए कोई बन्धन नहीं। सारी प्रकृति का दर्शन और पूर्ण ज्ञान का द्वार उसके लिए निर्बाध खुला है। वानप्रस्थ की इस उच्चता को निर्बाध बनाये रखने के लिए तथा उसकी कठोरता को कम करने के लिए समय-समय पर गृहस्थाश्रम की कुछ सुविधाएँ वानप्रस्थ-मुनियों के लिए दे दी गईं। उसके लिए कुटी हो सकती थी। उसके कुटुम्ब में स्त्री और बच्चे हो सकते थे और वह अपने उपभोग के लिए गिनी-चुनी वस्तुओं का संग्रह कर सकता था।[1] इस प्रकार वैदिक संस्कृति का वानप्रस्थ ब्रह्मचर्य के तपोमय जीवन और ज्ञान की खोज तथा गृहस्थाश्रम के पंच महायज्ञों और अन्य सुविधाओं से समन्वित होकर ग्रहणीय बना रहा।

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में यद्यपि गृहस्थ के लिए व्यक्तित्व के विकास की योजना बनाई गई, पर गृहस्थाश्रम को कभी आवश्यक नहीं माना गया। दोनों संस्कृतियों के ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम के दोषों की गणना प्रायः मिलती है। इस सम्बन्ध

१. उपर्युक्त सुविधायें केवल उन्हीं मुनियों के लिए थीं, जो उन्हें चाहते थे। ऐसे मुनियों की संख्या अधिक थी, जो इन सुविधाओं से विमुख थे। वानप्रस्थ और गृहस्थ की इसी समानता को दृष्टि-पथ में रखते हुए पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड के सोलहवें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ और वानप्रस्थ प्रायः समान हैं। वास्तव में संन्यास भिन्न है।

में खेती के कामों की कठोरता की ओर कृषकों का ध्यान आकर्षित किया गया है। खेती करने में तो कभी विश्राम ही नहीं है। वही-वही काम इस वर्ष, अगले वर्ष और सारे जीवन।[1]

गौतम बुद्ध ने घर छोड़कर साधु जीवन बिताने के लिए उद्यत व्यक्तियों का मनोविश्लेषण इन शब्दों में किया है—'समय-समय पर सम्यक् सम्बुद्ध तथागत उत्पन्न होता है। वह पूर्ण रूप से कल्याण करने वाला, सुप्रसन्न तथा मानवों और देवताओं का शिक्षक होता है। वह सब लोकों को देखता है और सभी प्राणियों को जानता है। वह अपने ज्ञान को दूसरों के समक्ष प्रकट करता है। वह जिस सत्य का तिपादन करता है, वह मूल रूप में होता है। उसका प्रवाह मनोरम होता है और वह सत्य अपने पूर्ण विकसित रूप में भी मनोरम है। तथागत उच्च जीवन की रूप-रेखा तथा तत्सम्बन्धी पवित्रता और पूर्णता की घोषणा करता है। कोई भी गृहस्थ या युवक उसकी वाणी सुनकर मन में सोचने लगता है—गृहस्थ-जीवन बाधाओं मे भरा हुआ है। मनोविकारों के कारण यह अशुद्ध है। जिसने सारी सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर दिया है, उसका जीवन वायु के समान शुद्ध है। गृहस्थ के लिए उच्च जीवन की पूर्णता, पवित्रता और विशद उत्कर्ष को अपना लेना अत्यन्त कठिन है। मैं भी घर छोड़कर भिक्षु की वेश-भूषा अपना लूँ और वह ऐसा ही करता है।'[2]

गौतम के शब्दों में वह शक्ति भरी थी कि जो कोई उनके समक्ष आया, वह उनका अनुयायी बन कर रहा। उन्होंने गृहस्थ-जीवन की विषमताओं की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। 'इन्द्रियों को अपने विषयों को भोगने से जो सुख प्रतीत होता है, उसे मैं मीठा विष कहता हूँ। गृहस्थ अपने व्यवसाय में तन-मन-धन से प्रयत्नशील रह कर भारी कष्ट भोगता है। इतना कष्ट भोगने पर भी यदि उसे अभीष्ट वस्तु नहीं मिलती तो वह शोकाकुल होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है; पर यदि कहीं उसे अपने उद्योग में सफलता मिल गई और अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो गई तो वह दिन-रात इस चिन्ता में पड़ा रहता है कि दुष्ट राजा या चोर उसे लूट न ले जायँ, आग या बाढ़ से वह नष्ट न हो जाय अथवा शत्रुता करने वाले बन्धु-बान्धव कहीं हानि न पहुँचायें। इन विचारों से उसका मन सदा ही शंकित रहता है और यदि कहीं उसकी आशंका सत्य निकली तो उस मनुष्य के दुःख का पार नही रहता। इन विषयों के भोग के लिए एक राजा दूसरे राजा के साथ, माता

---

१. चुल्लवग्ग ७ २

२. तेविज्ज सूत्त १.४७

पुत्र के साथ, वहिन भाई के साथ और मित्र मित्र के साथ संघर्ष करते हैं। विषयों की प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के काण्ड होते हैं--गाली-गलौज, हाथापाई, अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग और लोगों की मृत्यु तक परिणाम-स्वरूप देखी जाती हैं। महान् युद्ध तक इन्हीं के लिए होते हैं। सारे पाप तो लोग इन्हीं के लिए करते हैं। इस विषाक्त विषय-भोग के लिए मनुष्य मन, वाणी और शरीर से घोरातिघोर दुराचार करता है और मरने के पश्चात् फलतः उसकी दुर्गति होती है। किसी व्यक्ति में युवावस्था मे सौन्दर्य है। वृद्धावस्था में उसका सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। यह सौन्दर्य का दोष है। सौन्दर्य के विषय में आसक्ति न रखना ही सौन्दर्यजन्य भय से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। सौन्दर्य की मिठास, उसके दोष और उस दोष से वचने की विधि को परखने वाला वुद्धिमान् स्वयं तो विषय-भोग में पड़ता नहीं, अपितु वह दूसरों को भी इनसे मुक्ति पाने के मार्ग को वताता है।"[1]

गौतम ने गृहस्थाश्रम का विवेचन करते हुए वताया--पुत्र और पशु में आसक्त मन वाले मनुष्य को मृत्यु उसी प्रकार ले जाती है, जैसे सोये गाँव को वाढ़। ऐसी परिस्थिति में पुत्र, पिता, भाई-वन्धु कोई नही वचा सकते। जव सत्य इस प्रकार है तो शीलवान् पण्डित यथाशीघ्र निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग को अपने लिए खोज निकाले।[2] दार्शनिक तत्त्वों के आधार पर भी गौतम ने वैराग्य का कारण वताते हुए कहा है कि सभी संस्कार (वनी हुई वस्तुएँ) अनित्य और दुःखमय हैं। सभी धर्म (पदार्थ) अनात्म है। जव इन वातों को कोई व्यक्ति अपनी प्रज्ञा से देखता है तो उसे संसार से विराग होता है। यही विशुद्धि का मार्ग है।[3] इसके साथ ही साथ निर्वाण की मनोरम कल्पना अतिशय मनोरम रही है। ऐसी विचार-धारा मे उस युग में गृहस्थों का वह जाना और मुनि-पथ पर चलना साधारण वात हो गई।

---

१. महादुक्खक्खन्ध सुत्तन्त १–१२। धम्मपद २०.१२ में गौतम ने व्यक्तित्व के विकास की दिशा मे स्त्री-परित्याग को इन शब्दों में आवश्यक कहा है—

> यावं हि वनथो न छिज्जति अनुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
> पटिवद्धमनो नु ताव सो वच्छो खीरपको व मातरि॥

(यदि मनुष्य का स्त्री के प्रति तनिक भी अनुराग रहा तो वह वैसे ही वँधा रहता है, जैसे दूध पीने वाला वछवा)

२. धम्मपद मग्गवग्गो १५–१७

३. धम्मपद मग्गवग्ग ५–७

जैन संस्कृति के अनुसार यदि कोई व्यक्ति चराचर सम्पत्ति रखता है या उसके रखने की सम्मति देता है तो वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।[1] गृहस्थाश्रम के घनघोर श्रम से बचने के लिए भी कुछ लोग उसका परित्याग करते थे। तभी तो उनके सम्बन्धी उनसे कहते थे—तुमसे हम सरल काम करायेंगे, तुम्हारा ऋण भी हम बाँट लेंगे, तुम घर लौट चलो। ऐसे आश्वासन पाकर कभी-कभी लोग घर लौट जाते थे।[2] इस संस्कृति में गृहस्थ-जीवन को पाप का कारण माना गया और कहा गया कि सांसारिकता के चक्कर से बच कर रहना ठीक है।[3] संसार के सभी प्राणी आतुर हैं—यह देखकर घर से निकल ही पड़ना चाहिए।[4] उस संस्कृति के विचारकों को मानव-जीवन नश्वर, घृणास्पद और चंचल प्रतीत होता था। उन्हें जीवन को सुधारने के लिए प्रव्रज्या ही एकमात्र उपाय दृष्टिगोचर होती थी। ऐसी धारणा हो जाने पर स्वभावतः गृहस्थाश्रम के काम-भोगों में अशुद्धि और अपवित्रता दिखाई पड़ती थी। प्रत्यक्ष है कि संसार का सारा ऐश्वर्य मरने वाले के साथ नहीं जाता है। उसके जीवन-काल में उसका ऐश्वर्य अनेक शत्रुओं के द्वारा विनष्ट हो जाता है। पुत्र आदि सब कुछ नश्वर हैं—फिर किस के लिए गृहस्थाश्रम की हाय-हाय रखी जाय?[5]

जीवन-विधि

इस आश्रम के सम्बन्ध में आरम्भिक युग से घर छोड़कर वन्य वृत्ति अपनाने का विधान रहा होगा। ऋग्वेद में केशी नामक मुनि का वर्णन आता है। इस नाम से मुनियों के केश रखने की रीति की कल्पना होती है। कुछ मुनियों की उपाधि वातरशना थी। इस उपाधि से प्रकट होता है कि मुनि अपने शरीर के मध्य भाग को वस्त्र से नहीं आच्छादित करते थे। उनके वस्त्र पिशंग और मलिन होते थे। मुनि अप्सराओं, गन्धर्वों और मृगों के पथ पर चलते थे।[6] उत्तर ऋग्वेद-काल तक वानप्रस्थ और संन्यास पृथक् आश्रम नहीं थे।[7]

ऐतरेय ब्राह्मण में मल, अजिन, श्मश्रु और तप—चारों ही वानप्रस्थ के

१. सूत्रकृतांग १.१.१.२
२. सूत्रकृतांग १.३.२
३. आचारांग १.५.६.३
४. आचारांग ३.१.१०६
५. ज्ञातधर्मकथा १.१। यही बात तत्त्वार्थसूत्र ७.१२ में इन शब्दों में कही गई है—जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।
६. ऋग्वेद १०.१३६
७. ऋग्वेद १०.५

लक्षण बतायें गये हैं।[१] परवर्ती साहित्य में वानप्रस्थ लेने वालों की रहन-सहन का विस्तृत वर्णन मिलता है। असंख्य तपस्वी हिमालय पर पहुँचते थे। वहाँ ऋषियों के गण होते थे, जिनमें ५०० ऋषि तक हो सकते थे। गणों के एक शास्ता (शिक्षक) होते थे। तपस्वियों का भोजन वन में प्राप्त होने वाले फल-मूल, श्यामाक और नीवार से होता था।[२] वन के सुन्दर, रमणीय और मनोरम वृक्षों के बीच ऋषियों का मन रमता था।[३] उन्हीं वृक्षों के बीच उनके आश्रम होते थे। आश्रम में मृग पाले जाते थ।[४] वहाँ रहने के लिए पर्णशालायें बनाई जाती थीं।[५] तपस्वियों की जीविका उञ्छाचरिया से चलती थी।[६] वे कभी-कभी स्वादिष्ठ भोजन पाने के लिए पर्वत-प्रदेश से उतर कर मैदानों में काशी तक जा पहुँचते थे और नगरों में भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाते थे। नगर में आने पर उन्हें प्रायः राजोद्यान में रहने के लिए पर्णशाला और स्वादिष्ठ भोजन का प्रबन्ध हो जाता था।[७] कुछ तपस्वी नगर के पास आरामों मे रहते थे। वे स्वयं उपवन का संवर्धन करके अपने भोजन के लिए फल-मूल आदि उत्पन्न कर लेते थे। तपस्वियों के लिए फल-मूल का

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ३३.११ में 'किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः' तपस्वी ब्राह्मणों के विषय मे मिलता है। यह श्लोक उन ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त है, जो पुत्र नहीं चाहते थे। ऐसे तपस्वियों के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा गया है कि वे पुत्रैषणा से परे होते थे। बृहदारण्यक ३.५.१। किं नु मलम् आदि में कुछ विद्वान् चारों आश्रमों का उल्लेख ढूंढ़ते हैं। वे मल को गृहस्थाश्रम का, अजिन को ब्रह्मचर्य का श्मश्रु को वानप्रस्थ का तथा तप को संन्यास का लक्षण बतलाते हैं। वास्तव में वानप्रस्थ और संन्यास का भेद सूत्र-काल से सुनिश्चित हुआ। इसके पहले गृहस्थाश्रम को छोड़ने वाले सभी लोग मुनि कहलाते थे। प्रारम्भिक युग के वानप्रस्थ और संन्यासी दोनों को मुनिकोटि में रखा जा सकता है। ऋग्वेद १०.१३६ में मुनि के मल-पिशंग धारण करने की चर्चा है। अतः मल मुनि का लक्षण है। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ दोनों अजिन धारण करते थे। देखिये गोधजातक ३२५; संकप्प जातक २५१; महाभारत शल्यपर्व ३८.२५

२. अम्ब जातक १२४; केसव जातक ३४६

३. केसव जातक ३४६

४. मिगपोतक जातक ३७२

५. उदञ्चनि जातक १०६

६. उञ्छाचरिया विधि मे घूम-फिर कर गिरे फल चुन कर खाये जाते थे। संकप्प जातक २५१

७. संकप्प जातक २५१

भोजन प्रशस्त और अन्न-भोजन निन्दित माना जाता था।[1] कुछ तपस्वी संघ बना कर गाँवों के समीप रहते थे।[2] वे भिक्षा माँगते समय भिक्षा-पात्र ले लेते थे। गाँव के समीप रहने वाले तपस्वियों को उनके उपासक भोजन देते थे।[3]

मुनि अजिन-वस्त्र धारण करते थे और सिर पर जटा रखते थे, उनके दाँत मैले होते थे। उनके मुख से कान्ति नही टपकती थी।[4] वे वल्कल भी धारण करते थे। अधोवस्त्र सम्भवतः अजिन का और उत्तरीय वल्कल का होता था।[5]

कुछ तपस्वी विविध प्रकार के श्रम करके अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे कुल्हाड़ी से लकड़ी फाड़ने का काम भी करते थे।[6] कुछ तपस्वी परिग्रहशील होते थे और वे आलुक आदि खोदना, विलालि तथा तक्कल कन्दों को खोदना, श्यामाक और नीवार धान तैयार करना, शाक, भिस, मधु-मास, बदर, आमलक आदि का संग्रह करना, भोजन पकाना आदि कामों को अपना सकते थे।[7]

दक्षिण भारत के वानप्रस्थ-मुनियों की रहन-सहन का परिचित्रण रामायण मे किया गया है।[8] वन में भ्रमण करते समय राम को असंख्य वानप्रस्थ-मुनि मिले। मुनियों के आश्रमों की रूप-रेखा का परिचय राम के आश्रम-वर्णन से हो सकता है। 'सर्वप्रथम आश्रमोपयोगी भूमि का चुनाव होता था। ऐसे प्रदेश में आश्रम होना चाहिए था, जहाँ जलाशय निकट हो और वन तथा जल के दृश्य रमणीय हों। आश्रम-भूमि के समीप समिधा, पुष्प और कुश मिलने चाहिए थे।' जिस स्थान पर पंचवटी में राम का आश्रम बना, वह समतल था। वहाँ मनोरम वृक्ष और पुष्पों की शोभा निराली थी। समीप ही रमणीय जलाशय था, जिसके कमलों की

---

१. गामणी चण्ड जातक २५७

२. सेतकेतु जातक ३७७

३. संकप्प जातक २५१; गोध जातक ३२५

४. सेतकेतु जातक ३७७, गोध जातक ३२५

५. संकप्प जातक २५१। मुनियों के अजिन और वल्कल धारण करने का उल्लेख महाभारत शल्य० ३८.२५ में भी मिलता है।

६. तित्तिर जातक ११७

७. भिक्खा परम्परा जातक ४९६

८. महाभारत वनपर्व ६१.२२ के अनुसार विन्ध्य के महाशैल पर महर्षियों के आश्रम थे।

सुगन्धि के कारण पार्श्ववर्ती वातावरण अतिशय रम्य था। थोड़ी दूर पर गोदावरी नदी थी। उसके दोनों तटों पर पुष्पित वृक्ष खड़े थे। उस प्रदेश की पर्वत-शोभा मनोहर थी। वे पुष्पित वृक्षों से अलंकृत थे। वृक्षों पर मयूर आदि पक्षी विचरण कर रहे थे। अन्यत्र वन्य पशु सुशोभित हो रहे थे।[1] रामायण में प्रयाग में संगम पर भरद्वाज के आश्रम, चित्रकूट मे वाल्मीकि आदि ऋषियों के आश्रम, दण्डकारण्य में अगस्त्य आदि महर्षियों के आश्रमों के प्रचुर वर्णन मिलते हैं।[2] वन में मुनि लोग अपने उपनिवेश के लिए उपवन बना लेते थे।[3] उस युग में मुनियों का महत्त्वपूर्ण काम था—वन-प्रदेश को शरण्य बना देना। इस दिशा में अगस्त्य मुनि का चरित उल्लेखनीय है। उन्होंने दक्षिण भारत के दण्डकारण्य में केवल आश्रम ही नहीं बनाया, अपितु विप्रों के संहारक राक्षसों का विनाश भी किया।[4] वानप्रस्थ के मुनि महापुरुषों का आतिथ्य करके उन्हें वानप्रस्थ-संस्कृति के अनुकूल भोजन देते थे। आश्रमों में राजाओं का सत्कार फल-मूल, पुष्प आदि से होता था।[5] तपस्वी मुनि दर्श, पौर्णमास यज्ञ आदि विविध प्रकार के यज्ञ भी करते थे।[6] आतिथ्य तथा अग्निहोत्र आदि सम्पादन करने के लिए कुछ मुनि गायें रखते थे। वसिष्ठ के पास नन्दिनी गाय थी।[7]

रामायणकालीन मुनियों के भी गण या संघ होते थे। उनकी रहन-सहन का परिचय रामायण में दिये हुए उनके नामों से लग सकता है—वैखानस, वालखिल्य, सम्प्रक्षाल, मरीचिप, अश्मकुट्ट, शीर्णपर्णाशिन, पत्राहार, तापस, दन्तोलूखली, उन्मज्जक, गात्र-शय्या, अशय्या, अनवकाशिक, मुनि, सलिलाहार, वायुभक्ष, आकाश-निलय, स्थण्डिल-शायी, ऊर्ध्ववासी, दान्त, आर्द्रपटवास, सजप, तपोनिष्ठ, पंचतपोन्वित आदि।[8] इन नामों से ज्ञात होता है कि मुनियों की तपस्या से विविध रूप थे और

---

१. वा० रामायण अरण्य काण्ड सर्ग १५। दण्डकारण्य के तपस्वियों के आश्रम के वर्णन के लिए देखिये अरण्यकाण्ड १.१-९

२. वा० रामा० अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४,५६; अरण्यकाण्ड सर्ग ६.८.११ और १२

३. वा० रामा० अरण्यकाण्ड ११.७८

४. वा० रामा० अरण्यकाण्ड ११.५५-६६,८१-८३ तथा १२.५४

५. वा० रामा० बालकाण्ड ५२-३; अरण्यकाण्ड १२.२७-३१

६. वा० रामा० बालकाण्ड ५३.२४

७. वा० रामा० बालकाण्ड सर्ग ५५। बुद्धचरित ७.६ में भी तपोवन में गाय रखने का उल्लेख मिलता है।

८. वा० रामा० अरण्काण्ड ६.२-५; बालकाण्ड ५२.२५-२८। महाभारत

उन्हीं के अनुकूल उनकी रहन-सहन थी। कुछ लोग अपने पास केवल तत्कालीन भोजन की आवश्यकता भर के लिए द्रव्यों का संग्रह करते थे। उसके पश्चात् अपने पात्र धो डालते थे। कुछ मुनि सूर्य की किरणों का पान करते थे। कुछ तपस्वी केवल पत्थर के टुकड़ों को अपने भोज्य पदार्थ से छिल्के निकालने अथवा कूटने के लिए काम में लाते थे। इस काम के लिए कुछ लोग दाँतों का प्रयोग करते थे। कुछ तपस्वी केवल पत्तों का आहार करते थे और कुछ फल-मूल का। ऐसे भी तपस्वी थे, जो आकण्ठ जल मे रह कर तप करते थे। सोने के लिए कुछ मुनि कोई भी उपादान नहीं अपनाते थे और कुछ तो कभी सोते ही नहीं थे। केवल जल पीकर अथवा वायु-मात्र के ही कुछ तपस्वी अपना जीवन धारण करते थे। कुछ तपस्वी सदा ही अपने वस्त्र गीले रखते थे और कुछ पंचाग्नि में तपते थे।

रामायण और महाभारत-युग मे कुछ मुनियों के सकुटुम्ब वन में रहने के उल्लेख मिलते हैं। वसिष्ठ का नाम इस कोटि के मुनियों में सर्वोपरि है। महाभारत मे एक ऐसे मुनि का नाम व्रीहिद्रोण मिलता है। वे वन में शिलोञ्छ और कापोती वृत्ति से जीविका उपार्जित करते थे और पक्ष मे एक बार भोजन करते थे। वे कपोत-वृत्ति से पक्ष मे एक द्रोण अन्न उपार्जित करके उसी से यज्ञ करते थे और अतिथियों का सत्कार भी।[1] रामायण में महर्षि ऋचीक और विश्वामित्र के सकुटुम्ब होने के उल्लेख मिलते हैं।[2] महाभारत के अनुसार कुछ मुनि अपने शिष्यों के साथ विचरण करते थे। वे गृहस्थों के पास जाकर कुछ दिनों तक उनके घर ठहर सकते थे। गृहस्थ यथाविधि उनकी पूजा और आतिथ्य करते थे।[3] भोजन के पहले मुनियों के के स्नान करने का विधान था।[4]

कुछ मुनि दीर्घकालीन यज्ञ किया करते थे। नैमिषारण्य के तपस्वियों

शल्य० ३७.४६-५० में वानप्रस्थ-मुनियों के नाम प्रायः ये ही मिलते हैं। इनमें असंख्यान की एक नई कोटि है। मुनि-संघ की चर्चा महाभारत के वनपर्व २६३.५; अनुशासन पर्व १०.१२; शल्य० ३७.५३ ३६.२ आदि में मिलती है। कण्व के आश्रम मे भी महर्षियों का गण रहता था। यहाँ तपोवन ऋषियों का उपनिवेश था। आदिपर्व ७०।

१. महाभारत वनपर्व २६०

२. वा० रामायण बालकाण्ड ६१वाँ और ६२वाँ सर्ग

३. महा० वन० २५६.८

४. महाभारत वन० २५६.१२; २६०.६। आगे चलकर दिन में दो या तीन बार स्नान करने का नियम बना।

ने १२ वर्ष का दीर्घसत्र यज्ञ के माध्यम से सम्पन्न किया था। अनेक ऋषि विभिन्न प्रदेशों से आकर उस यज्ञ के सम्पादन में संलग्न थे।[1] कुछ महातपस्वी मुनि यजमानों के लिए यज्ञ-सम्पादन का काम करते थे। वे यज्ञ की दक्षिणा—पशु आदि ग्रहण करते थे। राजा उनकी प्रतिष्ठा करते थे। यज्ञ-सम्पादन करने के लिए वे परिभ्रमण भी करते थे।[2]

महाभारत के अनुसार वानप्रस्थ दिन भर में नियमपूर्वक केवल एक वार तीसरे पहर थोड़ा भोजन कर सकता था। गृहस्थों की भाँति उसे अग्निहोत्र, गो-सेवा तथा पंच महायज्ञादि सम्पादन करना चाहिए था। वह विना जोती हुई भूमि मे उत्पन्न अन्न को अतिथियों के भोजन के पश्चात् खा सकता था। वह अतिथि-सेवा तथा यज्ञ के उद्देश्य से एक दिन, एक मास, एक वर्ष या अधिक से अधिक १२ वर्षों के लिए अन्न-संग्रह कर सकते थे। कुछ मुनि भूतल पर लोटते थे या पंजों के बल खड़े रहते थे अथवा किसी एक स्थान पर आसन लगा कर बैठते थे। मुनि दिन में तीन वार—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल स्नान और सन्ध्या करते थे। कुछ मुनि पक्ष में केवल एक वार यवागु पीकर रहते थे अथवा कन्द-मूल, फल या फूल से जीविका चलाते थे। वे सभी ऋतुओं में प्रकृति की विषमताओं से अपने शरीर को तपाते थे।[3] कुछ मुनि इंगुदी और रेंडी के तेल का उपयोग करते थे। इस प्रकार वानप्रस्थ-मुनि के लिए वन में रहना, वन में विचरना, वन में ठहरना, वन के मार्ग पर चलना, वन को गुरु की भाँति मान कर उसकी शरण लेना आदि साधारण जीवन-विन्यास का क्रम था। वे स्त्रियों के संयोग से सर्वथा दूर रहते थे। स्रुवा एकमात्र उनका पात्र होता था, तीन अग्नियों की वे नित्य शरण लेते थे और सदा सत्पथ पर चलते थे।[4]

महाभारत के अनुसार वानप्रस्थ मुनि को कभी गाँव में प्रवेश नहीं करना चाहिए था। वह वन के फल-मूल से अथवा पायी हुई भिक्षा से आये हुए अतिथियों का सत्कार करता था और भिक्षुओं को भिक्षा देता था। नियम था कि वानप्रस्थ अपनी वाणी पर संयम रखे, किसी से स्पर्धा न करे, अपने ऊपर दम और दूसरों के प्रति क्षमा तथा मैत्री-भाव बढ़ाये और सत्यपरायण बने। साधारणतः वानप्रस्थ

---

१. महा० शल्यपर्व ३७.४१-४३। ऋषियों के द्वारा विविध प्रदेशों में किये हुए यज्ञों के उल्लेख शल्य० ३८.१५-३० में मिलते हैं।

२. महा० शल्यपर्व ३६.१५-२०

३. महा० शान्तिपर्व २४४वाँ अध्याय

४. महा० अनुशासनपर्व १४२वाँ अध्याय

मुनि केश और श्मश्रु बढ़ाते थे। नित्य समाहित होना वानप्रस्थ के लिए साधारणतः आवश्यक था।[1]

वानप्रस्थ-स्त्रियाँ वल्कल और अजिन धारण करती थीं। गान्धारी और कुन्ती ने वानप्रस्थ-व्रत अपनाया था।[2]

धृतराष्ट्र के तपस्वी हो जाने पर युधिष्ठिर सपरिवार उनके आश्रम पर गये थे। वह आश्रम मृगों से परिव्याप्त था। केले के वनों से उसकी शोभा बढ़ रही थी।[3] धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर का स्वागत जल, मूल और फल से किया। आश्रम की वेदियों में होम की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। मुनि-समुदाय होम कर रहा था। मृगों का समूह निःशंक होकर विचरण कर रहा था। मयूर, कोकिल आदि पक्षियों का मनोरम निनाद हो रहा था। उच्च कोटि के विद्वानों का वेद-पाठ सुनाई पड़ रहा था। कहीं-कहीं फल और मूल की राशि सुशोभित हो रही थी।[4] राजा युधिष्ठिर ने वहाँ वनवासी मुनियों के लिए कलश, अजिन, प्रवेणी, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, स्थाली, पिठर, लौहपात्र आदि आवश्यक वस्तुओं का दान दिया।[5]

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि महाभारत और रामायण की विशाल परिधि में विविध प्रकार की रहन-सहन वाले मुनियों का समुदाय है।

सूत्र और स्मृति-साहित्य में वानप्रस्थ-जीवन की रूपरेखा बहुत-कुछ ऊपर जैसी ही रही। ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ-जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए इस युग में विशेष प्रयास किया गया। इस युग में वनवासियों की रहन-सहन मे कुछ अधिक कठोरता दिखाई पड़ती है। धीरे-धीरे विविध प्रकार के यज्ञों को वानप्रस्थ-जीवन मे अनिवार्य रूप से प्रतिष्ठा मिली।[6] मनु ने वानप्रस्थ-मुनियों को गृहस्थों से भिक्षा माँगने की सुविधा दी है, पर ऐसा भोजन आठ ग्रास से अधिक नहीं होना चाहिये था और वह भी वन में लाकर ही खाया जा सकता था।[7] वनवासी

---

१. महा० आश्वमेधिक पर्व ४६वाँ अध्याय

२. महा० आश्रमवासिक पर्व १९.१५; २६.१२-१३। परवर्ती साहित्य में अनेक स्थानों पर तापसियों के उल्लेख मिलते हैं, यथा रघुवंश १४.८०

३. महा० आश्रमवासिक पर्व २४.३

४. महा० आश्रमवासिक पर्व अध्याय २६ और २७

५. महा० आश्रमवासिकपर्व २७.१२-१५

६. मनुस्मृति ४.९,१०; याज्ञवल्क्य० ३.४५

७. मनुस्मृति ६.१२

अपने बनाये हुए नमक को भी खा सकता था।[1] वानप्रस्थ को सुख के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए था। उसे ब्रह्मचारी-जीवन बिताते हुए भूतल पर सोना चाहिए, अथवा वृक्ष की जड़ में अपना स्थान बना लेना चाहिए था।[2] मुनि के भोजन पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये, वे सम्भवतः उसकी तपस्या के ही अङ्ग थे। वह दिन और रात में केवल एक बार ही भोजन कर सकता था। धीरे-धीरे भोजन छोड़ने का विधान अधिक प्रचलित हुआ। एक दिन, दो दिन या तीन दिन तक लगातार उपवास करके पारणा करना, चान्द्रायण-विधि से भोजन करना, अथवा पक्ष के अन्त में एक बार भोजन करना आदि शरीर-शुद्धि के लिए आवश्यक नियम माने गये।[3] अन्त में भोजन छोड़कर जीवन-धारण करने के लिए केवल जल या वायु ग्रहण करना सर्वोच्च शुद्धि समझी गई।[4]

वानप्रस्थ-मुनियों के लिए पहले जो सुविधा आश्रम में रहने के लिए थी, वह कालान्तर में शनैः-शनैः नहीं रह गई।[5] पहले के महर्षि आश्रमों में अपने विद्यार्थियों—ब्रह्मचारियों और ऋषियों—के साथ मनोरम पर्वतों के रमणीय वनों या नदियों के तट पर शान्त जीवन बिताते थे। उनके जीवन में जो प्रकृति-प्रदत्त सौरभ और समृद्धि थी, वह परवर्ती काल में लुप्तप्राय हो गई। ऐसी परिस्थिति में इस युग में मुनि-जीवन का स्तर पहले जैसा ऊँचा न रहा और मुनि-जीवन का उद्देश्य एकमात्र तप होकर रहा। समाज का वनवासी मुनियों के सम्पर्क में आने का अवसर नये विधानों के अनुसार कम होता गया। निःसन्देह पूर्ववर्ती युग में घोर तपस्या करने

१. मनु० ६.१२

२. मनु० ६.२६

३. मनु० ६.१९,२१; विष्णुधर्मसूत्र ९५.५-६

४. आपस्तम्ब ध० सू० २.९-२३.२ तथा मनु० ६.३१। बौधायन धर्मसूत्र ३.३ में भोजन करने की दृष्टि से वानप्रस्थ मुनियों के दस भेद मिलते हैं—पकाया हुआ भोजन करने वाले पचमानक और कच्चा भोजन करने वाले अपचमानक कहे जाते थे। इन्द्रावसिक्त शाकाहारी और रेतोवसिक्त मांसाहारी पचमानक थे। पचमानकों के तीन भेद फल, मूल और शाक में से एक, दो या तीनों के खाने के आधार पर थे। अपचमानकों में से उन्मज्जक मुनि भोजन रखने के लिए पात्र काम में नहीं लाते थे, प्रवृत्ताशी हाथ में लेकर भोजन करते थे तथा मुखेनादायी बिना हाथ लगाये पशुओं की भाँति खाते थे। तोयाहारी जल पीकर और वायुभक्ष केवल पवन के सहारे जीते थे।

५. आपस्तंब ध० सू० २.९.२१.२० मनु० ६.२५ तथा वसिष्ठ० ९.११

वाले कुछ मुनि अवश्य ही थे, पर आश्रमवासी मुनियों की परम्परा का उस युग की संस्कृति के निर्माण करने में अधिक महत्त्व रहा है। एक नये प्रकार के तपस्वियों का परवर्ती युग में वर्णन मिलता है। वे राज-प्रासादों के समान ऊँचे मठों में रहकर तपस्या करते थे। सम्भवतः इस प्रकार की तपस्या की कल्पना बौद्ध संस्कृति की देन हो। वास्तव में तापसी संस्कृति का मठों में ह्रास हो कर रहा।[1]

यदि वानप्रस्थ-मुनि रोग से पीड़ित होकर अपने आचार का पालन करने में असमर्थ होता या उसे मृत्यु निकट आती प्रतीत होती तो वह उत्तर-पूर्व दिशा में महाप्रस्थान करता था। ऐसी स्थिति में वह भोजन नहीं कर सकता था और जितने दिन जीवित रह सकता था, केवल जल पीकर चलता रहता था। अन्त में वह गिर पड़ता था और वहीं से उसकी स्वर्गलोक की यात्रा का आरम्भ माना जाता था।[2]

अर्थशास्त्र के अनुसार राजाओं के द्वारा तपोवन बनाने का विधान मिलता है। ऐसे तपोवन कम से कम मील भर लम्बे-चौड़े होते थे। तपोवन की सीमा निर्धारित होती थी और उसका समुचित संरक्षण होता था, जिससे वह वनैले पशुओं और गाय-भैंसों के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता था।

पुराणों में वानप्रस्थ-जीवन की रूप-रेखा प्रायः पूर्ववत् मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आश्रम में शरीर की उपेक्षा करने का भाव दिन-दिन बढ़ता गया। शरीर की मलिनता बढ़ाने के लिए केश, नख, रोम और श्मश्रु का बढ़ाना पर्याप्त ही था, आगे चल कर नियम बना कि शरीर के मलों को हटाना नहीं चाहिए। शीत, वायु, अग्नि, वर्षा और धूप से शरीर को कष्ट देने के लिए आवश्यक था कि कुटी या पर्णशाला में न रहे। हाँ, अग्निहोत्र की अग्नि को किसी कुटी, पर्णशाला या पर्वत की कन्दरा में रख कर अवश्य बचाना चाहिए। इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रम धीरे-धीरे कठोर होता गया। इसकी कठोरता से घबरा कर गृहस्थ उसको अपनाने में हिचकने-से लगे। धीरे-धीरे इस आश्रम का नाम मिटने लगा। पहले तो वानप्रस्थ-आश्रम की अवधि कम कर दी गई और इसका कारण बताया गया कि अधिक तप करने से कहीं बुद्धि में विकार न उत्पन्न हो जाये। अतएव अपनी शक्ति के अनुसार १२,८,४ या केवल एक वर्ष तक वानप्रस्थ के नियमों का पालन करे।[3]

---

१. ऐसे तपस्वियों के लिए देखिये राजत० ५.३८

२. मनुस्मृति ६.३१। भागवत ११.१८.११ में मुनि के लिए अग्नि-प्रवेश के द्वारा मरण।

३. श्रीमद्भागवत ११.१८ तथा ७.१२। इस पुराण के अनुसार

चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ व चतुरो मुनिः।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः॥ ७.१२.२२

व्यक्तित्व के विकास के लिए बौद्ध संस्कृति में भी वनों का अतिशय महत्त्व रहा है। इस संस्कृति में अरण्य को रमणीय माना गया और कहा गया कि कामनाओं के फेर में न पड़ने वाले विरागी पुरुष इन्हीं अरण्यों में रमण करते हैं। थेरगाथा और थेरीगाथा में अधिकांश चरित ऐसे ही महापुरुषों के हैं जिन्होंने वन में रहते हुए ही अपने व्यक्तित्व का विकास किया था और साथ ही जिन्होंने वन-भूमि को अतिशय रमणीय मानकर प्रायः वहीं अपना जीवन-यापन किया। इन ग्रन्थों के अनुसार अरण्य-वासी इन मुनियों की उपाधि थी, जिनका चित्त वन की शोभा और पशुविहगों की ओर खिंचा रहता था। पर्वत और वन की प्रशान्ति के बीच अंगुलिमाल का मन रमता था। वन-वृक्षों की हरी शीतल छाया में विचरण करने वाले मुनि वन-सरिताओं का शीतल जल पीते थे, उन्हीं में स्नान करते थे और वन-राजि में इतस्ततः परिभ्रमण करते थे। वन और पर्वत की शीतल वायु उनके प्रमाद रूपी कुहरे को मानो उड़ा देती थी। वे वन की पुष्प-रंजित भूमि पर बैठ कर मुदित और स्वच्छन्द-विहारिता का अनुभव करते थे। प्रकृति की स्वच्छ सुरम्यता को भिक्षुओं ने अपनी प्रगति में सर्वथा सहायक पाया। ऐसा वातावरण उनकी समाधि और चिन्तन को स्फुरित करता था। वन की प्राकृतिक उदारता के प्रति भिक्षुओं की कृतज्ञता के अनेक उद्गार इन ग्रन्थों में संकलित हैं। वसभ नामक थेर ने शरद् की वनश्री की सहायता के द्वारा आत्म-विकास का प्रयत्न किया था।[1]

गौतम बुद्ध ने वन की उपयोगिता प्रमाणित करते हुए कहा कि जब तक भिक्षु वन के शयनासन का उपयोग करेंगे, उनकी वृद्धि होगी।[2] उन्होंने नियम बनाया कि भिक्षु एकासन और एकशय्या वाला होकर अकेले विचरण करें, आलस्य न करें, अकेले अपना दमन करें और वन में आनन्दपूर्वक रहें।[3] गौतम बुद्ध का मन पर्वतों और वनों की प्राकृतिक शान्ति में रमता था। उनके जीवन-काल में प्रायः भिक्षु वनों और पर्वतों की गुफाओं में रहते थे।[4] स्वयं बुद्ध कभी-कभी

आधुनिक युग में अब वानप्रस्थ केवल एक दिन के लिए स्मरण की वस्तु रह गया है। ऋषि-पंचमी के दिन जो व्रत लिया जाता है, वह वानप्रस्थ का स्मारक है। सौन्दरनन्द ७.४९ के अनुसार अनेक राजा यथासमय वानप्रस्थ बने, पर कठिनाइयों से घबराकर फिर वन छोड़कर राजा बने।

१. धम्मपद अरहन्तवग्गो ७.१०

२. महापरिनिब्बानसुत्त १६

३. धम्मपद पकिण्णकवग्गो १६

४. आगे चल कर विहारों के बनने पर भिक्षुओं का वन में रहना प्रायः कम-सा गया। प्रारम्भिक युग में उपसम्पदा के समय उनको प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि हम चीथड़ों के ही वस्त्र पहनेंगे और वृक्ष की जड़ में निवास करेंगे।

वनों में कई दिनों तक लगातार रहते थे। आगे चल कर प्रकृति की सुरम्यता के बीच नगरों से दूर, नदियों के तट पर और पर्वतों की घाटियों में अनेक विहार बने। विहारों में रहने वालों की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए राजाओं और धनी लोगों के द्वारा भूमि और वन का दान दिया गया।[1] नन्द ने योगाभ्यास करने के लिए वन की शरण ली।[2]

बौद्ध मुनियों के लिए नियम था कि वे नित्य भ्रमण करें। केवल वर्षा के चार मास तक उन्हें किसी विहार का आश्रय लेकर रहना आवश्यक था। मुनियों को भिक्षा माँग कर अपने भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में उनके लिए नित्य भ्रमण करने में कोई असुविधा नहीं थी। प्रारम्भिक युग में मुनियों को अपने पहनने के लिए वस्त्र इधर-उधर गिरे-पड़े चीथड़ों से ही बना लेने की अनुमति थी। परवर्ती युग में उनको दान में नये वस्त्र प्रायः मिलने लगे।

गौतम बुद्ध की मध्यमा-प्रतिपदा के अनुसार भिक्षुओं को न तो गृहस्थों की भाँति अतीव सुख था और न वैदिक मतानुयायी वानप्रस्थ-मुनियों की भाँति उन्हें जीवन की कठोरता का सामना करना पड़ता था। भिक्षुओं ने तप से शरीर को कष्ट देने की रीति को कभी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक नहीं माना।[3]

सातवी शती के चीनी यात्री इत्सिंग ने आदर्श मुनियों के जीवन-विन्यास का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह किसी प्रशान्त वन-प्रदेश में बैठकर पक्षियों और मृगों की संगति का आनन्द लेता है और यश की खोज में न पड़कर निर्वाण की अखण्ड शान्ति चाहता है।

जैन संस्कृति में आत्मा को कर्मों के संस्कार से बचाने के द्वारा ही पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने की जो योजना बनाई गई, उसके लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्र को साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया।[4] इनमें से गुप्ति है मन, वचन और शरीर पर निग्रह रखना। चलने, बोलने, खाने, उठाने, रखने तथा शौच के कामों में सावधानी रखना समिति है। धर्म दस प्रकार के हैं—

---

१. उदाहरण के लिए देखिये नासिक के गुहालेख *Collected Works of Bhandarkar* भाग १ में प्रकाशित।

२ सौन्दरनन्द १७.१

३. अनुप्रेक्षा के विवेचन के लिए देखिये इसी अध्याय का 'वानप्रस्थ का तप और तत्त्वज्ञान' प्रकरण।

४. उपर्युक्त रहन-सहन का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र ९.१–१७ के आधार पर किया गया है। परिषहों के संस्कृत नाम नीचे लिखे सूत्र में हैं—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानऽदर्शनानि। तत्त्वार्थ सूत्र ९.९

क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य। परिषह २२ हैं—भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी, डँस तथा मच्छरों का काटना, नग्नता, असन्तोष, स्त्री, चलना-फिरना ध्यान के लिए आसन लगाने पर बाधाओं का आना, नींद आना, गाली सुनना, पीटा जाना, याचना करने पर किसी वस्तु का न मिलना, रोग, काँटों या झाड़ियों से शरीर को कष्ट होना, मल, आदर होना, ज्ञान का अभिमान, अज्ञान होना तथा दर्शन का अभाव। ये ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जो किसी मुनि के समक्ष आ सकती हैं और उसके सत्पथ पर अग्रसर होने में बाधक हो सकती हैं। मुनि इन सब को सहते हुए आगे बढ़ना है।

जहाँ तक जैन मुनियों के रहने और खाने-पीने की व्यवस्था का सम्बन्ध था, यह निश्चित नियम रहा है कि न तो उनके निमित्त कोई घर बनना चाहिए था और न भोजन या वस्त्र। ऐसी स्थिति में वह श्मशान, शून्यागार, गुहा तथा शिलशाला में रह सकता था।[१] वह शीत से बचने के लिए आग नहीं जलाता था। उनके लिए वस्त्र भिक्षा में प्राप्त होते थे। शीत से बचने के लिए वह कुछ अधिक वस्त्र ले सकता था, पर ग्रीष्म आते ही वह उन्हें छोड़ देता था।[२]

मुनि का भोजन स्वाद के लिए नहीं होता था। खाते समय अधिक स्वाद पाने के लिए वह भोजन के ग्रास को दाहिनी से बाईं ओर और बाईं ओर से दाहिनी ओर नहीं ले जा सकता था।[४] उनको भोजन भिक्षा से मिलता था।

जैन मुनियों के जीवन का आदर्श महावीर के तपोमय जीवन के अनुरूप बना है। चार मास से अधिक दिनों तक विविध प्रकार के जीव उनके शरीर पर रेंगते रहे और काटते रहे। केवल १३ मास तक उन्होंने वस्त्र धारण किया और इसके पश्चात् वस्त्रहीन होकर दिगम्बर बन गये। वे अनागार थे। उन्होंने चार हाथ वर्ग-भूमि में अपनी दृष्टि सीमित करके समाधि लगाई। वे गृहस्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। वे उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे। पापी लोग उन्हें डण्डों से पीटते थे। महावीर नमस्कार करने वाले व्यक्ति का भी उत्तर नहीं

१. दीघनिकाय में कस्सप सीहनाद सुत्त से

२. आचारांग सूत्र १.७.२.१

३. आचारांग १.७.३.३; १.७.४.१; तत्त्वार्थ-सूत्र ७.६ के अनुसार शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण आदि क्रमशः पर्वत, परित्यक्त घर और स्वामी रहित घर मुनियों के आवास के लिए थे।

४. आचारांग १.७.६.२

देते थे। दो वर्षों तक उन्होंने शीतल जल का उपयोग नहीं किया। उन्होंने स्त्रियों को सभी पापों का मूल माना। जो वस्तु उन्हीं के निमित्त बनाई जाती थी, उसे वे नहीं खाते थे। वे केवल पवित्र भोजन ग्रहण करते थ। महावीर कभी स्वादिष्ठ भोजन की कामना नहीं करते थे। वे कभी अपनी आँख और शरीर को खुजलाते नहीं थे। वे किसी अन्य व्यक्ति का वस्त्र नहीं पहनते थे और न किसी के पात्र में भोजन करते थे। जहाँ भोजन बनता था, वहाँ से वे उदासीन भाव से चले जाते थे। अत्यधिक शीत होने पर भी वे सारे वस्त्रों का त्याग करके बाँहें फैला कर घूमते रहते थे और किसी वृक्ष का भी आश्रय नहीं लेते थे।[1]

महावीर किसी उपचार को कामना नहीं करते थे। वे स्नान और दन्त-धावन आदि नहीं करते थे, क्योंकि वे शरीर के स्वभाव से परिचित थे कि यह नित्य मलमय है। भोजन और पान का अधिकाधिक त्याग उनके तप का प्रमुख अंग था। वे भोजन पाने के लिए श्रमण, ब्राह्मण या पशु-पक्षियों से होड़ नहीं लगाते थे। भिक्षा के लिए भ्रमण करते समय वे चिन्तन में निमग्न रहते थे।[2]

यात्रा करते समय यदि मार्ग में कोई नदी या नाला मिलता और उसे पार करते समय उनका शरीर भीग जाता था तो वे तब तक तट पर खड़े रहते थे, जब तक उनका शरीर सूख नहीं जाता था। यदि उनके पैर में कीचड़ लग जाती थी तो वे घास पर चल कर उस कीचड़ को छुड़ाते नहीं थे। ऐसा करने में घास को क्षति पहुँचने की सम्भावना थी। वे उसी मार्ग पर चलते थे, जिस पर घास कम होती थी।[3]

महावीर शरीर की रक्षा करने के लिए किसी प्रकार की सावधानी नहीं रखते थे। यदि उनके मार्ग में कोई हिंसक पशु आ जाता तो वे विचलित नहीं होत थे, भले ही वह उनको हानि पहुँचाता था। किसी के द्वारा प्रहार किये जाने पर वे राजा के यहाँ न्याय के लिए भी नहीं जाते थे।[4]

महावीर के जीवन के आदर्श पर जैन मुनियों के जीवन की रूप-रेखा इस प्रकार मिलती है—मुनि दो, तीन, चार, पाँच, छः या सात दिनों में, पखवारे अथवा एक से लेकर छः मास में केवल एक बार खाते थ। उनका भोजन प्रत्यग्र, शुद्ध, भिक्षा द्वारा प्राप्त और बिना धोये हुए हाथों से दिया हुआ ही हो सकता था। उनकी

१. आचारांग १.८.१

२. आचारांग १ ८.४ शरीर की शुद्धि की उपेक्षा के लिए देखिए सूयगडंग १.९.१२,१३

३, ४. आचारांग २.३.३.१३

याचना जिह्वा के आस्वादन के लिए नहीं होती थी । वे खड़े हो कर या आसन पर बैठ कर खा लेते थे, दण्ड की भांति लेट जाते थे अथवा लकड़ी की भाँति धूप में बैठते थे और दिगम्बर रहते थे । वे शरीर को खुजलाते नहीं थे और न थूकते थे। उनकी दाढ़ी, केश, नख आदि प्रायः प्राकृतिक रूप में बढ़ते रहते थे । कुछ मुनि केशों का लुंचन भी करते थे । सोने के लिए मुनि धरातल अथवा चौकी का उपयोग करते थे ।[1]

परवर्ती युग में श्वेताम्वर सम्प्रदाय के मुनियों ने शारीरिक सुख की दृष्टि से मध्यमा प्रतिपदा अपनायी । उनके विविध प्रकार के वस्त्र सन, ऊन और रुई आदि उपादानों के बने होते थे । साधारणतः विना सिले हुए वस्त्र पहने जाते थे । ऐसे वस्त्र थे धोती और चादर । स्त्री-मुनियों के लिए विविध प्रकार के वस्त्रों के पहनने की सुविधा थी ।[2]

तप और तत्त्वज्ञान

मुनियों की रहन-सहन में सुख का अभाव और शरीर को कष्ट सहने के योग्य बनाने की प्रक्रिया तप के साधन हैं । इन को तप का प्रथम सोपान माना जा सकता है । लोगों का विश्वास था कि आध्यात्मिक उन्नति का जहाँ आरम्भ होता है, वहीं आधिभौतिक सुखों का अन्त हो जाना चाहिए । शरीर को जीवित-मात्र रखने के लिए भोजन, वस्त्र और आवास आदि हो सकते हैं। कालान्तर में एक ऐसा युग आया, जब शरीर को अधिकाधिक कष्ट देना आध्यात्मिक उन्नति का स्वरूप माना जाने लगा । आरम्भ में शारीरिक सुखों की उपेक्षा इसलिए की जाती थी कि उनके चक्कर में पड़ कर मनुष्य को समाधि और योग के लिए मन लगाना सरल नहीं रहता है, पर आगे चल कर कुछ लोगों के लिए शरीर को कष्ट देना ही तप का एकमात्र उद्देश्य हो गया ।

तप का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में इस प्रकार मिलता है—

> तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
> तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।। १०.१२९.३

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार तप संवर्धन का साधन है। यही विकास का मूल कारण माना गया । मानव-व्यक्तित्व के विकास में तप का वैसा ही महत्त्व समझा गया ।

---

१. सूयगडंग २.२.७२

२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य ३ २८३५; ४.३६७१,४०८२-४०८५

तप के द्वारा उत्थान की सम्भावना का उल्लेख वैदिक युग से मिलता है।[1] इससे दूसरों की रक्षा करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होना सम्भव माना जाता था।[2] वैदिक कल्पना के अनुसार तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है।[3] इसे अमरता प्रदान करने का साधन भी माना गया।[4]

वेदकालीन ब्रह्मचारी तपस्वी के रूप में चित्रित किया गया है। वह तप से तप्यमान होता है और आचार्य, देवों और लोकों को तप से आपूरित करता है।[5] तप के साथ ब्रह्मचारी तपस्वी के अन्य लक्षण थे—समिधा, मेखला, श्रम तथा घाम (धूप) का आवरण आदि।[6]

ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त वैदिक काल में ऋषि तप करते थे। इसके द्वारा उन्हें उसी प्रकार सफलता मिल सकती थी जैसे यज्ञ से।[7] इससे लोकों पर विजय प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों तप की मात्रा बढ़ती है, मानव उच्चतर लोकों को जीतता है और इस लोक में भी वह श्रेष्ठतर हो जाता है।[8]

वैदिक कल्पना के अनुसार तप करने से शरीर में अलौकिक ज्योति जगती है। इस ज्योति के साथ जो प्रकाश और सन्तापन होते हैं, उनका भारतीय साहित्य में उल्लेख मिलता है। 'जब प्रजापति तप कर रहे थे, उस समय उनके केश-छिद्रों से जो प्रकाश ऊपर की ओर निःसृत हुआ, वही ताराओं के रूप में प्रतिष्ठित है।'[9]

---

१. पूर्वो जातो ब्राह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानः तपसोदतिष्ठत्। अथर्व० ११.५.५

२. अथर्व० ११.५.८,१०

३. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। अथर्व० ११.५.१७

४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। अथर्व० ११.५.१९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.१३.१ के अनुसार देवताओं ने तप से देवत्व पाया है। शतपथ ब्राह्मण १०.४.४.१-३ के अनुसार प्रजापति १,००० वर्ष तपस्या करने के द्वारा अपनी शुद्धि करके मृत्यु-पाश से विमुक्त हो सका।

५. अथर्व० ११.५.१,२,४

६. अथर्व० ११.५.४,५

७. अथर्व० १२.१.३९

८. शतपथ ब्रा० ३.४.४.२७

९. शतपथ ब्रा० १०.४.४.२

उपनिषद्-काल में ब्रह्मचर्य और तप की जो समन्वित रूप-रेखा मिलती है, उसमें यज्ञ, इष्ट, सत्रायण, मौन, अनशकायन और अरण्यायन को स्थान मिला है।[१] तप को ज्ञानमय माना गया है।[२] पिप्पलाद ऋषि ने अपने शिष्यों को तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक एक वर्ष तक रह कर अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए आदेश दिया।[३] उपनिषदों में तप को ब्रह्मज्ञान का साधन ही नहीं माना गया, अपितु उसे ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित किया गया।[४] इस युग में गृहस्थाश्रम को छोड़कर ऋषि-प्रव्रज्या लेने की प्रवृत्ति अतिशय लोकप्रिय रही।

तपस्या के माध्यम से शरीर को कष्ट देने के लिए विविध प्रकार की प्रक्रियायें थीं। साधारण प्रक्रिया थी—भोजन, पान, वस्त्र आदि को केवल उतनी ही मात्रा में ग्रहण करना, जितने से जीवन का अस्तित्व-मात्र बना रहे। यदि किसी ने चाहा तो इनका सर्वथा परित्याग कर दिया। शरीर को कष्ट देने की कुछ अन्य प्रक्रियायें थीं—चमगादड़ की भाँति उलटा लटकना, काँटों की शय्या पर सोना, पंचाग्नि से सन्तप्त होना, उकड़ूँ बैठना आदि।[५]

साधना-पथ पर अग्रसर होने वाले मुनि चार ब्रह्म-विहारों की भावना करते थे।[६] तपोमय जीवन की सिद्धि होने पर उन्हें पाँच अभिज्ञायें तथा आठ समापत्तियाँ प्राप्त होती थीं।[७]

रामायण में तप के द्वारा प्रभा के द्योतित होने का उल्लेख है। तपस्या करके महात्मा अग्नि के समान देदीप्यमान हो जाते थे। मुनि साधारणतः जप और होम में संलग्न रहते थे।[८] तप के द्वारा ब्रह्मत्व की सम्भावना मानी जाती थी। रामायण के अनुसार यज्ञ की भाँति तप के लिए अवधि नियत होती थी। उस अवधि के

१. छान्दोग्य उप० ८.५

२. मुण्डक उप० १.१.९

३. प्रश्नोप० १.२

४. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली २५

५. सेतकेतु जातक ३७७

६. मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार मनोवृत्तियों को ब्रह्मविहार कहते हैं।

७. अभिज्ञा दिव्य ज्ञान है—इच्छानुसार रूप बना लेना, कितनी भी दूरी से सुन लेना, दूसरों के विचार जान लेना तथा उनसे सम्बद्ध घटनायें जान लेना।

८. वा० रामा० बालकाण्ड ५१वाँ सर्ग

समाप्त होने पर तपस्वी वैसे ही स्नान करते थे, जैसे ब्रह्मचारी अध्ययन समाप्त कर लेने पर स्नातक बनते समय।[1]

कभी-कभी तपस्या अत्यन्त घोर होती थी। विश्वामित्र की घोर तपस्या का परिचय रामायण के इस श्लोक से मिलता है—

> **ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन्,**
> **घर्मे पंचतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः,**
> **शिशिरे सलिलेशायी रान्यहानि तपोधनः॥ बाल० ६३.२३-२४**

(बिना कोई अवलम्ब लिए, केवल वायु से ही जीवन-वृत्ति करते हुए, धूप में पंचाग्नि का सेवन करते हुए, वर्षा में आकाश का आश्रय लेकर शिशिर में दिन-रात पानी में पड़े रहकर उन्होंने तपस्या की।)

तत्कालीन धारणा के अनुसार मनोविकारों से तप का क्षय होता था। ऐसी परिस्थिति में यदि किसी कारणवश उचित क्रोध भी हो गया तो समझा जाता था कि तप की सिद्धि नहीं हुई। कुछ मुनि व्रत लेते थे कि जब तक तप करना है, कभी बोलूंगा ही नहीं।[2] ऐसे घोर तप से सारा संसार जलने लगता था।[3] ऋषियों के गण होते थे। प्रत्येक गण का एक कुलपति होता था। कुलपति के द्वारा व्यक्तित्व का विकास कराया जाता था।[4]

तप के प्रभाव से ज्ञान की अलौकिक शक्ति की सम्भावना मानी जाती थी।[5] तत्कालीन धारणा के अनुसार तपस्वी दूर-दूर की वस्तुओं को इन्द्रियों से परे होने पर भी जान सकते हैं। मुनि दूसरों के मन की बातें जान लेते थे।[6] तप से आत्मज्ञान होता था। ऐसे आत्मज्ञानी तपस्वियों को भावितात्मा कहा जाता था।[7] अन्त में उन्हें ब्रह्म से साक्षात्कार हो सकता था।[8] इनके अतिरिक्त तप की लौकिक उपयोगिता

---

१. वा० रामा० बालकाण्ड ६३.१

२. वा० रामा० बालकाण्ड ६४.१७। महाभारत आदि० १०७.३-१६; अनुशासन० १४२वाँ अध्याय; आश्रमवासिक० १९.१६-१८

३. वा० रामा० बालकाण्ड ६५.१३-१७

४. वा० रामा० अयोध्याकाण्ड ११६वें सर्ग से

५. मनु० ११.२३६; ५.२९

६. वा० रामायण अरण्यकाण्ड १४.१५-१६

७. वा० रामा० ५.४२

८. वा० रामा० ५.४२

भी थी। 'तपस्वियों की कामनायें मन में आते ही पूर्ण हो जाती हैं; जैसे जल बरसाना, किसी को सन्तान होने का वर देना आदि।'[1] मनु के अनुसार तप से औषध, आरोग्य, विद्या और दैवी स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। ऋषियों ने तप से वेदों को पाया। तप से सौभाग्यशालिता की उत्पत्ति होती है।[2] कुछ तपस्वी योग की प्रक्रियाओं में संलग्न होते थे।[3]

तपस्वी का कर्तव्य था कि वह नित्य अपने आध्यात्मिक ज्ञान का संवर्धन करे। मनु ने वानप्रस्थ के लिए विविध प्रकार की उपनिषदों और श्रुतियों के अध्ययन का उल्लेख किया है।[4]

तपोमय जीवन बिताने वाले मुनियों के आश्रमों में मुनि बन कर रहने की इच्छा करने वाले लोगों की दीक्षा होती थी। आश्रमों के कुलपति दीक्षित मुनियों को धर्म-सम्बन्धी प्रवचन देते थे। आश्रमों में मुनियों के अध्ययन द्वारा व्यक्तित्व को विकसित करने की सफल योजनायें थीं।[5]

महाभारत में तप की सुव्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इसके अनुसार तप तीन प्रकार के हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और प्राज्ञों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप हैं। किसी के मन को कष्ट न देने वाली वाणी बोलना, सत्य, प्रिय और लाभप्रद बातें कहना, स्वाध्याय और अपने कर्म के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, मन को वश में रखना और शुद्ध भावना मानसिक तप हैं। इन तीनों प्रकार के तपों को निष्काम भाव से करना सात्त्विक तप है। यदि इन्हें सत्कार तथा पूजा आदि के लिए किया जाय अथवा दम्भ से किया जाय तो वह राजस तप है। यदि मूर्खतावश अपने को पीड़ा देकर दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए तप किया जाय तो वह तामसिक तप है।[6]

---

१. आपस्तम्ब ध० सू० २.९.२३.७-८

२. मनुस्मृति ११.२३७-२४४

३. वा० रामायण अरण्य० ६.६

४. मनुस्मृति ६.२९

५. महा० अनुशासनपर्व अध्याय १०, आदिपर्व अध्याय ७०

६. श्रीमद्भगवद्गीता १७.१४-१९ में प्रस्तुत की हुई तप की यह रूप-रेखा समाज की प्रतिष्ठा के लिए है। इस तप के लिए वन में जाने की आवश्यकता नहीं रहती। आधुनिक युग में गाँधी जी का तपोमय जीवन उपर्युक्त आदर्श पर प्रतिष्ठित था।

महाभारत के अनुसार अनेक विचारकों ने शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रक्रियाओं को तप नहीं माना है। मार्कण्डेय मुनि के अनुसार यदि मनोभाव निर्मल न हुआ तो अग्निहोत्र, वन में रहना, शरीर को सुखाना आदि व्यर्थ हैं। जो पुरुष मन, वाणी, बुद्धि और कर्म से कोई पाप नहीं करते, वे ही महात्मा तप करते हैं। शरीर को सुखाना तप नहीं है। अनशन करने से पाप नहीं शुद्ध होते, केवल शरीर के मांस और रक्त क्षीण होते हैं। शरीर को कष्ट देने से नहीं; अपितु ज्ञान और कर्म से ही जरा-मरण और व्याधियों से छुटकारा होता है तथा उत्तम पद मिलता है।[१]

मनु ने गृहस्थों के लिए तप की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। इसके अनुसार ब्राह्मण के लिए ज्ञान प्राप्त करना, क्षत्रिय के लिए प्रजा-पालन करना, वैश्य के लिए कृषि, पशु-पालन आदि व्यवसाय और शूद्र के लिए समाज-सेवा तप हैं।[२] तप की यह सार्वजनिक रूप-रेखा परवर्ती युग में विशेष लोकप्रिय हुई।

पतञ्जलि के योगसूत्र के अनुसार तप से अशुद्धि का क्षय होता है और शरीर तथा इन्द्रिय सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[३] तप क्रियायोग है।[४]

बौद्ध संस्कृति में तप के नाम से प्रचलित शरीर को कष्ट देने वाली सभी प्रक्रियाओं को अनुचित कहा गया।[५] इसमें गीता की भाँति शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप की प्रतिष्ठा की गई है। गौतम ने मन की स्वच्छता को साधु-जीवन के लिए सबसे बढ़ कर आवश्यक माना है।[६] निन्दा और हिंसा से विरत होना, अपने ऊपर संयम रखना और चित्त को योगमार्ग में स्थिर करने की शिक्षा गौतम ने दी।[७] चित्त को सम्बोधि अंगों में लगाना ही गौतम के अनुसार मानसिक तप है। सम्बोधि अंग हैं—स्मृति (सत्सिद्धान्तों को स्मरण रखना), धर्म-विचय (धर्म के सिद्धान्तों पर विचार करना) वीर्य (उद्योगपरता), प्रीति (मन की प्रसन्नता), प्रश्रब्धि (शान्ति), समाधि तथा उपेक्षा। बौद्ध संस्कृति में इन्हीं के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति

---

१. महाभारत वनपर्व २००-८०-१०७

२. मनुस्मृति ११.२३५

३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योगसूत्र २.४३

४. योगसूत्र २.१ के अनुसार तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग हैं। इनसे समायुक्त होकर ही कोई व्यक्ति योग की प्रक्रियाओं के लिए समर्थ हो सकता है।

५. दीघनिकाय में कस्सपसीहनाद सुत्त से

६. धम्मपद यमकवग्गो ६, बुद्ध वग्गो १ तथा दण्डवग्गो १३

७. धम्मपद चित्तवग्गो ६-७

हो सकती है। गौतम ने शील-सम्पत्ति, चित्त-सम्पत्ति और प्रज्ञा-सम्पत्ति को भिक्षुओं के लिए आवश्यक बताया।[1]

गौतम ने मुनि के लक्षण बताये हैं—सत् और असत् को परखने वाला पुरुष मुनि है। वह सत् को ग्रहण करता है। मुनि इस लोक और परलोक का मनन करता है।[2] मन के समस्त विरोधों का नाश करके जो दुःख और तृष्णाओं से विमुक्त है, वही मुनि है।[3] जो व्यक्ति पूर्वजन्मों को तथा स्वर्ग और नरक को जानता है, जिसका जन्म क्षय हो गया है और जो अभिज्ञा-तत्पर है, वही मुनि है।[4] अध्यात्म-विषयक और ब्रह्म-विषयक धर्म को जान कर आसक्ति से परे रहने वाला व्यक्ति मुनि है।[5]

बौद्ध संस्कृति में मुनियों के जागरण के साधन-स्वरूप चार स्मृति-उपस्थानों की प्रतिष्ठा की गई। इनके अनुसार मुनि अपने शरीर, वेदना, चित्त तथा मनोवृत्तियों का तात्त्विक पर्यालोचन करता था। शरीर की तात्त्विक अशोभन गति का ध्यान करके वह इसके प्रति अनासक्त हो जाता था। ऐसे व्यक्ति की उपाधि थी कायानुपश्यी योगी। यह प्रथम उपस्थान था। द्वितीय उपस्थान में मुनि अपनी वेदनाओं के सुख-दुःखमय प्रवृत्तियों का ध्यान करके समझ लेता था कि जो वेदना उत्पन्न हुई है, वह मिट कर रहेगी। ऐसा अनासक्त मुनि वेदनानुपश्यी योगी कहा जाता था। तृतीय उपस्थान के माध्यम से मुनि अपने चित्त का विवेचन करता था कि वह काम, द्वेष, मोह आदि से ग्रस्त है अथवा मुक्त। वह समझ लेता था कि चित्त स्वभावतः चञ्चल है। ऐसी स्थिति में योगी चित्तानुपश्यी कहा जाता था। अन्तिम उपस्थान में मुनि अन्तःकरण के पाँच आवरण—काम, विकार, द्वेष, आलस्य, अस्वस्थता और संशय पर विचार करते हुए समझ लेता था कि वह इनसे मुक्त नहीं है। वह इन आवरणों की उत्पत्ति, विनाश और पुनः उत्पत्ति की समस्या पर ध्यान लगाता था। इसके साथ ही वह पाँच स्कन्ध, सात बोध्यङ्ग, चार आर्य सत्य तथा इन्द्रियों और उनके विषयों का तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए देखता था कि मेरा अन्तःकरण कहाँ तक इनसे प्रभावित है। ऐसा योगी धर्मानुपश्यी होता था।

गौतम ने उपर्युक्त चार उपस्थानों की महिमा प्रकट करते हुए कहा है कि यदि भिक्षु सात वर्षों तक इन उपस्थानों की भावना करे तो वह अर्हत् हो जायेगा।

---

१. दीघनिकाय में कस्सपसीहनाद सुत्त से
२. धम्मपद धम्मट्ठवग्गो १३-१४
३. सुत्तनिपात पारायणवग्गो
४. मज्झिमनिकाय ब्रह्मासुत्तन्त
५. सुत्तनिपात सभियसुत्त

यदि सात दिन भी यथार्थ रीति से इनकी भावना करे तो वह अर्हत् हो सकता है। इन स्मृतियों का उपस्थान शोक और कष्ट को मिटाने के लिए, दुःख और दौर्मनस्य के अतिक्रमण के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा निर्वाण के साक्षात्कार के लिए एकमात्र मार्ग है।[1]

जैन संस्कृति में दो प्रकार के तपों की प्रतिष्ठा हुई—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप में अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग भोजन सम्बन्धी व्रत हैं। अनशन करने पर निराहार रहना पड़ता था। अवमौदर्य में कभी भर पेट नहीं खाया जाता था। वृत्तिपरिसंख्यान अपना कर मुनि कुछ विशिष्ट प्रकार के गृहस्थों से ही भिक्षा ग्रहण कर सकता था। घी, दूध, दही, चीनी, नमक, तेल आदि का न खाना रस-परित्याग है। विविक्त-शय्यासन-व्रत सोने और बैठने के सम्बन्ध में है। मुनि वहीं बैठ और सो सकता था, जहाँ कोई और प्राणी न हो। बाह्य तप का अन्तिम व्रत काय-क्लेश है। इसका एकमात्र उद्देश्य शरीर को कष्ट देना है।

आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान हैं। वैयावृत्य तप में श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा का विधान है और व्युत्सर्ग के द्वारा शरीर के प्रति विराग-भावना जागरित की गई है।[2]

बौद्ध संस्कृति के स्मृति-उपस्थान की भाँति जैन संस्कृति में मुनियों के लिए १२ अनुप्रेक्षाओं का विधान है। इन अनुप्रेक्षाओं के अनुसार मुनि को धारणा बनानी पड़ती है कि 'संसार में प्रत्येक वस्तु अनित्य है। कहीं शरण नहीं है, जहाँ कर्मों का फल पाने से आत्मा को बचाया जा सके। आत्मा को जन्मान्तर में विभिन्न योनियों में भ्रमण करना पड़ता है, जब तक वह मुक्त न हो जाय। मैं ही कर्म करता हूँ और मुझे ही कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। संसार में सम्बन्धी, भाई-बन्धु, शरीर, मन आदि कोई भी तात्त्विक दृष्टि से मेरे नहीं हैं। मेरा शरीर अपवित्र और मलिन है। जब तक कर्म किये जाते हैं, उन कर्मों के प्रभाव से जन्म-मरण का बन्धन बना रहेगा। इन कर्मों से अलग रहना ही है, जिससे उनका प्रभाव आत्मा पर न पड़े।' मुनि इन अनुप्रेक्षाओं के साथ लोकों का ध्यान करता था। वह सोचता था कि बोधि दुर्लभ है। ऐसी परिस्थिति में वह सम्यक् पथ-ज्ञान, दर्शन और चरित्र के अन्वेषण में तत्पर हो जाता था।[3]

---

१. स्मृतियों के उपस्थान के लिए देखिये मज्झिमनिकाय सतिपट्ठानसुत्तन्त

२. तत्त्वार्थ-सूत्र ९.१९–२०

३. अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ तथा धर्मस्वाख्यातत्व—इन १२ का अनुचिन्तन अनुप्रेक्षायें हैं। तत्त्वार्थ-सूत्र ९.७

समाज-सेवा

वानप्रस्थ-मुनियों के लिए साधारणतः समाज से दूर वन में रहने का विधान था, पर साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि समाज के अभ्युदय की दिशा में मुनियों की गति-विधि का महत्त्व रहा है। मुनियों के आश्रमों में गृहस्थ अपनी समस्याओं को लेकर जाते थे अथवा मुनियों का केवल दर्शन करने के लिए उनके समीप जा पहुँचते थे। ऐसे अवसरों पर मुनियों का कर्तव्य था कि वे गृहस्थों को सत्पथ पर प्रवृत्त कर दें। कुछ मुनि अपनी तपस्या की अवधि समाप्त हो जाने पर लोक-पर्यटन करते हुए लोगों को जीवन की सत्प्रवृत्तियों की ओर झुका देते थे।[1] प्रायः राजा मुनियों के सम्पर्क में आकर उनसे प्रजा-पालन की उदात्त नीति की दीक्षा लेते थे। उनके सम्पर्क में आने से राजाओं का चरित्र नितान्त शुद्ध होने की सम्भावना थी। महर्षि वसिष्ठ का रघुकुल से सम्बन्ध होना इस प्रवृत्ति का परिचायक है। राजपरिवारों में गृह-कलह होने पर वहाँ आकर मुनि उस कलह को मिटाने का प्रयास करते थे। महाभारत में विदुर, व्यास, मैत्रेय आदि महर्षियों के इस दिशा में प्रयास करने की चरित-गाथा प्रायः मिलती है।[2] युद्धि-भूमि तक में ऋषि आकर अपना सुझाव दे सकते थे। महाभारत के युद्ध में सप्तर्षियों ने द्रोणाचार्य से कहा कि अब तुम युद्ध करना बन्द करो, क्योंकि तुम अधर्म युद्ध करते हो। द्रोण को ऐसा ही करना पड़ा।[3] परशुराम और कण्व ने दुर्योधन को पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करने से रोका था।[4] परवर्ती युग में शंकराचार्य का समाज के अभ्युत्थान में अनुपम योगदान रहा।

गौतम बुद्ध ने जीवन भर समाज में सत्य, अहिंसा आदि के उदात्त सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। महापरिनिर्वाण-सूत्र में गौतम के द्वारा राजनीतिक समस्याओं के विवेचन किये जाने का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से प्रतीत होता है कि कुछ मुनि समाज की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक थे। प्राचीन मुनियों के द्वारा रचे हुए ग्रन्थ उनकी समाज-सेवा के अद्वितीय प्रमाण हैं।

---

१. महाभारत आदि० ९२.२ के अनुसार गृहस्थों के बीच अनिकेत और संयमशील मुनि आरण्यक मुनियों से पहले देवभाव प्राप्त करता है। इससे गृहस्थों का मुनियों से सम्पर्क सिद्ध होता है।

२. उदाहरण के लिए देखिये महा० वनपर्व ८वें से १०वें अध्याय तक और भागवत ६.१५.१०–१६

३. महा० द्रोणपर्व

४. महा० उद्योगपर्व

संन्यास और कर्मयोग

प्राय: उल्लेख मिलता है। वे वन-जीवन में परिवर्तन करने के लिए कभी-कभी नगरों की ओर आते थे और संन्यासी के समान भिक्षा माँगते थे। वन-जीवन में जो कष्ट उन्हें होता था, उससे भिक्षा माँगते समय छुटकारा मिल जाता था। इस प्रकार कम से कम प्रारम्भिक युग में वानप्रस्थ की सर्वोच्च अवस्था संन्यास-आश्रम के नाम से प्रचलित रही।[1]

तपस्या का जीवन निरवधि काल तक नहीं चल सकता था। तप की अवधि पूरी हो जाने पर मुनि तप में लगे हुए अन्य मुनियों से साधारणत: उच्चतर कोटि का समझा जाता था।[2] जिन मुनियों की तपस्या पूर्ण हो जाती थी, उनको वन में रहना आवश्यक नहीं रह जाता था। ऐसे मुनियों के जीवन-क्रम को संन्यास नाम देकर एक नये आश्रम की योजना कालान्तर में चलाई गई।[3]

परवर्ती युग में वानप्रस्थ-आश्रम की उपेक्षा होने लगी और ब्रह्मचारी या गृहस्थ बिना वानप्रस्थ-आश्रम अपनाये हुए अथवा केवल कुछ दिनों के लिए वानप्रस्थ में रहकर यथाशीघ्र संन्यास ले लेते थे।[4] आधुनिक युग में वानप्रस्थ का नाम प्राय: मिट सा गया है। यदि किसी को वैराग्य होता है तो वह तत्काल संन्यासी

---

१. पौराणिक उल्लेखों से भी ज्ञात होता है कि किसी न किसी युग में वानप्रस्थ के अन्तर्गत संन्यास रहा है। उदाहरण के लिए देखिये——

तपसा कर्शितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
संन्यासी स हि विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थित: ।।

गरुड़ पुराण ४९.१३

२. वानप्रस्थ और संन्यास दोनों अवस्थाओं में मुनि की उपाधि समीचीन रही है। मनुस्मृति ६.२५, ४१,४३

३. इस दिशा में संन्यास-योग के मौलिक परिचय के लिए देखिये मुण्डकोपनिषद् ३.२.६। मुनि बनने के लिए भी अपनी सभी वस्तुओं का परित्याग (संन्यास) करना पड़ता था। वा० रामायण अरण्य० ६.२६। जातक-साहित्य में ऋषि-प्रव्रज्या लेने वाले अपना सर्वस्व छोड़कर वन के लिए चल पड़ते थे। फिर भी मुनियों के साथ पंच महायज्ञों का विधान, अपना कुटुम्ब तथा पर्णशाला आदि हो सकते थे। संन्यासी को इन सभी परिग्रहों को छोड़कर सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र बन जाने की सुविधा थी।

४. महाभारत आदिपर्व ११९वें अध्याय के अनुसार वानप्रस्थ न लेने वाले पाण्डु को संन्यास लेने की सुविधा थी। भागवत ५.६ में इस सुविधा का उल्लेख है।

बन जाता है। वानप्रस्थ-जीवन के प्रति उपेक्षा का प्रधान कारण वन्य जीवन की कठिनाइयाँ हैं।

जीवन-विधि

संन्यास-आश्रम की स्पष्ट रूप-रेखा सूत्र-युग से मिलती है। इससे पहले यह वानप्रस्थ-आश्रम का एक अंग बन कर रहा। सूत्रयुगीन विधान के अनुसार संन्यासी अग्नि, घर, सुख, सुरक्षा आदि से अलग होकर मौन रहता था।[1] वह अपने भोजन-मात्र के लिए गाँव में आकर भिक्षा माँग लेता था। लोक और परलोक के सम्बन्ध में निश्चिन्त होकर संन्यासी केवल परिभ्रमण करता था। उसके लिए फटे-पुराने वस्त्र कहीं भी मिल जाते थे अथवा वह दिगम्बर रह सकता था। उसका एकमात्र कार्य आध्यात्मिक चिन्तन में तल्लीन रहना था।[2] इस प्रकार संन्यासी का जीवन वन की वस्तुओं पर अवलम्बित नहीं रहता था। वह वानप्रस्थ के गण से अलग हो जाता था।

गौतम ने संन्यासियों के लिए नियम बनाया कि वे वर्षा ऋतु में कहीं भ्रमण न करें। केवल भिक्षा माँगने के लिए गाँव में प्रवेश करें। भिक्षा माँगने के लिए देर से निकलें। अपनी नग्नता छिपाने-मात्र के लिए वस्त्र धारण करें। संन्यासी वृक्षों के पत्र-पुष्पादि अपने आप गिरे होने पर ही ग्रहण करें, उन्हें तोड़ें नहीं। वे किसी गाँव में एक रात से अधिक न रहें। वे सिर के बालों का मुण्डन करवा लें अथवा जटा-जूट रखें। संन्यासी सभी प्राणियों के प्रति उपेक्षा-भाव रखें, चाहे वे उन्हें लाभ पहुँचाते हों या हानि। संन्यासी कोई काम न करें।[3]

मनु के समय तक संन्यास-जीवन की स्पष्ट रूप-रेखा बन चुकी थी। मनु के अनुसार संन्यासी को नित्य अकेले ही विचरण करना चाहिए। वह केवल भोजन-मात्र के लिए गाँव में प्रवेश करके उन्हीं घरों से भिक्षा ले, जिन्हें तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते या अन्य भिक्षुक पहले से ही घेरे हुए न हों। वह केवल एक बार भिक्षा-याचना करता था और इस काम को अपनी दिनचर्या में कोई प्रधान स्थान नहीं देता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार भिक्षा के चक्कर में पड़ने वाले संन्यासी को विषय-वासना आ घरते हैं। संन्यासी की भिक्षा के लिए समय नियत था। जब गृहस्थ सभी कामों से निवृत्त होकर स्वयं भोजन कर चुके हों, रसोई का धुआँ मिट चुका हो, मूसल से कूटने का शब्द न होता हो, आग बुझ गई हो, सभी लोग खा चुके हों, खाने-

---

१. आपस्तम्ब० धर्म० सूत्र २.६
२. गौतम० ३.११-२३
३. भागवत के अनुसार

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कंकणः॥ ११.६.१०

पीने के पात्र यथास्थान रखे जा चुके हों, तब संन्यासी भिक्षा के लिए गृहस्थों के द्वार पर जाता था। उसे भिक्षा मिलने या न मिलने से हर्ष या विषाद नहीं होता था—उसकी भिक्षा इतनी गौण होती थी कि उसे प्राणयात्रिक—प्राण-यात्रा कराने वाली कहा गया है। संन्यासी को अपनी प्राणयात्रा के प्रति अनुराग नहीं होता था। यदि कोई आदरपूर्वक भिक्षा देता था तो वह इस पूजा से घृणा करता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार पूजा के साथ ली हुई भिक्षा मुक्त संन्यासी को भी बन्धन में डाल देती है। एकान्तवास और स्वल्प भोजन संन्यासी को इन्द्रियों के विषयों के चक्कर में पड़ने से बचा सकते थे।

मनु की दृष्टि में संन्यासी मुक्त है। उसके बाह्य लक्षणों का विवेचन मनु ने इन शब्दों में किया है—

> कपाल वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
> समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ ३.४४

(खप्पर, वृक्ष की जड़, फटे-पुराने वस्त्र, किसी का साथ न होना और सब के प्रति समभाव—यही मुक्त पुरुष के लक्षण हैं।)

संन्यासी केश, नख और दाढ़ी को बढ़ाता नहीं था, उन्हें यथासमय कटवा देता था। उसकी सामग्री—भिक्षापात्र, दण्ड और कमण्डलु होती थी। वह कभी किसी प्राणी को कष्ट न देते हुए नित्य भ्रमण करता था। संन्यासी के पात्र धातु के बने नहीं होते थे। उनमें छिद्र नहीं होते थे। जल-मात्र से उसके पात्रों की शुद्धि होती थी। लौकी के फल, मिट्टी या लकड़ी के बने हुए पात्रों का वह उपयोग करता था।

संन्यासी की रहन-सहन का कुछ परिचय मनु के इस श्लोक से मिलता है—

> दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
> सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

(वह किसी स्थान को भलीभाँति देख कर ही वहाँ पर चरण रखे, छान कर जल पीये, सत्य बोले और मन से पवित्र समझ कर आचरण करे।)

संन्यासी की मानसिक वृत्तियों का विवेचन करते हुए मनु ने कहा है कि वह मैत्री-भावना का संवर्धन करता है। यदि मुनि से कोई अनर्गल विवाद करता है तो वह उसे सह लेता है। वह किसी का अनादर नहीं करता और न किसी के प्रति वैर-भाव रखता है। उससे किसी प्राणी को भय नहीं होता है। यदि कोई उस पर क्रोध करता है तो वह उसके प्रति भद्र वाणी का प्रयोग करता है। वह सांसारिक विषयों के सम्बन्ध में बातचीत नहीं करता है। संन्यासी सदैव आध्यात्मिक चिन्तन में प्रवृत्त रहता है और अन्य किसी वस्तु के विषय

में वह निरपेक्ष रहता है। वह उन लोगों की मरणोत्तर दुर्गति पर विचार करता है, जो आध्यात्मिक चिन्तन से विरत होते हैं। ऐसे विचारों की रूप-रेखा मनु ने प्रस्तुत की है। यथा, कर्म के दोष से मनुष्य नरक में जा गिरते हैं और उनको यमलोक की यातनायें भोगनी पड़ती हैं। उनको प्रिय वस्तुओं की हानि, अप्रिय वस्तुओं के संयोग—बुढ़ापा, व्याधि आदि पीड़ाओं को सहना पड़ता है। वे इस शरीर को छोड़ कर पुनः गर्भ में उत्पन्न होते हैं और कोटि सहस्र योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। शरीरधारियों के सभी दुःख अधर्म से उत्पन्न होते हैं। धर्म से सुख होता है। शरीर क्या है ? घर की भाँति अस्थियाँ इसके खम्भे बनाती हैं, मांस और रक्त से इनका लेप होता है और वह चमड़े से आच्छादित मल-स्वरूप है। इसमें जरा और शोक का प्रवेश है। यह रोगों का आयतन है। इस रजःपूर्ण अनित्य आवास को छोड़ देना ही चाहिए।

संन्यासी शनैःशनैः सभी प्रकार की लौकिक आसक्तियों से मुक्त हो कर ब्रह्म में अवस्थित रहता है। मनु ने संन्यासी के लिए योग का महत्त्व निर्दिष्ट किया है। वह योग के द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता को समझ लेता है। अज्ञान से जो हिंसायें हो जाती हैं, उनसे शुद्ध होने के लिए वह नित्य स्नान करने के पश्चात् छः प्राणायाम करता है। प्राणायाम उसका तप है। प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार और ध्यान से क्रमशः देह के दोष, पाप, संसर्ग और अनीश्वर गुण (क्रोध, लोभ, असूया आदि) का नाश हो जाता है। वह अपने ध्यान-योग से ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[१]

महाभारत में संन्यासियों की जीवन-विधि को मोक्ष-धर्म कहा गया है। संन्यासी चार प्रकार के होते थे—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस।[२] इस ग्रन्थ में संन्यासी के रहने के लिए वृक्ष का आश्रय, नदी का तट, शून्य घर आदि बताया गया है। उसे कभी एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहना चाहिए था।[३]

महाभारत में बिना वानप्रस्थ लिए हुए संन्यासी वन जाने वाले मुनियों के लिए नियम था कि वह वानप्रस्थ-मुनियों के उपनिवेशों मे भिक्षाचारी बनकर रहे। वह मुण्डक बन कर रहता था। धूलि-धूसरित होने पर अपने शरीर को स्वच्छ

---

१. संन्यासाश्रम के उपर्युक्त विवेचन के लिए देखिये मनुस्मृति ६.३३-८५

२. कुटीचक कुटी में रहते थे। बहूदक प्रायः तीर्थयात्रायें करते थे। हंस आश्रम-धर्म का पालन करता था। परमहंस निस्त्रैगुण्य होकर सभी प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त होता था।

३. महा० अनुशासनपर्व १४१.८०–९०

बनाने की चेष्टा संन्यासी नहीं करता था। वह प्रसन्न होकर सभी प्राणियों के हित में तल्लीन रहता था। भिक्षा न मिलने पर वह अनशन कर लेता था। उसकी क्षमा असीम होती थी।[१]

कुछ महाभारतकालीन संन्यासी बालक की भाँति भोले-भाले रहते थे, यद्यपि वे वास्तव में तत्त्वज्ञ होते थे। वे सदा तृप्त रहते थे। ऐसे मुनि संसार को प्रकृति का खेल मान कर उसकी विषमताओं से प्रभावित नहीं होते थे। उनकी धारणा थी कि संसार की विषमता स्वाभाविक है और सब कुछ नश्वर है। ऐसी स्थिति में वे संसार के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोचते थे। निश्चिन्त-मात्र होने से उनको अतिशय आनन्द मिलता था। वे अच्छे-बुरे भोजन और वस्त्र से सन्तोष करते थे। इस प्रकार अनियत रूप से उन्हें अपने जीवन-निर्वाह की वृत्तियाँ प्राप्त होती थीं।[२]

पौराणिक काल में संन्यासाश्रम की रूप-रेखा प्रायः पूर्ववत् रही।[३] पद्मपुराण में संन्यास का एक नाम ब्रह्माश्रम मिलता है। इसमें तीन प्रकार के संन्यासियों की गणना की गई है—ज्ञान-संन्यासी, वेद-संन्यासी और कर्म-संन्यासी। ज्ञान-संन्यासी सर्वथा मुक्त, निर्द्वन्द्व और निर्भय होकर आत्मा में स्थित रहता है। वेद-संन्यासी कामना और परिग्रह छोड़कर नित्य वेद का अभ्यास करता है। वह मोक्षेच्छु और विजितेन्द्रिय होता है। कर्म-संन्यासी अपने में अग्नि को लीन करके स्वयं ब्रह्म में लीन होकर महायज्ञपरायण होता है। इन तीनों में ज्ञान-संन्यासी को सर्वोच्च माना गया है। वह चाहे पत्तों से जीवन-निर्वाह करे, कौपीन पहने या नङ्गा रहे। उसका ज्ञान ही भोजन और परिधान है। उसे जीवन-मरण के सम्बन्ध में भी कोई चिन्ता

---

१. वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः॥ आदिपर्व ११९.१५

संन्यासी के क्षमावाद के सर्वोच्च उदाहरण के लिए खन्तिवादी जातक ३१३ देखिए। इसमें किसी संन्यासी ने कहा है कि जिसने मेरे हाथ, पाँव आदि काट डाले हैं, वह चिर काल तक जीवित रहे। मेरे समान लोग क्रोध नहीं करते।

२. महाभारत में इसी वृत्ति का नाम अजगर-वृत्ति है। शान्तिपर्व १७९वाँ अध्याय। भागवत पुराण ५.५.३२-३३ में ऋषभ नामक योगी-संन्यासी के अजगर-वृत्ति अपनाने का उल्लेख है। वे लेटे-लेटे ही खाना-पीना आदि सभी कर्म करते थे, जिससे साधारण लोग उनसे घृणा करते थे।

३. ब्रह्मपुराण अध्याय २२२; पद्मपुराण सृष्टि खण्ड अध्याय १५; विष्णु पु० ३.९

नहीं रहती है। वह कभी अध्ययन, श्रवण और प्रवचन आदि के फेर में नहीं पड़ता है। इस पुराण के अनुसार संन्यासी के लिए किसी एक मनुष्य के अन्न पर अवलम्बित रहना निषिद्ध है। वह वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष मासों में कहीं वास नहीं करता है। वह स्नान और शौच आदि आचारों से अपने शरीर को पवित्र रखता है। उसका चित्त सदा मोक्ष-ज्ञान या ब्रह्म-दर्शन में लगा रहता है।[1]

कभी-कभी कुछ संन्यासियों की दुर्गति भी होती थी। संन्यासियों की रहन-सहन की विचित्रता साधारण लोगों के मन में कुतूहल उत्पन्न करती थी। उनका नंगा रहना, उन्मत्त होना, उनके केश का बिखरा रहना, जड़ता, मौन आदि ऐसी बातें थीं कि मनचले लोगों को उन्हें तंग करने में आनन्द आता था। ऐसी परिस्थिति में उनको धमकी, गाली और मार भी मिलती थी। संन्यासी ऐसे व्यवहारों से क्रुद्ध नहीं होता था।[2]

भागवत के अनुसार संन्यासी को इस प्रकार रहना चाहिए कि उसे कोई पहचान न सके कि संन्यासी है। वह इस प्रयोजन से अपने आश्रम के चिह्नों को छोड़ सकता था। संन्यासी की आभ्यन्तर और बाह्य परिस्थितियों में जो अन्तर होना चाहिये था, उसका निदर्शन इस प्रकार किया गया है :—

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ।। भागवत ७.१३.१०

(संन्यासी का कोई लक्षण उसमें न दिखाई दे। उसे सारे आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान होना चाहिए। वह मनीषी होते हुए भी उन्मत्त या बालक की भाँति रहे। वह प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी गूँगे की भाँति लोगों को प्रतीत हो।)

भागवत में सर्वतंत्र-स्वतंत्र संन्यासी की रहन-सहन का निरूपण करते हुए बताया गया है कि वह अजगर के समान निश्चेष्ट पड़ा रहकर जो कुछ मिल जाय, उससे जीवन-निर्वाह करता है। यदि कुछ नहीं मिलता तो वह यों ही सोया रहता है। उसके भोजन की मात्रा कभी स्वल्प, कभी अधिक हो सकती है; कभी स्वादिष्ठ, कभी नीरस, कभी गुणयुक्त या कभी गुणहीन हो सकती है। उसके लिए कभी तो कोई श्रद्धा से भोजन दे जाता है अन्यथा उसे कभी-कभी मानरहित विधि से भोजन मिलता है। दिन या रात में जब जैसा भोजन मिलता, वह खा लेता है। उसके परिधान अच्छे-से-अच्छे वस्त्र—क्षौम, दुकूल आदि के हो सकते हैं, अन्यथा

---

१. पद्मपुराण स्वर्गखण्ड अध्याय ५६

२. भागवत ५.५ के अनुसार ऋषभदेव नामक राजा को अवधूत कोटि का संन्यासी होने पर ऐसी ही दुर्दशा सहनी पड़ी थी।

मृगचर्म, चीर या वल्कल से वह अपना अंग ढक लेता है। उसके सोने के लिए कभी तिनके, पत्तों आदि की बनी शय्या अथवा राख या पत्थर की चट्टान हो सकती है। कभी उसे राजप्रासाद में पलङ्ग मिल सकता है। कभी नहा-धोकर वह राजकुमारों की भाँति शरीर का शृंगार करके रथ-हाथी आदि पर चढ़ कर एश्वर्यशाली प्रतीत होता है, अन्यथा नंग-धड़ंग पर्यटन करता है। वह नित्य परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर आध्यात्मिक सुख का अनुभव करता है।[1]

संन्यासी मुनि के लिए भागवत के अनुसार वस्त्र का धारण करना आवश्यक नहीं है, पर यदि संन्यासी वस्त्र पहने ही तो केवल कौपीन (लंगोटी)। वह उसके ऊपर लुंगी लपेट सकता है। वह दण्ड और पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता। उसका दण्ड मन, वाणी और शरीर के संयमन का प्रतीक होता है। वाणी के लिए मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिए प्राणायाम दण्ड हैं। वह निन्दित लोगों को छोड़कर चारों वर्ण के किसी व्यक्ति से भिक्षा ले सकता है। वह सात घरों से भोज्य-भिक्षा की याचना करता है, पर उन घरों को पहले से निश्चित नहीं करता। जो कुछ भिक्षा मिल जाती है, उसी से सन्तोष करता है।[2] वह भिक्षा लेकर गाँव से बाहर जलाशय के तट पर हाथ-पैर धोकर भोजन को जल से पवित्र करता है और अपने भोजन में से भाग पाने योग्य प्राणियों को यथाविधि भोजन अर्पित करके शेष भोजन मौन होकर स्वयं खाता है। इसके पश्चात् वह आध्यात्मिक चिन्तन में लीन हो जाता है। उसके आध्यात्मिक चिन्तन की रूप-रेखा इस प्रकार होती है—परमात्मा के साथ मेरा तादात्म्य सम्बन्ध है। इन्द्रियों का विषयों के प्रति आकर्षित होना बन्धन है। इन्द्रियों का संयम ही मोक्ष है। परमात्मा सर्वव्यापी है। जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सारा नश्वर है। आत्मा से सम्बद्ध मन-वाणी और प्राणों का संघात स्वरूप जगत् सर्वथा माया है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा अनेक जलपात्रों में है, उसी प्रकार सारे प्राणी एक ही आत्मा से अनुस्यूत हैं। एक परमात्मा सभी प्राणियों में विराजमान है। यही संन्यासी का आध्यात्मिक सुख है। ऐसे विचारों में तन्मय होकर संन्यासी पवित्र देशों में, नदी के तट पर, पर्वत, वन और आश्रम-सम्बन्धी प्रदेशों में विचरण करता है।[3]

---

१. संन्यासी जीवन का यह विवरण भागवत ७.१३ में दत्तात्रेय की आत्म-कथा से लिया गया है।

२. संन्यासी के लिए वानप्रस्थ-मुनियों से प्राप्त भिक्षा सर्वश्रेष्ठ बताई गई है। भागवत ११.८.२५

३. भागवत ११.१८.१५-२७

भागवत में संन्यासी को पूरी स्वतंत्रता दी गई है कि वह जैसा जीवन चाहे बिताये। 'ज्ञाननिष्ठ हो या विरक्त हो, भगवान् का भक्त हो या उसकी भी अपेक्षा न रखता हो, सभी चिह्नों को छोड़कर मनमाना आचरण करता हो, विद्वान् होकर बालकों के समान क्रीडा करता हो, कुशल होकर जड़ की भाँति आचरण करता हो, विद्वान् होकर पागल की भाँति बोलता हो अथवा वेदवित् होकर भी पशुओं की भाँति रहता हो'——उसके संन्यास-पथ में कोई त्रुटि नहीं आती।[1]

भागवत के अनुसार यदि संन्यासी को पहले से ही पूरा आध्यात्मिक ज्ञान न हो तो उसके लिए उच्चकोटि के गुरु से ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी विद्याओं को सीखने का आदेश दिया गया है। इस दृष्टि से गुरु को भगवान् का स्वरूप मान कर उससे आदरपूर्वक शिक्षा-ग्रहण करना कर्तव्य बताया गया है। आध्यात्मिक ज्ञान की परिपक्वता के बिना यदि कोई संन्यासी की वेश-भूषा धारण कर ले और केवल जीविका-मात्र के लिए संन्यासी बना रहे तो वह केवल अपने को ही नहीं, अपितु समाज को और भगवान् को ठगने की चेष्टा करता है।[2]

भागवत में संन्यासी के लिए योग का अतिशय महत्त्व बताया गया है और योग के अधिकारी का निरूपण इन शब्दों में किया गया है—

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेत् चंचलं मनः॥

(कर्मों के प्रति उदासीन हो जाने पर विरक्त और इन्द्रियों को वश में रखने वाला योगी अभ्यासपूर्वक अपने मन को स्थिर करे।)[3]

भागवत में ज्ञान, कर्म और भक्ति-सम्बन्धी तीन प्रकार के योग निरूपित किये गये हैं। जो व्यक्ति कर्मों और उनके फलों से विरक्त हो चुके हैं वे ज्ञान-योग के अधिकारी हैं। जिनके चित्त में कर्मों के प्रति आसक्ति है और जो सकाम हैं, वे कर्मयोग के अधिकारी हैं। जिनकी मनःस्थिति इन दोनों के बीच है और जो भगवान् की कथा आदि में श्रद्धा रखते हैं, वे भक्तियोग के अधिकारी हैं।[4]

योग

संन्यासी का जो विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है, उसमें प्रायः उसके योगी होने की चर्चा की गई है। योग शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में चाहे

१. भागवत ११.१८.२८-२९
२. भागवत ११.१८.३३-४०
३. भागवत ११.२०.१८
४. भागवत ११.२.५

आगे-पीछे जब कभी हुआ हो, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योग की विधि वैदिक काल के आरम्भिक युग से ही किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक चिन्तन में प्रवृत्त लोगों के द्वारा अपनायी गई थी। सुदूर सिन्धु-सभ्यता के युग की जो ध्यान-निमीलित नेत्र वाली मूर्ति मिलती है, वह सम्भवतः योगी की है। अथर्ववेद के अनुसार—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः॥ १०.२.२६

(योगी शिर और हृदय को आपस में सीकर प्राण को सिर के बीच में परन्तु मस्तिष्क के ऊपर प्रेरित करता है।)

योग मार्ग पर कौन चले इसका निर्धारण शंकराचार्य के शब्दों में है—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता॥

वैदिक मान्यता के अनुसार इन्द्रियों की स्थिर धारणा योग है। योगी इन्द्रियों को वश में करके अप्रमत्त हो जाता है।[1] योग की साधारण परिभाषा है—चित्त-वृत्तियों का निरोध करना।[2] प्रायः सभी लोग चित्त-वृत्तियों का किसी न किसी अंश में निरोध करते ही हैं, अन्यथा चित्त की वृत्तियाँ उच्छृंखल और परिणामतः असंख्य होकर चिन्ता के रूप में असह्य बोझ मनुष्य के ऊपर डाल देंगी। भारतीय दृष्टिकोण से चित्त चंचल है और वह सतत कोई न कोई समस्या मनुष्य के लिए उपस्थित किया करता है। चित्त की शक्ति असीम है। वह इतना सोच सकता है—दिन-रात कल्पनाओं के सागर में उन्मग्न और निमग्न होते हुए भी थकता नहीं। इस शक्ति का सदुपयोग करने के लिए चित्त-वृत्ति एकाग्र करने की योजना बनाई गई है। अभीष्ट-प्राप्ति के उद्देश्य से योगमार्ग अपनाने वाले व्यक्ति के लिए चित्त साधन-स्वरूप साथी है। यह साथी जितना अधिक शुद्ध, सात्त्विक और एकपरायण हो, उतना ही अधिक उपयोगी है। जब योग से अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है तो इस साथी चित्त का कोई काम नहीं रह जाता है। यही चित्त-वृत्ति का निरोध है। अथर्ववेद के अनुसार—

पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः। १०.८.१४

अर्थात् साधक का मन ज्ञान का एक असाधारण साधन है।

योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम के द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की

---

१. कठोपनिषद् ६.११

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र

सिद्धि की जाती है ।[1] नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आते हैं ।[2] यम के द्वारा योग-मार्ग में प्रवृत्त होने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति इनमें से एक-एक को क्रमशः सिद्ध करता चलता है। यम और नियम के पश्चात् आसन की प्रक्रिया आरम्भ होती है । जिस विधि से बैठने पर साधक को स्थिरता और सुख का अनुभव हो, वही उसके लिए उपयुक्त आसन है । आसन लगा कर प्राणायाम किया जाता है। श्वास की गति को रोक लेना प्राणायाम है। प्राणायाम के द्वारा मन में धारणा की शक्ति उत्पन्न होती है। धारणा चित्त की स्थिरता है। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ अपने विषयों से अलग कर ली जाती हैं। ऐसी स्थिति में वे चित्त के स्वरूप का अनुसरण करती हैं। इन्द्रियाँ चित्त के साथ ही साथ उसकी गति का अनुवर्त्तन करती हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से वशीभूत होती हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का सम्मिलित नाम संयम है। धारणा के द्वारा चित्त को किसी एक देश (अपने शरीर के नाभि-चक्र, हृदय-कमल, मूर्धा, नासिका का अग्रभाग अथवा शरीर के बाहर के सूर्य, चन्द्र आदि किसी वस्तु) में बाँध देते हैं। उसी एक देश में चित्त को लगाये रखने की प्रक्रिया ध्यान है। ध्यान की वह सर्वोच्च अवस्था समाधि है, जिसमें ध्येय के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व साधक के लिए नहीं रह जाता है।[3] समाधि में चित्त-वृत्तियों का निरोध होते ही ध्येय के साथ जो तादात्म्य होता है, उसे योग कहते हैं। समाधि की अवस्थाएँ होती हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त को ध्येय का ज्ञान तथा उससे अपनी भिन्नता का भास रहता है। इस समाधि में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता की भावनायें रहती हैं। इससे अधिक प्रगाढ़ असम्प्रज्ञात समाधि होती है, जिसमें चित्त-वृत्तियों का सर्वथा अभाव होता है। इसमें पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता।

---

१. योग के माध्यम से इन व्रतों का सर्वोच्च सीमा तक पालन किया जाता है। उस सीमा की कल्पना इस आधार पर हो सकती है कि अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन कर लेने वाले व्यक्ति के चारों ओर ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है, जिसमें किसी प्रकार की स्वाभाविक शत्रुता नहीं रह जाती है। इस स्थिति के सांगोपाङ्ग वर्णन के लिए देखिये कादम्बरी में जाबालि के आश्रम का वर्णन।

२. ईश्वरप्राणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणम् । तत्फलसंन्यासो वा । सभी क्रियाओं को परम गुरु (ईश्वर) में अर्पण करना अथवा उनके फल के प्रति निष्काम होकर उनको अर्पण करना ईश्वर-प्रणिधान है। योगसूत्र।

३. योग का यह वर्णन पतञ्जलि-योगसूत्र के आधार पर है।

ध्यान से क्या लाभ है—इसका विवेचन भागवत में है—

> यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया ।
> स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥ ११.९.२२

योगियों के लिए सबसे अधिक हानिकारक सम्मान माना जाता था जो योगी अन्य मनुष्यों से अपमानित होता है, वह शीघ्र ही सफल होता है—इस धारणा से कुछ योगी ऐसा आचरण करते थे कि लोग उनका अपमान या अवहेलना करते थे ।[1]

अपनी योग दृष्टि से योगी विश्वात्मक ऐकात्म्य देखता है । वह पुरुष एकात्म है, जो सबमें एक आत्मा को ही देखता है ।[2]

योग-मार्ग में नारी के प्रति आसक्ति को सबसे बढ़कर बाधक माना गया है । योगी की मान्यताओं के अनुसार नारी नरक का द्वार है । स्त्री तो योगी के लिए मृत्यु ही है । वह तृण से ढके कुएँ की भाँति भयंकर पतन का कारण है ।[3]

योग की सामाजिक उपयोगिता का निरूपण किया गया है । इसके अनुसार योग-मार्ग से हीन वर्ण के पुरुष और स्त्री भी परम गति के अधिकारी हो जाते हैं ।[4]

बौद्ध संस्कृति में योग की प्रायः वैसी ही प्रतिष्ठा की गई है, जैसी पतञ्जलि के योग-सूत्र में मिलती है । अष्टांगिक योग में जहाँ तक चित्त और शरीर की शुद्धि के लिए यम-नियम आदि की योजना है, वह बौद्ध संस्कृति के दस शिक्षापदों और चार स्मृति-उपस्थानों में संगृहीत है । धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का अंतर्भाव गौतम बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित अष्टांगिक मार्ग की समाधि में हुआ है ।

बौद्ध संस्कृति में चित्त का वैज्ञानिक अध्ययन करके उसको संयम के द्वारा उपयोगी बनाने की योजना प्रस्तुत की गई । चित्त के विषय में कहा गया—यह चंचल है, चपल है, कठिनाई से रक्षा करने योग्य है और दुर्निवार्य है । मेधावी इसको इसी प्रकार सीधा करे, जैसे बाण बनाने वाला बाण की नोक को । चित्त का दमन करना श्रेयस्कर है । दमन किये जाने पर यह सुख देता है । चित्त कठिनाई से दिखाई

---

१. विष्णुपुराण २.१३.४२-४३

२. महाभारत शान्तिपर्व २६६.५१

३. भागवत ३.३१.३९-४० । भर्तृहरि ने इसी स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

> चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
> किं वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
> इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनैः
> न क्रुद्धा पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥

४. महाभारत शान्तिपर्व २४०.३४

देता है। वह अत्यन्त निपुण होता है। उसकी गति यथेष्ट होती है। वह संयत किये जाने पर ही सुख देता है। चित्त स्थिर होने पर प्रसन्न होता है और ऐसी स्थिति में प्रज्ञा उत्पन्न होती है। जिसका चित्त निर्मल, स्थिर और पाप-पुण्य-विहीन होता है, उस जागरूक पुरुष के लिए भय नहीं है। अनासक्त होकर चित्त की रक्षा करनी चाहिए। कोई भी शत्रु मनुष्य की उतनी हानि नहीं कर सकता, जितनी हानि असत्प्रवृत्त चित्त करता है। माता-पिता आदि सभी सम्बन्धी उतना लाभ नहीं कर सकते, जितना सम्यक् प्रकार से प्रणिहित चित्त।[1]

अष्टांगिक मार्ग में जिस सम्यक् समाधि की प्रतिष्ठा की गई है, उसके चार सोपान है। इन सोपानों को ध्यान कहते हैं। प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता—चित्त की पाँच वृत्तियाँ रहती हैं। द्वितीय ध्यान में केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता—तीन वृत्तियाँ रह जाती हैं। तृतीय ध्यान में केवल सुख और एकाग्रता की वृत्तियाँ रहती है। चतुर्थ ध्यान में सुख नहीं रह जाता, केवल उपेक्षा और एकाग्रता रहती है।[2] समाधि के लिए चार स्मृति-प्रस्थानों को निमित्त और चार सम्यक् प्रधानों को परिष्कार-रूप में ग्रहण किया जाता था।[3]

बौद्ध संस्कृति में समाधि के लिए अरण्य, वृक्ष-मूल, पर्वत, कन्दराय, पर्वत की गुफायें, श्मशान, वन-प्रदेश, खलिहान आदि उपयुक्त प्रदेश बतलाये गये हैं। गाँव से भिक्षा लेकर साधक ऐसे स्थान पर जा पहुँचता था और आसन लगा कर समाधि में लीन हो जाता था।[4]

जैन संस्कृति के अनुसार महावीर ने अपने जीवन में स्वयं समाधि के द्वारा अपने चित्त को समाहित किया था। वे चार वर्ग हाथ भूमि में अपनी दृष्टि सीमित करके समाधि लगाते थे। महावीर १३ वर्षों तक दिन-रात मनोयोगपूर्वक निर्विघ्न रूप से समाधिस्थ रहे। ऐसी स्थिति में वे बहुत कम सोते थे और पूर्ण रूप से निष्काम रहते थे। भिक्षा माँगते समय भ्रमण करते हुए भी वे चिन्तन में निमग्न रहते थे।

---

१. धम्मपद का चित्तवग्गो

२. दीघनिकाय का महासतिपट्ठान सुत्त

३. शरीर के प्रति जागरूक रहना, वेदनाओं के प्रति जागरूक रहना, चित्त के प्रति जागरूक रहना, धर्मों के प्रति जागरूक रहना—चार स्मृति-उपस्थान हैं। सद्गुणों का संरक्षण, अलब्ध सद्गुणों का उपार्जन, दुर्गुणों का परित्याग और नूतन दुर्गुणों की अनुत्पत्ति का प्रयत्न—चार सम्यक् प्रधान हैं। इनकी आसेवना, भावना और बहुलीकरण समाधि भावना है।

४. मज्झिम निकाय—चूलहत्थिपदोपमसुत्त।

वे चलते हुए कहीं-कहीं अचल होकर समाधिस्थ बन जाते थे। इस प्रकार महावीर जीवन भर संयमपूर्वक रहे।[1]

परवर्ती धार्मिक साहित्य में धर्म्य और शुक्ल ध्यानों के द्वारा मोक्ष पाने की योजना प्रस्तुत की गई है। इन दोनों ध्यानों में शास्त्रीय निर्देश, विश्व की रचना आदि का विचार तथा आध्यात्मिक विवेचन करने की रीति रही है। इनके परिणाम-स्वरूप आत्मा में सर्वथा लीन हो जाने की कल्पना सिद्ध होती है।[2]

पौराणिक युग में ध्यान का महत्त्व बढ़ा और जैन संस्कृति में योग के द्वारा व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास की योजना बनी। इस युग में ध्यान की परिभाषा अधिक व्यापक दिखाई देती है। किसी एक वस्तु में एकाग्रतापूर्वक चित्त का निरोध ध्यान है। जिस ध्यान की वृत्ति बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित होती है, वही यथार्थ ध्यान है, अन्यथा वह अपध्यान है। ध्यान के पर्याय योग, समाधि, धीरोध, मनोनिग्रह, अन्तःसंलीनता आदि माने गये।[3]

ध्यान के लिए निर्विघ्न स्थान का चुनाव होता था। ऐसे स्थान में भूतल पर वीरासन या कायोत्सर्ग आसन से बैठकर हथेली, आँख, दाँत तथा शरीर के शेष भागों के समुचित विन्यास का विधान होता था। फिर मन को नियोजित किया जाता था। योग के द्वारा व्यक्तित्व के अनुपम विकास की सिद्धि मानी जाती थी, यथा—

अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यपरमोदयम्।
भुक्त्वेहैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित्॥ महापुराण २१.२३८

(योगवित् मुनि इस लोक में अणिमा आदिगुणों से युक्त सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय और ऐश्वर्य का भोग करके मुक्त होकर निर्वाण पाता है।)

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों संस्कृतियों में योग को मानव-व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास के लिए एकमात्र साधन माना गया। गीता के अनुसार योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—तीनों से उच्चतर है।[4]

---

१. आचारांग-सूत्र १.८.१-४

२. तत्त्वार्थ-सूत्र ६.२७-४४। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों के साथ वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को धर्म कहते हैं। इन्हीं का ध्यान धर्म्य है। कषाय रूपी मलों का छूटना शुक्लता है। यह ध्यान शौक्ल्य है। महापुराण २१.; १३३-१३४

३. महापुराण २१.५-१२

४. गीता ६.४६

अपरिग्रह आनन्द-निष्यन्द है। सोते समय मनुष्य को सुख मिलता है क्योंकि उसे अपना सर्वस्व विस्मृत हो जाता है। सर्वस्व के विस्मृति मात्र से जब इतना सुख है तो सर्वस्व के सर्वथा त्याग (अपरिग्रह) में कितना सुख होगा ?[1]

मानव अपने सुख के लिए जब तक अपने शरीर के बाहर की वस्तुओं पर अवलम्बित है, तब तक उसे निराशा हो सकती है।[2] शरीर के अंग-प्रत्यंग भी जराजीर्ण होते हुए न तो शाश्वत आनन्द के साधन हैं और न इनमें पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार प्रथम पद में बाह्य वस्तुओं को छोड़कर केवल अपने शरीर को आनन्द का साधन बनाया जा सकता है, वैसे ही शरीर का संन्यास करके आत्मा को आनन्द के साधन रूप में सीमित कर लेना सफलता की दशा में दूसरा पद है। जब तक व्यक्ति शरीर को आनन्द या सुख का साधन बनाता है, तब तक मरणोत्तर काल में वह शरीरी होता है, पर योग के द्वारा आत्मा को आनन्द के साधन-रूप में सीमित कर लेने पर वह मरने के पश्चात् शरीरी नहीं होता। यही मुक्त की अवस्था है। यही आत्मरति की परमपद-प्राप्ति है। आत्मा का आत्मा में आनन्द पाना सर्वोच्च अनुभूति है। जैसे शरीर और संसार संसारी जीवन के आनन्द-निष्यन्द हैं, वैसे ही योगी के लिए आत्मा और ब्रह्म हैं।

कर्मयोग

संन्यास का परिचय देते समय लिखा जा चुका है कि संन्यासी को यथासम्भव सभी कर्म छोड़कर योग के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यही संन्यासी की सर्वोच्च प्रगति थी। ऐसी परिस्थिति में संन्यासी का सामाजिक जीवन के कर्मक्षेत्र से साधारणतः कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। उसके कर्म छोड़ने का कारण यही था कि किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए मनुष्य को जन्म लेना ही पड़ता है। इस प्रकार कर्म करने वालों को मुक्ति नहीं मिल सकती। यदि कर्म न किये जायँ तो स्वतः मुक्ति मिल जाती है। कर्म के त्याग के द्वारा मोक्ष पाने की योजना बौद्ध और जैन संस्कृतियों में भी मान्य हुई। इस प्रकार कर्म-संन्यास अर्थात् काम न करने का सिद्धांत प्रायः सर्वसम्मत होकर

---

१. भागवत में कहा गया है—

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्। ११.८.४२

२. आयन्स्टाइन ने अपने जीवन-दर्शन का विवेचन करते हुए लिखा है—
Possession, outward success, publicity, luxury—to me these have always been contemptible. I believe that a simple and unassuming manner of life is best for every one, best both for the body and the mind.—*I Believe p. 70*

भारतीय संस्कृति में अमर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका, पर वैदिक काल से ही इसके समकक्ष प्रतिष्ठित कर्मयोग द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की विचारधारा सदा प्रवाहित रही है।[1] कर्मयोग-सिद्धांत के द्वारा सिद्ध किया गया है कि कर्म तभी तक जन्मान्तर-बन्धन का कारण हो सकता है, जब तक कर्म के फल की आशा रखकर कर्म किया जाता है। यदि फल के प्रति आसक्ति न रखी जाय तो कर्म बन्धन का कारण नहीं होता, अपितु वह मोक्ष का साधन बन जाता है।[2] इस कर्म-मार्ग को जनक, कृष्ण, वसिष्ठ, व्यास आदि ने अपनाया। शंकराचार्य ने साधारणतः यही कहा कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्म-संन्यास के बिना मोक्ष असम्भव है, पर उन्होंने भी माना है कि जनक आदि के समान ज्ञानी जीवन भर कर्म करें तो अनुचित नहीं।[3] स्वयं शंकराचार्य संन्यासी होते हुए भी जीवन भर अनवरत श्रम करते हुए भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में संलग्न रहे।

कर्मयोग का सर्वप्रथम स्पष्ट विवेचन गीता में मिलता है। इसके अनुसार कर्म-संन्यास (कामों को छोड़कर संन्यासी बनना) अच्छा है, पर उससे अधिक अच्छा है कर्मयोग—फल की आशा छोड़कर कर्म करते रहना। कृष्ण के शब्दों में—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस्करावुभौ।
तयोस्तु कर्म-संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।। गीता ५.२

(संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस्कर हैं, अर्थात् मुक्तिप्रद हैं। इन दोनों में कर्म छोड़ देने से अच्छा है कर्म करते रहना।)

मुक्ति पाने के लिए कर्मयोग उतना ही स्वतन्त्र मार्ग है, जितना संन्यास।[4] जिस

---

१. कर्मयोग शब्द में योग का अर्थ युक्ति या शैली है। कर्मयोग का अर्थ है काम करने की वह शैली, जिसके द्वारा कर्त्ता को उसके पापात्मक या पुण्यात्मक फलों को भोगना नहीं पड़ता। इस प्रकार मोक्ष पाने के मार्ग में कर्मों का सम्पादन बाधक नहीं होता। गीता २.५० में योग की परिभाषा बतलाई गई है—योगः कर्मसु कौशलम्। परवर्ती युग में बौद्ध संघ की महायान शाखा में कर्मयोग का सिद्धांत अपनाया गया।

२. गीता ५.५ एवं ईशोपनिषद् १,२ के अनुसार संसार में जो कुछ है, उसमें ईश्वर की व्याप्ति माने और समझ ले कि मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ ईश्वर का है। इस प्रकार निष्काम-भाव से काम करते हुए जीवन बिताये। ऐसे मनुष्य के लिए कर्म का बन्धन नहीं है।

३. वेदान्तसूत्रशंकरभाष्य ३.३.३२। गीता शां० भा० २.११

४. गीता ३.३

प्रकार संन्यासी के लिए मरते समय तक कोई काम करना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार कर्मयोगी के लिए अन्त तक कर्म करते रहने की सुविधा है।

कर्मयोग के अधिकारी साधारण पुरुष नहीं हो सकते। इसके अधिकारी वही हैं, जिन्होंने मन से इन्द्रियों को वश में कर रखा है और जो योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय एवं सर्वभूतात्म-भूतात्मा है। ऐसे व्यक्ति का काम करना भी नैष्कर्म्य है। वह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ और कामों को करने में जो शारीरिक व्यापार हैं, वे केवल इन्द्रियों का अपने विषयों में प्रवर्तन-मात्र हैं।[1] जिस प्रकार कर्म-संन्यासी कर्मों को छोड़ता है, वैसे ही कर्मयोगी संकल्पों को छोड़ता है।[2] 'कर्मफल की आसक्ति छोड़ कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है, वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता। फल की वासना छोड़ने वाला, चित्त का नियमन करने वाला और सभी परिग्रहों को छोड़ देने वाला व्यक्ति केवल शरीर से कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं होता। अनायास जो प्राप्त हो जाय, उससे सन्तुष्ट, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से मुक्त, निर्भय और कर्म की सिद्धि या असिद्धि को समान मानने वाला पुरुष कर्म करके भी उनके बन्धन में नहीं पड़ता। आसङ्गरहित, मुक्त, ज्ञान में स्थिर चित्त वाले और यज्ञ-रूप में कर्म करने वाले पुरुष के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं।'[3] कर्मयोगी को समझना चाहिए कि सभी कर्म प्रकृति के द्वारा कराये जा रहे हैं।[4] कर्मयोगी की परिभाषा है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।। गीता १८.२६

(जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं और मेरा' नहीं कहता, कार्य में सफलता हो या विफलता—मन में कोई विकार नहीं लाता, वही सात्त्विक कर्त्ता है।)

कर्मयोगी का भक्त होना अपेक्षित है। सात्त्विक वृत्तियों का मनुष्य स्वतः भगवान् का भक्त हो जाता है। भक्ति के द्वारा वह भगवान् के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। ऐसे कर्मयोगी के सम्बन्ध में कहा गया है—भगवान् का आश्रय लेकर सदा सभी कामों को करता हुआ कर्मयोगी भगवान् के अनुग्रह से शाश्वत अव्यय पद पा लेता है।[5]

---

१. गीता ३.७; ५.७–९; १८,४९
२. गीता ६.२
३. गीता ४.२०.२३
४. गीता १३.२९
५. गीता १८.५६

कर्मयोगी कौन काम करे ? निःसन्देह कर्मयोगी उन सभी कामों को नहीं कर सकता, जिसे साधारण लोग करते हैं। कर्मयोगी के काम असन्दिग्ध रूप से हैं—यज्ञ, दान और तप। इन तीनों के द्वारा चित्त की शुद्धि होती है।[1] कर्मयोगी जिस काम को समझे कि मेरा कर्त्तव्य है, उसे अवश्य ही करे।[2] कर्त्तव्य कर्मों की सूची गीता में वर्ण-धर्म के अनुकूल बताई गई है।[3] अपने वर्ण के अनुकूल जो कर्म बताये गए हैं, उन्हें सम्पादित करते हुए लोग सिद्धि पाते हैं। कर्म क्या है—कर्म अर्चना की सामग्री है। अर्चना उस महादेव की होनी चाहिए, जिससे सभी प्राणियों की प्रवृत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है। यही कर्म का याज्ञिक स्वरूप है। यही मानव की सच्ची सफलता का रहस्य है।[4]

शरीरधारी के लिए पूर्ण रूप से कर्म का त्याग करना असम्भव है। हाँ, वह कर्म के फलों का त्याग करके भले ही त्यागी बन सकता है।[5] खाना-पीना, खेलना-जीना, उठना-बैठना, हँसना-रोना, देखना-सुनना, सोना-जागना, देना-लेना, चुप रहना, बोलना आदि सभी काम हैं। ऐसे कामों को छोड़ा नहीं जा सकता।[6] ऐसी स्थिति में कर्म-संन्यासी का पूर्ण रूप से काम छोड़ देना असम्भव है। अनेक कर्म-संन्यासी लोक-संग्रह के लिए समय-समय पर योग्य शिष्यों को उपदेश और ज्ञान देते रहे हैं।

गीता की दृष्टि में मानव-लोक कर्म-भूमि है। यहाँ पर कर्म का पूर्ण रूप से त्याग कर डालना असम्भव है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म-संन्यासी कर्म से सर्वथा विमुक्त नहीं कहे जा सकते। कर्म-संन्यासी और कर्मयोगी में बस इतना अन्तर रहा कि कर्म-संन्यासी कम से कम काम करना चाहता है और कर्मयोगी अधिक से अधिक कर्म करके लोक-कल्याण करता है। संन्यासी को आत्म-कल्याण की विशेष चिन्ता होती है और कर्मयोगी अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए लोक का अभ्युदय चाहता है। लोक-कल्याण के महत्त्व का निदर्शन करते हुए कृष्ण ने कहा है—यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जायेंगे।[7] ज्ञान हो जाने पर भी कर्म-क्षेत्र की ओर प्रवृत्त होने के लिए सबसे बड़ा कारण लोक-संग्रह है। लोक-संग्रह

---

१. गीता १८.५
२. गीता १८.९
३. गीता १८.४१-४४
४. गीता १८. ४६
५. गीता १८.११
६. गीता ३.५; १८.११
७. गीता ३.२४

का अर्थ है लोकों की रक्षा। ज्ञानी को संसार के पालन-पोषण और संरक्षण का उसी प्रकार ध्यान रहता है, जैसे ईश्वर को। ईश्वर को संसार से कुछ लेना-देना नहीं है। फिर भी वह संसार की रक्षा में तत्पर है। ईश्वर के आदर्श पर ज्ञानी को संसार की रक्षा के लिए तत्पर होकर कर्म करना है। इस प्रकार समाज में सुव्यवस्था और शान्ति की प्रतिष्ठा करके सच्चरित्रता के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना ज्ञानी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। वह समाज का आदर्श नेता है। वह अपने ज्ञान से जीवन-पथ को प्रकाशित करके जिस कार्य-पद्धति का निर्माण करता है, उसी पर समाज चलता है।[1]

कर्म-योग व्यक्तित्व के विकास का सर्वोच्च सोपान माना गया है और सिद्ध किया गया है कि अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से कर्म के फल का त्याग अर्थात् निष्काम कर्मयोग क्रमशः उच्चतर हैं। इसी कर्मयोग से निरन्तर शान्ति प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार कर्म-संन्यासियों के अष्टाङ्गिक योग-मार्ग के सर्वोच्च शिखर पर जो धारणा, ध्यान और समाधि हैं, उनसे भी ऊपर कर्मयोग को प्रतिष्ठित किया गया है।[3]

गीता की दृष्टि में काम्य कर्मों का त्याग सच्चा संन्यास है। वास्तविक त्याग कर्म के फलों का त्याग है।[4] काम्य कर्म वे हैं, जो आसक्त बुद्धि से किए जाते हैं। कर्मयोगी की बुद्धि में आसक्ति नहीं रह जाती। ज्ञान की दृष्टि से जब कर्मयोगी भगवान् के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो उसके द्वारा किए हुए कर्म मानो भगवान् के द्वारा किए जाते हैं। इस प्रकार वह अपने कर्तृत्व को मिटा देता है। उसे इस स्थिति में फल की आशा नहीं रहती।

गीता में कर्मयोग, संन्यास-योग और भक्ति-योग—इन तीनों की प्रतिष्ठा की गई है। इनमें से कर्मयोग सर्वोपरि है। भक्ति-योग और संन्यास-योग के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेने पर निष्काम-भाव से कर्म करते रहना

---

१. ऐसे कर्मयोगी संन्यासियों का भारतीय अभ्युत्थान में सदैव योगदान रहा था। महात्मा गान्धी उन्हीं की श्रेणी में आते हैं। शंकराचार्य की कर्मण्यता ने भारत को समुज्ज्वल किया था। शिवाजी के गुरु समर्थदास संन्यासी थे। कर्णाटक-सिंहासन-स्थापनाचार्य विद्यारण्य शृंगेरी मठ के प्रधान थे।

२. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

चित्त की स्थिरता के लिए जो यत्न किया जाता है, वह अभ्यास है। योग-सूत्र १.१३

३. निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता के लिए देखिए गीता ३.८; ५.२; ६.४६

४. गीता १८.२ तथा १८.६

सर्वोच्च पथ है। कोरे भक्ति-योग या संन्यास-योग गीता की दृष्टि में कर्मयोग के समक्ष हीन पड़ते हैं। भारतीय संस्कृति में देवताओं को पदे-पदे आदर्श माना गया है। उन देवताओं के आदर्श पर कर्मयोग सर्वोत्तम प्रतीत होता है। देवताओं ने स्वयं सदा कर्म में संलग्न रह कर अपना और मानवता का कल्याण किया है। ऐसी स्थिति में कृष्ण ने निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञान हो जाने पर कर्म करना कर्म न करने से अच्छा है।[1] कृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया है कि तुम कर्मयोगी बनो, क्योंकि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मकाण्डी से कर्मयोगी श्रेष्ठ है।[2]

परवर्ती युग में कर्मयोग की विभाषायें बनीं। यथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा, मूर्तिपूजा, नाम-संकीर्तन, देव-यज्ञोत्सव ये ही गृहस्थों के कर्मयोग हैं।[3]

-----

१. गीता ३.८ में 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' कहा गया है। अरस्तू ने भी कर्म के महत्त्व को प्रायः इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया है यथा, ज्ञानी मनुष्य दो प्रकार के हैं—तत्त्व-विचार में रहने वाले और दूसरे राजनीतिक कामों में निमग्न रहने वाले। दोनों मार्ग अंशतः ठीक हैं, पर कर्म की अपेक्षा अकर्म को अच्छा नहीं कहा जा सकता। आनन्द भी कर्म है और वास्तविक अभ्युदय ज्ञान और नीति पर आधारित कर्म करने में है—*Aristotle: Politics* जोवेट का अनुवाद, भाग २, पृ०२१२

२. गीता ६.४६

३. मत्स्यपुराण २५८.३

(दो पक्षी संयुक्त और सखा एक वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा न खाते हुए देखता रहता है।)[1]

इस व्यञ्जना में आत्मा खाने वाला पक्षी और परमात्मा देखने वाला पक्षी है। तत्कालीन आध्यात्मिक ज्ञान की प्रक्रिया का ऋग्वेद में इस प्रकार उल्लेख है—

सतः बन्धुमसति निरविन्दन्।
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ऋग्वेद १०.१२६.४

(असत् अर्थात् प्रकृति में सत् अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध ऋषियों ने अपनी मनीषा के द्वारा हृदय में ढूंढ़ कर जान लिया।)

ऋग्वैदिक युग में ब्रह्मविद्या की विशेष उन्नति हो चुकी थी। ब्रह्म-विद्या में निष्णात आचार्यों का नाम ब्रह्मन् था और इसके जिज्ञासुओं का नाम ब्रह्मचारी था। ब्रह्मविद्या जानने की जीवन-पद्धति का नाम ब्रह्मचर्य था। उस युग की ब्रह्म-विद्या का सर्वोच्च निष्कर्ष था—ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। इस विद्या को जात-विद्या भी कहते थे।

वैदिक आर्यों ने सर्वप्रथम प्रकृति की विविध विभूतियों का देव-रूप में दर्शन किया। दर्शन के क्षेत्र में प्राकृतिक पृष्ठभूमि से ऊपर उठाने पर जो अध्यात्म-तत्त्व चेत् का विषय बना, उसे शनैः शनैः देवताओं के व्यक्तित्व के साथ समाहित किया गया। देवताओं में जो अमरत्व का गुण है, वह प्राकृतिक तत्त्व नहीं है, अपितु आध्यात्मिक है। धीरे-धीरे सभी देवताओं को उसी प्रकार आध्यात्मिक तत्त्व का प्रस्फुटन मान लिया गया, जैसे आजकल के वैज्ञानिक नीहारिका से ग्रह, उपग्रह तथा नक्षत्र-मण्डल आदि अखिल विश्व की उत्पत्ति मानते हैं। इन सभी देवताओं का आदिदेव अथवा एक देव 'पुरुष' नाम से विख्यात हुआ।[2]

वैदिक-कालीन ऋषियों ने सृष्टि के आरम्भ-सम्बन्धी अपने चिन्मय अनुसन्धान के द्वारा जो दर्शन प्राप्त किया, उसकी एक रूप-रेखा नासदीय-सूक्त में संगृहीत है। इसके अनुसार 'आदि' में न सत् था और न असत्। उस समय कुछ नहीं था। इन सभी से व्यतिरिक्त 'एक' था। उस 'एक' की अपनी निजी 'स्वधा' (आत्मिक शक्ति) थी। उस आत्मिक शक्ति से वह श्वास लेता था। बस, वही 'एक' और उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था। फिर तमस् और सलिल का परिव्यापक अस्तित्व हुआ। उसी 'एक' के मन में काम उत्पन्न हुआ। फिर सृष्टि का आरम्भ

---

१. ऋग्वेद १.१६४.२०। अथर्ववेद १०.७.३१ में भी यही सत्य वर्णित है।

२. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋग्वेद १.१६४.४६

हुआ। जहाँ कुछ नहीं था, वहीं से सब कुछ उद्‌भूत होने लगा। सृष्टि के साधन थे--रेतः, महिमा, स्वधा तथा प्रयति। सारी सृष्टि के अध्यक्ष-रूप में जिस 'एक' की प्रतिष्ठा की गई थी, उसकी अवस्थिति परम व्योम में मानी गई थी।'[1]

उस एकदेव के अधिक बोधगम्य स्वरूप की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ-रूप में की गई है। 'प्रारम्भ में वही हिरण्यगर्भ वर्त्तमान हुआ। वह सभी भूतों का 'एक-पति' उत्पन्न हुआ था। वह पृथ्वी और आकाश-लोक को धारण करता था। वही आत्मा और बल देने वाला है। सभी देवता उसके आशीष की कामना करते है। अमृत और मृत्यु उसकी छाया है। वह सभी प्राणि-जगत् और निमिषधारि-जगत् का राजा है। द्विपद या चतुष्पद का ईश है। हिमालय, समुद्र और भूमि उसकी महिमा है। दिशाये-प्रदिशाये उसकी बाँहे है। उसके माध्यम से आकाश प्रकाशमान है, पृथिवी स्थित है और स्वर्ग-लोक प्रतिष्ठित है। उसी ने अन्तरिक्ष मे रजोलोक की माप की। सूर्य उदित होकर उसी के ऊपर प्रकाश करता है। वह देवताओं का प्राण है और पृथिवी का जनयिता है। वह हमारा नाश न करे। वह सत्यधर्मा है। उसने दिवलोक को उत्पन्न किया। उसी से सुप्रकाश-जल की उत्पत्ति हुई।'[2]

पुरुष, सत्, हिरण्यगर्भ, एकदेव आदि सभी परवर्ती युग के ब्रह्म की ओर सकेत करते है। जब तक वैदिक ऋषियों की दृष्टि ससीम थी, उन्हें ऐसी सत्ताओं और विभूतियों का आभास हुआ, जो ससीम रही। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की विभूतियाँ ससीम थी। शीघ्र ही उन ऋषियों को असीमता का ज्ञान हो कर रहा। अनेक ससीम होते है, एक असीम होता है। वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि मे व्यक्तिशः शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता थी। उसी शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता का बृहत्तम् संयोजन जिस सत्ता मे हुआ, वही 'एकदेव' ब्रह्म हुआ। ब्रह्म की एक शक्ति सभी शक्तियो का उद्‌गम बनी। ब्रह्म के जिन गुणों का आकलन किया गया, उनसे उसकी असीमता का आभास मिला। जो कुछ ससीम है, उसका समन्वय उसी ब्रह्म में है। केवल ब्रह्म असीम है।

अथर्ववेदीय दर्शन

अथर्ववेद के अनुसार वैदिक मनीषियों मे ब्रह्मविद्या के लिए महती जिज्ञासा थी। उस युग मे पुरुष और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो चुका था। यथा

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
ये वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः।। १०.७.१७

---

१. ऋग्वेद १०.१२९.७। इसी का समर्थन अथर्ववेद १०.८.२० में है।

२. ऋग्वेद १०.१२१.१–९

(जो पुरुष में ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं। जो परमेष्ठी प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, वे स्कम्भ को पूर्णतः जानते हैं।)

वैदिक दर्शन की व्यंजनापूर्ण भाषा थी, जैसा नीचे लिखे श्लोक से प्रतीत होता है--

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥१०.८.४३

(यह नव द्वार का कमल तीन गुणों से आवृत है। यह आत्मा वाले यक्ष का अधिवास है।)

उस युग में आधिभौतिक और आध्यात्मिक वृत्ति वाले लोगों की परख हो चुकी थी, जिसके विषय में कहा गया है--

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥ १०.७.२१

(कुछ लोग असत् शाखा (भौतिक तत्त्व) को परम की भाँति मानते हैं। कुछ लोग सत् (आध्यात्मिक तत्त्व) को मानते हैं और उसी की उपासना करते हैं।)

वह ब्रह्म क्या है।[1] इसका विवेचन करते हुए कहा गया है--

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्ठम्। १०.८.२४

(उस सनातन ब्रह्म में शत, सहस्र...अनन्त स्व (सत्तायें) वर्त्तमान हैं।)

और भी--त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥१०.८.
पूर्णात् पूर्णमुदंचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥ १०.८.

अथर्ववेद में आत्मा को अकाम कहा गया है। सम्भवतः यही निष्काम कर्म योग का मूल है।

शरीर के अन्त को ऋग्वैदिक काल में जीवन का अन्त नहीं माना जाता था। उस युग में आत्मा की अमरता की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।[2] ब्राह्मण-साहित्य में स्वर्ग-नरक के अतिरिक्त मुक्ति की कल्पना मिलती है। इसके अनुसार जो पुरुष देवताओं के लिए यज्ञ करता है, वह उतना उच्च लोक नहीं पाता, जितना आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला।[3] जो पुरुष वेद पढ़ता है, वह बारंबार मरने से छुटकारा पा

---

१. अथर्व १०.८.४४

२. ऋग्वेद ५.३५.३; १०.१६.१-६; १०.५८-१-२
अथर्ववेद १२.३.१७

३. ऐतरेय ब्राह्मण ११.२.६

जाता है और उसे ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है।[1] ज्ञान से मनुष्य उस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ पूर्ण रूप से निष्कामता होती है।[2] शतपथ ब्राह्मण में सम्भवतः मुक्त व्यक्ति के लिए अमरत्व की कल्पना मिलती है।[3] मरने के पश्चात् मुक्ति पा लेने पर सम्यक् जीवन की सिद्धि होती है।[4]

उपनिषदीय दर्शन

उपनिषदों में मानव-जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य की प्रत्यक्ष खोज पहली वार मिलती है। इसके अनुसार दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर सांसारिक जीवन को तुच्छ मान कर पुनर्जन्म के चक्कर से बचने की योजना बनाई गई--'सभी इन्द्रियों को आत्मा में प्रतिष्ठित करके मनुष्य ब्रह्मलोक में जा पहुँचता है। वहाँ से फिर लौटना नहीं पड़ता।'[5]

उपनिषद् में पराविद्या या ब्रह्म-विद्या को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसके अनुसार मानव के सर्वोच्च अभ्युदय के लिए ब्रह्म का ज्ञान अपेक्षित है। ब्रह्म को जानने के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई। उपनिषदों में आदेश दिया गया—तप से ब्रह्म को जानो।[6] ब्रह्म तक चक्षु, वाक्, मन आदि की गति नहीं है।[7] तप, दम और कर्म ब्राह्मी उपनिषद् के लिए साधन हैं।[8] ब्रह्म में अनेकता (नाना) नहीं है। उसे एकधा देखना चाहिए। उसी आत्मा को जान कर धीर उसकी प्रज्ञा करे, बहुत शब्दों का ध्यान न करे, क्योंकि वाक् कठिनाइयों में डालने वाला है।[9] मनुष्य ब्रह्म का ध्यान करने से स्वयं ब्रह्म बन जाता है।

ब्राह्मण का जीवन-स्तर ऊँचा था। वह यज्ञ, दान, तप और कामनाओं के परित्याग से आत्मा को जान कर मुनि बन जाता था। वह आत्म-लोक की इच्छा करते हुए प्रव्राजक बन जाता था। फिर उसे सांसारिक विभूतियों के प्रति कोई अभिरुचि नहीं होती थी और वह पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से परे होकर भिक्षाचर्या

१. ऐतरेय ब्राह्मण १०.५.६
२. शतपथ ब्राह्मण १०.५.४.१६
३. शतपथ ब्राह्मण १०.४.३.१०
४. शतपथ ब्राह्मण १०.२.६.१६
५. छान्दोग्य उपनिषद् ८.१४,१५
६. तैत्तिरीय भृगुवल्ली द्वितीय अनुवाक
७. केन उ० १.३
८. केन उ० ४.८
९. वृहदारण्यक ४.४.१६-२१

करता था। जो पुरुष ब्रह्ममय है, वह ब्राह्मण है।[1] ब्राह्मण बुरे काम से लिप्त नहीं होता। वह शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर अपने में आत्मा को देखता हुआ सर्वात्मा का पर्यालोचन करता है। उसे पाप वश में नहीं कर पाता, वह स्वयं पाप को वश में कर लेता है। उसे पाप नहीं जलाता, अपितु वह पाप को जलाता है। वह पाप, भ्रम आदि से मुक्त हो जाता है। यही उसका ब्रह्मलोक है।[2]

ब्रह्म को जानने की महती उपयोगिता का आकलन किया गया। 'ब्रह्म को जानना एकमात्र सत्य है। जो पुरुष सभी भूतों में उसी ब्रह्म की सत्ता को देखते हैं वे मरने के पश्चात् अमृत हो जाते हैं।'[3] आत्मा (ब्रह्म) को न जानने वाले व्यक्ति मरने के पश्चात् असूर्य और तम से आच्छादित लोक में जाते हैं।[4]

ब्रह्म क्या है--उपनिषदों में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन मिलता है। ब्रह्म की साधारण परिभाषा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अर्थात् सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म से सबकी उत्पत्ति होती है, उसी से सबका पोषण होता है और उसी में सबका विलयन होता है। वह आत्मा-रूप में हृदय में विराजमान है। ब्रह्म छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है। वह सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्यापक आदि है।[5] ब्रह्म के चार पदों में अखिल विश्व प्रतिष्ठित है।'[6]

ब्रह्म का परिचय देने में रहस्यात्मक विधि को भी अपनाया गया है। 'प्राण' ब्रह्म है। 'क' ब्रह्म है। 'ख' ब्रह्म है। जो 'क' है, वही 'ख' है। जो 'ख' है, वही 'क' है। इस प्रसङ्ग में 'क' आनन्द है और 'ख' आकाश है।[7]

सर्वव्यापी आत्मा या ब्रह्म को कोई देख नहीं सकता क्योंकि दृष्टि के द्रष्टा को कौन देख सकता है? ब्रह्म श्रुति का श्रोता है, मति का मन्ता है, विज्ञाति का विज्ञाता है। ऐसी परिस्थिति में उसका प्रत्यक्षीकरण असम्भव है। यही आत्मा (ब्रह्म) सर्वान्तर है। इससे भिन्न सब कुछ आर्त है।[8] सभी प्राणियों को सूत्रात्मक विधि से

---

१. बृहदारण्यक ४.४.२२

२. बृहदारण्यक ४.४.२३

३. केन उ० २.५

४. ईशोपनिषद् ३

५. छान्दोग्य उ० ३.१४.१-४। ब्रह्म से जगत् की सृष्टि के क्रम-विन्यास के लिए देखिये छान्दोग्य उ० ३.१९.१

६. छान्दोग्य उ० ४.५-८

७. छान्दोग्य उ० ४.१०

८. बृहदारण्यक ४.२। यह पहेली इस प्रकार सुलझती है—ब्रह्म ही नेत्र को नेत्र बनाता है। वही नेत्र के माध्यम से देखता है। नेत्र का ब्रह्म अपने से भिन्न को ही देख सकता है। वह अपने आप (ब्रह्म) को नहीं देख सकता।

अनुस्यूत करने वाला ब्रह्म (आत्मा) वही है, जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदि के प्रभाव से परे है। स्वयं पृथिवी, आपम्, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, दिवलोक, आदित्य, दिशा, चन्द्र-तारे, आकाश, तम, तेज, सर्वभूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान और रेतम् में स्थित रहकर उनमें परिव्याप्त हो कर फिर भी उनके द्वारा न जाना जाता हुआ, उन्हीं को शरीर बना कर भी उनके ऊपर शासन करता हुआ यह आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है। स्वयं अदृष्ट, अश्रुत, अमृत, अविज्ञात आदि होते हुए भी वह द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता आदि है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा देखने, सुनने, जानने वाला है ही नहीं। वही तुम्हारा आत्मा है, अन्तर्यामी अमृत है। जो कुछ इससे भिन्न है, वह आर्त है।[1]

जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, जिसके समीप जाते हैं और जिसमें प्रवेश कर जाते है, वही ब्रह्म है। इस दृष्टि से आनन्द ब्रह्म है।[2] वह स्वयंभू है।[3]

पुरुष के रूप में आत्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है। पुरुष के शरीर में आत्मा की ज्योति होती है। पुरुष आत्मा के प्रकाश से काम करता है। पुरुष शरीर धारण करके उत्पन्न होते हुए पाप से संसृष्ट होता है और शरीर से विमुक्त होकर पाप से रहित हो जाता है। पुरुष के दो स्थान हैं—इहलोक और परलोक। इन दोनों के बीच में स्वप्नलोक है। स्वप्नलोक में रहकर वह दोनों को देखता है। परलोक की अपनी स्थिति के लिए किए हुए प्रयत्न के अनुसार वह पुरुष आनन्द का अनुभव करता है। वह स्वयं अपने आप में से ही सारी परिस्थितियों का निर्माण करके स्वप्न-निमग्न होता है।[4]

आत्म-ज्ञान के मार्ग पर चलते हुए पुरुष प्राज्ञ होता है। इस स्थिति में वह बाह्य और आभ्यन्तर सभी वस्तुओं को भूल जाता है। यही पुरुष का वास्तविक स्वरूप है। प्राज्ञ की सभी इच्छायें पूर्ण रहती हैं। उसे एकमात्र आत्मा की चाह रहती है। इच्छाओं के न होने से उसे शोक नहीं रहता है।[5] पुरुष वास्तव में काममय है। वह काम की पूर्ति के लिए कर्म करता है और कर्मों के अनुसार फल पाता है।[6]

१. बृहदारण्यक ३.७

२. तैत्तिरीय भृगुवल्ली प्रथम तथा षष्ठ अनुवाक

३. ईशोपनिषद् ८

४. बृहदारण्यक ४.३

५. बृहदारण्यक ४.३। गौतम बुद्ध ने इच्छाओं को दुःख का एकमात्र कारण मान कर अष्टाङ्गिक मार्ग द्वारा उनसे छुटकारा पाने की योजना को अपने धर्म में प्रमुख स्थान दिया।

६. बृहदारण्यक ४.४.५

आत्मा विज्ञानमय है, महान् है, अज है। प्राणियों के अन्तर्हृदय आकाश में वह सोता है। आत्मा सबको वश में रखने वाला सम्राट् है। वह अच्छे कामों से न तो बढ़ता है और न बुरे कामों से क्षीण होता है। वह सेतु है। लोकों को धारण करने वाला आत्मा ही है।[1]

आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह 'यही' है। न तो यह ग्रहण किया जा सकता है, न यह शीर्ण होता है और न आसक्त होता है। आत्मा सीमित नहीं है। उसे न तो व्यथा होती है और न उसका नाश होता है।[2] आत्मा महान्, अज, अन्नाद (सबके भीतर रहकर सब भोजन करने वाला) और वसुदान (धन देने वाला) है। वह अजर-अमर, अमृत और अभय है।[3]

आत्मा ऐन्द्रियक व्यवहारों के लिए इन्द्रिय-रूप है। मन आत्मा का दैवी नेत्र है। मन से आत्मा अनुभूति करता हुआ रमण करता है। ब्रह्मलोक में अवस्थित इस आत्मा को जान लेने पर सभी इच्छायें पूरी हो जाती हैं।[4] वह सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है। आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा देखने, सुनने, मनन करने अथवा जानने वाला नहीं है।[5] आत्मा नाम और रूप से रहित है। वह ब्रह्म है, अमृत है।[6]

आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। उसके दर्शन और विज्ञान आदि से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। मनुष्य के लिए संसार में जो कुछ प्रिय है, वह सारा का सारा आत्मा के लिए प्रिय होता है। पुत्र पुत्र के लिए प्रिय नहीं होता, वह आत्मा के लिए प्रिय होता है। जो कुछ है, वह सारा का सारा आत्म-प्रधान है। इसी महाभूत (आत्मा) के निःश्वसित रूप सभी वेद, इतिहास, उपनिषद् आदि हैं। यह महाभूत अनन्त, अपार और विज्ञानघन है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जहाँ द्वैत होता है, वहाँ एक दूसरे को जान सकता है। जहाँ दूसरा कुछ नहीं है, वहाँ क्या जाना जाय और कौन जानने वाला है? ज्ञाता और ज्ञेय तत्त्वतः एक हैं।[7]

आत्मा सभी भूतों का अधिपति और राजा है। जिस प्रकार रथ की नाभि

१. बृहदारण्यक ४.४.२२
२. बृहदारण्यक ४.४.२२
३. बृहदारण्यक ४.४.२४-२५
४. छान्दोग्य उ० ८.१२
५. बृहदारण्यक ३.८.११
६. छान्दोग्य उ० ८.१४
७. बृहदारण्यक २.४

और नेमि में सभी अर समर्पित होते हैं, उसी प्रकार आत्मा में सभी भूत, सभी देवता, सभी लोक, सभी प्राणी और सभी आत्मायें समर्पित हैं।[1]

आत्मा सर्वतः और सर्वत्र है। आत्मा से प्राण, स्मृति, आकाश, तेज, वल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, वाक्, मन्त्र, कर्म आदि का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा की भूमा-रूप कल्पना का यही आधार है। भूमा में सुख और अल्प म दुःख है।[2]

आत्मा हृदय में रहता है। इसका एक पर्याय 'हृद्य' है।[3] शरीर मर्त्य होने पर भी अमृत और अशरीर आत्मा का निवास है। सशरीर होने पर आत्मा प्रिय और अप्रिय से प्रभावित होता है। आत्मा इस स्थिति में प्रिय और अप्रिय से बच नहीं सकता। शरीर से मुक्त होने पर आत्मा प्रिय और अप्रिय से मुक्त होता है।[4]

परमज्योति का सम्पादन करके इस शरीर से ऊपर उठकर आत्मा अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करता है। वह ऐसी स्थिति में उत्तम पुरुष है और शरीर का स्मरण तक न करते हुए संसार के व्यवहार में लगा रहता है, जैसे गाड़ी में वैल।[5]

इस लौकिक जीवन में ही पुरुष (आत्मा) और प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) का मिलन सम्भव है। मिलन होने पर सांसारिक सम्बन्ध छूट जाते हैं—माता-पिता, लोक, देव, वेद, स्तेन, भ्रूणहा, चाण्डाल, पौल्कस, श्रमण, तापस आदि सभी के सभी अपिता, अमाता, अलोक आदि हो जाते हैं। ब्रह्म का आनन्द परम है। इसी आनन्द के अंशमात्र को अन्य प्राणी भोगते हैं।[6]

उपनिषद्-दर्शन के अनुसार मन इन्द्रियों का सम्राट् है। उसकी अध्यक्षता में इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती हैं। इन्द्रियाँ और मन ज्ञान प्राप्त करने के साधन हैं, पर वे अपने लिए ज्ञान नहीं प्राप्त करते। वास्तव में ज्ञान से उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता है। ज्ञान का प्रयोजन प्रज्ञा को होता है। प्रज्ञा मन को जागरित करती है और मन इन्द्रियों को। इन्द्रियाँ किसी वस्तु के सम्पर्क में आने पर यदि मन की प्रेरणा पाती हैं तो प्रज्ञा को ज्ञान प्रदान करती हैं। प्रज्ञा के पर्यायवाची शब्द प्राण या आत्मा भी हैं। प्राण वास्तव में आनन्द, अजर और अमृत है। वह अच्छे काम से न तो वढ़ता है और न असाधु काम से गिरता है। जिस व्यक्ति को वह इस लोक

१. वृहदारण्यक २.५
२. छान्दोग्य उ० ७.२३-२६
३. छान्दोग्य उ० ८.३
४-५ छान्दोग्य उ० ८.१२। यह स्थिति निष्काम कर्मयोग की है।
६. वृहदारण्यक ४.३.२२,३२

से ऊपर उठाना चाहता है, उससे अच्छा काम कराता है और जिसे गिराना चाहता है, उससे बुरा काम कराता है ।[1]

उपनिषदीय मरणोत्तर-विधान के अनुसार जिस प्रकार जोंक किसी तृण के सिरे से दूसरे अवलम्बन पर पहुँचने के लिए अपना उपसंहार करती है, उसी प्रकार यह आत्मा अपने शरीर को छोड़ कर अन्य अवलम्बन प्राप्त करने के लिए अपना उपसंहार करता है। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण से नई-नई मनोरम मूर्तियाँ बनाता है, उसी प्रकार यह आत्मा वर्तमान शरीर को छोड़ कर पूर्ण विद्या प्राप्त करके नवतर और कल्याणतर रूप बना लेता है। नये रूप पितरों, गन्धर्वों, देवों, प्रजापतियों या ब्रह्म के अनुरूप होते हैं ।[2]

सकाम मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा पुनर्जन्म पा सकता है। जो निष्काम है, इच्छाओं से परे है, जिसकी इच्छायें पूरी हो चुकी हैं अथवा केवल आत्मा-विषयक हैं, वह ब्रह्म बन जाता है, चाहे वह इसी लोक में क्यों न जीवित रहे। इच्छाओं के मिटते ही मानव अमृत हो जाता है और ब्रह्म का आनन्द भोगने लगता है। जिस प्रकार साँप केंचुली को कहीं भी छोड़ देता है, वैसे ही आत्मा शरीर को छोड़ देता है। तब अशरीरी और अमृत प्राण (आत्मा) स्वयं तेज या ब्रह्म बन जाता है ।[3] यहाँ से विमुक्त होकर ब्रह्मवित् पुरुष स्वर्गलोक (ब्रह्म) की प्राप्ति करते हैं ।[4] ब्रह्म की ओर ले जाने वाले मार्ग पर केवल ब्रह्मवित्, पुण्यकृत् और तैजस चलते हैं। अविद्या की उपासना करने वाले अन्धतमः (नरक) में जा गिरते हैं। जो ब्रह्म को नहीं जानते, उनका विनाश हो जाता है। ब्रह्मवित् अमृत हैं, शेष व्यक्ति केवल दुःख ही हैं ।[5]

मरने के पश्चात् श्रद्धापूर्वक तप करने वाले ज्ञानी लोग देवयान से ब्रह्म-लोक में जा पहुँचते हैं। इष्टापूर्त सम्पादित करने वाले लोग पितृयान से चन्द्रलोक पहुँचते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों से रहित प्राणी जन्म लेते और मरते रहते हैं ।[6] जिस प्रकार पका फल अपने बन्धन से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर के अंगों से मुक्त हो जाता है और किसी अन्य शरीर को प्राप्त करने के लिए

---

१. कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् ३.७-८
२. बृहदारण्यक ४.४.४
३. बृहदारण्यक ४.४.६—७
४. बृहदारण्यक ४.४.८
५. बृहदारण्यक ४.४.१४
६. छान्दोग्य उ० ४.१०.४—८

यथाविधि प्रवृत्त होता है।[1] आत्मा शरीर को छोड़ते समय विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा से समायुक्त होता है।[2]

उपनिषद् में सृष्टि की समारम्भ-सम्बन्धी कल्पनायें प्रस्तुत की गई हैं। सृष्टि के आरम्भ के सम्बन्ध में दो प्राचीन मत थे--(१) सत् ही आरम्भ में था और (२) सत् से पहले असत् था। उससे सत् उत्पन्न हुआ।[3] छान्दोग्य उपनिषद् में सीधे तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है कि असत् से सत् उत्पन्न ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सत् ही आरम्भ में था—यह निर्विवाद है। सत् से तेजस् उत्पन्न हुआ। तेजस् से आपस् की उत्पत्ति हुई और उससे अन्न का उद्भव हुआ। इन तीनों का सम्मिश्रण हुआ। मनुष्य तेजस्, आपस् और अन्न--इन तीनों को खाता-पीता है। इन्हीं से मानव के सभी स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व बनते हैं। इस प्रकार मन अन्नमय है। प्राण आपोमय है और वाणी तेजोमयी है।[4]

आत्मा ही आरम्भ में था। उसका स्वरूप पुमान् का था। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था। वह अकेले होने के कारण डरा। उसने अपने चारों ओर देखा कि मेरे अतिरिक्त कोई नहीं है। मैं किससे डरूँ? उसका भय चला गया, क्योंकि भय दूसरे से उत्पन्न होता है। अकेलापन को दूर करने के लिए उसने अपने में से स्त्री और पुरुष भाग को अलग-अलग किया। इस प्रकार दम्पती बन गया। उसी से मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्नी ने लज्जावश अपने को पति से छिपाया और गाय बनी, जिससे पति उसे पहचान न सके। पति ने वृष बन कर उससे गो-जाति का प्रवर्तन किया। इसी प्रकार अन्य योनियाँ प्रवर्तित हुईं।[5] उसी आत्मा ने देवताओं और चारों वर्णों को अपने में से उत्पन्न किया।[6]

वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में दर्शन और यज्ञ सम्बन्धी प्रकरणों पर विवाद करके सत्यासत्य के निर्णय करने का प्रचलन था। उच्च कोटि के आचार्य प्रायः राजाओं की अध्यक्षता में तर्क के द्वारा अपने दर्शन की प्रतिष्ठा करते थे। उस युग में तर्क को अतिशय मान्यता प्राप्त हुई थी। तभी से लेकर प्राचीन भारत में प्रायः

१. बृहदारण्यक ४.१.४

२. बृहदारण्यक ४.३.३६; ४.४.२

३. कुछ वैशेषिक दार्शनिकों का मत है कि असत् आरम्भ में था। बौद्ध दार्शनिक यही मत मानते हैं।

४. छान्दोग्य उ० ६ २५

५. बृहदारण्य १.४

६. बृहदारण्यक १.४,६,११

सृष्टि के विकास-सम्बन्धी विवरण के लिये अन्यत्र देखिये ऐतरेय उप० १.१–३

सदा ही विविध दर्शन की प्रणालियों के आचार्यों के प्राय: विवाद होते थे। विवादों का स्वरूप द्विविध होता था—प्रथम तर्क द्वारा एक दर्शन का आचार्य दूसरे दर्शन के आचार्य की मान्यताओं को असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करता था। दूसरे तर्क के द्वारा दर्शन के सत्यों को अपने शिष्यों के लिए सुबोध बनाने की रीति थी।

गौतम से आरम्भ करके परवर्ती युग के प्राय: सभी बौद्ध आचार्यों के वैदिक दर्शन के आचार्यों से विवाद करने के उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध, जैन और वैदिक संस्कृतियों के विद्यालय प्राय: आसपास स्थित होते थे। समय-समय पर अपने दर्शन की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए इन संस्थाओं के आचार्यों में विवाद होते रहते थे। इस प्रकार प्राचीन युग में अपने दर्शन की विजय-पताका तर्क के द्वारा ऊँची फहरा कर समाज में उसकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा की जाती थी।

उपर्युक्त स्थिति सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियों के परिशोधन के लिए थी। उनमें तर्कहीन विचार-धाराओं को स्थान नहीं मिल सकता था। इसके साथ ही तर्क-शास्त्र का सम्मान बढ़ा। बौद्ध, जैन और वैदिक दर्शनों में उच्चकोटि के तर्क की प्रतिष्ठा हो सकी। वैदिक दर्शन में न्याय अपनी सूक्ष्म तर्क-शैली के लिए सर्वोच्च प्रतिष्ठित हुआ।

उपनिषद्-काल के पश्चात् भारतीय दर्शन की दो प्रमुख शाखायें दृष्टिगोचर होती हैं—वैदिक और अवैदिक। इनमें से प्रथम शाखा वैदिक साहित्य को मान्यता प्रदान करती है और दूसरी उसकी उपेक्षा करती है। वैदिक शाखा की छः प्रमुख उपशाखायें हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। अवैदिक शाखा की तीन उपशाखायें हैं—चार्वाक, बौद्ध और जैन।[1]

वैदिक दर्शनों की एकसूत्रता वेद को मान्यता प्रदान करने के माध्यम से प्रतिष्ठित हो सकी है। वैदिक साहित्य में आत्मा, पुरुष, अविद्या, माया, लोक की सृष्टि आदि का विश्लेषण करने में तत्कालीन सभी आचार्य एक मत नहीं थे। वेदकालीन विभिन्न आचार्यों के मतों को अपना कर उनकी पुष्टि करने वाले परवर्ती युग के आचार्यों के द्वारा प्रवर्तित नवीन दर्शन-पद्धतियों की स्थापना की गई। इन सभी दर्शनों ने अपने मतों के सत्य की प्रतिष्ठा करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद को प्रमाण माना है।

---

१. माधव के सर्वदर्शन-संग्रह में उपर्युक्त दर्शनों की संख्या १६ है। इनमें शैव दर्शन के चार उपभेद तथा रामानुज और पूर्णप्रज्ञ के दर्शन वेदान्तसूत्र से सम्बद्ध हैं। माधव का पाणिनिदर्शन व्याकरण पर आधारित है। बौद्ध दर्शन की चार और जैन दर्शन की दो प्रधान उपशाखाओं का भी परिगणन इस ग्रन्थ में मिलता है।

चार्वाक दर्शन को छोड़ कर सभी दर्शनों के अनुसार किसी भी प्राणी की मरने के पश्चात् मोक्ष, स्वर्ग या पुनर्जन्म आदि गतियाँ हो सकती हैं। इनमें से मोक्ष को सर्वोपरि मान कर इसकी प्राप्ति के लिए योजनायें प्रस्तुत करना भारतीय दर्शनों की एक प्रधान विशेषता है। मीमांसा दर्शन के आरम्भिक युग में मानव के लिए स्वर्ग प्राप्त करना प्रधान उद्देश्य माना गया।

जैन और बौद्ध दर्शनों में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है, पर उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा का गहरा प्रभाव इन दोनों दर्शनों पर पड़ा है। उपनिषदों के अनुसार आध्यात्मिक अभ्युदय के मार्ग में ज्ञान को सोपान बना कर तप और समाधि के द्वारा चिन्मय प्रवृत्तियों को जागरित करके नित्य प्रगति करना मानव का सर्वोच्च कर्तव्य है। जैन और बौद्ध दर्शनों में इस विधान को वैसी ही प्रतिष्ठा मिली है, जैसी वैदिक दर्शन में।

षड्दर्शन

प्रमाण और ज्ञान

दर्शन की पद्धति में सत्यासत्य का निर्णय करते समय तर्क होना स्वाभाविक है। तर्क के साथ प्रमाण की प्रतिष्ठा होती है। भारतीय दर्शनों में प्रमाणों का विवेचन अतिशय सूक्ष्मता से किया गया है। इस दिशा में न्याय-दर्शन अग्रणी रहा है। न्याय दर्शन की प्रमुख प्रवृत्ति को दृष्टि-पथ में रख कर इसे तर्क-विद्या और वाद-विद्या भी कहते हैं। न्याय प्रमाण-शास्त्र है। प्रमाण-शास्त्र के द्वारा प्रमेय वस्तुओं के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान होता है और साथ ही विदित होता है कि जो ज्ञान प्राप्त किया गया है, वह सत्य है कि नहीं। न्याय-दर्शन की दृढ़ भित्ति इस सिद्धान्त पर है कि जिन वस्तुओं की सत्ता है, वे सभी ज्ञेय हैं। जो ज्ञेय नहीं हैं, उनकी सत्ता नहीं है।

न्याय के अनुसार प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनमें से प्रत्यक्ष सर्वविदित है। प्रमाण की दृष्टि से अनुमान की अतिशय विशेषता है। अनुमान की आधार-भित्ति प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान सम्बन्धी सत्यों की परम्परा बनती रहती है। उन सत्यों की आनुषंगिक परिस्थितियों की कार्य-कारण या चिह्न-रूप में बौद्धिक प्रतिष्ठा होती रहती है। उन्हीं आनुषंगिक परिस्थितियों को देखते ही उनसे सम्बद्ध वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। यही अनुमान है। अनुमान तीन प्रकार के हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् में पूर्व (कारण) के द्वारा कार्य का ज्ञान होता है। इसमें कारण ही लिंग बन जाता है। जैसे मेघ की उन्नति देखकर वृष्टि का अनुमान करना। शेष (कार्य) के द्वारा कारण का ज्ञान कर लेना शेषवत् है। जब कार्य और कारण के अतिरिक्त कोई लिंग किसी वस्तु का

परिचायक हो तो उस ज्ञान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। कास का फूलना देखकर शरद् ऋतु के आगमन का ज्ञान होने को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। पहले से ही ज्ञात वस्तुओं के सादृश्य के द्वारा किसी पद का उसके अर्थ से सम्बन्ध का ज्ञान उपमान-प्रमाण से होता है। शब्द-प्रमाण यथार्थ ज्ञान कराने वाले वाक्य हैं, जैसे वेद।

ज्ञान की प्रतीति आत्मा को मन के माध्यम से होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तुओं के सन्निकर्ष को मन तक पहुँचाती हैं और मन उसे आत्मा तक पहुँचाता है।

इनके अतिरिक्त न्याय-दर्शन में रहस्यात्मक अथवा अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान कराने के लिए यौगिक प्रत्यक्ष की प्रतिष्ठा हुई है। अणु, धर्म आदि का ज्ञान यौगिक प्रत्यक्ष से होता है।

सांख्य दर्शन में न्याय के उपमान-प्रमाण को प्रतिष्ठा नहीं मिलती है। इस दर्शन के अनुसार बुद्धि प्रकृति-तत्त्व होने के कारण अचेतन है। ऐसी स्थिति में बुद्धि-जन्य सुख-दुःख आदि सभी अचेतन हैं। बुद्धि सुख और दुःख का ज्ञान प्राप्त करती है। सुख-दुःख चेतन पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस प्रकार पुरुष मानो ज्ञानवान् होता है। बुद्धि के माध्यम से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने सम्पर्क में आये हुए विषयों को पुरुष तक पहुँचाती हैं।

सांख्य के अनुसार शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत वेद, इतिहास और स्मृति के लेख आते हैं। इनके साथ ही कपिल की वाणी सत्य मानी गई है। योगदर्शन में भी सांख्य के प्रमाण अपनाये गये हैं। योग के अनुसार जिस ज्ञान के लिए बुद्धि का सहारा लिया जाता है, वह पूर्णतया सत्य नहीं होता, क्योंकि बुद्धि प्रकृति-तत्त्व है। वास्तविक सत्य का ज्ञान केवल योग के द्वारा हो सकता है।

पूर्वमीमांसा दर्शन में सांख्य की भाँति तीन प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रतिष्ठित हुए। परवर्ती युग में प्रमाणों की संख्या बढ़ती गई। पहले प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति प्रमाण जोड़े। फिर कुमारिल ने अनुपलब्धि नामक नया प्रमाण स्वीकार किया। अन्ततोगत्वा मीमांसा में छः प्रमाण माने गये। इस दर्शन में अलौकिक प्रत्यक्ष या यौगिक प्रत्यक्ष को नहीं माना गया है। इसके अनुसार कुछ भी अतीन्द्रिय नहीं है या यदि कुछ अतीन्द्रिय है तो वह शब्द-प्रमाण से ज्ञेय है।

मीमांसा-दर्शन का प्रधान क्षेत्र धर्म का ज्ञान है। धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण केवल उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं, जिनका स्वरूप भौतिक होता है। वेदों को प्रमाण मान कर ही धर्म का विवेचन हो सकता है। शब्द-ज्ञान का प्रधान स्रोत वेद है। आप्त पुरुषों की वाणी शब्द-प्रमाण का द्वितीय स्रोत है। मीमांसक वेद

को ईश्वर की कृति नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वेद सनातन हैं। ईश्वर के हाथ-मुँह आदि नहीं हैं। वह कैसे कुछ लिखेगा या बोलेगा ? यदि कहा जाय कि ईश्वर वेद लिखने के लिए हाथ और मुँह वाला पुरुष बन जाता है तो उसकी सर्वोच्चता सन्दिग्ध हो जाती है, क्योंकि वह भौतिक जगत् के पाश में बँधता है। वेद के सूक्तों के साथ उनके ऋषियों के नाम सम्बद्ध हैं। क्या वे ऋषि उन सूक्तों के रचयिता हैं ? मीमांसकों की दृष्टि में ऋषि उनके रचयिता नहीं हैं, वे उनके केवल अध्ययन और अध्यापन करने वाले हैं। वैदिक साहित्य में जो ऐतिहासिक नाम और घटनायें हैं, उन्हें भी मीमांसक लौकिक नाम और घटना नहीं मानते। उनके अनुसार उन नामों और घटनाओं का सम्बन्ध विश्वात्मक रहस्यों से है, लौकिक व्यापारों से नहीं।

मीमांसक किसी वस्तु के सम्बन्ध में दो प्रत्यक्षों के बीच आने वाली असंगति को अर्थापत्ति-प्रमाण के द्वारा दूर करते हैं। असंगति का स्वरूप सन्देहात्मक होता है। 'देवदत्त दिन मे नहीं खाता, फिर भी मोटा है।' ये दो प्रत्यक्ष हैं। दिन में न खाने वाला मोटा रहे—यह सन्देहात्मक असंगति है, जिसे दूर करने के लिए अर्थापत्ति प्रमाण से जान लेते हैं कि वह रात्रि में खाता है। अर्थापत्ति-प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत नही आ सकता, क्योंकि अनुमान में सन्देह को स्थान नही है। इस दर्शन में अनुपलब्धि-प्रमाण के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है। 'आकाश में चन्द्रमा नहीं है।' ऐसी स्थिति में चन्द्र के अभाव का ज्ञान केवल अनुपलब्धि-प्रमाण से सम्भव होता।

वेदान्त-दर्शन में श्रुति (उपनिषद्) प्रत्यक्ष है और स्मृतियाँ—भगवद्गीता महाभारत और मनुस्मृति अनुमान हैं। जैसे अनुमान प्रत्यक्ष पर अवलम्बित होता है, उसी प्रकार स्मृति श्रुति पर अवलम्बित होती है। वेदान्त-सूत्र-रचयिता बादरायण केवल इन्हीं दो प्रमाणों को मानते हैं। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और उससे सम्बद्ध तत्त्वों को तर्क के द्वारा जाना जा सकता है, परब्रह्म को शास्त्रों से ही जान सकते हैं।

शंकर ने प्रमाण के द्वारा ज्ञातव्य सत्ता के तीन रूप बतलाये हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। इनका प्रकाशन आत्मा के माध्यम से होता है। आत्मा प्रकाशक है। वह अन्तःकरण को ज्ञान प्राप्त करने की जो शक्ति प्रदान करता है, उससे अन्तःकरण वस्तुओं को प्रकाशित करने लगता है। इसी अन्तःकरण के माध्यम से आत्मा को ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में अन्तःकरण में जो विकार होता है, उसका नाम वृत्ति है। वृत्तियाँ चार प्रकार की हैं—संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण। अन्तःकरण की इन वृत्तियों के सम्बन्ध में क्रमशः चार संज्ञायें

होती हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तःकरण भिन्न होता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान भिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण की कार्यशीलता या बोध की मर्यादा उस व्यक्ति के पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुरूप मर्यादित होती है।

शंकर के अनुसार अन्तःकरण की सहायता से जो कुछ ज्ञान आत्मा प्राप्त करता है, वह अविद्या है। केवल आत्मा के चिन्मय रूप का ज्ञान विद्या है। शंकर ने पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं का विवेचन करते हुए आत्मा की पारमार्थिक और उसके अतिरिक्त जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानी है। व्यावहारिक सत्ता की प्रतीति अध्यास के कारण होती है। किसी वस्तु को उस वस्तु से भिन्न जानना अध्यास है।[1] अध्यास के कारण आत्मा का कर्त्ता और भोक्ता रूप प्रतीत होता है। अध्यास की ओर प्रवृत्ति का होना अविद्या है। इनके अतिरिक्त प्रातिभासिक सत्ता है, जो भ्रान्ति के कारण होती है, जैसे रस्सी में साँप की प्रतीति। भ्रान्ति के दूर होने पर प्रातिभासिक सत्ता मिट जाती है। स्वप्न-जगत् की प्रातिभासिक सत्ता है।

तर्क-विद्या अविद्या ही है। वह ब्रह्म के सत्-स्वरूप का ज्ञान नही करा सकती। ब्रह्म को अनुभव से जाना जा सकता है। अविद्या के कारण ब्रह्म जगत्-रूप मे दिखाई पड़ता है। यह तर्क-विद्या ब्रह्म के व्यावहारिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कराने के नाते न तो सत् है और न असत् और न दोनों। शंकर के अनुसार अविद्या अनिर्वचनीय है।

प्रमेय

न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्य-भाव, फल, दुःख और अपवर्ग प्रमेय हैं।[2] प्रमेयों में आत्मा और अपवर्ग प्रमुख हैं। इन्हीं का विवेचन प्रधान रूप से अभीष्ट है। वैशेषिक दर्शन के प्रमेय पदार्थ द्रव्य,

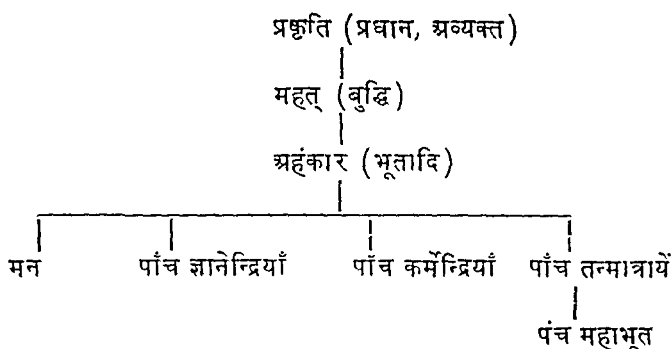
---

१. अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिः।

२. इन प्रमेयों मे अर्थ, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्य-भाव और फल इस प्रसंग मे साधारणतः बोधगम्य नहीं है। पृथिवी, जल आदि पाँच भूतों के गुण गन्ध, रस आदि हैं। इन गुणों को अर्थ कहते है। आत्मा को जो एक बार एक ही ज्ञान कराता है, वह मन है। वाक्, बुद्धि और शरीर के व्यापार प्रवृत्ति हैं। प्रवृत्ति उत्पन्न कराने वाले दोष हैं। मरने के पश्चात् पुनः जन्म लेना प्रेत्य-भाव है। प्रवत्ति के दोष से उत्पन्न सुख और दुःख आदि उपभोग फल है।

गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि हैं।[1] इनमें से द्रव्य कोटि में पंच भूत, काल, दिक्, आत्मा और मन हैं। काल और दिक् वैशेषिक के अपने निजी प्रमेय हैं। वैशेषिक दर्शन में गुणों की संख्या १७ है।[2] वैशेषिक का कर्म है उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। अनेक व्यक्तियों में सामान्य रूप से प्राप्तव्य तत्त्व सामान्य है, जैसे मानवों में मानवता-विशेष के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है।[3] अवयव और अवयवी, गुण और गुणी आदि के सम्बन्ध का नाम समवाय है। वैशेषिक दर्शन की प्रवृत्तियाँ प्रायः न्याय दर्शन के समान हैं।

सांख्य दर्शन के प्रमेय पुरुष और प्रकृति हैं। इनमें से पुरुष निर्विकार है। प्रकृति का विकास नीचे लिखी तालिका में अंकित क्रम से होता है :—



पुरुष के साथ प्रकृति के इन सभी विकासों को लेकर सांख्य में २५ तत्त्व होते हैं। मुक्ति पाने के लिए इन्हीं २५ तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित है। योगदर्शन के प्रमेय सांख्य-दर्शन के समान हैं।

पूर्व-मीमांसा दर्शन के आठ प्रमेय हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें से परतन्त्रता न्याय-दर्शन के समवाय के समकक्ष है। द्रव्य, गुण, सामान्य और कर्म के कारण बनकर कार्य उत्पन्न करने की क्षमता का नाम शक्ति है। सादृश्य का आश्रय गुण है। परवर्ती युगीन मीमांसक कुमारिल ने द्रव्यों के भेदों में न्याय के ६ भेदों के अतिरिक्त तमस् और शब्द की गणना की है।

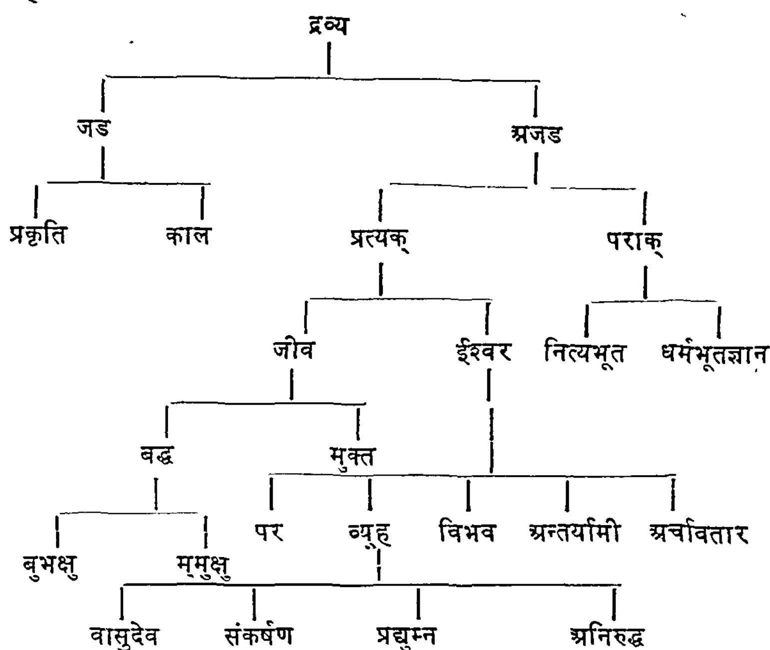
---

१. परवर्ती युग में अभाव अभिनव पदार्थ जोड़ा गया।

२. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।

३. इसी विशेष नामक पदार्थ के कारण इस दर्शन को वैशेषिक कहते हैं। अन्य दर्शनों में विशेष को स्थान नहीं मिला।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत वेदान्त-दर्शन में पदार्थ के भेद द्रव्य और अद्रव्य हैं। इनमें से द्रव्य का क्रमिक विकास और भेदोपभेद नीचे दी हुई तालिका के अनुसार हैं :—



अद्रव्य पदार्थ दस हैं—सत्, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

इस दर्शन की प्रकृति का स्वरूप सांख्य दर्शन की प्रकृति के प्रायः समान है। इसके अनुसार प्रकृति जीवों का आश्रय है। अजड द्रव्य स्वयं प्रकाश हैं। इनमें से नित्य विभूति में मुक्त जीव, ईश्वर आदि की स्थिति होती है। इसी के द्वारा स्वर्ग आदि लोकों की रचना होती है। ऊपर की ओर इसका अनन्त विस्तार है। इसके नीचे प्रकृति होती है, जिसके द्वारा पृथिवी-लोक का सब कुछ बना है। धर्मभूत ज्ञान जीव और ईश्वर का होता है। ईश्वर के व्यूह नामक विकास से अवतार-कोटि की लोकोपकारिणी सत्ताओं का विकास होता है।

आत्मा, पुरुष, जीव आदि

न्याय-दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को अनुमान द्वारा सिद्ध किया गया है और वैदिक साहित्य के उल्लेखों से उसकी पुष्टि की गई है। कुछ नैयायिक आत्मा को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध मानते हैं। 'मैं' की भावना जिसके सम्बन्ध में होती है, वह आत्मा है। साधारणतः किसी वस्तु को जानने की इच्छा होती है और वह वस्तु जानी

जाती है। ऐसी स्थिति में जानने की इच्छा और ज्ञान जिसे होता है, वह आत्मा है। वही आत्मा हमारे जीवन के सारे उपक्रमों की सतत परम्परा का संयोजक है।

स्वभाववादियों का सिद्धान्त है कि शरीर हमारे ज्ञान का अधिष्ठाता है। इस कथन का निराकरण न्याय में एक पद में ही कर दिया गया है कि यदि शरीर को ज्ञान होता है तो मरने के पश्चात् शरीर तो रहता ही है, उसमें ज्ञान कहाँ है ?

आत्मा की इन्द्रियों से भिन्नता स्पष्ट है। आत्मा इन्द्रियों का नियामक है और इन्द्रियों के ज्ञानों का विवेचन करता है। यदि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न नहीं होता तो यह ज्ञान कैसे होता कि मैं जो वस्तु देख रहा हूँ, उसके विषय में सुन चुका हूँ। आँख फूट जाने पर यह ज्ञान आत्मा को रहता है कि मैंने यह देखा था।

आत्मा मन से भिन्न है। मन के द्वारा आत्मा मनन करता है। शरीर, मन और इन्द्रिय की उपरति होने पर भी आत्मा रहता है। मन आत्मा को ज्ञान कराता है।

आत्मा निरवयव (एक पूर्ण) और सनातन है, अनादि और अनन्त है। जिसका आदि होता है, उसका अन्त भी होता है। आत्मा का आकार सीमा के प्रतिबन्ध से परे है। ससीम अवयवों से बना होता है और वह नश्वर होता है। आत्मा का अणु-रूप नहीं हो सकता, क्योंकि अणु-रूप आत्मा को गुण, बुद्धि, इच्छा आदि की प्रतीति नहीं हो सकती। अणु-रूप आत्मा को पूरे शरीर के माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। वह असीम आत्मा सर्वव्यापी है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी आत्मा है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी अनुभूतियाँ होती हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख-दुःख का स्वयं अनुभव करता है। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो मन को मार कर बैठा रहे। उसे कोई अनुभूति नहीं होगी। किसी व्यक्ति के आत्मा को तभी तक ज्ञान या अनुभूति रहती है, जब तक वह व्यक्ति जागरित अवस्था में हो और उसका मन आत्मा के सम्पर्क में हो।

आत्मा का शरीर से अमिट सम्बन्ध नहीं है। व्यक्ति कर्म करता है। शरीर कर्म का माध्यम है। इसी शरीर के माध्यम से आत्मा को उस कर्म के परिणाम-स्वरूप सुख-दुःख भोगना पड़ता है। शरीर की रूप-रेखा प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए समीचीन माध्यम होता है। किसी व्यक्ति का शरीर उसके माता-पिता के कर्मों तथा उस व्यक्ति के पूर्व जन्म के

कर्मों के अनुरूप बनता है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो जाना जन्म है और इस सम्बन्ध का टूट जाना मृत्यु है ।

न्याय-दर्शन के आत्मा का समकक्ष सांख्य और योग दर्शन का पुरुष है, यद्यपि आत्मा और पुरुष एक दूसरे से भिन्न हैं। सांख्य का पुरुष न तो प्रकृति है और न विकृति।[1] पुरुष का अस्तित्व सप्रमाण सिद्ध किया गया है। वह भोग्य वस्तुओं का भोक्ता है। प्रकृति के विकास में भोग्य वस्तुओं का समुच्चय है। यह समुच्चय पुरुष के लिए है। भोक्ता पुरुष को भोग्य प्रकृति से गुणतः भिन्न होना चाहिए। प्रकृति उसी के लिए भोग्य होगी, जिसमें प्रकृति के तीन गुणों का अभाव हो। प्रकृति का अधिष्ठाता होना चाहिए। प्रकृति में स्वयं चेतना नहीं है। अतः वह स्वयं अधिष्ठात्री नहीं हो सकती। प्रकृति सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं कर सकती। यह पुरुष कर सकता है। प्रकृति के पाश से मुक्त होने का प्रयत्न प्रकृति से भिन्न पुरुष कर सकता है।

पुरुष प्रकृति के सभी तत्त्वों से भिन्न है, क्योंकि प्रकृति के तत्त्वों में चेतनता नहीं हो सकती और पुरुष का प्रधान धर्म चेतनता है। पुरुष की चेतनता प्रकृति पर प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि, मन और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करती है। पुरुष सदैव प्रकाश-स्वरूप है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। पुरुष से प्रकाश पाकर प्रकृति अपना विकास करने के लिए सशक्त होती है। पुरुष का आकार सीमाबद्ध नहीं है। वह स्वयं कुछ नहीं करता। पुरुष की संख्या अनियत है। प्रत्येक शरीर में सुख-दुःख की भिन्न-भिन्न भावनायें पुरुष-बहुत्व की ओर संकेत करती हैं। यदि पुरुष एक होता तो सभी लोग एक साथ ही मुक्त या बद्ध होते।

प्रकृति-पाश में आबद्ध पुरुष का नाम जीव है। जीव का आभास बुद्धि में होता है। बुद्धिगत जीव का शरीर अहंकार है। अहंकार के साथ दस इन्द्रियाँ और मन सम्बद्ध होते हैं। जीव के अपने कर्मगत संस्कार और अविद्या होती है। जीव के साथ भौतिक शरीर का सम्बन्ध केवल जीवन भर रहता है। मरने के पश्चात् जीव का साथी केवल लिंग-शरीर होता है।[2] लिंग-शरीर के साथ जीव का पुनर्जन्म होता है। तभी उसे पुनः भौतिक शरीर की प्राप्ति हो जाती है। लिंग-शरीर में प्रकृति के तीन गुण—सत्त्व, रजस् और तमस् की सत्ता रहती है। तमः प्रधान होने पर पशु-

१. जिससे कुछ उद्भव होता है, वह प्रकृति है। जिसका किसी से उद्भव होता है, वह विकृति है।

२. लिंग-शरीर में बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें तथा मूल रूप में पंच भूतों के बीज रहते हैं।

कोटि में और रजस् प्रधान होने पर मानव-कोटि में जीव जन्म लेता है। लिंग-शरीर में सत्त्व गण की प्रधानता होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। रजस् और तमस् से आबद्ध पुरुष अपने स्वरूप को नहीं पहचानता और तभी तक वह जन्म-मरण के पाश में आबद्ध रहता है।

मीमांसा-दर्शन में आत्मा की सत्ता शब्द-प्रमाण से सिद्ध मानी गई है। वेद के अनुसार मरने के पश्चात् पुण्य कर्मों का फल मिलता है। यह शरीर मरते ही नष्ट हो जाता है। जिस किसी को यह फल मिलता है, वह आत्मा है। परवर्ती युग में ज्ञान प्राप्त करने वाले को आत्मा माना गया। आत्मा जिस शरीर से सम्बद्ध होता है, उसका अध्यक्ष बन कर संचालन करता है। आत्मा की शक्ति से शरीर को शक्ति मिलती है। आत्मा प्रत्येक शरीर के साथ भिन्न-भिन्न होता है। अहं का ज्ञान आत्मा के माध्यम से होता है। आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है।

वेदान्त-दर्शन के आचार्य शंकर ने आत्मा को चित् रूप माना। शंकर के अनुसार आत्मा सदैव प्रकाशमान है। न्याय-दर्शन में आत्मा को बुद्धि (चित्) का अधिकरण माना गया था, पर अद्वैत वेदान्त में आत्मा बुद्धि का अधिकरण नहीं, अपितु बुद्धि ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा चित् स्वभाव है अथवा आत्मा चैतन्य है। आत्मा का दूसरा स्वभाव आनन्द है। आत्मा की कोई प्रवृत्ति नहीं। वह कुछ नहीं करता, पर आत्मा के बिना कोई कर्म नहीं होता। आत्मा का जो स्वरूप कार्य पर प्रतीत होता है, वह 'अहम्' है। 'अहम्' का भाव आत्मा के शरीरी बनने पर होता है। आत्मा एक, विश्वात्मक और असीम है। आत्मा स्वयं-सिद्ध है। उसे सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। आत्मा प्रमाण आदि व्यवहारों का आश्रय होने के कारण इन व्यवहारों से पहले ही सिद्ध होता है।

शांकर वेदान्त के अनुसार आत्मा अज्ञान की उपाधि होने पर जीव है। ऐसी स्थिति में जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि शक्तियाँ वर्तमान होती हैं। इस प्रकार जीव स्थूल शरीर से समायुक्त होता है और उसके १७ तत्त्व होते हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि।

जीव शरीर के द्वारा किये हुए कर्मों से आबद्ध होता है। तत्त्वतः आत्मा होने के नाते जीव विभु है, अणु नहीं। प्रत्येक जीव में साक्षी आत्मा भी होता है। अन्तःकरण की उपाधि से उपहित होने पर उसे साक्षी कहते हैं। अन्तःकरण जीव का अंग है। यही साक्षी और जीव का अन्तर है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर जीव को उसके पूर्व कर्मों के अनुसार नये कर्मों में प्रवृत्त करता है। कर्मों का फल देने का विधान ईश्वरीय है। ईश्वर कर्माध्यक्ष

है। जीव की दो कोटियाँ—बद्ध और मुक्त होती हैं। बद्ध कोटि का जीव या तो भोग-विलास में प्रवृत्त होकर मरने के पश्चात् जन्म-बन्धन में पड़ जाता है, अन्यथा वह मुक्त होने की इच्छा से तप और तत्त्व-ज्ञान की ओर प्रवृत्त होकर मुमुक्षु बन जाता है। जीव और ईश्वर दोनों अजड के भेद प्रत्येक-तत्त्व से विकसित होते हैं।

मन

वात्स्यायन के अनुसार मन की गणना इन्द्रियों में होनी चाहिये, यद्यपि अन्य इन्द्रियों से इसमें कुछ विशेषतायें हैं। अन्य इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों से बनी हैं। उनका ज्ञान-क्षेत्र सीमित है। मन भौतिक तत्त्वों से नहीं बना है। मन की ज्ञान-परिधि के भीतर सभी विषय आते हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ एक अकेला मन सम्बद्ध होता है।

मन का स्वरूप अणुमात्र है। अणुता के फलस्वरूप वह एक समय में एक इन्द्रिय के सम्पर्क में आ सकता है। मन की गति अतिशय तीव्र है। यही कारण है कि यद्यपि मन एक समय में एक ज्ञान कराता है, पर अनेक ज्ञानों की परम्परा को इतने कम समय में उत्तरोत्तर आत्मा का विषय बना देता है कि प्रतीत होता है कि एक समय में मन अनेक ज्ञानों को प्राप्त कराता है।

परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर

आरम्भ में न्याय-दर्शन ईश्वर के सम्बन्ध में मौन था। न्याय-सूत्र के प्रमेयों में ईश्वर का नाम नहीं है। प्रमेयों में आत्मा का नाम है। उस आत्मा में ईश्वर का सर्वथा आभास नही मिलता। परवर्ती न्याय में ईश्वर की चर्चा है। इसके अनुसार ईश्वर का संसार से सम्बन्ध है। ईश्वर जगत् का रचयिता है। आगे चलकर आरम्भिक आत्मा के दो रूप माने गये—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा आरम्भिक आत्मा से अतिशय और जीवात्मा उससे न्यून हो कर रहे। जीवात्मा और परमात्मा दोनों में विभुत्व, ज्ञानाश्रयत्व आदि गुण समान हैं। जीवात्मा का ज्ञान सीमित है और परमात्मा सर्वज्ञ है। दोनों ही नित्य हैं। परमात्मा में द्वेष नहीं है, पर इच्छा है। यह इच्छा अशुभ नही होती। जीवात्मा द्वेप और अशुभ इच्छा का भी अधिष्ठान है। जीवात्माओं की संख्या असीम है।

नैयायिकों को सृष्टि की प्रक्रिया की व्याख्या ढूँढ़ने में ईश्वर का दर्शन हुआ। आरम्भ में वे मानते थे कि आत्मा को उसका अदृष्ट (पुण्य और पाप के संस्कार) शरीर-बन्ध में बाँधने का कारण बनता है। परवर्तीयुग में अदृष्ट की स्वयं-प्रवृत्ति को सन्दिग्ध माना जाने लगा और कहा गया कि इस अदृष्ट में प्रवर्त्तन की शक्ति कहीं बाहर से आई है। ऐसी स्थिति में न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट में प्रवर्त्तन का व्यापार ईश्वर के द्वारा नियोजित माना गया। ईश्वर की प्रतिष्ठा अदृष्ट के अध्यक्ष-रूप में हुई और उसे कर्मफल-प्रद कहा गया। यही ईश्वर चिन्मय है।

ईश्वर की अन्य विशेषताओं का दर्शन शीघ्र हो गया। उसके सत्, चित् और आनन्द रूप की प्रतिष्ठा हुई। धर्म और ज्ञान को ईश्वर की सम्पत्ति या विशेष गुण माना गया और उसे अधर्म, अज्ञान और प्रमाद से रहित बताया गया। न्याय के अनुसार ईश्वर अपनी सृष्टि के सम्बन्ध में सतर्क और सचेष्ट है, जैसे कोई पिता अपनी सन्तान के विषय में होता है। ईश्वर में पूर्ण चिन्मयता और आनन्द के साथ इच्छा का आरोप स्वाभाविक ही था। वास्तव में ईश्वर की सभी इच्छाओं का पूर्ण होना और उसका आप्तकाम होना आदर्श सत्य के रूप में नियत हुआ।

वैशेषिक दर्शन में आरम्भ में ईश्वर की चर्चा नहीं मिलती। विश्व की रचना में ईश्वर का कोई स्थान नहीं माना गया। परवर्ती युग में ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण मान लिया गया और उसे सृष्टि की प्रक्रिया के संयोजक-रूप में प्रतिष्ठा मिली क्योंकि न तो वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं में और न आत्मा में अपने-आप रचना करने की शक्ति थी।

सांख्य-दर्शन में मूलतः ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। सांख्य का पुरुष न्याय के आत्मा के प्रायः समकक्ष है, पर परमात्मा के तत्त्व उसमें वर्त्तमान नहीं हैं। ऋग्वेद का पुरुष वेदान्त के ब्रह्म के समकक्ष था। उसका कोई विशेष सम्बन्ध सांख्य के पुरुष से नहीं है। इस प्रकार सांख्य का पुरुष ईश्वर नहीं है। केवल इतने से ही कहा जा सकता है कि आरम्भिक सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है, यद्यपि यह दर्शन ईश्वर के विषय में मौन है। सांख्य-प्रवचन-सूत्र मे 'ईश्वरासिद्धेः' के आधार पर कुछ विद्वान् प्रमाणित करना चाहते हैं कि इस दर्शन में ईश्वर की मान्यता है, पर उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यदि सांख्य ईश्वर को मानता तो उसकी सत्ता का विवेचन करता, अपने प्रमेयों में उसे स्थान देता अथवा पुरुष और प्रकृति से उसका सम्बन्ध स्थापित करता।

परवर्ती सांख्याचार्यो ने ईश्वर को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार ईश्वर 'पुरुष' का नियोजक है। वह 'पुरुष' और 'प्रकृति' के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। ईश्वर को मान लेने पर इस दर्शन की प्रकृति की विकासमयी प्रवृत्ति का प्रवर्तक ईश्वर रूप में मिल गया अन्यथा मूलतः सांख्य में पुरुष और प्रकृति दोनों के निष्क्रिय होने पर यह प्रश्न रह जाता था कि प्रकृति की विकास-परम्परा को कौन नियोजित करता है। उपर्युक्त विचार-धारा सेश्वर-सांख्य और योग-दर्शन में अपनायी गई।

योग-दर्शन में ईश्वर के प्रणिधान द्वारा समाधि प्राप्त करने की योजना मिलती है। ईश्वर सर्वज्ञ है। वह अचेतन प्रकृति को विकास की ओर प्रवर्तित करता है। वह सदैव देखता रहता है कि प्रकृति का विकास इस प्रकार हो कि

पुरुष की प्रगति में वह सहायक हो। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। वह संसार पर अनुग्रह करते हुए सन्मार्ग दिखाने के लिए आचार्यत्व अवश्य करता है। उसी की वाणी वेद में संगृहीत है। ईश्वर अनादि-काल से अनन्त काल तक प्रकृति के विकास की अध्यक्षता करता रहा है और करता रहेगा। मुक्ति पाने वाले पुरुषों का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, पर ईश्वर का प्रकृति से यह शाश्वत सम्बन्ध है। ईश्वर सदैव सत्त्व गुण से समापन्न होकर अपने कार्य करता है। 'ओ३म्' उस ईश्वर का प्रतीक है।

योग-दर्शन में शनैः शनैः ईश्वर की प्रतिष्ठा बढ़ी और उसे पुरुष के अधिक निकट लाया गया। परवर्ती योग-दर्शन में ईश्वर को तत्त्वतः पुरुष से अभिन्न बनाने का प्रयास मिलता है। इस प्रकार पुरुष के प्रकृति के पाश से मुक्त होने पर ईश्वर के साथ तादात्म्य की स्थापना हुई।

प्रारम्भिक मीमांसा में ईश्वर का कोई स्थान नहीं था। कुमारिल ने सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईश्वर नहीं है, और सृष्टि की रचना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई कहे कि परमाणु ईश्वर की इच्छा के अधीन संचरणशील हैं तो उससे प्रश्न पूछा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा कैसे उत्पन्न होती है?

परवर्ती युग में मीमांसा दर्शन में ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई। आपवेद और लौगाक्षिभास्कर के नाम इस खोज के सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। इन्होंने ईश्वर के लिए यज्ञ का विधान किया। अन्तिम युग में सेश्वर-सांख्य की भाँति सेश्वर-मीमांसा सम्भव हुई।

वेदान्त-सूत्र में ब्रह्म को जगत् का आदिकारण माना गया। हृदय के भीतर रहने वाला विज्ञानमय तथा सूर्यमण्डल के भीतर स्थित हिरण्मय पुरुष ब्रह्म है। आकाश ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है। आत्मा की ज्योति ब्रह्म है।

शांकर वेदान्त अनुभव को आध्यात्मिक सत्ता के ज्ञान के लिए आवश्यक मानता है। इसके अनुसार ब्रह्म के विषय में साधारणतः कुछ भी निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो शब्द वर्णन के माध्यम ह, वे व्यावहारिक सत्ता वाले जगत् के लिए ही पर्याप्त हैं। मानव-वाणी में स्वभावतः वह शक्ति नहीं हो सकती, जिसके द्वारा वह दृश्य जगत् से बाह्य तत्त्वों का पर्यालोचन कर सके, क्योंकि जो शब्द हम बनाते हैं, वे हमारे दृश्य जगत् की वस्तुओं की संज्ञामात्र होते हैं। ब्रह्म-विषयक जो अनुभव किया जाता है, उसके वर्णन के लिए शब्द हमारे कोश में नहीं होते। दृश्य जगत् की किसी भी वस्तु से ब्रह्म की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि दोनों में किसी प्रकार की समानता या असमानता नहीं है।

शंकर ने उस ब्रह्म का एक विशेषण अवश्य बताया है और वह है अद्वैत। जिस प्रकार दृश्यमान जगत् की वर्णना के लिए भाषा होती है, वैसी भाषा ब्रह्मानुभव की वर्णना के लिए नहीं हो सकती। यदि ब्रह्मानुभव करने वाले कोई भाषा बनायें तो केवल वे ही उसे समझ सकते हैं। उन्होंने जो भाषा बनाई है, उसके कुछ शब्द सत्, चित् और आनन्द हैं, पर इन शब्दों का जो अर्थ हम समझते हैं, उससे प्रायः भिन्न अर्थों में ब्रह्मानुभवी इनका प्रयोग करते हैं।

शांकर वेदान्त का ईश्वर सगुण ब्रह्म है। ईश्वर की सत्ता व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। उसकी सत्ता न तो स्वयं-सिद्ध है और न तर्कों के सहारे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है। श्रुति के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् है। वह सारे जगत् के आत्मा का एक प्रतिनिधि है। ब्रह्मसूत्र के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता है।[1] यह नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि और विलयन का कारण है। ईश्वर अन्तर्यामी है। वह स्वयं असम्भव है, अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है। वह कार्य नहीं है और ऐसी स्थिति में ईश्वर का कोई कारण नहीं है। ईश्वर व्यक्तिगत आत्माओं का समाहार है। आत्मा सशरीर होने पर जीव या देही है। सभी जीवों का समाहार विराज् या वैश्वानर है। लिङ्ग-शरीर से समन्वित आत्मा लिङ्गी या तैजस है। इनका समाहार हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा है। कारण-शरीर से समन्वित आत्मा प्राज्ञ है और प्राज्ञों का समाहार ईश्वर है।

ईश्वर का सम्बन्ध माया से है। माया ही जगत् है। जगत् ब्रह्म से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। ब्रह्म जगत् का आधार है, फिर भी ब्रह्म और जगत् एक नहीं हैं। ब्रह्म तत्त्व और जगत् प्रतिभास है। जगत् माया है, क्योंकि वह ब्रह्म का तात्त्विक स्वरूप नहीं है। ब्रह्म का जगत् से जो सम्बन्ध है, उसे शंकर ने अनिर्वचनीय कहा है। जगत् ब्रह्म से अव्यतिरिक्त और अनन्य नहीं है। विवर्त के द्वारा ब्रह्म जगत्-रूप में दिखाई देता है, जैसे रस्सी सर्प-रूप दृष्टिगोचर होती है। जगत् का अधिष्ठान वैसे ही ब्रह्म है, जैसे मायात्मक सर्प का अधिष्ठान रस्सी है। यह है ब्रह्म और जगत् की पहेली।

माया से उपहित ब्रह्म का नाम ईश्वर है। माया ईश्वर की शक्ति है। यह शक्ति ब्रह्म के तात्त्विक रूप को छिपा देती है। इसीलिए इसे अविद्या कहते हैं।

ईश्वर और जीव में थोड़ा ही अन्तर है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी है, पर जीव अल्पज्ञ और अशक्त है। निरतिशयोपाधि से उपहित ईश्वर

१. ब्रह्मसूत्र १.१.३

निहीनोपाधि से उपहित जीवों का अध्यक्ष है। ईश्वर में अविद्या नहीं है। ईश्वर की माया उसके अधीन रहकर सृष्टि की रचना और प्रलय में योग देती है। माया से उपहित ब्रह्म ईश्वर है और अविद्या से उपहित होने पर वही जीव है। ईश्वर जीव की भाँति बन्धन में नहीं होता। वह जीवों को उसके कर्मों का फल देता है। जीव अनेक हैं और ईश्वर एक।

रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। शांकर-वेदान्त की भाँति रामानुज का ईश्वर कोरी माया के आधार पर अपना अस्तित्व नहीं बनाये हुए है, अपितु वह वास्तव में ईश्वर है—सभी ऐश्वर्य से पूर्ण, ज्ञान, शक्ति और करुणा से समायुक्त है। उसकी भक्ति करने से मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है। जीव-रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से जीव ईश्वर के शरीर हैं। ईश्वर की विकासावस्था में पाँच रूप होते हैं—अर्चा, विभव, व्यूह, पर और अन्तर्यामी। अर्चा का रूप मन्दिरों की मूर्तियों में दृष्टिगोचर होता है। विभव और व्यूह अवतार हैं। व्यूहावतार कृष्ण से सम्बद्ध वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न आदि हैं। पर' रूप में ईश्वर भगवान्-स्वरूप है और लक्ष्मी उसकी पत्नी है। अन्तर्यामी सबके अन्तः में विराजमान है।

मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण

न्याय-दर्शन के अनुसार मुक्ति दुःख का अत्यन्ताभाव है। दुःख के लिए शरीर अपेक्षित है। संसार में आत्मा को तभी तक जन्म-बन्ध में बँधना पड़ता है, जब तक उसे कर्मो का फल भोगने के लिए शरीर का माध्यम आवश्यक होता है। ज्योंही ऐसे कर्मो की परम्परा की इतिश्री हो जाती है, पुनर्जन्म नहीं होता। यही मुक्ति की अवस्था है। मुक्तावस्था में आत्मा को किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता, क्योंकि इन अनुभवों के लिए इन्यियों और मन का आत्मा के साथ सहयोग अपेक्षित होता है। जो कुछ सांसारिक है, वह मुक्तात्मा के लिए नहीं रह जाता। उस आत्मा का आनन्द आध्यात्मिक होता है।[1] संसारी आत्मा का सुख आधिभौतिक है और न्याय-दर्शन के अनुसार सुख-दुःख में अन्तर थोड़ा ही है।

न्याय-दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा गंगा की धारा की भाँति है। शरीर के सम्पर्क से यदि इस धारा में कहीं तत्सम्बन्धी कल्मष प्रकट हुआ तो अनादि-अनन्तकाल और निर्मर्याद विश्व में उसकी गणना ही क्या है? कल्मष का पनाला रुका कि धारा की उज्ज्वलता पुनः प्रतिष्ठित हुई।

१. इस अवस्था का वर्णन न्याय-भाष्य में इन शब्दों में मिलता है—तदभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिः ॥१.१.२२

न्याय के अनुसार मुक्ति पाने के लिए प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान—इन सोलह विषयों का तत्त्वज्ञान होना चाहिए।[1] तत्त्वज्ञान होने पर पहले मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। मिथ्या ज्ञान के मिटते ही रागद्वेष-रूपी दोष मिट जाते हैं। इनके जाते ही धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति नहीं रह जाती और फिर जन्म नहीं होता। ऐसी स्थिति में दुःख मिट जाते हैं। दुःखों का अत्यन्ताभाव अपवर्ग या मोक्ष है।

वैशेषिक दर्शन में मोक्ष के लिए न्याय-दर्शन की भाँति तत्त्वज्ञान अपेक्षित है। इसके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान होते ही निःश्रेयस (मोक्ष) मिल जाता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी बन्धनों से विमुक्त अपने शुद्ध रूप में आकाश की भाँति निर्मल होता है। उस स्थिति में आत्मा का आनन्द आध्यात्मिक कोटि का होता है।

सांख्य के अनुसार पुरुष वास्तव में न तो बन्धन में पड़ता है और न उसका मोक्ष होता है। स्वयं प्रकृति ही पुरुष के लिए बन्धन बनाती है और विशेष स्थितियों में उसे छोड़ देती है। बन्धन की स्थिति में पुरुष और प्रकृति का परस्पर प्रति-बिम्ब पड़ता है। मोक्षावस्था में प्रत्येक पुरुष का, प्रकृति के पाश से विनिर्मुक्त होने पर, स्वतन्त्र और शाश्वत स्वरूप होता है। अपने जीवन-काल में जिस व्यक्ति को तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। ऐसे जीवन्मुक्त को प्रारब्ध कर्मों का फल भोगने के लिए शरीर धारण रखना अपेक्षित होता है। मरने पर जीवन्मुक्त विदेह-कैवल्य (पूर्ण मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। इन्हीं जीवन्मुक्तों से मोक्ष-मार्ग-सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की जा सकती है।

योग-पद्धति से सम्यग्दर्शन के द्वारा पुरुष के लिए प्रकृति के पाश से मुक्ति पाने की योजना मिलती है। मुक्ति के लिए पुरुष को प्रकृति का सम्यग्ज्ञान प्राप्त

---

१. प्रमाण और प्रमेय की चर्चा पहले की जा चुकी है। संशय किसी विषय के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक ज्ञान है। प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, निर्णय और वाद नामतः अर्थ देते हैं। अवयव न्याय-वाक्य के पाँच अंग हैं। जल्प व्यर्थ का विवाद है। छल, जाति और निग्रह-स्थान प्रतिपक्ष पर अनुचित विजय पाने की प्रक्रिया हैं। जिस जल्प में अपने मत की स्थापना न करके केवल विरोधी पक्ष का खण्डन किया जाय, वह वितण्डा है। हेत्वाभास में अनुमान का हेतु आभास-मात्र होता है, वास्तविक नहीं। छल में वास्तविक अर्थ के स्थान पर मनमाना अर्थ लगाया जाता है। अस्थिर तर्क का नाम जाति है। तर्क करते हुए जिन स्थितियों में पराजय मान ली जाती है, वे निग्रह-स्थान हैं।

करना चाहिये। वास्तव में पुरुष को प्रकृति के चित्त तत्त्व से छुटकारा पाना है। चित्त से छुटकारा पाने के लिए अष्टाङ्गिक योग की प्रतिष्ठा की गई। योग की परिभाषा है—चित्त-वृत्तियों का निरोध। चित्त के माध्यम से पुरुष पर संसार का प्रभाव पड़ता है। यदि योग के द्वारा चित्त को अपने काम से विरत कर दिया जाय तो पुरुष के लिए संसार का अस्तित्व नहीं रह जाता।

योग की मुक्ति का नाम कैवल्य है। कैवल्य के द्वारा पुरुष अमर स्वरूप प्राप्त करता है, जिसमें वह प्रकृति के पाश से मुक्त होता है। अविद्या पुरुष को बन्धन में डालती है। अविद्या ही चित्त और इन्द्रियों का अधिष्ठान है। विवेक-ख्याति (सम्यग्ज्ञान) के प्रकाश से अविद्या का अन्धकार दूर होता है। विवेक-ख्याति होने पर अनायास ही शरीर और चित्त से पुरुष की मुक्ति हो जाती है।

समाधि की अवस्था में पहुँचा हुआ योगी अपने कर्मों का क्षय करना आरम्भ करता है। जब तक कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक शरीर के माध्यम से उनका फल पाने के लिए लौकिक जीवन बिताना पड़ता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—प्रारब्ध, संचित और आगामी। भूतकाल के कर्म, जिन्होंने फल देना आरम्भ कर दिया है, प्रारब्ध हैं और जिनके फल किसी भावी जीवन में मिलेंगे, वे संचित कर्म हैं। वर्त्तमान काल के कर्म, जिनका फल इस जीवन में या भावी जीवन में भोगना है, आगामी कर्म हैं। ईश्वर की भक्ति और समाज-सेवा से आगामी कर्म के बन्धन से बचा जा सकता है। प्रारब्ध कर्मों का फल सरलता से यथासमय प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई नहीं आती। भावी जीवन में फल देने वाले कर्मों का फल भोगने के लिए योगी को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। उसकी मुक्ति के मार्ग में कर्म का बन्धन नहीं रह जाता।

मीमांसा-दर्शन में प्रारम्भ में मोक्ष की कल्पना स्पष्ट नहीं थी। जैमिनि और शबर ने यज्ञों के द्वारा स्वर्ग-लोक पाने की योजना अवश्य प्रस्तुत की है। परवर्ती आचार्य प्रभाकर ने अन्य दर्शनों के समकक्ष मीमांसा को लाने के लिए धर्मा-धर्म से विरहित आत्मा की मोक्ष-गति का अनुसन्धान किया। प्रभाकर के अनुसार धर्माधर्म से वशीकृत होकर जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेता है।

मीमांसा-दर्शन के अनुसार मोक्ष पाने के लिए याज्ञिक कर्मों को भी छोड़ना चाहिए। फिर तो शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा आत्मज्ञान को विकसित करना एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति का साधन रहा। इस दर्शन में मोक्षावस्था को आत्मा के लिए आनन्द की स्थिति नहीं माना गया। यह निर्द्वन्द्व की अवस्था है, जिसमें आत्मा अपने शुद्ध रूप में वर्त्तमान रहता है।

वेदान्तसूत्र के अनुसार ब्रह्म में निष्ठ व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है।[1] शंकर ने मोक्ष की जो कल्पना की है, वह बौद्धों के निर्वाण से प्रायः मिलती-जुलती है। शंकर ने जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति की व्याख्या की। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जीवन-काल में जीवन्मुक्ति होती है। विदेह-मुक्ति मरने के पश्चात् सम्भव होती है। मुक्त हो जाने पर जगत् को व्यावहारिक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि अमुक्तात्माओं की ही होती है। जीवन्मुक्त की दृष्टि पारमार्थिक होती है। शंकर के अनुसार मोक्ष की स्थिति में आत्मा पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश की भाँति सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहित, नित्य-तृप्त, निरवयव और स्वयं ज्योतिस्स्वभाव होता है। इस अवस्था में आत्मा में धर्म, अधर्म, कार्य तथा कालत्रय की विशेषता नहीं रहती। मोक्ष की स्थिति में आत्मा अविद्या से मुक्त होकर अपनी विशुद्ध अवस्था में होता है।

जीवन्मुक्त पुरुष को सब कुछ ब्रह्मरूप दिखाई देता है। मुक्त आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है।[2] जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मुक्तात्मा का वर्णन असम्भव है।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में भक्ति को मुक्ति का प्रधान साधन माना गया। भक्ति के लिए वे ही समर्थ माने गये, जिन्होंने निष्काम कर्मयोग से अपने हृदय को शुद्ध करके ज्ञान के द्वारा भगवान् के अन्तर्यामी स्वरूप को जान लिया है। भक्ति की सम्पूर्णता ही मुक्ति है। भक्ति का अन्तिम सोपान प्रपत्ति है, जिसका अभिप्राय है भगवान् में मिल जाना।

रामानुज के अनुसार मुक्ति की अवस्था में आत्मा संसार के बन्धन-मात्र से छूटता है। मुक्त होने पर भी उसको अपनी निजी सत्ता बनी रहती है। वह विलीन नहीं होता। मुक्त आत्मा प्रायः ईश्वर से मिलता-जुलता है, पर ईश्वर नहीं बन जाता।[3] वह सर्वज्ञ होकर सदैव ईश्वर की अनुभूति करता है। इसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। मुक्तात्मा को स्वराट् कहते हैं, क्योंकि वह कर्म के नियंत्रण की परिधि से बाहर होता है। कर्मों का क्षय कर लेने के पश्चात् शरीर-बन्धन से छुटकारा पा लेने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

मुक्त आत्मा और ब्रह्म का अन्तर केवल इतना है कि मुक्तात्मा अणुरूप

---

१. वेदान्तसूत्र १.१.७
२. ब्रह्मैव हि मुक्तावस्था
३. इसका वर्णन संस्कृत में इस प्रकार है—ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्।

है और ब्रह्म सर्वव्यापक या विभु है। सृष्टि के व्यापार में मुक्तात्मा का कोई हाथ नहीं होता। सृष्टि तो एकमात्र ब्रह्म की कृति है। मुक्ति के पश्चात् पुनर्जन्म हो सकता है—यह कुछ दार्शनिकों का मत है।[1]

ब्रह्मलोक में असंख्य मुक्तात्मा विद्यमान रहते हैं। मुक्तात्मा विशुद्ध सत्त्व के बने होते हैं। इसी की सहायता से वे अपने विचार और इच्छाओं को रूप देते हैं। मुक्तात्मा दो प्रकार के होते हैं—(१) भक्ति-मार्ग से मुक्ति प्राप्त करके मुक्त होने पर भक्ति में रत तथा (२) ध्यान और उपासना से मुक्ति प्राप्त करके ऐकान्तिक रहने वाले केवली।

सृष्टि का रहस्य

न्याय-दर्शन के अनुसार सभी कर्म दुःखदायी हैं। कर्मों की उत्पत्ति दोष से होती है। ईश्वर ने संसार की रचना जिस उद्देश्य से की है, वह निगूढ़ रहस्य है। संसार में दुःख ही दुःख है। फिर भी नैयायिकों के अनुसार सृष्टि की रचना में ईश्वर की दया देखने को मिलती है। संसार में एक अवसर मिलता है कि व्यक्ति अपने अदृष्ट का क्षय करके कर्म-बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्त कर ले। संसार के सुख-दुःख का भोग करना सर्वोच्च अभ्युदय के लिए सोपान-स्वरूप है।

प्रलय के समय आत्मा प्रवृत्ति विहीन होते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रवृत्तियाँ पुनः जागरित हो जाती हैं। इन सबके पीछे ईश्वर का कर्तृत्व है। ईश्वर के कर्तृत्व में सन्देह का अवसर स्पष्ट है। ईश्वर की सत्ता इसी आधार पर मानी गई कि सभी कार्यों का एक कर्त्ता होता है। जगत् भी कार्य है। इसका कर्त्ता कोई होना चाहिए। जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। उस ईश्वर का कर्त्ता कौन है ? यदि कहें कि ईश्वर कार्य नहीं है तो इसका प्रमाण क्या है ?

वैशेषिक दर्शन में सृष्टि और प्रलय के विवेचन में परमाणुवाद का सहारा लिया जाता है। प्रलय की कामना आदिदेव करता है। इस इच्छा का कारण उसकी दया है। वह देखता है कि संसार के जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए जीव कष्ट पाते हैं। उन्हें कुछ समय के लिए विश्रान्ति मिलनी चाहिए। ऐसे विचार आते ही प्राणियों को आवागमन के चक्र में डालने वाला अदृष्ट (धर्माधर्म) अपने प्रभाव से हीन हो जाता है और जगत् की सभी वस्तुयें—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के क्रम से परमाणु रूप में विघटित होने लगती हैं। ऐसी स्थिति में प्राणियों के आत्मा अपने अदृश्य से समन्वित होकर निस्पन्द पड़े रहते हैं।

विश्रान्ति-युग का अन्त होता है, जब आदिदेव पुनः कामना करता है कि प्राणी अपने अदृष्ट का फल भोगें और मोक्ष की ओर विकास-पथ पर अग्रसर

१ भागवत ५.१.१६

हों। बस परमाणुओं में गति आ जाती है और उनका संघटन होने लगता है। पहले वायु के सभी परमाणुओं के संघटन द्व्यणुक (दो अणुओं की एकता) रूप में होता है। फिर उसी के त्र्यणुक बनते हैं और इस परम्परा में वायु का साधारण रूप विकसित होता है। इसी प्रकार क्रमशः तेज, जल और पृथिवी का द्व्यणुक, त्र्यणुक के क्रम से विकास होते हुए साधारण रूप बन जाता है। फिर उसी देव के अभिध्यान-मात्र से अग्नि और पृथ्वी के परमाणुओं से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। इसी में वह आदिदेव स्वयं विश्व और ब्रह्मा को उत्पन्न करता है। इसके पश्चात् ब्रह्मा की अध्यक्षता में सृष्टि का विकास-कार्य चलने लगता है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्मा एक महामानव है, दिव्य सम्राट् है। ब्रह्मा से उसके मानस-पुत्र प्रजापति, मनु, देव, पितर, ऋषि, चारों वर्णों के लोग तथा अन्य जीव अपने अदृष्ट के प्रभावानुसार जन्म लेते हैं। महामानव ब्रह्मा की अनुभूतियों के लिए सारी सृष्टि होती है। प्रलय और सृष्टि के युगों में काल, दिशा और आकाश एक समान रहते हैं। सृष्टि के एक युग के लिए एक ब्रह्मा प्रतिष्ठित होता है। एक ब्रह्मा के पश्चात् स्वभावतः दूसरा ब्रह्मा आ जाता है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति से सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। सांख्य की प्रकृति में आधिभौतिक और बौद्धिक दोनों तत्त्वों का समन्वय है। उससे पाँच भूतों के साथ ही साथ बुद्धि, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

प्रकृति का विकास उसके तीन गुणों—सत्त्व, रजस् और तमस् के कारण होता है।[1] सत् का भाव सत्त्व है। सत्त्व का सम्बन्ध चैतन्य से होता है। सत् का एक अर्थ पूर्णता है। इस अभिप्राय से सत्त्व के द्वारा आनन्द और सत्य की अभिव्यक्ति होती है। सत्त्व का प्रयोग प्रकाश के लिए होता है। रजस् से दुःख की उत्पत्ति होती है। इसके द्वारा कार्यपरता का नियोजन होता है। इसकी अभिव्यक्ति भोग-विलास और अविरत प्रयास-रूप में होती है। तमस् कार्यपरता का निरोध करता है और मोह एवं आवरण की सृष्टि करता है। अज्ञान और आलस्य इसके प्रतीक हैं। तीनों गुणों के कार्य क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन हैं। इनके द्वारा ये सुख, दुःख और स्थिति उत्पन्न करते हैं। गुण एक दूसरे से अलग नहीं होते, अपितु एक, दूसरे को सहारा देते हुए मिल कर कार्य करते हैं। दीपक के प्रकाश में घी सत्त्व है, तेल रजस् है और बत्ती तमस्। ये तीनों मिलकर प्रकृति का निर्माण करते हैं। प्रकृति से

१. गुण का अर्थ रस्सी है। पुरुष को रस्सी की भाँति बाँधने वाले प्रकृति के गुण हैं।

जो कुछ उत्पन्न होता है, उनमें तीन गुण पाये जाते हैं। प्रकृति से निर्मित तत्त्वों का परस्पर अन्तर केवल इन गुणों की प्रत्येक तत्त्व में विभिन्न मात्राओं के कारण ही सम्भव होता है।

सांख्य के अनुसार सृष्टि नाम ही असंगत है। किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती है। केवल उसके रूप का प्रादुर्भाव होता है। इस रूपात्मक प्रादुर्भाव में सत्त्व रूप है। वह प्रादुर्भाव की नियोजिका शक्ति है और तमस् प्रादुर्भाव के पथ में बाधक है।

प्रकृति की अविकसित साम्यावस्था में तीनों गुण शान्त और सन्तुलित स्थिति में पड़े रहते हैं। ज्योंही गुण-क्षोभ (सन्तुलन का भंग) होता है, गुणों का परस्पर प्रभाव आरम्भ होता है। विश्व के वैचित्र्य का कारण प्रकृति के गुणों का विविध प्रकार का पारस्परिक प्रभाव डालना है। जिस गुण की अधिकता होती है, वह स्पष्ट झलकता है। दूसरे गुण वर्त्तमान होते हुए भी स्पष्ट नहीं होते। स्थावर वस्तुओं में तमस्, चर वस्तुओं में रजस् और प्रकाश देने वाली वस्तुओं में सत्त्व की प्रधानता होती है।

प्रकृति के विकास की प्रथमावस्था महत् और बुद्धि है। इनमें से महत् भौतिक और बुद्धि भावात्मक तत्त्वों का प्रतीक है। बुद्धि का सम्बन्ध धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की भावनाओं से होता है। बुद्धि के द्वारा मानसिक प्रक्रियाओं का बोध होता है। इसी बुद्धि के द्वारा विवेक और दर्शन होता है। बुद्धि के पश्चात् अहंकार तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। इस तत्त्व के द्वारा प्रत्येक पुरुष को अपने 'अहम्' का बोध होता है। बुद्धितत्त्व में 'मैं' का परिचय कराने वाली शक्ति रहती है। इसी अहंकार तत्त्व के माध्यम से प्रकृति के द्वारा सम्पादित कार्यों को पुरुष अपना समझ लेता है।[1]

अहंकार के सात्त्विक स्वरूप से मन और दस इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है। इस सात्त्विक स्वरूप का नाम वैकृत है। अहंकार के तामसिक स्वरूप भूतादि से पाँच तन्मात्राओं का प्रादुर्भाव होता है। उपर्युक्त दोनों स्वरूपों के साथ अहंकार का राजसिक स्वरूप वर्त्तमान रहता है। यही वैकृत और भूतादि को संचालित करता है। तन्मात्राओं से पंचभूतों का प्रवर्तन होता है।

संसार में जो कुछ भौतिक शरीर दिखाई देता है, उसका प्रधान उपादान

---

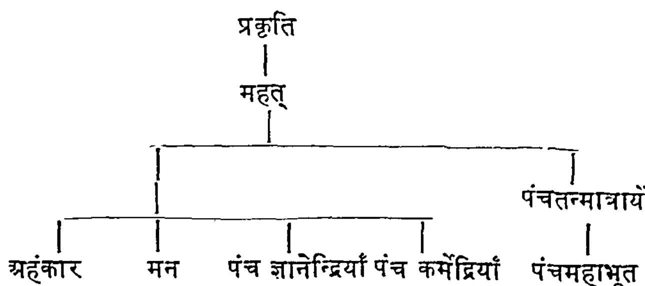
१. देखिये गीता ३.२७

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

पृथ्वी से ग्रहण किया गया है। पृथ्वी के साथ अन्य भूत गौण रूप से वर्तमान रहते हैं।

प्रकृति का उपर्युक्त विकास और विलय-क्रम अनादि और अनन्त हैं। विलयन में विकास के सभी तत्त्व क्रमशः अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। विलयन में प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था की अवधि के समाप्त होने पर विकास-परम्परा का समारम्भ होता है। जितने पुरुष मुक्त नहीं होते, उन्हें प्रकृति-नटी अपनी नाट्य-शाला में दर्शक बना लेती है, पर दर्शन के साथ ही वे नाट्य के अभिनेता-रूप में भी प्रकट होने लगते हैं। सभी पुरुष मुक्त नहीं हो सकते। अतएव इस नाट्य के लिए अभिनेताओं का अभाव नहीं होता। संसार का नाटक चला करता है। विलयन की अवस्था नाटक के अवकाश (इण्टरवल) के समकक्ष है।

सांख्य-दर्शन के प्रायः समान ही योग-दर्शन के तत्त्वों का विकास है। इन दोनों का अन्तर नीचे दिए योग-दर्शन की विकास-तालिका को सांख्य-दर्शन की विकास-तालिका से सन्तुलित करने पर स्पष्ट होता है।



योग-दर्शन में महत् (बुद्धि), अहंकार और मन को चित्त-वर्ग में रखा गया है। इस दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ और मन भौतिक तत्त्व हैं। ऐसी स्थिति में सांख्य-दर्शन के लिंग-शरीर की प्रतिष्ठा योग में नहीं है।

योग के अनुसार सृष्टि की परम्परा ईश्वर और अविद्या के द्वारा चलती है। अविद्या के द्वारा प्रकृति विकास-पथ पर चलती है। ईश्वर इस विकास-पथ पर आने वाली बाधाओं को दूर करता है। पुरुष की सिद्धि के लिए ईश्वर उपर्युक्त प्राकृतिक साधनों को उपस्थित कर देता है।

मीमांसा-दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त है। इसकी रचना से ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। कुमारिल ने न्याय-दर्शन के ईश्वर की प्रतिष्ठा-सम्बन्धी तर्कों की कटु आलोचना की है।

वेदान्त-सूत्र में पुरुष और प्रकृति को वास्तविक दृष्टि से दो तत्त्व नहीं माना गया है, अपितु इन दोनों को मूल रूप से एक तत्त्व समझा गया है। वह एक मौलिक तत्त्व उपनिषदों का ब्रह्म है। उसी ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। संसार की रचना करने में ब्रह्म को किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अकेले सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण है। जो कुछ चराचर है, वह सभी ब्रह्म का कार्य है।[1] ब्रह्म सभी तत्त्वों को रचकर उनमें प्रवेश कर जाता है। इसी प्रविष्ट ब्रह्म से आगे सृष्टि का विकास होता है। कारण और कार्य में कोई अन्तर नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्म और जगत् में कोई अन्तर नहीं है।[2] मिट्टी और मिट्टी के घड़े में अन्तर ही क्या है? ब्रह्म में सृष्टि की शक्ति स्वभावतः है, जैसे अग्नि में उष्णता होती है। जिस प्रकार साधारण पुरुष लीला करते हैं, वैसे ही सारा जगत् का खेल ब्रह्म के लिए लीला-कैवल्य है।[3] वह स्वयं अपने को जगत्-रूप में प्रकट करता है।[4] प्रलय के समय भी अव्यक्त रूप से जगत् की स्थिति रहती है।[5]

शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का ईश्वर और ईश्वर का विराज् स्वरूप व्यावहारिक दृष्टि से होते हैं। विराज् सभी जीवों का समाहार-स्वरूप है और ईश्वर सभी प्राज्ञों का समाहार है। ब्रह्म और माया का मिश्रण ही सृष्टि है। ईश्वर के सम्बन्ध से माया के दो व्यापार होते हैं—काम और संकल्प। माया ईश्वर से उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे उष्णता अग्नि से। इसी माया का नाम प्रकृति है। प्रकृति ईश्वर का कारण शरीर है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार माया से जगत् का उद्भव होता है। प्रलय के समय माया शक्ति-रूप में रहती है। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्म जगत् का कारण केवल इसी अर्थ में है कि वह जगत् का आधार है। वास्तव में ब्रह्म का जगत् से संस्पर्श भी नहीं होता। जगत् ब्रह्म का परिदृश्यमान स्वरूप है। परिदृश्यमान कोटि में ईश्वर, नामरूपप्रपंच (जगत्) तथा जीव आते हैं।

शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् का प्रादुर्भाव ईश्वर से हुआ है। ईश्वर से सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति होती है। फिर उससे क्रम से अन्य भूत उत्पन्न

१. यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्। वेदान्तसूत्र। २.३.७
२. तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। वेदान्तसूत्र २.१.१४
३. वेदान्तसूत्र २.१.३३
४. वेदान्तसूत्र १.४.२६
५. वेदान्तसूत्र २.१.२०

होते हैं। शंकर के मत के अनुसार आकाश में स्थान है और वह सर्वत्र परमाणुओं से परिव्याप्त है। आकाश शून्य नहीं है। आकाश से अन्य सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष होता है, उसी प्रकार भूतों में उनके गुण अन्तर्हित होते हैं। उपर्युक्त मत के अनुसार आकाश से सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। वास्तव में सभी भूत अचेतन हैं और उनसे जो क्रमिक विकास होता है, वह ईश्वर के अन्तरस्थ होने के कारण सम्भव है।

प्रलय के समय सभी भूत अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं। उस समय पृथ्वी जल बन जाती है, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में तथा वायु का आकाश में विलयन हो जाता है। अन्त में आकाश ईश्वर में विलीन हो जाता है।

शरीर की इन्द्रियाँ और मन आदि भूतों से उत्पन्न होते हैं। मन, प्राण और वाक् क्रमशः पृथ्वी, जल और अग्नि से उत्पन्न होते हैं।

शंकर ने पौधों, पशुओं, मानवों और देवों को आत्मा से समन्वित माना है। इनमें से देवों को असीम आनन्द है और मानवों को सुख-दुःख दोनों भोगना है। पशुओं को असीम दुःख है। शरीरी आत्मा के लिए सूक्ष्म शरीर और प्राणों का शाश्वत साथ रहता है और मुक्त होने के समय तक साथ बराबर बना रहता है। आत्मा ब्रह्म से वैसे ही निकलते हैं, जैसे आग से चिनगारी। मुक्त होने पर ये पुनः ब्रह्म से मिल कर ब्रह्म बन जाते हैं।

रामानुज के अनुसार प्रलय के समय ब्रह्म की कारणावस्था और सृष्टि के समारम्भ में कार्यावस्था होती है। सृष्टि के समारम्भ को रामानुज केवल अध्यास, माया या विवर्त नहीं मानते। रामानुज के अनुसार सृष्टि ब्रह्म का परिणमन है। सृष्टि के आरम्भ में आत्मा अपने कर्म के बल से प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था को भंग करते हैं। सृष्टि के विन्यास में ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर और जीव तथा जगत् को भी रामानुज ने सत् रूप में प्रतिष्ठित किया और सिद्ध किया कि शंकर की 'माया' कोरी माया है।

परमाणुवाद

वैदिक दर्शनों में परमाणुओं का तत्त्वानुशीलन वैशेषिक दर्शन की निजी विशेषता है।[1] अवैदिक दर्शनों की जैन, आजीविक, वैभाषिक और सौत्रान्तिक शाखाओं में भी परमाणुवाद की प्रतिष्ठा मिलती है।

---

१. परमाणु में 'विशेष' है। इसी आधार पर दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा।

जिन वस्तुओं का स्पर्श सम्भव है, उनके टुकड़े हो सकते हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ऐसे तत्त्वों में हैं। टुकड़े करने की परम्परा अनन्त नहीं होती। इस प्रक्रिया में एक समय ऐसा आता है कि टुकड़े का टुकड़ा नहीं सम्भव होता। वही सबसे छोटा टुकड़ा परमाणु है। ये परमाणु सभी कार्यों के उपादान कारण ह। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु क्रमशः गन्ध, रस, रूप और स्पर्श उत्पन्न करते हैं परमाणुओं का आकार गोला (पारिमाण्डल्य) होता है।

पृथ्वी-वर्ग के परमाणुओं में पाक से रंग-परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन की व्याख्या न्याय और वैशेषिक दर्शनों में क्रमशः पिठरपाक और पीलुपाक सिद्धान्त पर बतायी जाती है। पिठरपाक के अनुसार पकाये जाने पर घड़े के रंग का परिवर्तन उसके परमाणुओं के रंग के परिवर्तन के साथ ही साथ होता है। पीलुपाक का सिद्धांत रहस्यात्मक है। इसके अनुसार पकाने की प्रक्रिया में घड़ा परमाणु-रूप में परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् नष्ट हो जाता है। उन्हीं परमाणुओं का रंग-परिवर्तन होता है। ये परिवर्तित परमाणु पुनः मिल कर अपने रंग के घड़े का पुनः निर्माण करने में कारण बनते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में केवल ९ क्षण लगते हैं। नैयायिकों का पाक सम्बन्धी सिद्धांत समीचीन प्रतीत होता है। वैशेषिकों का कच्चा घड़ा यदि परमाणु-रूप में आकर नष्ट हो गया तो पके घड़े और कच्चे घड़े की तनिक भी एकता नहीं मानी जा सकती, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से कच्चे और पके घड़े में केवल रंग-मात्र का अन्तर है और वास्तव में वे एक ही प्रतीत होते हैं।

प्रवृत्ति-विवेचन

न्याय-दर्शन के अनुसार मानव अच्छे या बुरे सभी कामों को अपने लाभ के लिए करता है। सभी कर्मों के प्रयोजन हैं—सुख प्राप्ति और दुःख का परिहार। अच्छे और बुरे सभी कर्म प्राणी को संसार-बन्ध में बाँधत हैं। राग-द्वेष-मोह आदि से विवश होकर मानव कर्म करता है। राग-द्वेष आदि मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। अतिशय राग के कारण घोर पाप को भी कोई व्यक्ति कर्तव्य मान लेता है।

न्याय के अनुसार ज्ञान के द्वारा व्यक्ति को समष्टि में सन्निहित कर देने पर कर्मों का बन्धन नहीं रह जाता। इस प्रकार की समष्टिमयी भावना तत्त्वज्ञान से सम्भव होती है। तत्त्व-ज्ञान से सत्प्रवृत्ति और मिथ्या ज्ञान से असत्प्रवृत्ति का उद्रेक होता है। तत्त्व-ज्ञान पुस्तकों से नहीं मिल जाता। इसके लिए मनन, निदिध्यासन, स्वाध्याय आदि की आवश्यकता पड़ती है। योग के द्वारा भी तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रयोजन से सांसारिक सुखों को छोड़ कर, इच्छाओं को तिलाञ्जलि देकर, वन की शरण लेकर आध्यात्मिक अग्नि में कर्मों का हवन करना अपेक्षित है। न्याय-दर्शन में इस उद्देश्य से भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है।

वैशेषिक दर्शन में सर्वसाधारण के कर्तव्यों का परिगणन इस प्रकार है—अहिंसा, श्रद्धा, भूतहितत्त्व, सत्य वचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा-भावशुद्धि, क्रोध-वर्जन, अभिषेचन (स्नान), शुचि द्रव्य-सेवन, विशिष्ट देवता-भक्ति, उपवास और अप्रमाद। इनका सम्पादन धर्म है। इस दर्शन में आत्म-संयम के लिए योग-मार्ग का अवलम्बन लेने की शिक्षा दी गई है। वैशेषिक के अनुसार कर्मों के माध्यम से धर्म अभिव्यक्त नहीं होता, अपितु वह मानव की अन्तर्वृत्तियों से व्यक्त होता है। तत्त्व-ज्ञान के द्वारा स्वार्थ-बुद्धि और स्वार्थपरता से मानव ऊपर उठ जाता है। ऐसी परिस्थिति में उसके कर्म अदृष्ट बन कर उसके भवबन्धन का कारण नहीं बनते। वह पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार मानव का सर्वोच्च कर्तव्य है अपने स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान कि मैं पुरुष हूँ। इस ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं—अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेश। सत्त्व के द्वारा मानव की सात्त्विक प्रवृत्तियों का उदय होता है और वह ऋषित्व की ओर अग्रसर होता है। सांख्य में स्वभावतः ज्ञान की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई और ऐसी स्थिति में वैदिक यज्ञों का इस दर्शन में कोई स्थान न रहा। ज्ञान का पथ सबके लिए निर्बाध रूप से खुला माना गया—चाहे कोई व्यक्ति शूद्र या चाण्डाल ही क्यों न हो।

पूर्वमीमांसा यज्ञ-प्रधान दर्शन है। वैदिक धर्म में यज्ञ का सर्वोपरि स्थान था। जीवन की सारी प्रवृत्तियों को याज्ञिक स्वरूप दिया गया था। मनुष्य को अपने अभ्युदय के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्म करना चाहिए।[1] विशेष कामनाओं को पूरा करने के लिए काम्य कर्म करने का विधान था। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के सम्पादन से मोक्ष-प्राप्ति की सम्भावना है।

वेदान्त-सूत्र में ब्रह्म-ज्ञान की ओर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के लिए संन्यास और कर्मयोग आवश्यक बतलाये गये हैं।[2] इसके अनुसार जीवन्मुक्त होने पर भी कर्म करते ही जाना चाहिए। ब्रह्मज्ञान होते ही उन कर्मों का क्षय हो जाता है, जिनका फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ है।

शंकर ने अष्टाङ्गिक योग के द्वारा सुगमता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की योजना प्रस्तुत की है। उन्होंने बतलाया है कि सभी वर्णों के लोग ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। शंकर ने क्रममुक्ति की एक योजना प्रस्तुत की है। 'ओ३म्' की

१. नित्य कर्म सन्ध्या आदि हैं, जिन्हें प्रतिदिन करने का विधान था। नैमित्तिक कर्म विशेष अवसरों पर सम्पादित किये जाते थे।

२. वे० सू० ३.४.३२–३५

उपासना करने से मरने के पश्चात् ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और वहाँ शनैः-शनैः सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यग्ज्ञान होने पर मुक्ति हो जाती है। ईश्वरोपासना से पाप का क्षय, ऐश्वर्य-प्राप्ति और क्रम से मुक्ति मिलती है। ब्रह्मलोक तक आत्मा का अपना व्यक्तित्व होता है।

रामानुज जीव का पतन कर्म और अविद्या के कारण मानते हैं। इसी के कारण उसे शरीर के बन्धन में पड़ना पड़ता है। जीव जो पाप करता है, उससे उसके अभ्युदय में बाधा पड़ती है। ईश्वर पुण्य के कामों से प्रसन्न होता है और पाप से अप्रसन्न रहता है। अविद्या को विद्या से दूर किया जा सकता है। विद्या है ईश्वर को सबका मौलिक उद्भव तत्त्व मानना। ईश्वर को जो लोग इस रूप में नहीं समझ पाते, उन्हें उनके कर्मों द्वारा ईश्वर कर्म-फल का भोग देकर विद्या की ओर प्रवृत्त करता है। ईश्वर की उपासना या प्रार्थना से पापों से मुक्ति हो जाती है। ईश्वर को समर्पित करके किये हुए कर्म मोक्ष के लिए होते हैं। ऐसे कर्मों से सत्त्व की वृद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों भक्ति के आधार हैं।

रामानुज के अनुसार भक्ति के द्वारा ईश्वर का ज्ञान सम्भव होता है। ज्ञान होने पर ईश्वर से प्रेम होता है और अन्त में ईश्वर का साक्षात्कार होता है। भक्ति की पूर्णावस्था में आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य बोध होता है। अपने को ईश्वर के लिए समर्पित करना प्रपत्ति है। प्रपत्ति से मुक्ति सुलभ होती है।

सत्कार्यवाद

सत्कार्यवाद सांख्य-दर्शन की विशिष्ट वस्तु है। इसका तात्पर्य है—उपादान कारण में कार्य पहले से वर्त्तमान होता है। मिट्टी (उपादान) में घट, दीप, ईंट आदि सभी वर्त्तमान हैं। सत्कार्यवाद का पक्ष और विपक्ष लेकर अन्य दर्शन-प्रणालियों में पर्याप्त विवेचन मिलता है।

सांख्यकारिका में इस प्रकार सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा है :—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

(असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती।[1] कारण का कार्य से निश्चित

---

१. यदि तिल (कारण) में तेल (कार्य) नहीं होता तो वह कैसे निकाला जा सकता? बालू से कोई तेल क्यों नहीं निकाल लेता! मिट्टी में घड़ा पहले से वर्त्तमान है।

सम्बन्ध होता है।[1] सब कुछ सम्भव नहीं है।[2] जो जिसके लिए शक्त है, वह उसी को उत्पन्न कर सकता है।[3] कार्य कारण का ही एक रूप है।[4]

न्याय-दर्शन में असत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा की गई है। इसके अनुसार यदि कारण में कार्य है, तो उसके करने की आवश्यकता ही क्या है? कारण का पहले अस्तित्व होता है, पश्चात् कार्य की सृष्टि होती है। बीज और सूत्र के अस्तित्व से क्रमशः वृक्ष और वस्त्र उत्पन्न होते हैं।

शंकराचार्य और रामानुज ने सत्कार्यवाद को मान्यता दी है। उनके अनुसार उत्पत्ति के पहले विद्यमान घट आदि कार्य आवृत्त होने के कारण अनुपलब्ध रहते हैं। कार्य तब तक आवरण के कारण अज्ञेय रहते हैं, जब तक उन्हें करने वाला कोई नहीं रहता है।

कारण में कार्य के होते हुए भी सहकारिता-शक्ति की अपेक्षा होती है, जिसके द्वारा कार्य का आविर्भाव होता है। तिल में तेल है। तिल को पेरने पर तेल का आविर्भाव होगा। वह सहकारी शक्ति इस प्रसंग में 'पेरना' है।

जैन दर्शन

वैदिक दर्शन के समकक्ष जैन और बौद्ध दर्शन रहे हैं, जैन दर्शन बौद्ध दर्शन की भाँति वैदिक साहित्य को प्रामाणिक नहीं मानता और धर्म की परिधि में यज्ञ का विरोध करता है। इस दर्शन में उच्चकोटि के प्रमाण-शास्त्र तथा विशुद्ध और तपोमय जीवन-विन्यास की प्रतिष्ठा की गई है।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष-मार्ग के तीन सोपान हैं। आरम्भ में सम्यग्दर्शन सम्भव होता है। उससे सम्यग्ज्ञान होता है और अन्त में सम्यक् चारित्र निष्पन्न होता है। इनको रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रय का अधिष्ठान जीव है। इस दृष्टि से जीव (आत्मा) को मोक्ष का कारण माना गया है।

---

१. कारण-कार्य सम्बन्ध सर्वविदित है। कारण सत् है। सत् से सम्बद्ध असत् नहीं हो सकता। अतएव कार्य सत् होना चाहिए।

२. यदि कारण-कार्य का सम्बन्ध न मानें तो किसी कारण से सभी प्रकार के कार्य उत्पन्न होने चाहिए।

३. मिट्टी में घड़ा उत्पन्न करने की शक्ति है, तेल उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। अतः मिट्टी से घड़ा बनता है, तेल नहीं निकलता।

४. पानी और हिम में अन्तर ही क्या है?

जैन दर्शन में नव तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य है। इन्हीं तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान तत्त्वार्थ है। तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धामयी भावना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान के लिए इन तत्त्वों को पूर्ण रूप से जानना अपेक्षित है। इनको जानने के लिए दो साधन हैं—प्रमाण और नय। तत्त्वों के विषय में परिचय प्राप्त करने के पहले इनके ज्ञान के साधनों का बोध कर लेना अपेक्षित है।

प्रमाण

जैन दर्शन में प्रमाण दो प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल। 'अवधि-प्रत्यक्ष' दिव्य दृष्टि से संभव होता है।[1] 'मनःपर्यय' के द्वारा दूसरों के मन की बात जान लेते हैं। 'केवल-प्रत्यक्ष' सर्वज्ञता का सूचक है। यह ज्ञान केवल मुक्तात्माओं के लिए संभव होता है।

परोक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है—मति और श्रुति। मति के लिए इन्द्रियों और मन की सहायता अपेक्षित होती है। इसके अन्तर्गत स्मृति (पूर्वकालीन ज्ञान का स्मरण), संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध आते हैं। स्मृति के द्वारा पहले के किसी ज्ञान का स्मरण हो आता है, यद्यपि उसके समान कोई वस्तु सामने न हो। यदि उसके समान कोई वस्तु सामने हो तो वह संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है। चिन्ता और अभिनिबोध तर्क के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

श्रुतिज्ञान मतिज्ञान के पश्चात् होता है। इसके दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अंग, उपांग आदि जैन दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थों में प्राप्य ज्ञान अक्षरात्मक हैं।[2] अनक्षरात्मक ज्ञान को लिंग-जन्य भी कहते हैं। लक्षणों या चिह्नों को देखकर यह ज्ञान प्राप्त होता है।[3]

स्याद्वाद

जैन दर्शन में सात नय हैं, जिन्हें सप्तभङ्गी नय या स्याद्वाद कहते हैं। इन नयों में किसी वस्तु के ज्ञान-सम्बन्धी विविध दृष्टिकोणों का समावेश किया गया है। कोई वस्तु सात वाक्यों के द्वारा सत्, असत्, अवक्तव्य आदि कोटियों में मानी जा सकती है—(१) स्यादस्ति (सम्भवतः सत् है), (२) स्यान्नास्ति (सम्भवतः असत् है), (३) स्यादस्ति नास्ति (संभवतः है, नहीं भी है), (४) स्यादवक्तव्यः

---

१. अवधि-प्रत्यक्ष वैदिक दर्शन की योगदृष्टि के समकक्ष प्रतीत होता है।

२. अक्षरात्मक ज्ञान प्रायः आप्त-प्रमाण के समकक्ष है।

३. यह न्याय-दर्शन के अनुमान के समकक्ष है।

(संभवतः अनिर्वचनीय है), (५) स्यादस्ति अवक्तव्यः (संभवतः है, पर अनिर्वचनीय है), (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यः (संभवतः नहीं है और अनिर्वचनीय है), (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यः (संभवतः है, नहीं है, अवक्तव्य है)। भारतीय दर्शन में इन नयों के द्वारा वस्तु-स्वभाव का पद-पद पर विश्लेषण मिलता है।

प्रमाण और नयों के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है। इन तत्त्वों में जीव सर्वप्रथम है। जीव वैदिक दर्शन के आत्मा के समकक्ष है। जीव दो प्रकार के होते हैं---सांसारी और मुक्त। जीव का विवेचन प्रधानतः दो दृष्टियों से किया जा सकता है---व्यावहारिक और निश्चयात्मक। व्यावहारिक दृष्टि संसारी जीवों के अध्ययन में उपयोगी होती है और निश्चयात्मक मुक्त जीवों के सम्बन्ध में।

जीव

जीव उपयोगमय है।[1] उसकी मूर्ति नहीं है। वह कर्त्ता है। जीव का परिमाण उसी देह के बराबर होता है, जिसमें वह रहता है। जीव भोक्ता है, संसार में रहता है, सिद्ध है और उसकी ऊर्ध्व गति होती है अर्थात् वह ऊपर की ओर जाता है। उसमें चार प्राण---इन्द्रिय, बल, आयु और श्वास होते हैं। कर्म के बन्धन से उसको मूर्त रूप प्राप्त होता है। वह पुद्गल-कर्म करता है और फलस्वरूप सुख-दुःख भोगता है। उपर्युक्त संसारी जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के रूप में आते हैं। इनको एक इन्द्रिय होती है। त्रस (जंगम) जीव दो, तीन, चार या पाँच इन्द्रियों वाले होते हैं। केवल पांच इन्द्रियों वाले जीव मन से युक्त हो सकते हैं। अन्य चार इन्द्रियों तक के जीव मन से रहित होते हैं। जीव का उपर्युक्त स्वरूप व्यावहारिक दृष्टि से है।

निश्चयात्मक दृष्टि से जीव में चेतना होती है। उसकी विशेषतायें हैं---शुद्ध ज्ञान और दर्शन। उसमें वर्ण, रस, गन्ध आदि नहीं है। जीव केवल चेतन-भाव होता है और वह चेतन कर्म करता है। उसे सुख-दुःख नहीं होते। उसका अस्तित्व असंख्य देशों में है। शुद्ध नय की दृष्टि से जीव शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

मुक्त जीव निष्कर्म होता है। उसमें आठ गुण होते हैं---सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु तथा अव्याबाध।[2] मुक्त जीवों का एक

---

१. उपयोग दो प्रकार का होता है---दर्शन और ज्ञान। जीव में आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन होता है।

२. सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन है। वीर्य शक्ति है। सूक्ष्मता के कारण मुक्त जीव अदृश्य होता है। अवगाहन के द्वारा प्रकाश की भाँति एक जीव दूसरे जीव के लिए

विशिष्ट लोक ही है, जिसमें वे नित्य प्रतिष्ठित होकर निर्जर मे पड़े रहते हैं। जिस शरीर से जीव को मुक्ति मिलती है, उससे थोड़ा न्यून परिमाण उस जीव का मुक्तावस्था में होता है।

अजीव

अजीव पाँच प्रकार के होते हैं--पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से पुद्गल भौतिक तत्त्व के समकक्ष पड़ता है। पुद्गल से शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकृति-भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश और आतप की उत्पत्ति होती है। इनमे से बन्ध कर्मों का बन्धन है और भेद विभाजन है। पुद्गल मे रूप, रस आदि गुण होते हैं। ये गुण शेष अजीवों में नही पाये जाते। पुद्गल और जीव की गति के लिए धर्म वैसे ही अपेक्षित है, जैसे मछली के तैरने के लिए पानी। धर्म उन्ही को गति देता है, जिनमें गति की प्रवृत्ति होती है। धर्म का ठीक विलोम अधर्म है। वह जीव और पुद्गल को स्थिर बनाता है। जो जीव या पुद्गल गति की ओर प्रवृत्त है, उन्हे वह नही रोकता। आकाश जीव, पुद्गल, धर्म, काल आदि को अवकाश या स्थिति प्रदान करता है। लोकाकाश वहाँ तक है, जहाँ तक जीव और अजीव परिव्याप्त हैं। इसके ऊपर अलोकाकाश है। काल 'अस्तिकाय' नही है।[1] इसका विश्लेषण व्यावहारिक और पारमार्थिक दो दृष्टियों से होता है। व्यावहारिक दृष्टि से काल द्रव्य का परिवर्तन करने वाला है और पारमार्थिक दृष्टि से वह वर्तन (सतत अस्तित्व) के द्वारा जाना जाता है। लोकाकाश के प्रदेश मे एक-एक काल का अंश स्थित है।

जीव और अजीव के सात विशेषण हैं--आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। इन सातों के साथ जीव और अजीव को ग्रहण करके जैन दर्शन में सब नव तत्त्वों की प्रतिष्ठा की गई है। इनमे से आस्रव के द्वारा कर्म जीव (आत्मा) तक पहुंचता है। आस्रव दो प्रकार के होते हैं--कर्मास्रव और भावास्रव। कर्मास्रव से कर्म और भावास्रव से भावनाओं के संस्कार जीव पर पड़ते हैं। बन्ध के द्वारा जीव और कर्म का सम्बन्ध स्थापित होता है। आस्रव का अभाव संवर है। संवर के लिए व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय तथा

निर्बाध होता है। अगुरुलघु होने से वह न तो नीच जाता है और न ऊपर, अपितु स्थिर रहता है। अव्याबाध होने से उसे किसी प्रकार बाधा नही रहती।

१. जैन दर्शन में काय (शरीर) वाले अजीवों को अस्तिकाय कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अस्तिकाय हैं। काय मे अनेक प्रदेश होते है। प्रदेश एक परमाणु की व्याप्ति के योग्य स्थान को कहते हैं। काल की व्याप्ति प्रदेश में एकैकशः होती है। अतः काल की काय नहीं मानी गई।

चारित्र की योजना बनाई गई है। निर्जरा के द्वारा जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। निर्जरा के पश्चात् मोक्षावस्था उत्पन्न होती है। अपने शुभ या अशुभ भावों के द्वारा जीव पुण्य या पाप-स्वभाव वाला होता है।

मोक्ष

जीव को जब उपर्युक्त नव तत्त्वों के प्रति श्रद्धा हो जाती है तो उसके सम्यग्ज्ञान की प्रक्रिया आरम्भ होती है। सम्यग्ज्ञान के होने पर जीव संशय, विमोह और विभ्रम से रहित हो जाता है।[1] चारित्र अशुभ से विनिवृत्ति और शुभ की ओर प्रवृत्ति है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् ऐसे चारित्र की सम्भावना होती है। चारित्र है व्रत, समिति और गुप्ति। संसार का कारण है कर्म का बन्धन। सम्यग्ज्ञान के द्वारा कर्म का अवरोध ही सम्यक् चारित्र है। इस दृष्टि से कर्म मानसिक, वाचिक और शारीरिक तीन प्रकार के माने गये हैं।

मुनि ध्यान के द्वारा उपर्युक्त रत्नत्रय की सिद्धि कर सकता है। अर्हत्, सिद्ध और आचार्य ध्यान के विषय हैं। आत्मा को अपने में स्थिर करने के लिए चेष्टा, बातचीत, चिन्ता आदि को साधक के लिए त्याज्य बतलाया गया है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध न्याय में केवल दो प्रमाण प्रतिष्ठित हैं—प्रत्यक्ष तथा अनुमान। इसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वलक्षण तथा अनुमान प्रमाण से सामान्य लक्षण-वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।[2] प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित और नाम तथा जाति आदि से विशिष्ट नहीं होता।[3] प्रत्यक्ष ज्ञान चार प्रकार का होता है—इन्द्रिय, मन, स्वसंवेदन तथा योग सम्बन्धी। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उससे स्वलक्षण अर्थात् अन्य वस्तुओं से भिन्नता की प्रतिष्ठा करने वाले विशेषणों को

१. इन तीनों को समासतः समारोप कहते हैं। जैन दर्शन में भ्रान्ति का नाम विमोह और सन्देह का नाम संशय है। ज्ञान का अस्पष्ट होना विभ्रम है। शंख को चाँदी समझना विमोह है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में सन्देह होना कि यह मनुष्य है कि स्तम्भ है—संशय है। अन्धा किसी वस्तु को हाथ से छूकर आरम्भ में साधारणतः विभ्रम-ज्ञान करता है। वह नहीं समझ पाता कि यह क्या है?

२. स्वलक्षण वे वस्तुयें हैं, जो स्वरूपतः अद्वितीय हैं, अर्थात् जिनके लक्षण अन्य किसी वस्तु के लक्षण के समान नहीं हैं। सामान्य लक्षण वे वस्तुयें हैं, जिनके स्वरूप सामान्यतः अन्य वस्तुओं में प्राप्तव्य हैं।

३. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।

जान पाते हैं, पर उसके रूप, रंग आदि को नहीं जानते। नाम आदि का ज्ञान अनुमान से होता है।

प्रत्यक्ष के लिए चार प्रत्यय आवश्यक हैं—आलम्बन, सहकारी, अधिपति और समनन्तर। जिसका प्रत्यक्ष होता है, वह आलम्बन प्रत्यय है, जैसे घट। इन्द्रियों के सक्रिय होने के लिए जो प्रत्यय आवश्यक हैं, उन्हें सहकारी कहते हैं; जैसे नेत्रों के लिए प्रकाश। इन्द्रिय अधिपति प्रत्यय है। इन सबके पश्चात् इन्द्रिय के व्यापार होने के लिए जिस संचारिणी शक्ति का उपयोग होता है, वह समनन्तर प्रत्यय है। इन्द्रियाँ ज्ञान के जिस स्वरूप को मन तक पहुँचाती हैं, वह मानस-प्रत्यक्ष है। उस वस्तु के प्रति इच्छा, क्रोध, मोह आदि के जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हैं। समाधि की अवस्था में योगियों को इन्द्रियों की सहायता के बिना ही जो ज्ञान होता है, वह योगि-प्रत्यक्ष है।

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थ और परार्थ। अपने लिए किया हुआ अनुमान स्वार्थ है और जो अनुमान दूसरों को कराया जाता है, वह परार्थ है।

अनात्मवाद

बुद्ध ने वैदिक दर्शन में प्रतिष्ठित आत्मा को नहीं माना है। वे साधारणतः आत्मा के सम्बन्ध में मौन थे। इसका प्रधान कारण था कि आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस तप और तत्त्वज्ञान के पचड़े में पड़ना अपेक्षित था, उसके बिना ही उन्हें निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग मिल चुका था। उन्होंने आत्मा के स्थान पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के संघात की प्रतिष्ठा की थी।[1] यही बुद्ध का व्यावहारिक आत्मा था। गौतम के अनुसार इन्हीं पाँचों का पुनर्जन्म भी होता है।[2] वे पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा को नहीं मानते थे। आत्मा को न मानने वाले बुद्ध ब्रह्म, ईश्वर और परमात्मा को क्यों कर मानते ?

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य (कारणों के एकत्र होने से) समुत्पाद (किसी वस्तु की उत्पत्ति) होती है। यह प्रतीत्य समुत्पाद है। प्रतीत्य समुत्पाद के अनुसार भव-चक्र चला करता है। भव-चक्र के १२ अंग हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श,

१. रूप इन्द्रियों और उनके विषयों के लिए प्रयुक्त होता है। विज्ञान अहंभाव तथा इन्द्रियों के द्वारा प्राप्तव्य ज्ञान है। वेदना सुख-दुःख आदि की भावना है। संज्ञा नाम है। संस्कार मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं।

२. अविद्या अज्ञान है, जिससे प्राणी दुःख-बन्धन में पड़ता है। संस्कार अज्ञान के कारण किये हुए वे कर्म हैं, जिससे पुनर्जन्म में बँधना पड़ता है। विज्ञान

वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण इन अंगों में से प्रथम दो—अविद्या और संस्कार पूर्व जन्म से सम्बद्ध हैं और अन्तिम दो—जाति और जरामरण भावी जन्म से सम्बद्ध हैं। शेष आठ वर्तमान जीवन के शरीर से सम्बद्ध हैं। उपर्युक्त चक्र में उत्तरोत्तर कारण-कार्य सम्बन्ध होता है।

निर्वाण

गौतम बुद्ध ने वैदिक दर्शनों के प्रवर्तकों की भाँति मानव को दुःख से निवृत्त करने की योजना का सर्वोच्च पद निर्वाण के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में जन्म, जीवन और मरण—तीनों दुःख हैं। दुःख को दूर करने की दृष्टि से उन्होंने चार आर्य सत्यों का विवेचन किया—(१) दुःख है, (२) दुःख का समुदाय है, (३) दुःख का निरोध किया जा सकता है, (४) उसे दूर करने का अष्टाङ्गिक मार्ग है—दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीविका, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हो जाना। इनम से सम्यक् दृष्टि और संकल्प प्रज्ञा कहे जाते हैं। सम्यक् वाक्, कर्मान्त और आजीविका शील हैं तथा सम्यक् व्यायाम, स्मृति और समाधि—समाधि के अन्तर्गत आते हैं। प्रज्ञा, शील और समाधि को साधनत्रय कहते हैं। अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलने से दुःख का दूर हो जाना निर्वाण है।

दार्शनिक सम्प्रदाय

वौद्ध दर्शन के १८ सम्प्रदायों के उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। इनमें से चार प्रमुख हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक।[1] इनमें

गर्भावस्था है। नाम गर्भ की मानसिक और रूप शारीरिक अवस्था है। षडायतन छः इन्द्रियों से समायुक्त होने की जन्मकालिक अवस्था है। स्पर्श शैशवावस्था में संसार के सम्पर्क में आना है। वेदना सुखमयी, दुःखमयी और द्वन्द्वमयी होती है। सुख देने वाली वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा तृष्णा है। उपादान सांसारिक वस्तुओं के प्रति अभिरुचि है। भव भावी जन्म की रूप-रेखा प्रस्तुत करने वाले कर्म हैं। जाति जन्म लेना है और जिसका जन्म हुआ, उसे जरामरण के बन्धन में पड़ना ही है।

१. वैभाषिकों का प्रधान ग्रन्थ कात्यायनी पुत्र का ज्ञानप्रस्थान है। इसकी टीका का नाम विभाषा है। इस सम्प्रदाय में विभाषा के महत्त्व के कारण इसे वैभाषिक कहते हैं। सुत्तपिटक के सूत्रों को प्रधानतया अपनाने वाले सौत्रान्तिक हैं। योग के द्वारा बोधि को सम्भव मानने वाले योगाचार हैं। माध्यमिक सम्प्रदाय का मूल गौतम बुद्ध की मध्यमा प्रतिपदा है, जिसके अनुसार दार्शनिक और व्यावहारिक दृष्टि से बीच में पड़ने वाला मार्ग—मध्यमा प्रतिपदा है। इसी कारण इसे माध्यमिक नाम दिया गया है।

से प्रथम दो हीनयान की और अन्तिम दो महायान की शाखाएँ हैं। इन चारों सम्प्रदायों का मूल भेद जगत् की सत्ता को लेकर हुआ है। वैभाषिक सम्प्रदाय बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध मानता है। इस प्रकार इसमें बाह्यार्थ-प्रत्यक्षवाद की प्रधानता है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में जगत् की सत्ता को अनुमान प्रमाण से सिद्ध माना जाता है और इसमें बाह्यार्थानुमेयवाद की प्रधानता है। जगत् की सत्ता मानने के कारण वैभाषिक और सौत्रान्तिक को सर्वास्तिवादी भी कहते हैं। योगाचार सम्प्रदाय बाह्य जगत् की सत्ता को नहीं मानता। इसमें भौतिक जगत् को मिथ्या माना गया है। इसकी दृष्टि से केवल चित्त (विज्ञान) ही सत् है। इसी से सब कुछ उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह मत विज्ञानवाद है। शून्यवादी कहते हैं कि जगत् और विज्ञान दोनों असत् है। एकमात्र शून्य ही सत् है। ये शून्यवादी माध्यमिक सम्प्रदाय में हैं। इनको सर्ववैनाशिक कहते हैं। बुद्ध के लगभग ३०० वर्ष पश्चात् वैभाषिक, ४०० वर्ष पश्चात् सौत्रान्तिक और ५०० वर्ष पश्चात् माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई। योगाचार सम्प्रदाय की स्थापना तीसरी शती ई० में हुई।

वैभाषिक दर्शन

वैभाषिक दर्शन के अनुसार जगत् में जो कुछ है, उसका प्रथमतः दो विभाग—विषयीगत तथा विषयगत मे वर्गीकरण किया जा सकता है। विषयीगत विभाजन के तीन भेद है—पंच स्कन्ध, द्वादश आयतन और अष्टादश धातु। इनमें से पंच स्कन्ध का विवरण पहले आ चुका है। षडायतन मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्ही के छः विषयों को षडायतन में जोड़ देने पर द्वादश आयतन होते हैं। इन्द्रियों के छः विज्ञानों को आयतन से जोड़ देने पर अष्टादश धातु होती हैं। द्वादश आयतन इस दर्शन के अनुसार सत् है। इस प्रकार शाश्वत रूप से सत् हैं इन्द्रिय और उनके विषय।

विषयगत वर्गीकरण दो प्रकार का है—संस्कृत और असंस्कृत। संस्कृत धर्म कारण-जनित होते है। अतएव वे अस्थायी, अनित्य, गतिशील और आस्रवबद्ध होते हैं। असंस्कृत धर्म कारण-जनित नहीं होते और वे स्थायी, नित्य, गतिहीन तथा अनास्रव होते है।

वैभाषिक सम्प्रदाय में सांख्य का सत्कार्य प्रायः उसी रूप में प्रतिष्ठित है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व केवल चार क्षणों तक होता है—उत्पत्ति का क्षण, अस्तितव का क्षण, विलयन का क्षण और अन्त होने का क्षण। यह बौद्ध दर्शन का क्षणिक वाद है।

वैभाषिकों के अनुसार केवल चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। वे आकाश को तत्त्व नहीं मानते। उनके अनुसार परमाणुओं के परस्पर संयोग से

वस्तुओं के स्वरूप का निर्माण होता है। सभी वस्तुएँ अन्ततोगत्वा परमाणु में विलीन हो जाती हैं। रूप की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है। वैभाषिक द्व्यणुक या त्र्यणुक की सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार परमाणु में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हैं, पर अतीन्द्रिय हैं। पर्याप्त परमाणुओं का संघात होने पर इन गुणों की सत्ता गोचर होती है। सभी वस्तुओं में सभी प्रकार के परमाणु होते हैं। जिन परमाणुओं की विशेषता होती है, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जैसे धातुओं में पृथ्वी परमाणुओं की अधिकता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान को ग्रहण करने वाला विज्ञान (मन या चित्त) है। उनका चित्त न्याय-दर्शन के आत्मा और मन दोनों का मिश्रित स्वरूप है। वे मानते हैं कि इन्द्रियाँ विषयों के सम्पर्क में आने पर जो ज्ञान प्राप्त करती हैं, उसे चित्त को देकर उपरत हो जाती हैं। उनके अनुसार इन्द्रियाँ भौतिक तत्वों से बनी हुई हैं।

सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक बाह्य जगत् की सत्ता को अनुमान के द्वारा प्रतिष्ठित मानते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं। उनका मत है कि जब सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं तो उनके स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे सम्भव है? जिस क्षण में कोई इन्द्रिय किसी वस्तु के सम्पर्क में आती है, उसी क्षण वह वस्तु बदल जाती है। उसका प्रतिबिम्ब-मात्र मानस-पटल पर चित्रित रहता है। इस प्रतिबिम्ब के आधार पर उस वस्तु का अनुमान के द्वारा ज्ञान होता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान में अपने आपको प्रकाशन की शक्ति है। जैसे दीपक अपने आपको भी प्रकट करता है, वैसे ही ज्ञान भी स्वसंवेदन करता है। ज्ञान के स्वसंवेदन की प्रक्रिया विज्ञानवादियों को भी मान्य है।

वैभाषिकों की भाँति सौत्रान्तिक भी आत्मा और ईश्वर को नहीं मानते। उनके मत से सृष्टि का क्रम अनादि और अनन्त है और इसका निर्माता कोई नहीं है। इसमें ईश्वर की निर्माण-शक्ति का निराकरण किया गया है।

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुसार संसार में दुःख ही दुःख है। जिसे साधारण पुरुष सुख समझते हैं, वह भी वास्तव में दुःख है।

योगाचार

योगाचार सम्प्रदाय में बोधि के लिए योग की अतिशय प्रतिष्ठा है। इस सम्प्रदाय में विज्ञान को एकमात्र सत्ता माना गया है। विज्ञान से आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् विकसित होता है।[1] इस दृष्टि से विचार करने वाला अपने समग्र ज्ञान का एक अङ्ग है।

---

१. सर्वं बुद्धिमयं जगत् (सारा जगत् बुद्धिमय है)।

वह जो कुछ जानता है, वह सारा उसके व्यक्तित्व का अङ्ग है। ज्ञान का आधार पूर्वकालीन ज्ञान है। ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। सर्वात्मिक विज्ञान का नाम आलय-विज्ञान है। यह मूल तत्त्व है और काल तथा स्थिति की दृष्टि से अनन्त है। आलय-विज्ञान से सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और उसमें वे विलीन हो जाती हैं। आलय-विज्ञान में ज्ञाता और ज्ञातव्य दोनों की अवस्थिति है।

योगाचार के अनुसार ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न। स्वप्नावस्था में प्राप्त ज्ञान परिकल्पित कोटि का है, क्योंकि उसका आधार कल्पना-मात्र है। जिस ज्ञान के लिए पूर्व ज्ञान अपेक्षित होता है, वह परतन्त्र कोटि का है। नीलत्व को आज जान कर कल भी उसे पहचान लेने में आज का ज्ञान आधार है। अतएव कल का ज्ञान परतन्त्र है। इसके लिए आज का ज्ञान बीज-रूप है। जब इस प्रकार के बीज-ज्ञान नहीं होते और पूर्वकालीन ज्ञान का क्षय हो जाता है तो परिनिष्पन्न ज्ञान होता है। परिकल्पित ज्ञान भ्रान्तिमात्र है, जैसे रस्सी को साँप समझना। परतन्त्र ज्ञान व्यावहारिक सत्ताएँ हैं, जैसे रस्सी को रस्सी समझना। परिनिष्पन्न ज्ञान दार्शनिक सत्य है, जैसे 'सर्वं बुद्धिमयं जगत्'। यह ज्ञान योग के द्वारा प्राप्त होता है।

किसी भी मानव को अपना व्यक्तित्व तभी तक परिलक्षित होता है, जब तक उसे अविद्या घेरे रहती है। परस्पर-भेद का कारण अविद्या है। विज्ञान का कर्म के संस्कार से लिप्त होना अविद्या का मूल है। अविद्या से सुख-दुःख, साधु-असाधु आदि का अन्तर प्रतीत होता है। जिन प्रयत्नों से विज्ञान का शुद्ध रूप प्रस्फुटित होता है, वे मुक्ति के लिए होते हैं।

योगाचार में आठ प्रकार के विज्ञानों की प्रतिष्ठा की गई है, जिनमें से चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा के विज्ञान प्रत्यक्ष ही इन्द्रियों से सम्बद्ध हैं। काम-विज्ञान का सम्बन्ध त्वगिन्द्रिय से है। इनके अतिरिक्त मनोविज्ञान, क्लिष्ट-मनोविज्ञान और आलय-विज्ञान हैं। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मन के मनन से है। क्लिष्ट-मनोविज्ञान का सम्बन्ध विवेचन से है। आलय-विज्ञान मे सभी विज्ञान विलीन होते हैं।

मनोविज्ञान का मन अविद्या, अभिमान, कर्तृत्व तथा कामनाओं से विशिष्ट है। ये चार क्लेश हैं। आलय-विज्ञान में सदैव परिवर्तन होता रहता है। आलय-विज्ञान की उपमा समुद्र से दी गई है। विषय-रूपी वायु से आलय के समुद्र में विज्ञान की लहरें उठती हैं। आलय-विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सात विज्ञान लहरों की भाँति हैं, जो वास्तव में समुद्र से भिन्न नहीं हैं।

माध्यमिक

माध्यमिक सिद्धांतों के अनुसार पदार्थ गुणों का समाहार-मात्र है। इस

सिद्धांत के मान लेने पर आत्मा नामक द्रव्य अपने गुण चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यदि आत्मा अपने कर्म——देखने, सुनने आदि से भिन्न है तो क्या देखना, सुनना आदि आत्मा के बिना नहीं हो सकते ?

माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार सब कुछ शून्य ही है। पर शून्य क्या है ? शून्य ही परम तत्त्व है, जिसकी परिभाषा है——न सत्, न असत् और न सत्-असत्। वह सत्-असत् दोनों से विशिष्ट भी नहीं है। इस प्रकार माध्यमिकों का परमतत्त्व शून्य गणित के शून्य के समान ही है। वह शून्य सत् और असत् के बीच की कोई वस्तु है। इस शून्य को न भावात्मक कह सकते हैं, न अभावात्मक। यही माध्यमिक की मध्यमा प्रतिपदा है।

महायान ग्रन्थों में बीस प्रकार की शून्यताओं का निरूपण किया गया है। इनका सम्बन्ध अध्यात्म, वहिर्धा, अध्यात्म-वहिर्धा, शून्यता, महाशून्यता, परमार्थ, संस्कृत, असंस्कृत, अत्यन्त, अनवराग्र, अनवकार, प्रकृति, सर्वधर्म, लक्षण, उपालम्भ, भाव, अभाव, स्वभाव, अभाव-स्वभाव और परभाव से है। इन पदों का विश्लेषण इस दर्शन में मिलता है। अध्यात्म शून्यता के अनुसार छः विज्ञान शून्य हैं। इनके अनुसार आत्मा की शून्यता प्रमाणित होती है। वहिर्धा शून्यता इन्द्रियों के विषयों की शून्यता का निर्देश करती है। इससे रूप-रस-गन्ध और स्पर्श आदि की शून्यता सिद्ध होती है। अध्यात्म-वहिर्धा शून्यता आध्यात्मिक और आधिभौतिक तत्त्वों को शून्य होने के नाते समान वतलाती है। शून्यता-शून्यता के सिद्धान्त से शून्यता की वास्तविकता का निराकरण होता है। महाशून्यता दिशाओं की शून्यता का निर्देश करती है। परमार्थ शून्यता निर्वाण को शून्य सिद्ध करती है। संस्कृत शून्यता उपादान-जन्य वस्तुओं के शून्य-स्वरूप का आभास देती है। असंकृत शून्यता उपादान के विना उत्पन्न अर्थात् नित्य प्रतीत होने वाली वस्तुओं की शून्यता वतलाती है। अत्यन्त शून्यता दोनों अन्तों——नित्यता और अनित्यता की शून्यता सिद्ध करती है। अनवराग्रशुन्यता किसी वस्तु के आदि, मध्य और अन्त-कालीनता का निराकरण करती है। अनवकार सून्यता अनुपविशेष-निर्वाण की कल्पना को असिद्ध वतलाती है। प्रकृति शून्यता के अनुसार प्रकृति या स्वभाव के उत्पन्न करने की कल्पना निराधार है। सर्वधर्म शून्यता के सिद्धान्त से भूत और चित्त के सूक्ष्म तत्त्वों की शून्यता प्रमाणित होती है। लक्षण शून्यता किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने वाले विशेषणों की अवास्तविकता की ओर संकेत करती है। उपालम्भ शून्यता तीन प्रकार के कालों की धारणा को अवास्तविक ठहराती है। भाव, अभाव, स्वभाव, अभाव-

१. न सन्नासन्नसदसन्नचाप्युभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मूक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः। माध्यमिककारिका १.७

स्वभाव और परभाव की शून्यताओं के अनुसार भावात्मक, अभावात्मक, उपादानात्मक अथवा पारमार्थिक--सभी प्रकार की वास्तविकताओं का निराकरण होता है।

नागार्जुन ने शून्यता की परिभाषा करते समय कहा है कि अन्य दर्शनों में तर्क के द्वारा आत्मा, परमात्मा, जगत्, मोक्ष आदि जिन-जिन की सत्ता सिद्ध की गई है, वही तर्क इनकी असत्ता सिद्ध करने में भी समर्थ है। तर्क के द्वारा सब कुछ असिद्ध है--गौतम का तथागत होना, निर्वाण आदि असिद्ध हैं। सिद्ध और असिद्ध के व्यापार--जहाँ तक बुद्धि और तर्क की परिधि मे रहेगे--सदैव सन्दिग्ध रहेगे। तर्क की प्रखर तलवार के सामने कुछ भी अच्छिन्न नही ठहरता। नागार्जुन ने तर्क का सहारा लेकर अद्भुत कौशल द्वारा शून्य की प्रतिष्ठा की है।

माध्यमिकों की दृष्टि मे शून्य ही एकमात्र तत्त्व है। वास्तविक दृष्टि से शून्य नामक यह तत्त्व तर्क की परिधि से बाहर है। तर्क सत्, असत् आदि कोटियों तक की वस्तुओं की सत्ता और असत्ता को प्रमाणित करता है। जो सत् और असत् से परे है, उसके विषय मे तर्क का सहारा लेना उपादेय नही है। यह शून्य उपनिषदों के अनिर्वचनीय ब्रह्म के समकक्ष पड़ता है। शून्य अभावात्मक नहीं है।

स्वभाववाद

स्वभाववाद वास्तव मे दर्शन-कोटि मे नही आता। दर्शन के लिए जिस उच्च कोटि की विचारणा की अपेक्षा होती है, उसका स्वभाववाद की पृष्ठभूमि में सर्वथा अभाव है। स्वभाववाद वर्तमान की चिन्ता करता है। यही उसकी प्रमुख विशेषता है। उसे भविष्य से कोई प्रयोजन नही है। स्वभाववादी के लिए मरणोत्तर भविष्य का अस्तित्व कदापि नहीं है। इतने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि इस वाद मे आत्मा की अमरता, परलोक, कर्मफल, मुक्ति, पाप-पुण्य, ईश्वर, देवता आदि को कपोल-कल्पित मानना स्वाभाविक था। स्वभाववाद मे केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को माना गया है। इसमे अनुमान के द्वारा सिद्ध सत्ताएँ तथा आप्त-प्रमाण के मूल-ग्रन्थ वेद आदि को कोई मान्यता नही प्राप्त हो सकी है।

स्वभाववाद को लोकायत भी कहते है क्योकि इसमे इस लोक की सत्ता को ही माना गया है। स्वभाववादियों को तदनुसार लोकायतिक कहते हैं। इस वाद के एक प्रसिद्ध आचार्य चार्वाक थे। उनकी स्मृति मे इस वाद को चार्वाक-दर्शन भी कहा जाता है।[१]

---

१. स्वभाववाद की रूप-रेखा सम्भवतः बृहस्पति-सूत्र में सुव्यस्थित हुई। यह ग्रन्थ अब नहीं मिलता। इसकी प्रवृत्तियों का परिचय वा० रामायण अयोध्याकाण्ड ९८. १–८; चुल्लवग्ग ५.३३.२; महापुराण ५.१८–३५ तथा सर्वदर्शन-संग्रह के प्रथम अध्याय में मिलता है।

प्रत्यक्ष के द्वारा जिन चार भूतों को स्वभाववादी देख पाते हैं, उन्हीं की सत्ता में उनका विश्वास है। ऐसे भूत चार ही हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु। इन्हीं से सारे जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। ये अनादि और अनन्त हैं। इन्हीं से बुद्धि बनी है। जिस प्रकार पानी की लालिमा चार वस्तुओं के सम्मिश्रण से बन जाती है, उसी प्रकार भूतों के सम्मिश्रण से बुद्धि का विकास होता है। विचारणा भी इन्हीं भूतों का काम है। शरीर में बुद्धि ही प्रधान है, आत्मा नाम की कोई वस्तु इससे भिन्न नहीं है।

स्वभाववाद में आत्मा के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोण मिलते हैं—(१) आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है, (२) इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, (३) प्राण आत्मा है, (४) मन आत्मा है। आत्मा-विषयक इन सभी मतों के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण पर्याप्त है।

स्वभाववाद में स्वभावतः वैदिक धर्म की कटु आलोचना होनी ही चाहिए थी। स्वभाववादी धर्म को वितण्डावाद मानते थे और धर्म को बौद्धिक रोग कहने में नहीं हिचकते थे। उनका देव, गन्धर्व, यक्ष, भूत, प्रेतादि कोटियों में कोई विश्वास नहीं था।

अन्य दर्शनों में शरीर को तपोमय जीवन-विधान के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए सक्षम बनाने की योजना मिलती है। स्वभाववाद तप के विरुद्ध है।[1] शरीर को भोग-विलास के द्वारा अधिकाधिक सुख पहुँचाना स्वभाववाद का मन्तव्य है। इस प्रकार के भोग-विलासमय जीवन के लिए अच्छे-बुरे, पुण्यमय या पापमय—सभी साधन अपनाने की अनुमति स्वभाववाद ने दी है। स्वभाववाद पुण्य और पाप की धारणाओं को कोई मान्यता नहीं प्रदान करता, अपितु इसके अनुसार इन धारणाओं की रूप-रेखा स्वार्थी लोगों के द्वारा दूसरों को अन्धा बनाए रखने के लिए प्रस्तुत की गई है।

स्वभाववाद की विचार-धारा प्रायः सनातन प्रतीत होती है। बृहस्पति और चार्वाक आदि प्रमुख प्रवर्तकों के अतिरिक्त बौद्ध काल में पुराणकश्यप, अजित केशकम्बली, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठ-पुत्त और मक्खली गोसाल घोर यथार्थवादी या भौतिकवादी थे। पुराण कश्यप को पुण्य-पाप में भेद नहीं दिखाई देता था। केशकम्बली कर्मों के फल को नहीं मानता था। उसके अनुसार आत्मा की अमरता,

१. लोकायतिक दर्शन के अनुसार थाली का भोजन न खाकर हाथ चाटने के समान ही उन लोगों का प्रयास है, जो परलोक में सुख पाने के लिए तप करते हैं। महापुराण ५·३५

पुनर्जन्म आदि निःसार कल्पनाएँ हैं। पकुध कच्चायन की दृष्टि में पृथ्वी आदि भूत, सुख-दुःख, आत्मा आदि का कोई रचयिता नहीं है। वह हत्या में कोई दोष नहीं मानता। संजय संदेहवादी था। उसका परलोक में विश्वास नहीं था। कुछ स्वभाववादियों के नाम अहेतुवादी, उच्छेदवादी तथा क्षतविधवादी मिलते हैं।[1]

दार्शनिकों का व्यक्तित्व

भारतीय दर्शन की प्रतिष्ठा देवत्ववाद के आधार पर हुई है। देव-कल्पना का आभास चर्म-चक्षुओं से नहीं होता। इसके लिए योगि-प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से इतना तो कहा ही जा सकता है कि वैदिक देववाद के पीछे योगियों की दृष्टि थी। वैदिक साहित्य को परवर्ती युग में आप्त वचन मानकर प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित किया गया--इससे भी प्रमाणित होता है कि वैदिक साहित्य की रचना का श्रेय साधारण कोटि के कवियों को नहीं दिया जा सकता। वैदिक साहित्य के रचयिताओं की ऋषि-उपाधि इसी सत्य की ओर संकेत करती है।

आरण्यक और उपनिषद्काल के दार्शनिक साधारणतः दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—गृहस्थ-वर्ग और संन्यासी-वर्ग। इनमें से गृहस्थ-वर्ग की परम्परा सनातन थी। गृहस्थों में से कुछ तो राजा थे, जैसे जनक और अजातशत्रु और दूसरे ब्राह्मण-वर्ग के गृहस्थ थे, जिन्हें ऋषि-गृहस्थ कहा जा सकता है। आरुणि, उषस्ति, चाक्रायण और याज्ञवल्क्य इस वर्ग के प्रतिनिधि थे। गृहस्थाश्रम में भी इनका जीवन तपोमय था। संन्यासी-वर्ग के दार्शनिकों की प्रथम कोटि आरण्यक साहित्य के निर्माताओं और अध्येताओं में मिलती है। उपनिषदों में महान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य के अन्त में संन्यासी बनने का उल्लेख मिलता है।[2]

उपनिषद्-काल के पश्चात् दर्शन की प्रवृत्ति प्रधानतः वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम वालों के लिए विहित हो गई। गृहस्थ रहकर यदि जन्म-मरण के भय से मुक्ति की सम्भावना होती तो स्वयं गौतम बुद्ध ही प्रव्रजित नहीं हुए होते। भारतीय दर्शन का उद्देश्य केवल ज्ञानपरक नहीं था, अपितु मोक्षपरक भी था। तत्कालीन धारणा के अनुसार दर्शन के उच्च तत्त्वों का अनुसन्धान तब तक नहीं हो सकता, जब तक गृहस्थ-जीवन से सम्बन्ध न छूट जाय। उपनिषद्-काल के पश्चात्

१. अहेतुवादी के अनुसार प्राणी बिना किसी कारण के ही इस संसार में उत्पन्न होते हैं। उच्छेदवादी के अनुसार परलोक नहीं है। इसी लोक में मानव का उच्छेद होता है। क्षतविधवादी का कथन है कि सुख पाने के लिए माता-पिता को भी मारना पड़े तो अनुचित नहीं। महाबोधि-जातक ५२८

२. बृहदारण्यक उप० २.४.१

दार्शनिक प्रवृत्तियों के ऐसे स्रोत ऋषियों के आश्रमों और भिक्षुओं के विहारों में मिलते ह। जातक साहित्य में ऐसे आश्रमों के विवरण भरे पड़े हैं। दार्शनिक के तपोमय जीवन का विन्यास इस प्रकार वानप्रस्थ-विधि से समायुक्त था। इस जीवन का नाम अश्वघोष ने ब्रह्मचर्य बतलाया है और इसका सविस्तार वर्णन भी किया है।[1]

मौर्यकालीन दार्शनिकों के जीवन का वर्णन ग्रीस के विद्वानों ने किया है। मेगस्थनीज के अनुसार दार्शनिकों के आश्रम नगर के सामने उपवनों में बने हुए थे। आश्रमवासियों का जीवन सरल था। वे चटाई या मृगच्छाल पर पड़े रहते थे। अपना समय वे दार्शनिक व्याख्यानों के सुनने में बिताते थे और स्वयं भी दूसरों को आध्यात्मिक शिक्षा देते थे। मेगस्थनीज का उपर्युक्त विवरण किसी दार्शनिक महाविद्यालय के सम्बन्ध में है, जहाँ कोई महर्षि कुलपति होता था और उसकी अध्यक्षता में वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य-आश्रम के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। परवर्ती युग के रघुवंश में वर्णित वसिष्ठ तथा कादम्बरी में निरूपित जाबालि के आश्रम उपर्युक्त परम्परा में प्रतिष्ठित हैं।

दर्शन की ओर प्रवृत्त होने वाले लोगों के लिए शंकर ने चार लक्षणों का निर्देश किया है—पहले तो उन्हें सत् और असत् के भेद का ज्ञान होना चाहिए अर्थात् जिज्ञासा होनी चाहिए। दूसरा लक्षण है जिज्ञासु का निष्काम होना। इसके लिए संन्यास अपेक्षित है। संसार को जानने के लिए संसार की परिधि से बाहर होना आवश्यक है। संसार में रहकर संसार को नहीं जाना जा सकता। उपर्युक्त गुण की प्राप्ति के लिए यम-नियम होना चाहिए। यही तीसरा लक्षण है। यम-नियम के बिना मन और इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं आती, जिससे वे वस्तुओं के तात्त्विक स्वरूप को देख सकें। अन्तिम लक्षण है—मोक्ष पाने की उत्कट अभिलाषा का होना। अभिलाषा ही वह उत्साह जागरित करती रहती है, जो दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में प्रेरणाप्रद है।[2]

अद्वैत वेदान्त के सर्वोच्च उन्नायक शंकर अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न थे। आठ वर्ष की स्वल्पावस्था में वे सभी वेदों में निष्णात हो चुके थे। उनके आचार्य गोविन्द स्वयं अद्वैत वेदान्त के श्रेष्ठ पण्डित थे। गोविन्द के पिता गौडपाद ने अद्वैत का अभिनव अरुणोदय किया था। बाल्यावस्था में शंकर ने संन्यास ले लिया था। शंकर का संन्यास उन्हें कर्म से विरत करने के लिए

१. बुद्धचरित १२.४२–६५
२. शांकरभाष्य वेदान्तसूत्र १.१.१

नहीं था। वे कर्मयोगी थे। आरम्भ से ही उनकी ज्योतिष्मती प्रतिभा के आलोक से भारत का विशाल प्राङ्गण जगमगा उठा। शंकर अपने युग के सर्वोच्च आचार्य बने। उन्होंने तत्कालीन भारत के सभी वर्णों और आश्रमों के लोगों को अद्वैत-चिन्तन की ओर प्रवृत्त कर दिया। भारत में सदा ही विविध दर्शनों के अगणित आचार्य रहे हैं। शंकर को अग्रणी बनने के लिए आवश्यक था कि वे उन सभी आचार्यों को वाद में परास्त करते। उन्हें इस दिशा में सफलता मिली और अनेक आचार्यों को उन्होंने अद्वैत मार्ग में अपना अनुयायी और शिष्य बना लिया।

शंकर ने सारे भारत में सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए परिभ्रमण करते हुए अद्वैत के प्रकाश-स्तम्भ के रूप में देश के चारों कोनों पर मठ के रूप में विश्वविद्यालयों की स्थापना की।[1] शंकर के व्यक्तित्व में सार्वभौमता थी। यों तो उनका ध्रुव निश्चय था कि अद्वैत ही सर्वोत्कृष्ट दर्शन है, फिर भी उन्होंने तत्कालीन भारत में सुप्रचलित भक्तिमार्ग को अपनाया। उनके द्वारा रची हुई विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य आदि देवताओं की स्तुतियाँ इतनी मनोरम थीं कि इन देवताओं के सम्प्रदाय में शंकर का सम्मान बढ़ा।

धर्म-सुधारक के रूप में शंकर का व्यक्तित्व अतिशय उदात्त है। उन्होंने 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' सिद्धान्त के अनुसार धर्मों के विगलित अंगों के पुनर्निमाण के साथ ही उनकी कुरूपताओं का समूल विनाश करने का प्रयास किया। दक्षिण भारत में शक्ति-पूजन की हीन परिपाटियों को उन्होंने सदा के लिए रोक दिया। दक्षिण भारत में कुक्कुर के रूप में मल्लारि नाम से शिव की पूजा होती थी। कापालिक भैरव की पूजा के निमित्त केवल पशुओं की ही नहीं, अपितु मनुष्यों की भी बलि देते थे। शंकर ने इन कुप्रथाओं को बन्द कराया। जलते हुए धातु-खण्ड से शरीर को मुद्रित कराने की प्रथा शंकर ने रोकी।

शंकर के व्यक्तित्व में चातुर्दिक् प्रतिभा का सम्मिश्रण था। वे कोरे दार्शनिक नहीं थे। उनकी गद्य-लेखन-शैली आज भी आदर्श मानी जाती है। शंकर की रची हुई कविताएँ सर्वगुण-सम्पन्न हैं। उनका ऋषि-जीवन उदात्त है और धर्म का सुधार करने की उनमें अप्रतिम योग्यता थी। इन सभी गुणों के साथ ही उनकी कार्य करने की क्षमता विशेष रूप से शोभनीय है। उन्होंने इसी के बल पर अपनी प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा का अनुपम उपयोग करके इस देश की सांस्कृतिक प्रगति को अद्वैत का जो सन्देश दिया, वह अमर है।

---

१. इनमें से प्रधान मठ मैसूर में शृंगेरी का है। अन्य मठ पूर्व दिशा में पुरी, पश्चिम दिशा में द्वारका तथा उत्तर में हिमालय पर्वत पर बदरिकाश्रम में हैं।

शंकर के अद्वैत का रामानुज ने लगभग २०० वर्षों के पश्चात् अपने विशिष्टाद्वैत के द्वारा संस्कार किया। रामानुज ने गृहस्थाश्रम को बीच से ही छोड़ कर संन्यास ले लिया था। संन्यास की उत्कृष्टता के बल पर उन्हें शीघ्र ही यतिराज की उपाधि मिली। उन्होंने अपना अधिक समय दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के प्रचार करने में लगाया और वैष्णव मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। उन्होंने वैष्णव धर्म के अनुयायियों की संख्या में बहुगुण वृद्धि कर दी।

उपर्युक्त दार्शनिकों के व्यक्तित्व के निदर्शन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शन केवल विद्वानों की बुद्धि और जिह्वा का विषय नहीं था, अपितु दर्शन में ही उनका जीवन रँग गया था। उनका व्यतित्व दर्शनमय होता था। दार्शनिकों न समग्र राष्ट्रिय जीवन को दार्शनिक विचार-धारा से ओत-प्रोत करने का सफल प्रयास किया था।

जैन दर्शन के सर्वोच्च उन्नायक महावीर (वर्धमान) मगध के राजकुमार थे। २८ वर्ष की अवस्था के पश्चात् उन्होने संन्यास लिया और १२ वर्षों तक पर्यटन करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए तप किया। अन्त में वे 'केवली' हुए। 'केवली' इस दर्शन के अनुसार सर्वश्रेष्ठ पद है। महावीर की अन्य उपाधियाँ तीर्थंकर, जिन आदि हैं।

'केवली' सर्वज्ञ होता है। महावीर ने अपनी सर्वज्ञता का उपयोग जनता को सत्पथ पर लाने की दिशा में किया। उनके सार्वजनिक जीवन का युग ३० वर्षों का था। उन्होंने प्राचीन जैन दर्शन में अभिनव प्रगति की शक्ति का संचार किया। महावीर ने अपने अनुयायियों का संघ बनाया और उसके संचालन के लिए नियमित व्यवस्था की।

महावीर के व्यक्तित्व में अद्भुत शक्ति और अपूर्व उत्साह था। उन्होंने तपोमय जीवन की धारा को सार्वजनिक बनाने का जो संकल्प किया था, उसमें उनको सफलता मिली। जीवन भर भ्रमण करते हुए उन्होंने अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि का शाश्वत सन्देश नगरों, गाँवों और वन-वसतियों तक पहुँचाया। उनकी वाणी में वह शक्ति थी, जो सब को आकृष्ट करती थी। जैन दर्शन और धर्म के प्रचार, प्रसार एवं चिर जीवन और अभ्युदय के पीछे महावीर का उदात्त व्यक्तित्व सदा रहा है।

गौतम बुद्ध के जीवन का इतिहास आदि से अन्त तक उनके व्यक्तित्व के विकास की गाथा है। जिस मानसिक संकल्प-विकल्प में गौतम को उनकी युवावस्था में हम पाते हैं, वह सदा ही किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए साधारण है।

गौतम में अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए असाधारण अदम्य उत्साह था। उनके जीवन की सार्थकता उनकी दृष्टि में भोग-विलास आदि नहीं थे, अपितु जीवन की विषमताओं से अपना उद्धार करना था। गौतम की प्रारम्भिक प्रतिभा और तर्कपरायण मननशीलता ने उनको इस योग्य बना दिया था कि उस युग के दार्शनिक आचार्यों और ग्रन्थों के प्रतिपादित सिद्धान्तों की उत्कृष्टता और निकृष्टता की वे परख कर सकते थे। उन्होंने स्वयं तप, योग, मनन और निदिध्यासन के द्वारा निर्वाण-पथ का अनुसन्धान किया था।

गौतम के व्यक्तित्व की ऋजुता उल्लेखनीय है। उनके व्यक्तित्व में रहस्य को कोई स्थान नहीं था। उनके आर्यसत्य और अष्टांगिक मार्ग की सरल कल्पना उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही थी। गौतम का मनोबल अवश्यमेव अलौकिक था। उन्होंने जिस सत्य का दर्शन किया था, उसमें उनकी दृढ़ आस्था थी और उसके अनरूप उनका व्यवहार था।

जिस ज्ञान-दीपक को गौतम ने आत्म-प्रकाश के लिए पाया, उसका उन्होंने सदा के लिए सर्वजन-सुलभ बनाने का संकल्प किया था। उन्होंने जीवन भर एतदर्थ अहर्निश प्रयत्न किया। इसमें उन्हें जो सफलता मिली, उसके पीछे उनके ज्ञान का उतना महत्त्व नहीं था, जितना उनके सच्चरित्र, उदारता और स्पष्ट व्यक्त होने वाली कल्याणपरता को था। उनके व्यक्तित्व से जो शान्ति और अभिजातीयता प्रकट होती थी, उसे उन्हीं के मार्ग से पाने के लिए तत्कालीन समाज लालायित हो उठा था।

गौतम की दिनचर्या थी भ्रमण करते हुए अधिकाधिक लोगों को निर्वाण-पथ पर अपना अनुयायी बनाना। उनकी दृष्टि में कोई बड़ा-छोटा नहीं था। जहाँ-कहीं भी उन्होंने उपयुक्त अवसर पाया, अपनी ज्ञान की पोटली खोल दी और निर्बाध रूप से उसका वितरण किया। घर छोड़ने के १२ वर्ष पश्चात् गौतम पुनः अपने नगर में पहुँचे, पर इस बार उनका उद्देश्य था अपने माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि को निर्वाण-पथ पर प्रवृत्त करने के लिए संघ में प्रविष्ट कराना।

गौतम लोकसेवा को सर्वोच्च धर्म मानते थे। उन्होंने जीवन भर यही किया। जहाँ-कहीं उनके समक्ष दुःख की अग्नि से जलता व्यक्ति आया कि गौतम ने उसे अपनी दया की निर्झरिणी में अभिषिक्त करके सदा के लिए अपना लिया। गौतम के व्यतित्व का प्रभाव बौद्ध दर्शन के परवर्ती विद्वानों पर तो पड़ा ही, अन्य दर्शन के आचार्य भी उनसे प्रभावित हुए। दार्शनिकता के साथ-साथ आचार्यत्व की संगति और साधारण जनसमाज का नेतृत्व—यह गौतम की ही विशेषता थी।

दार्शनिक विशेषताएँ

सुदूर प्राचीन काल से भारत अपनी दार्शनिक प्रवृत्तियों के लिए विख्यात रहा है। इस देश में दार्शनिक विषयों के अध्ययन और मनन को ही सर्वोच्च विद्वानों ने अपने जीवन का परम उद्देश्य माना था। राष्ट्र भी ऐसे विद्वानों को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्रदान करके उनके सामने नतमस्तक था। दर्शन सभी विद्याओं का आदिस्रोत है। 'मुण्डक उपनिषद्' के अनुसार 'ब्रह्मविद्या सर्वविद्या-प्रतिष्ठा' है अर्थात् ज्ञान की सभी शाखाओं का मूल स्तम्भ ब्रह्मविद्या या दर्शन है। अर्थशास्त्र के अनुसार दर्शन सभी ज्ञानों के लिए दीपक के समान है और इसी के द्वारा सभी कार्य सम्पादित किये जा सकते हैं। उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि दर्शन की इस देश में अनुपम महिमा थी और इसके प्रति लोगों की स्वाभाविक अभिरुचि थी। यही कारण है कि राष्ट्रिय जीवन की समग्र गति-विधि पर दर्शन का अप्रतिम प्रभाव था। दर्शन के प्रकाश से राष्ट्रिय जीवन प्रकाशित था।[1]

भारतीय दर्शन की निजी विशेषताएँ रही हैं। सर्वप्रथम विशेषता है--दर्शन का मोक्षपरक होना। मोक्ष पाने के लिए विशुद्ध ज्ञान के साथ ही विशुद्ध जीवन-चर्या की प्रतिष्ठा की गई। प्रायः सभी दर्शन मोक्ष के इन दोनों साधनों को विविध दृष्टिकोणों के अनुसार प्रस्तुत करते हैं। उनके मतों में विविधता का होना स्वाभाविक है, पर उनके मतों का अधिकांश में तत्त्वतः समान होना प्रत्यक्ष सत्य है।

मोक्ष को सर्वोच्च सत्य मान लेने पर प्रश्न होता है कि आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के द्वारा जब मोक्ष की सिद्धि होती है तो आधिभौतिक प्रवृत्तियों का क्या किया जाय? भारतीय दर्शन इस समस्या का अनुपम समाधान प्रस्तुत करता है। आधिभौतिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए साधन बनाना है। कालिदास का 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' इसी समाधान की ओर संकेत करता है। इस योजना के द्वारा आधिभौतिक प्रवृत्तियों को पाशविकता की उच्छृंखलताओं से पराङ्मुख करके उदात्त बना दिया गया है। यही दार्शनिक जीवन की विशुद्ध मर्यादा है, जो आधिभौतिक क्षेत्र में गीता के कर्मयोग की क्रान्ति उपस्थित कर सकी। बौद्ध दर्शन के अष्टाङ्गिक मार्ग में इस तत्त्व की सर्वोपरि प्रतिष्ठा मिलती है। साधारणतः सभी धर्मों की आधिभौतिक प्रवृत्तियों का मूल तत्त्व आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की ओर नियोजित है।

---

१. तत्कालीन विश्व में प्रायः सर्वत्र भारतीय दर्शन के उच्च तत्त्वों को अपनाया गया। इस वृत्ति की पुष्टि के प्रमाण के लिए देखिए मैकडानल का संस्कृत लिट्रेचर पृ० ४२२-४२३। एशिया में बौद्ध और वैदिक दर्शनों का प्रभाव सर्वविदित है।

धार्मिक प्रवृत्तियाँ

दर्शन के द्वारा मनुष्य को ज्ञात होता है कि जीवन के इन्द्रिय-जनित सुखों की परिधि सीमित है और वास्तव में ये सुख, स्वर्ग और मुक्ति के आनन्द की तुलना में हीन सिद्ध होते हैं। प्रत्येक दर्शन स्पष्ट निर्देश करता है कि कुछ कर्मों के फल भोगने के लिए वारंवार इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। जीवन के जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए मानव अपने पुण्यों के द्वारा कुछ समय तक स्वर्ग में रह सकता है, पर पुण्य के क्षीण होने पर फिर इसी बन्धन में पड़ता है। सर्वोत्तम है मक्ति, जिस पद को प्राप्त कर लेने पर पुनः बन्धन असम्भव है।

स्वर्ग और मुक्ति की जो कल्पना दर्शन के द्वारा मानव के हृदय में प्रतिष्ठित की गई है, उसके प्रति आर्कषण होना स्वाभाविक है। मानव की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को दृष्टि-पथ में रखते हुए विचारकों ने जो योजनाएँ बनाईं, वे धर्म के अन्तर्गत आती हैं। इस योजना के द्वारा निर्णय किया गया है कि विश्व की विविध वस्तुओं के प्रति विविध परिस्थितियों में मानव कैसा व्यवहार करे।[1] धर्म के इस महत्त्वपूर्ण अंग का नाम आचार-शास्त्र है। मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों और पदों की रूप-रेखा प्राचीन काल में वर्ण और आश्रम के अनुसार नियोजित होती थी। धार्मिक विधानों के द्वारा प्रत्येक वर्ण और आश्रम के व्यक्ति के लिए उन कर्तव्यों का दिग्दर्शन कराया गया है, जो उसके व्यक्तिगत अभ्युदय और सामाजिक कल्याण के लिए हो सकते हैं। वर्णाश्रम-विधान और आचार-शास्त्र दोनों ही आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए सर्वतः शुद्धि का सर्वाधिक महत्त्व बतलाते हैं। सर्वतः शुद्धि की परिधि में मानव की मानसिक, शारीरिक और वाचिक शुद्धि उसके कर्मों की शुद्धि एवं उसके सभी संग्रहों की शुद्धि का निर्देशन किया गया है।[2] संग्रह शब्द के अन्तर्गत इस प्रसंग में समाज भी आता है, जिसका अंग व्यक्ति है।

---

१. महाभारत के अनुसार केवल मनुष्य ही नहीं, सभी प्राणियों का धर्म से अभ्युदय होना चाहिए, नहीं तो धर्म कैसा ?

प्रभावार्थं च भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्। कर्णप० ६९.५७

२. बौधायन १.१.१-४ के अनुसार श्रौत धर्म वैदिक यज्ञ है, स्मार्त धर्म स्मृतियों में प्रतिपादित वर्णाश्रम-विषयक है और शिष्टाचार-धर्म सम्मानित व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में लक्षित होता है।

धर्म की परिधि

भारतीय धर्म की परिधि अतिशय विशाल रही है। धर्म के आदर्श सृष्टि के आदि तत्त्व ब्रह्म से लेकर संसार की साधारण वस्तुओं और प्रवृत्तियों से अनुबद्ध हैं। वैदिक धारणा के अनुसार देवता अतिशय समर्थ हैं। वे अमर हैं। उन्हें धर्म के क्षेत्र में विशेष समादर प्राप्त हुआ। लोगों की धारणा रही है कि अभ्युदय के पथ में यजन-पूजन और भक्ति के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करके मनोनुकूल फल प्राप्त किया जा सकता है, जो सम्भवतः अन्यथा अप्राप्य हों। देवताओं के वैदिक या पौराणिक चरित को आदर्श मानकर अपने व्यक्तित्व को दिव्य साँचे में ढालने का उत्साह धर्म की एक अद्भुत देन है।

धर्म की योजना का आधिदैविक पक्ष प्राकृतिक या दैवी विधानों में मिलता है। जिस देव ने इस विश्व की रचना की है अथवा जिससे विश्व का प्रादुर्भाव माना जाता है, वह ऐसे विधानों की अपेक्षा रखता है कि विश्व की स्थिति रहे। सृष्टि-रचयिता के लिए देव, मानव, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नदी-समुद्र, सूर्य-तारे आदि सबकी स्थिति रक्षणीय है। उसने इस प्रयोजन से प्राकृतिक विधान बनाया है, जिसे ऋत कहते हैं। ऋत प्राकृतिक धर्म है, जिसे आधिदैविक धर्म भी कहा जा सकता है। मानव भी प्रकृति का अंश है। वह भी इस आधिदैविक ऋत-धर्म को मानने के लिए बाध्य है। विश्व में किसी का धर्म एकाङ्गी नहीं हो सकता। किसी एक का भी धर्म ऐसा नहीं होना चाहिए कि उससे दूसरे की स्थिति में बाधा पड़े। मानव-धर्म भी ऐसा होना चाहिए, जो सबकी प्रतिष्ठा के लिए हो। मानव-धर्म से विश्व के देव, पशु-पक्षी, सूर्य-तारे सबका कल्याण होना चाहिए—यही धर्म के विषय में भारत का शाश्वत दृष्टिकोण है।[1]

धर्म के कुछ मौलिक अङ्गों की विशेषताओं का ऊपर परिचय दिया गया है। इनमें एक या अनेक को लेकर धर्म की परिभाषा बनाई गई है। कणाद के अनुसार 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् धर्म वह है, जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो।[2] इस प्रकरण में अभ्युदय का अभिप्राय लौकिक उन्नति है और निःश्रेयस मुक्ति है। सूत्र में होने पर भी यह परिभाषा विशद अर्थों से समन्वित है। उसके भाष्य में धर्म के प्रायः सभी अङ्गों का अन्तर्भाव

---

१. मनु के अनुसार वह धर्म त्याज्य है, जिससे लोक को कष्ट हो। ४.१७६
महाभारत के अनुसार :—

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभेत्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥ उद्योग० ३५.२

२. कणाद सूत्र १.१.२

हो जाता है। निःसंदेह धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस का साधक है। इसकी साधना के लिए धर्म के दस सनातन लक्षण नियत किये गये—

> धृतिः क्षमा-दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृति ६·९२

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार धर्म के तीन भाग हैं—(१) यज्ञ, अध्ययन, दान, (२) तप, (३) नैष्ठिक ब्रह्मचर्य। इस उपनिषद् के अनुसार ये तीनों पुण्य लोक प्रदान करने वाले हैं। इन तीनों स्कन्धों के अन्तर्गत मानव की सभी उदात्त प्रवृत्तियों और कर्तव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी परिभाषा से मिलती-जुलती महाभारत की परिभाषा है, जिसके अनुसार दान, ब्रह्मचर्य, भूत-दया, सत्य, अनुक्रोश, धृति और क्षमा सनातन धर्म के सनातन मूल हैं।[1] महाभारत में धर्म की व्युत्पत्ति बतलाई गई है कि धारण करने की योग्यता होने से धर्म शब्द सार्थक है। धर्म समाज को धारण करता है।[2] सभी प्राणियों के प्रति मन में कल्याण-भावना रखना मानसिक धर्म है।[3] महाभारत में आत्मसम्पत्तियों को धर्म का मूल माना गया। ये सम्पत्तियाँ हैं—बहुश्रुत होना, तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ, क्रिया, क्षमा, भाव-शुद्धि, दया, सत्य और संयम।[4] प्रायः इन्हीं के समक्ष विधान—यज्ञ, अध्ययन, दान और तप से पितृयान तथा सत्य, क्षमा, दम और अलोभ से देवयान का पथिक बन जाने की योजना महाभारत में प्रस्तुत की गई है।[5]

पौराणिक युग में भी मानवता के सर्वश्रेष्ठ गुणों को धर्म का आवश्यक अंग माना गया। भागवत के अनुसार विद्या, दान, तप और सत्य धर्म के चार पद हैं अर्थात् धर्म इन्हीं के अनुरूप हो सकता है।[6] वायुपुराण के अनुसार कुशलता और अकुशलता सम्पादित करने वाले कर्म ही धर्म या अधर्म हैं। अधर्म वही है, जिसके धारण करने से महत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है और जो धारण करने के योग्य नहीं

---

१. एष धर्मो महायोगो दानं भूत-दया तथा
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमाः।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातम्॥ अश्वमेधिकपर्व ९१.३३-३४

२. धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। कर्णपर्व ६९.५९ तथा अन्यत्र इस विषय का समर्थन शान्ति पर्व १०९.११-१२ तथा उद्योगपर्व ३५.२ में है।

३. शान्तिपर्व १९३.३१ तथा वनपर्व २९७.३५

४. शान्ति० १६७.५-६

५. वनपर्व २.७५-७७

६. भागवत ३. १२.४१

है ।[1] धर्म की प्रायः यही परिभाषा जैन महापुराण में भी मिलती है, जिसके अनुसार वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रिया-विधि, मन्त्र-देवता-लिंग, अहार आदि की शुद्धि का जो विवेचन ऋषियों ने किया है, वह धम है ।[2]

अशोक ने सभी धर्मों के अनुरूप जो परिभापा धर्म के लिए नियत की, उसके अनुसार पाप से दूर रहना, अच्छे काम करना, दया, दान, सत्य और पवित्रता का व्रत लेना ही धर्म है ।[3]

धर्म-विकास

भारतीय धर्म सदैव विकसनशील रहा है । समाज की आवश्यकताओं के अनुसार धर्म के रूप का परिवर्तन होता रहा । यदि धर्म की कुछ प्रवृत्तियों के कारण समाज का विघटन होता दिखाई दिया तो उनमें संशोधन किया गया । समाज को आगे बढ़ाने के लिए अभिनव प्रवृत्तियों को अपनाया गया । आगे धर्म-संगम और पौराणिक धर्म के प्रसंग में धर्म के विकास और तत्सम्बन्धी उद्देश्य का परिचय मिलेगा ।

महाभारत में धर्म की इसी प्रवृत्ति का पर्यालोचन करते हुए कहा गया है—

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मोह्यावस्थिकः स्मृतः ।। शान्ति प० ३६.११

धर्म की अपरिहार्यता

मानव समाज की सौष्ठवपूर्ण प्रगति के लिए धर्म की आवश्यकता स्पष्ट है । इस जीवन के पश्चात् मरणोत्तर काल में 'परलोके धनं धर्मः' अथवा—'एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः' इन वाक्यों के अनुसार धर्म-संग्रह की अपरिहार्यता प्रसिद्ध रही है । तभी तो कहा गया—

शरीरस्यापि नाशेन धर्म एव विशिष्यते । आदिपर्व २०५.१७

धर्म-संगम

भारत के विशाल प्राङ्गण में अनेक वर्गों के लोग सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न स्तरों पर प्रायः सदा ही रहे हैं । उनमें से प्रायः सभी वर्गों के धर्मों की कुछ

१. वायुपुराण ५९वाँ अध्याय
२. महापुराण ३९.२०-२१
३. अशोक का द्वितीय स्तम्भ-लेख

निजी विशेषताओं का होना स्वाभाविक है। इनमें से प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सदा के लिए सम्भव हो सकता है, परन्तु साधारणतः उनका एक दूसरे से सङ्गम होकर उनकी एक धारा वैसे ही प्रवाहित हुई है, जैसे अगणित नदियों से सङ्गम करके कोई महानदी प्रवाहित होती है। आधुनिक हिन्दू-सनातन-धर्म कुछ ऐसा ही है। इसकी प्राचीनतम रूप-रेखा ऋग्वेद में मिलती है। उस आदिकालीन वैदिक धर्म के साथ आर्येतर धर्मों का सङ्गम वैदिक काल में ही आरम्भ हुआ। ऐसी परिस्थिति में वैदिक धर्म की परिधि कुछ अधिक विस्तृत हुई। इस नये धर्म के स्वरूप का परिचय रामायण और महाभारत में स्पष्ट रूप से मिलता है। इस धर्म का सर्वाङ्गीण विकास पौराणिक साहित्य में देखा जा सकता है।

प्राचीनतम आर्येतर धर्म

आर्येतर धर्म की एक शाखा का परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से मिलता है। वहाँ के तत्कालीन निवासी मूर्ति-पूजक थे। वे शिव के उपासक थे। शिव के पशुपति एवं लिङ्ग-प्रतीक की उस युग में प्रतिष्ठा थी। वे सम्भवतः पाशुपत योग की साधना भी करते थे। उस समय नाग-पूजा, वृक्ष-पूजा, जल-पूजा और पशु-पूजा भी प्रचलित थी। सम्भवतः पूजा के निमित्त बकरे की बलि भी दी जाती थी। उस समय के लोगों को शारीरिक स्वच्छता का विशेष ध्यान था। वे स्नान करने के पश्चात् सम्भवतः पूजा-पाठ करते थे और ध्यान लगाते थे। पूजा करते समय अथवा कर्मकाण्डों के अवसर पर नृत्य और वाद्य का समारोह होता था। तावीजों और जादू-टोनों के के प्रति उनकी आस्था थी।

सिन्धु-युग की सबसे अधिक पूजनीय देवी का स्वरूप माता का माना जाता था। वह सम्भवतः प्रकृति की आदि शक्ति का प्रतीक भी थी। मातृ देवी की मिट्टी की बनी हुई असंख्य मूर्तियाँ मिलती हैं। इसके समकक्ष वैदिक धर्म की अदिति या पृथ्वी माता है। पौराणिक युग में मातृदेवी के समकक्ष चण्डी, दुर्गा, भवानी आदि मिलती हैं। सिन्धु-युग की एक मुद्रा पर नारी के पेट से एक पौधे की उत्पत्ति और विकास का दृश्य अंकित है। सम्भवतः यह पृथ्वी देवी का अंकन है। यही देवी आगे चल कर ग्रामदेवी के नाम से भारत के गाँव-गाँव में आज तक प्रतिष्ठित है।

तत्कालीन शिवांकित मुद्रा में शिव के तीन मुख दिखाये गये हैं। शिव की मुद्रा योगी की है। उनके चारों ओर हिंस्र पशु—चीते, गैंडे और भैंसे अंकित हैं। शिव के सिर पर दो सींग हैं। परवर्ती ऐतिहासिक युग में शिव की दो, तीन या चार मुखों की मूर्तियाँ मिलती हैं। शिव की परवर्ती युगीन पशुपति उपाधि सम्भवतः सिन्धु-सभ्यता की अक्षुण्ण परम्परा का स्मारक है। उस समय की मुद्राओं पर

योगीश्वर, ऊर्ध्वलिङ्ग (लकुलीश), विरूपाक्ष आदि शिव के विविध स्वरूपों का भी अंकन है। उस युग के बने हुए अनेक शिवलिंग भी वहाँ मिलते हैं, जिनकी सम्भवतः पूजा होती थी। मूर्ति-पूजा या लिंग-पूजा वैदिक संस्कृति में नहीं प्रचलित थी। पौराणिक संस्कृति की लिंग-पूजा सिन्धु-सभ्यता की लिंग-पूजा की अक्षुण्ण परम्परा में है।

सिन्धु-युगीन पूजनीय पशुओं की मूर्तियाँ और चित्र मिलते हैं। पशुओं की आकृति प्रायः काल्पनिक है। कुछ पशुओं के सिर और धड़ में सामंजस्य नहीं है। यदि सिर मानव का है तो धड़ किसी पशु—बकरे, बैल या हाथी का है। एक मूर्ति का सिर बकरे का है पर धड़ मनुष्य का है। मनुष्य और पशु की मिश्रित मूर्तियों के निर्माण की परम्परा परवर्ती धार्मिक शिल्पों में भी मिलती है। किन्नर की साहित्यिक कल्पना की परम्परा उपर्युक्त सिन्धु-सभ्यता की धार्मिक कल्पना पर आधारित प्रतीत होती है। कुछ लोग नाग-पूजा भी करते थे। पूजा के लिए प्रायः भैंस, नील गाय, बैल, हाथी, गैंडा और व्याघ्र चुने गये थे।

सिन्धु-सभ्यता में मृतकों को गाड़ने का प्रचलन था। शव के साथ प्रायः १५ से २० तक पात्र रख दिए जाते थे। मृत व्यक्ति के लिए वस्त्राभूषण और प्रसाधन-सामग्री रख दी जाती थी। कुछ शव लकड़ी की पेटी में बन्द किये जाते थे।

अन्य आर्येतर धर्म

सिन्धु-सभ्यता के अतिरिक्त अन्य आर्येतर धर्मों का भी अभ्युदय प्राचीन भारत में रहा है। ऋग्वेद के अनुसार 'आर्येतर जातियाँ जल और अश्वत्थ वृक्ष की पूजा करती थीं। वृत्र नामक असुर इन्हीं आर्येतर लोगों का देव था। कृष्ण नामक जाति का नेता कृष्ण भी अपनी जाति के धर्म का संरक्षक था। कृष्ण का इन्द्र से युद्ध हुआ था। कृष्ण के पास १०,००० सेना थी।[१] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार असुर दान नहीं देते थे। उनमें श्रद्धा नहीं थी। वे यज्ञ नहीं करते थे। यही उनका उपनिषद् था। वे प्रेत के शरीर को सुगन्धित द्रव्यों, अलंकारों तथा बहुमूल्य वस्त्रों से सजाते थे। उनका विश्वास था कि इस विधि से वे लोक-परलोक में विजयी होंगे।[२] महाभारत के अनुसार राक्षसों का अपना धर्म स्वतन्त्र रूप से था।[३] इस ग्रन्थ में देव, असुर और ब्राह्मणों के अलग-अलग धर्म होने का उल्लेख है।[४]

१. राधाकृष्णन्; इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ८७
२. छान्दोग्य० ८.८.५
३. राक्षस-धर्म का परिचय वाल्मीकि-रामायण से भी मिलता है।
४. महा० सभापर्व ६८.७२

आर्येतर धर्म में पूजा प्रधान थी। पूजा के लिए पशुओं की बलि देने का प्रचलन था। साथ ही पुष्प समर्पित किये जाते थे। शक्ति की पूजा का आर्येतर समुदाय में विशेष महत्त्व था। शक्ति का आह्वान करके भक्त उसे देवी-रूप में किसी प्रतीक—मूर्ति, घर, वृक्ष, चित्र आदि में प्रतिष्ठित करता था। भक्त की भावना के अनुसार शक्ति प्रतीक में आ विराजती थी। बस, प्रतीक का आदरणीय अतिथि का सा स्वागत आरम्भ होता था। प्रतीक को स्नान कराया जाता था। पत्र, पुष्प, अक्षत आदि उस पर छिड़के जाते थे और उसके लिए सुस्वादु भोजन का भोग लगाया जाता था। अन्त में उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत करके रक्त-चंदन से चर्चित किया जाता था अथवा सिन्दूर का लेप किया जाता था। इस सत्कार के पश्चात् भक्त प्रार्थना और ध्यान में तल्लीन हो जाता था। द्राविड़ों में शक्ति के अतिरिक्त हनुमान् की पूजा का प्रचलन था। कादम्बरी में बाण ने आर्येतर जातियों की धार्मिक क्रियाओं के अन्तर्गत पशुओं के उपहार और रुधिर से देवताओं की बलि-पूजा का उल्लेख किया है। कुछ जातियों में नर-बलि तक देने का प्रचलन था।[1]

पौराणिक युग में यक्ष, राक्षस, भूत-पिशाच, सर्प, वैताल आदि की पूजा का प्रचलन आर्येतर वर्ग में था। वैष्णव भक्तों के लिए इनकी पूजा निषिद्ध थी।[2] विष्णु-पुराण में इन्द्र के लिए यज्ञों के समकक्ष गोप जाति में गिरि-यज्ञ और गो-यज्ञ के प्रचलन का उल्लेख है। गोप जाति के ये यज्ञ वैदिक यज्ञों के समान नहीं थे। इन यज्ञों में सर्वप्रथम गोवर्धन-गिरि की पूजा होती थी। फिर हवन के पश्चात् ब्राह्मण-भोजन होता था। इसके पश्चात् शरद् ऋतु के पुष्पों से सजे हुए मस्तक वाली गौओं से गोवर्धन की प्रदक्षिणा कराई जाती थी। इन यज्ञों में दधि, पायस, मांस आदि से पर्वत को बलि दी जाती थी। यह यज्ञ सार्वजनिक महोत्सव के रूप में होता था, जिसमें वृन्दावन के सभी गोप भाग लेते थे।[3]

आर्येतर धर्मों की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उससे आदिकालीन वैदिक धर्म की समानता प्रायः नहीं दिखाई पड़ती है। वैदिक धर्म यज्ञ-प्रधान है। यज्ञ के अवसर पर मन्त्रों के द्वारा देवताओं का आह्वान करके उन्हें भोजन, पेय आदि सामग्री समर्पित की जाती थी। इस अवसर पर उनकी स्तुति वैदिक मन्त्रों से की जाती थी। वैदिक युग में आर्य-धर्म में पुष्प आदि से देव-पूजा का विधान नहीं था।

कालान्तर में शनैः-शनैः यज्ञों की महिमा घटी। यज्ञ का स्थान मन्दिरों की देव-पूजा, भक्ति, तीर्थ-यात्रा, तप, इष्टापूर्त और व्रतोपवास आदि ने ले लिया।

---

१. धोनसाख जातक ३५३

२. पद्मपुराण उत्तर खण्ड २८०वाँ अध्याय

३. विष्णुपुराण ५. १०.३८–४६

यही धर्म की पौराणिक परम्परा है। नित्य नये-नये देवताओं की कल्पना भी होती रही और पुराने देवताओं में से कुछ का महत्त्व बढ़ा और कुछ का महत्त्व घटा। वेदकालीन धर्म में इन्द्र, वरुण, सविता, अग्नि आदि का स्थान प्रायः सर्वोच्च था, पर पुराणों में शिव, विष्णु गणेश, सूर्य आदि के समक्ष वे हीन प्रतीत होते हैं। अवतारवाद की स्पष्ट कल्पना पौराणिक धर्म की अभिनव योजना प्रतीत होती है। यही पौराणिक धर्म भारत में शाश्वत प्रतिष्ठा पा सका।

संस्कृति के आरम्भिक युग में धार्मिक भावनाओं का उदय जिस रूप में हुआ होगा, उसकी कल्पना-मात्र हो सकती है। प्रकृति की शक्तिशालिनी प्रवृत्तियों को देख कर मानव के मन में उसकी महिमा के प्रति श्रद्धा जागरित हुई। प्रकृति के प्रति मानव ने नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा और समादर-भावना को प्रकट करने के निमित्त अपनी प्रियतम वस्तुओं से उसकी अर्चना की होगी। विविध प्रदेशों और युगों में उपर्युक्त अर्चना के विविध रूप रहे होंगे। इन्हीं रूपों के चिरकालीन विकास का प्रथम रूप सिन्धु-सभ्यता और वैदिक सभ्यता के धर्मों मे दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक धर्म

वैदिक धर्म का सुविकसित स्वरूप सर्वप्रथम वैदिक संहिता ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से इस धर्म के मूल स्वरूप की भी कुछ-कुछ कल्पना की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ से ही वैदिक धर्म में प्रकृति की दिव्य सत्ताओं की प्रतिष्ठा रही है। इन सत्ताओं के दो रूप हैं—व्यावहारिक और आध्यात्मिक। इनमें से व्यावहारिक रूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, परन्तु आध्यात्मिक रूप का आभास-मात्र मिलता है। आध्यात्मिक रूप के लिए श्रद्धा की आवश्यकता होती है। कभी-कभी व्यंजना के द्वारा भी आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान होता है।[1] सूर्य अपने लौकिक या व्यावहारिक स्वरूप द्वारा जगत् को प्रकाश देता है और अपने आध्यात्मिक स्वरूप के द्वारा मानवों की बुद्धि को प्रस्फुरित करता है। यही सूर्य की दिव्यता है।[2] दिव्य सत्ताओं की संख्या भारतीय धर्म में शनैः-शनैः बढ़ती गई

१. सूर्य का आध्यात्मिक स्वरूप मानव के आध्यात्मिक स्वरूप के समकक्ष माना जा सकता है। मानव का भौतिक स्वरूप उसके आध्यात्मिक स्वरूप से जिस मात्रा में भिन्न कल्पनीय है, उसी प्रकार सूर्य का भौतिक रूप उसके आध्यात्मिक रूप से भिन्न है।

२. सूर्य की उपासना मानव के लिए स्वाभाविक है। ग्रीक धर्म में सूर्य की पूजा का अतिशय महत्त्व है। प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में सूर्य की पूजा की व्यवस्था दी है। उसकी दृष्टि में सूर्य सत् का प्रतीक है। फारस में भी सूर्य की पूजा रही है। राधाकृष्णन्; इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ८०।

है। समाज के सभी वर्गों के लोगों ने अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुकूल विशिष्ट गुणों से सम्पन्न देवताओं की प्रतिष्ठा कर ली।[1]

देवताओं के व्यक्तित्व के आदर्श की प्रतिष्ठा ऋषियों ने मानवों के चारित्रिक विकास के उद्देश्य से की है। देवताओं ने जिस विधि से जो कुछ किया है, वैसे ही मानवों को भी करना चाहिए। इस प्रकार धर्म के संस्थान में इन देवताओं के व्यक्तित्व की कल्पना का विशेष महत्त्व है। भारतीय धर्म की तात्त्विक प्रवृत्तियों तक पहुँचने के लिए देवताओं के व्यक्तित्व को समझ लेना अपेक्षित है।

देव-प्रतिष्ठा

मानवीय कल्पना के अनुसार देवता मानवों से अधिक सशक्त हैं। वे प्रकृति की शक्तियों का नियन्त्रण करते हैं। देवताओं का सभी प्राणियों पर एकच्छत्र अधिकार है। देवताओं के विधान के प्रतिकूल कोई नहीं चल सकता। साधारणतः देवता लोकोपकारी हैं। वे सत्यपरायण हैं और किसी को धोखा नहीं देते। देवता सच्चरित्र व्यक्तियों के मित्र हैं। वे उनकी रक्षा करते हैं और पापियों को दण्ड देते हैं।

वेदकालीन धारणा के अनुसार आर्यों की देवताओं से अतिशय समीपता थी। आर्यों का विश्वास था कि देवताओं की सहायता से हमें शत्रुओं पर विजय मिलेगी, धन प्राप्त हो सकेगा तथा हमारे दुःखों और पापों का निवारण होगा। उदाहरण के लिए अग्नि की स्तुति लीजिए—हे अग्नि, जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए आसन्नवर्ती होता है, वैसे ही आप हमारे लिए हों। हमारे कल्याण के लिए आयोजन करें।[2] अग्नि हमारे पिता हैं, स्वजातीय हैं, भाई हैं और मित्र हैं।[3] देवताओं की सहायता प्राप्त करने के लिए सबसे सरल उपाय था उनकी स्तुति करना।

आर्यों का अपने शत्रुओं से प्रायः संघर्ष रहता था। इस संघर्ष में आर्यों को देवताओं की सहायता का पूरा भरोसा था। ऐसे देवताओं में इन्द्र का नाम सर्वोपरि है। इन्द्र के सम्बन्ध में वैदिक धारणा थी कि उनके विना विजय

१. वैदिक ऋषियों को जो कुछ उपयोगी प्रतीत हुआ, उसके प्रति लोगों के 'देव' भाव जागरित हो जाते थे। ऋग्वेद १. २३. १८–१९ में जल के सोते की स्तुति करने का आदेश किया गया है। जहाँ गायें पानी पीती हैं, उस सोते के लिए हवि समर्पित करने का विधान बनाया गया। कवि ने उपर्युक्त बातें कहने के पश्चात् आदेश दिया—जल में अमृत है, भेषज है। जल की प्रशस्ति के लिए उद्यत रहना चाहिए।

२. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ऋग्वेद १. १. ९

३. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव...ऋग्वेद १०.७.३

नहीं प्राप्त हो सकती। वे अचल को भी चलायमान कर देते हैं। युद्ध करने वाले सहायता पाने के लिए इन्द्र का आह्वान करते हैं। वे शत्रुओं का सामना करने में समर्थ हैं। इन्द्र मेघों को रोक रखने वाले असुरों को वज्र से मार कर जल बरसाते हैं।[1]

आर्यों का विश्वास था कि देवता पापियों को दण्ड देते हैं। उनके दण्ड से बचने के लिए कभी-कभी स्तुतियाँ पर्याप्त मानी जाती थीं। वरुण से ऋषि ने कहा है--हमारे पितरों को पाप से मुक्त कीजिए, हमें पाप से बचाइए।[2] वरुण सभी देवताओं के पोषक हैं और ऋत के प्रवर्तक हैं। वे मूर्तिमान् सत् हैं।

आर्यों की धारणा थी कि इस जीवन के पश्चात् विष्णुलोक में रहना सर्वोत्तम है। उस लोक में देवताओं के उपासक प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं। विष्णु-लोक में मधु का स्रोत है।[3] विपत्ति में पड़े मानवों की रक्षा के लिए विष्णु ने स्वयं तीन बार पृथ्वी की परिक्रमा की है। वे आह्वान करने वालों के आमन्त्रण पर आ उपस्थित होते हैं।[4]

लोकोपकारी देवताओं में अश्विद्वय की गणना सर्वप्रथम होती है। वैदिक धारणा के अनुसार मानवलोक या देव-लोक में जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ती थी, अश्विद्वय उपस्थित होकर सहायता करते थे। लोगों को विपत्तियों से बचाने में और चिकित्सा करने में अश्विद्वय विशेष रूप से निष्णात थे। किसी ऋषि ने अश्विद्वय के इन्हीं गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा है--पवित्र मानवों की सहायता के लिए अपने रथ पर धन रख कर उपस्थित हो जाइए। हमारे आलस्य और रोगों को दूर कर दीजिए। हे मधु के रसिक, आप लोग दिन-रात हमारी रक्षा करते रहें।[5]

उपर्युक्त धारणाएँ लोगों को देवताओं के प्रति प्रवृत्त करने में समर्थ थीं। ऋग्वेद में जिन देवताओं की कल्पना हो चुकी थी, उनमें से प्रमुख नीचे लिखे हैं—

---

१. यस्मान्नृते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव योऽच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः॥ ऋग्वेद २.१२.९

२. अवद्रुग्धानि पित्र्या सृजानः
व या वयं चकृमा तनूभिः॥ऋग्वेद ७.८६.५

३. ऋग्वेद १.१५४.५

४. ऋग्वेद १.१५५.६

५. ऋग्वेद ७.७१.३

आकाश के देवता--द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, विष्णु, पूषा, अश्विद्वय, उषा, चन्द्र, रात्रि ।

वायु के देवता--इन्द्र, अपां नपात्, वायु, पर्जन्य, आपः, रुद्र, मरुत् ।

पृथ्वी के देवता--अग्नि, सोम, नदी (सरस्वती, सिन्धु, विपाश्, शतुद्री) पृथ्वी, समुद्र ।

लघु देवता—ऋभु, गन्धर्व, अप्सरा, वन, वृक्ष और पौधों के अधिष्ठाता देव, गोचर और पर्वतों के अधिष्ठाता देव, वास्तोष्पति, क्षेत्रपति, सीता, नक्षत्र, यज्ञ के उपकरण, युद्ध के अस्त्र-शस्त्र और पशु । इनके अतिरिक्त कर्तृ देव हैं, जिनमें से धाता विधाता, त्राता, नेता, त्वष्टा आदि है ।

यज्ञ

यज्ञ का स्वरूप दो प्रकार का था--नित्य और नैमित्तिक । नित्य यज्ञ पंच महायज्ञो के रूप मे थे, जिनका विवरण गृहस्थाश्रम के प्रकरण में दिया जा चुका है। यजमान अपने पुरोहितों की सहायता से विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कराने के लिए नैमित्तिक यज्ञ करवाते थे । ऐसे उद्देश्य असंख्य हो सकते थे जिनकी परिधि के भीतर इहलौकिक और पारलौकिक प्रायः सभी प्रकार की सिद्धियाँ आ सकती थीं ।[1] इस प्रकार इन यज्ञों से लौकिक और अलौकिक ऐसे लाभों की सम्भावना थी, जिनमें से केवल कुछ ही आजकल वैज्ञानिक साधनों से प्राप्य हो सकते हैं । इन यज्ञों की लोकप्रियता का यही प्रधान कारण रहा है । हवन से शतवार्षिक जीवन की सम्भावना मानी जाती थी ।[2]

वैदिक काल में सोम-यज्ञ का विशेष प्रचलन था । इसमे सोम-लता को पीसने, रस निचोड़ने तथा भेड़ के ऊन से उसे छानने और उसमें दूध तथा मधु आदि मिलाने की सारी प्रक्रिया वैदिक मन्त्रों के गायन के साथ सम्पन्न होती थी । सोम रस के प्रस्तुत हो जाने पर स्तुतियों के द्वारा विभिन्न देवताओं का आवाहन होता था । प्रत्येक

---

१. शतपथ ब्राह्मण २. ६. ४. ८ के अनुसार वैश्वदेव यज्ञ से यजमान अग्नि लोक प्राप्त करता है और साकमेध और वरुण-प्रघास से इन्द्रलोक और वरुणलोक मिलते हैं । आयुष्कामेष्टि दीर्घायु के लिए, स्वस्त्ययनी यात्रा-सुख के लिए, पुत्रकामेष्टि पुत्र पाने के लिए, लोकेष्टि लोककल्याण के लिए, महावैराजी बड़े राज्य के लिए, मित्रविन्दा अधिकाधिक मित्र पाने के लिए, सज्ञानी शत्रुओं को मित्र बनाने के लिए और वारीरिष्टि जल बरसाने के लिए यज्ञ नियत थे । सभी संस्कार, आश्रम-परिवर्तन, राज्याभिषेक, दिग्विजय आदि के साथ यज्ञ अनुबद्ध थे । पशुबन्ध यज्ञ के द्वारा विभिन्न पशुओं को बलि देकर विविध कामनाओं की पूर्ति की योजना बनाई जाती थी । इन पशुओं को काम्य पशु कहा जाता था ।

२. ऋग्वेद ६.२.५

देवता के लिए अलग-अलग पात्र में पेय रखा जाता था। देवताओं के लिए रस समर्पित कर लेने के पश्चात् उसे पी जाने की रीति थी। यह यज्ञ प्रातःकाल प्रधानतः अश्विद्वय के लिए तथा मध्याह्न में इन्द्र के लिए सम्पन्न किया जाता था। रात्रि के समय भी सोम-यज्ञ सम्पन्न होते थ।

सद्गति

सद्गति के लिए सत्कर्म आवश्यक माना गया था। भृगु की भावी जीवन की दुर्गति उनके अपकर्मो के कारण हुई।[1] भोजन पवित्र होना चाहिए। मांस भोजन से दुर्गति की सम्भावना थी।[2] इस लोक के कर्मो का फल परलोक में पाने का विश्वास था।[3] ज्ञान के द्वारा उच्चतम गति सम्भाव्य थी, यथा ब्रह्मज्ञता से ब्रह्मलीनता।[4]

उपनिषद्-धर्म

उपनिषदों के अनुसार यज्ञ और पुण्य कार्यो के फल पा लेने पर स्वर्ग से मानव इसी लोक में या इससे नीचे जा गिरते हैं।[5] अव्ययात्मा और अमृत पुरुष (ब्रह्म) लोक में जाने के लिए मार्ग हैं:--

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षाचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः सह्यपुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

(तप और श्रद्धा के साथ जो लोग अरण्य में रहते हैं, शान्त और विद्वान् हैं तथा भिक्षाचर्या के द्वारा जीविका उपार्जन करते हैं, वे सूर्यद्वार से अव्ययात्मा या अमृत पुरुष के लोक को प्राप्त कर लेते हैं।)[6]

कर्मकाण्ड के द्वारा जिन लोकों की प्राप्ति सम्भव है, उन्हें उपनिषद् तुच्छ वतलाकर ब्रह्मनिष्ठ-गुरु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की सीख देता है। यही उपनिषद् का विशेप धर्म है। यही अभिनंव क्रम वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति के सरल सोपान रूप में अपनाया गया। इसमें ज्ञान के द्वारा विशुद्ध सत्त्व तथा ध्यान की महत्ता ब्रह्मप्राप्ति के लिए विशेप रूप से है। उपनिषदों में सुप्रतिष्ठित इसी आश्रम-योजना को परवर्ती युग में वर्णाश्रम-धर्म के नाम से सूत्र, स्मृति और पुराण-साहित्य में अङ्गीकृत देखा जा सकता है।

आध्यात्मिक अभ्युत्थान

उपनिषदों में आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए उपासना की योजना प्रस्तुत की गई है। जिस किसी की उपासना मनुष्य करता है, वह वही वन जाता है। महः की उपासना से महान्, मनः की उपासना से मानवान् तथा नमः की

---

१. शतपथ ब्रा० ११.६.१ २. शतपथ ब्रा० १२.९ १.
३. तैतिरीय ब्राह्मण ३.११.८.१
४. शतपथ ब्रा० ११.५.६.९ तथा ३.१०.६.११
५. मुण्डक उप० १.२.८-१० ६. मुण्डक उप० १.२.११

उपासना से कामनाओं का विजेता बन जाता है। सबसे बढ़कर है ब्रह्म की उपासना, जिससे उपासक ब्रह्मवान् बन जाता है।[1] मनुष्य को एकमात्र ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। ब्रह्मभाव का स्वरूप है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं स्वयं ब्रह्म हूँ। ब्रह्म की इस रूप में उपासना करने से उपासक स्वयं ब्रह्म बन जाता है। जो अन्य देवताओं की उपासना करता है और समझता है कि मैं उपास्य देव से भिन्न हूँ, वह अज्ञानी है और देवताओं का पशु बनकर उनके लिए उपभोग की सामग्री बनता है। अपने लिए वह कुछ भी नहीं करता।[2]

उपनिषदों में वैदिक यज्ञों के नवीन स्वरूप की कल्पना मिलती है। जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक अभ्युदय है। इस दृष्टि से सभी यज्ञ भी आत्मज्ञान के लिए होने चाहिए। जीवन भी यज्ञ है। पुरुष स्वयं ही यज्ञ है। उसके प्रथम २४ वर्ष प्रातः सवन हैं, २४ से ४४ वर्ष तक माध्यन्दिन सवन है और ४४ से ८४ वर्ष तक तृतीय सवन है।[3]

उपनिषद् के अनसार पाप से बचने के लिए मानव को आत्मा का दर्शन करना है। आत्मदर्शी के लिए पाप की शंका नहीं रह जाती।[4] ब्रह्मवित्, पुण्यकृत् और तैजस् प्रकृति के लोग ब्रह्मपथ पर जाते हुए ब्रह्मलोक पहुँचते हैं।[5] ब्रह्म को न जानने से महती विपत्तियों का अनुभव करना पड़ता है। विद्वान् ब्रह्म को जान कर अमर बन जाते हैं। ब्रह्म को जानने मात्र से सभी दुःख दूर हो जाते हैं।[6]

मानव अपने अभ्युत्थान के लिए क्या करे ? इस समस्या का समुचित समाधान छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है--विज्ञान, मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति और सुख को जान कर भूमा की कल्पना हो सकती है। भूमा ही

१. तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०.३-४

२. बृहदारण्यक १.४.१०

३. छान्दोग्य० ३.१६। यज्ञात्मा पुरुष के जीवन के समस्त पक्ष किसी न किसी प्रकार यज्ञ के अनुरूप पड़ते हैं, जैसे उसके तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्य-वचन आदि उसकी याज्ञिक दक्षिणाएँ हैं। छान्दोग्य० ३.१७। इस प्रकार परवर्ती या विरोधी धर्मों में भी यज्ञ का नाम चलता रहा, पर यज्ञ का रूप कुछ नया ही रहा। बौद्ध धर्म कुछ यज्ञ हैं—त्रिशरण-यज्ञ, शिक्षा-पद-यज्ञ, समाधि-यज्ञ, प्रज्ञा-यज्ञ। दीर्घनिकाय में कुटदन्त सुत्त से।

४. बृहदारण्यक ४.४.२३

५. बृहदारण्यक ४.३. ९

६. बृहदारण्यक ४.३.१४

सुख है। भूमा से बाहर कुछ भी नहीं है। भूमा अनल्प है। सब कुछ और सर्वत्र भूमा ही है। भूमा आत्मा ही है। वह सर्वव्यापक है। आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा को जान कर मानव मृत्यु, रोग, दुःख आदि के चक्कर में नहीं पड़ता।[1] आत्मा को जाने बिना कल्याण नहीं है। कर्म (काण्ड) और पुण्य के द्वारा प्राप्त लोकों का क्षय हो जाता है। जो पुरुष आत्मा को जाने बिना ही मरते हैं, उनका भी क्षय होता है। उनकी सभी कामनाएँ सभी लोकों में व्यर्थ होती हैं।[2]

ज्ञान के द्वारा ज्ञानी से कुछ विशेषताओं का अभ्युदय होना उपनिषद् धर्म की नवीनता मानी जा सकती है। तेजस्वी, अन्नाद, श्रीमान्, यशस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी कीर्तिमान्, ओजस्वी, सुन्दर, प्रख्यात आदि होने के लिए प्राण, व्यान, समान आदि वायुओं का दार्शनिक स्वरूप जानना मात्र पर्याप्त है।[3] यह योजना मानव की उदात्त प्रवृत्तियों को सत्प्रेरणा प्रदान करने के लिए सफल माध्यम है।

उपनिषद् में आत्मा या परमात्मा का मानव के अभ्युत्थान की दिशा में अतिशय महत्त्व दिखलाया गया है। इसके अनुसार जिस व्यक्ति को परमात्मा ऊँचा उठाना चाहता है, उससे अच्छे काम कराता है और जिन्हें नीचे गिराना चाहता है, उससे बुरे काम कराता है। वही आत्मा लोकपाल, लोकाधिपति और लोकेश है।[4] यही धारणा भक्तिमार्ग के लिए आवश्यक रही है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार हृदय स्वर्ग है। हृदय में ही सब कुछ प्राप्य है। यही सभी सत्य कामनाओं का आश्रय है। जिस प्रकार सोने की खानि को न पहचानने वाले उसके ऊपर से ही बारंबार जाते हुए उसे नहीं परख सकते और उसका लाभ ऐसी परिस्थिति में नहीं उठा पाते, उसी प्रकार सभी लोग प्रतिदिन इस हृदयगत ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हुए भी नहीं जान पाते, क्योंकि वह रहस्य है।[5]

---

१. छान्दोग्य उप० ७. १७–२६

२. छान्दोग्य उप० ८.१.६.

३. छान्दोग्य उप० ३.१३। इसी प्रकार रोगों से मुक्त होने के लिए अथवा दीर्घायु होने के लिए वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं की प्रार्थना-मात्र पर्याप्त है। छौन्दोग्य० ३. १६। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है—वैश्वानर आत्मा को दिव, आदित्य, वायु, आकाश, पृथ्वी आदि रूपों में जानने से अनेक प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। ५.१२–१७

४. कौषीतकि उप० ३.८

५. छान्दोग्य उप० ८.३

उपनिषद्कालीन युवकों में से कुछ ने समझ लिया था कि धन से मानव की तृप्ति नहीं हो सकती अथवा धन से अमरता नहीं प्राप्त हो सकती ।[1] इस युग की सर्वोच्च शिक्षा थी—श्रेय और प्रेय । इन दोनों में से धीर श्रेय को चुन लेते हैं और मन्द पुरुष योग और क्षेम को पाने के लिए प्रेय को चुनते हैं ।[2] तत्कालीन धार्मिक पुरुषों की कामनाएँ इस प्रकार थीं—समाज में मुझे यश मिले, मैं धनी लोगों में श्रेयस्कर बनूँ । मैं ब्रह्ममय बनूँ । हे धाता, मुझे चमका दो । मुझे अपने ही समान बना दो ।[3] स्वाध्याय और प्रवचन के साथ ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्निहोत्र, अतिथि-पूजा तथा समाज और कुटुम्ब के कल्याण की भावना के द्वारा मानव के व्यक्तित्व को सुसंस्कृत माना जाता था ।[4]

पाप-निवृत्ति

उपनिषद् में पाप की परिभाषा निश्चित की गई है । इसके अनुसार अपनी इन्द्रियों को अनुचित विषयों की ओर प्रवृत्त करना पाप है । अपनी इन्द्रियों का उन्हीं विषयों के सम्पर्क में आना उचित है, जो अप्रतिम (आयोग्य) न हों, अन्यथा पाप होता है । पाप की कोटि में असत्संकल्प भी आते हैं ।[5]

पापों के पाश से छुटकारा पाने के लिए आदित्य की उपासना करने की रीति थी । उदय होते हुए, मध्याह्न के समय तथा अस्त होते हुए आदित्य से प्रार्थना की जाती थी कि आप पाप को दूर करने वाले हैं । मेरे पाप को दूर करें ।

महाभारतीय धर्म

अभिनव प्रवृत्तियाँ

उपनिषदों के अनुरूप महाभारत में यज्ञों के द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति सुलभ बताई गई है, पर यज्ञ से अधिक महत्त्व तप और दान को दिया गया है ।[6] महाभारत में वैदिक यज्ञों की प्रतिष्ठा-मात्र है । इन्हीं के साथ मन, वाणी और कर्मों के द्वारा यज्ञ करने की रीति का प्रचलन हुआ । धार्मिक विधानों के द्वारा सामाजिक अभ्युत्थान

---

१. कठोपनिषद् १.२७-२९

२. कठोपनिषद् २.२:४.२

३. तैत्तिरीय उप० शिक्षावल्ली ४.३

४. तैत्तिरीय उप० शिक्षावल्ली ९.१

५. बृहदारण्यक १.३.२-६

६. महा० आश्वमेधिक पर्व ९१.३२ । इसके अतिरिक्त अवैदिक सत्ताओं की पूजा का प्रचलन बढ़ा । उदाहरण के लिए :—

यथार्चयन्ति चादित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः ।

तथा संवरणं पार्थं ब्राह्मणावरजाः प्रजाः ॥ आदि १६०·१८

पौराणिक युग की गोवर्धन पूजा में यही प्रवृत्ति विकसित हुई ।

की अपूर्व योजना महाभारत में मिलती है।[1] शान्तिपर्व में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि धर्म वही है, जिसके द्वारा प्रजा धारण की जाती है।[2]

महाभारत के अनुसार वेदों को जानना मात्र विशेष उपयोगी नहीं है। वेदों में ऐसी शक्ति नहीं कि वे मायावी और पापी का उद्धार कर सकें। पाप को पुण्य से ही दूर किया जा सकता है। पुण्य का मार्ग है तप और यज्ञ। तप निष्काम होना चाहिए। ऐसा तप महाभारतीय युग में वैदिक यज्ञों के सम्पादन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। वैदिक काल में देवताओं से जो कुछ सिद्धियाँ यज्ञ के माध्यम से हो सकती थीं, उनके लिए महाभारतीय युग मे तप को पर्याप्त साधन माना गया।[3] तप के द्वारा देवताओं से अस्त्र-शस्त्र की प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी। अर्जुन तपोबल से सदेह स्वर्ग जा सका था।

महाभारत में यज्ञों के समान ही महत्त्व तीर्थ-यात्रा के लिए निर्धारित किया गया है। महाभारत के अनुसार दरिद्र यज्ञों को करने में असमर्थ थे, क्योंकि यज्ञों के लिए अत्यधिक सामग्री लगती थी और नाना प्रकार के अन्य साधनों की आवश्यकता होती थी। यज्ञों का विधिपूर्वक सम्पादन राजा या समृद्धिशाली लोगों के लिए सम्भव था। इसके विपरीत तीर्थयात्रा दरिद्रों के लिए सुकर थी। महाभारत में तीर्थयात्रा का पुण्यात्मक महत्त्व यज्ञों से बढ़कर सिद्ध किया गया है। तीर्थयात्रा में एक और विशेषता थी। सभी वर्णों के लोग--शूद्र भी तीर्थयात्रा से लाभ उठा सकते थे, पर यज्ञ का द्वार केवल द्विजातियों के लिए खुला था।

महाभारतीय युग में यज्ञ का स्वरूप भी बदला। महाभारत के अनुसार :—

आरम्भ-यज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजोत्तमाः॥ शान्तिप० २३७.१२

कुछ तत्कालीन चिन्तकों का स्पष्ट मत है कि यज्ञ में पशुओं को मारना सनातन धर्म नहीं है। हिंसा धर्म नहीं है। बीज से यज्ञ करना चाहिए। अगस्त्य ने १२ वर्ष का बीज-यज्ञ सम्पादित किया था। उस समय बीज यज्ञ के अतिरिक्त चिन्ता-यज्ञ, स्पर्श-यज्ञ और ध्यान-यज्ञ की विधियाँ भी प्रचलित थीं। इन यज्ञों को पशु-यज्ञ से उच्चतर स्थान प्राप्त हुआ।[4] यथा

---

१. महाभारत के अनुसार वैश्य की जीविका के लिए धन देने वाला अथवा उसे अपने यहाँ ठहरा लेने वाला मानो सभी यज्ञों को सम्पादित कर देता है। वन-पर्व १९९.१२१-१२२

२. धर्मेण विधृताः प्रजाः॥ शान्ति० १०९.११

३. महाभारत उद्योग-पर्व ४३वाँ अध्याय

४. महा० आश्वमेधिक पर्व ९१ और ९२वाँ अध्याय। दीघनिकाय के कुटदन्त सुत्त १.५ के अनुसार केवल घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, खांड आदि से यज्ञ समाप्त हो सकते थे। उनमें पशु-हिंसा नहीं होती थी।

महाभारत की कुछ योजनायें सर्वसाधारण के बीच अतिशय लोकप्रिय हो सकती थीं और उनके द्वारा राष्ट्र-निर्माताओं ने सामाजिक सौष्ठव को अप्रतिम प्रतिष्ठा की। ऐसी योजनाओं में वाक्शौच, कर्मशौच और जलात्मक शौच के अतिरिक्त भाव की निर्मलता का जो महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ, वह भारतीय धर्म की अनुपम विशेषता है। मनुष्य का भाव निर्मल होना चाहिए, अन्यथा दण्ड-धारण, मौन, जटा-भार, मुण्डन, अग्निहोत्र आदि सभी व्यर्थ हैं। मन, वचन, कर्म और बुद्धि से पाप न करना ही तप है, शरीर का सुखाना तप नहीं है।[१] सामाजिक सौष्ठव के साथ ही कौटुम्बिक संश्लिष्टता के लिए भी समुचित धार्मिक नियमों का विधान महाभारत में मिलता है।

महाभारतीय धर्म में देवों के अतिरिक्त आर्येतर जातियों के उपास्य वर्गों की पूजा करने का विधान सर्वसाधारण के लिए बनाया गया। राक्षसी की पूजा कुछ कुलों में होती थी।[२] देवतायतन की पूजा होती थी।[३] पर्वत की पूजा पर्वतों से उपकृत लोग करते थे।[४] सभी जीवों के प्रति दया उदात्त व्यक्तित्व का लक्षण माना गया।[५] ऐसे विधान से आर्य और आर्येतर वर्गों का परस्पर मेल-जोल बढ़ने का उद्देश्य पूरा हुआ होगा।

तीर्थ

भारतीय धर्म में तीर्थों की प्रतिष्ठा का प्रथम कारण वह भावना है, जिसके अनुसार प्राचीन भारतीय नागरिक समझता था कि तीर्थों की जलवायु और प्रकृति का मानव-व्यक्तित्व के विकास पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। भारतीय धारणा के अनुसार यदि किसी तीर्थ की जलवायु और प्रकृति किसी एक व्यक्ति को तपःसाधन के सर्वोच्च सोपान पर पहुँचा सकती है तो वह साधारणतः किसी भी नागरिक के व्यक्तित्व के विकास के लिए भी हो सकती है। यह मत तो संस्कृति और प्रकृति के सम्बन्ध से समीचीन प्रतीत होता है। तीर्थों में प्रायः यज्ञ होते थे। इनमें विद्या और तप से समन्वित वेदपारग ब्राह्मण महात्माओं की पुण्य कथाओं का वाचन करते थे। इस वातावरण में तीर्थ-यात्रियों को उच्च आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान का परिचय सरलता से हो सकता था।[६]

महाभारतीय धारणा के अनुसार तीर्थ-यात्रा का फल उन्हीं को प्राप्त होता है, जिनके हाथ-पैर और मन सुसंयत हैं, जो विद्यावान्, तपस्वी और कीर्तिमान् हैं, दान नहीं लेते, अहंकार रहित हैं, थोड़ा खाते हैं, जितेन्द्रिय हैं, सभी पापों से विमुक्त हैं, क्रोध नहीं करते, सत्यपरायण हैं और सभी प्राणियों को अपने समान समझते हैं।[७]

---

१. महा० वनपर्व १६१.६४-६७ २. सभापर्व १७.१
३. आदिपर्व ६४.४० ४. आदिपर्व २१२.६ ५. आदिपर्व ६४.१६
६. महा० वनपर्व ६५.१६ ७. महा० वनपर्व ८२.६-१२

तीर्थ-सम्बन्धी मान्यताओं का बहुत कुछ परिचय पुष्कर के नीचे लिखे वर्णन से होता है :—

सन्ध्याकाल में असख्य तीर्थों का समावेश पुष्कर में रहता है। सभी देवता वहीं वर्तमान रहते हैं। यहीं देव, दैत्य, ब्रह्मर्षि और दिव्य योगियों ने तप करते हुए महापुण्य प्राप्त किया है। पुष्कर मे ब्रह्मा का नित्य वास है। इस तीर्थ मे न जाने वाले यदि मन मे इसका ध्यान कर लेंगे तो उनके सारे पाप धुल जायेंगे। इस तीर्थ मे जो पुरुष पितर और देवों की अर्चना करते हुए स्नान करता है, वह अश्वमेध मे भी दस गुना अधिक पुण्य पाता है। पुष्कर मे एक ब्राह्मण को भी भोजन करा देने पर इस लोक और परलोक मे प्रमोद प्राप्त होता है। जो पुरुष कार्तिक पूर्णिमा के दिन पुष्कर मे स्नान करता है, वह अक्षय ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

सामाजिक संश्लिष्टता

सामाजिक सौष्ठव के लिए महाभारत मे इष्टापूर्त के अतिरिक्त अन्नदान और जलदान का अतिशय महत्त्व बतलाया गया है।[1] समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का यथाविधि पालन करे। कर्तव्य-पथ पर चलने वालों में राजा का स्थान सर्वोपरि मान कर धार्मिक विधान प्रस्तुत किया गया कि यदि राजा प्रजा का पालन नही करता तो प्रजा उसको राजा न रहने दे।[2] 'यथा राजा तथा प्रजा.' के सिद्धान्त के अनुसार राजा के कर्तव्यपरायण होने पर सारी प्रजा के कर्मनिष्ठ होने की सम्भावना थी। महाभारतीय योजना के अनुसार किसी भी व्यक्ति के लिए करणीय कर्म उसके पूर्व जन्म के अनुसार निर्णीत है। ऐसी परिस्थिति मे अपने कर्मों को छोड़ना उचित नही, चाहे प्रत्यक्ष रूप से वह कर्म घृणित ही क्यों न प्रतीत होता हो।[3]

महाभारतीय धर्म के अनुसार मानव की उदात्त प्रवृत्तियों को जागरित करने का विधान प्राकृतिक है। उस पुरुष के देश में वर्षाकाल मे वर्षा नहीं होती और समय पर बोया हुआ बीज नही उगता, जो भीत और शरण में आये हुए मनुष्य को शत्रु के लिए सौंप देता है।[4] जो व्यक्ति रक्षा चाहने वाले की रक्षा नहीं करता, उसकी सन्तान

---

१. महा० अनुशासन पर्व ६५.३-४.६

२. महा० अनुशासन० ६१.३२-३३

३. महा० वनपर्व २०८.६-२४

४. मृच्छकटिक मे कहा गया है—

अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम्।

उत्पन्न होते ही मर जाती है, उसके पितरों को पितृ लोक में स्थान नहीं मिलता और वह शीघ्र ही स्वर्ग से भ्रष्ट होता है।[1]

महाभारत का मत है कि अपने सत्कर्मों के कारण किसी को मान नहीं होना चाहिए। वास्तव में

तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।
नश्यन्ति मानेन तमोभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः॥ आदि ८५·२२

समाज मे अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले उन लोगों पर रोक लगाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान बना, जो गाँवों को नष्ट करते थे, आग लगाते थे, वेतन ले कर वेद पढ़ाते थे दूसरो का घर जलाते थे अथवा झूठ बोलकर पेट पालते थे।[2] महाभारत में मित्र-द्रोही और कृतघ्न के लिए अनन्त और घोर नरक का भय उपस्थित किया गया है।[3]

कौटुम्बिक संश्लिष्टता

महाभारतीय धर्म में कौटुम्बिक संश्लिष्टता के लिए समुचित विधान मिलते हैं। पत्नी के पति के प्रति आदर्श-व्यवहार की रूप-रेखा द्रौपदी और सत्यभामा के सम्भाषण में प्रस्तुत की गई है।[4] माता-पिता के साथ सद्व्यहार का निरूपण धर्मव्याध के उपाख्यान में किया गया है। माता-पिता की पूजा की महिमा भीष्म ने इस श्लोक में व्यक्त की है:—

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान्यशश्च महदश्नुते॥ शान्ति० १०८.३

अनुशासन पर्व में माता-पिता को प्रसन्न रखना सर्वोच्च धर्म मान कर कहा गया है—

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथ्वी तेन पूजिता॥ ७.२५

बड़े भाई के अविवाहित रहते हुए विवाह कर लेने वाले छोटे भाई के लिए तथा बड़ी बहिन के अविवाहित रहते हुए उसकी छोटी बहिन से विवाह करने वाले पति के लिए प्रायश्चित्त का विधान बनाना भी कौटुम्बिक संश्लिष्टता के लिए है।[5] कुटुम्ब के सदस्यों के परस्पर व्यवहार की रूप-रेखा तथा एक दूसरे के प्रति कर्तव्य का नियोजन भी महाभारत में मिलता है।[6]

---

१. महा० वनपर्व १९६.२०-२२। सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानाम् आदि ८४.२
२. महा० शान्तिपर्व ३४वाँ अध्याय
३. महा० शान्तिपर्व १७३.२१। अनुशासन पर्व के १११वें अध्याय के अन्तिम १०० श्लोकों मे कुटुम्ब और समाज की शालीनता, शान्ति और सौष्ठव को भंग करने वालों की मरणोत्तर दुर्गति का भयावह चित्र खींचा गया है।
४. महा० वनपर्व २३३-२३४वाँ अध्याय ५. महा० शान्तिपर्व ३४.४
६. महा० अनुशासनपर्व १०५

भाग्य और पौरुष

महाभारत का मत है कि किसी व्यक्ति की फल योजना के लिए पौरुष बीज है और भाग्य क्षेत्र। इस प्रकार इन दोनों का सामञ्जस्य किया गया है।

पाप-निवृत्ति

पाप और पुण्य के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन महाभारत में मिलता है। महाभारत के अनुसार कुछ पाप ऐसे भी हो सकते है, जो कुछ परिस्थितियों में पाप नहीं रह जाते, जैसे अपने या दूसरे के प्राण की रक्षा के प्रसङ्ग मे, गुरु के लिए, स्त्रियों के सम्बन्ध में और विवाह के आयोजन मे झूठ बोलना पाप नहीं है।[१] गौ के लिए वन जलाने मे कोई दोष नहीं है।[२]

यद्यपि तप, कर्म और दान से पाप से निवृत्ति होती है, पर यह निवृत्ति केवल उन्ही व्यक्तियों के लिए सम्भव होती है, जो भविष्य मे पाप नही करते।[३] दान और उपवास का विधान बना।

कुछ पापों से निवृत्त होने के लिए प्राणान्तक विधियाँ भी निर्धारित थीं, जैसे जलहीन देश में पर्वत से गिर कर, अग्नि मे प्रवेश करके अथवा महाप्रस्थान-विधि से हिमालय में गल कर प्राण देने से मनुष्य सभी पापों से छुटकारा पा जाता है। चोरी के पाप से निवृत्ति के लिए उतना ही धन लौटा देने का नियम था। पशु-पक्षियों की हत्या करने वाले अथवा वृक्ष काटने वाले की पाप से निवृत्ति तब हो सकती थी, जब वह तीन दिन तक वायु-भक्षण करे और लोगों के सामने अपना कुकर्म प्रकट करे। अज्ञानवश किये हुए पापों से मुक्ति के लिए दिन मे आकाश की ओर देखना, रात्रि में खुले मैदान मे सोना और तीन बार दिन में और तीन बार रात्रि में स्नान करना पड़ता था। महाभारतीय मरणोत्तर विधान के अनुसार मनुष्य को शुभ या अशुभ कर्मो का फल करने के पश्चात् भोगना पड़ता है। इनमे से जिसकी अधिकता होती है, उसी का फल कर्ता को मिलता है। ऐसी परिस्थिति में दान, तप और शुभ कर्मो के द्वारा पुण्य की ही वृद्धि करनी चाहिए, जिसे वह पाप को दबा कर स्वयं बढ़े।[४]

कर्तव्य-पथ से च्युत राजा भी प्रायश्चित-विधान से नियन्त्रित था। यदि राजा दण्डनीय पुरुष को दण्ड नही देता तो उसकी शुद्धि के लिए दिन-रात का उपवास अपेक्षित था।[५]

मरणोत्तर विधान

महाभारत के अनुसार सत्पात्र को प्रिय वस्तुएँ दान देकर और सच बोल कर

१. महा० शान्ति० ३४.२५ २. महा० शान्ति० ३४.३१
३. महा० शान्ति० ३५.१ ४. महा० शान्ति० ३५वाँ अध्याय
५. महा० शान्ति० ३६.१७

में रहते हुए किसी ने अवमानना कर दी तो मनु की दृष्टि में सुख से सोने का समय आ गया। 'अपमानित पुरुष सुख से सोता है, सुख से जागता है, सुखपूर्वक विचरण करता है, पर अपमान करने वाला तो नष्ट हो ही जाता है।'[1]

मनु की योजना के अनुसार प्यासे को पानी देने वाला तृप्त होता है, भूखे को भोजन देने वाला अक्षय सुख प्राप्त करता है और दीपदान करने वाले को उत्तम नेत्र मिलते हैं।[2]

कौटुम्बिक संश्लिष्टता

मनु ने आदेश दिया है कि कुटुम्ब में बड़े और छोटे किसी की अवमानना नहीं करनी चाहिए।[3] अपने कुटुम्ब के लोगों, सम्बन्धियों और दास-वर्ग से विवाद नहीं करना चाहिए। इनसे विवाद न करने वाला सभी पापों से छूट जाता है।[4] मनु ने माता-पिता और आचार्य का प्रिय और सेवा करने का विधान बना कर कहा—ये तीनों लोक हैं, अक्षय हैं, वेद हैं और अग्नि हैं। इन तीनों की सावधानी से पूजा करने पर गृहस्थ तीनों लोकों को जीत लेता है। अपने शरीर से दीप्यमान होकर वह देवताओं की भाँति सुख पाता है। माता की भक्ति से मानव-लोक, पिता की भक्ति से मध्यम लोक और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक भोगने का अवसर प्राप्त होता है। इन्हीं तीनों से सम्बद्ध परम धर्म है, शेष उपधर्म है।[5]

कुलस्त्री और कन्याओं को सर्वथा सन्तुष्ट रखने की योजना प्रस्तुत करते हुए मनु ने कहा है—कन्या को न बेचना, कन्या की पूजा करना, उसको आभूषित करना आदि धर्म की दृष्टि से अभ्युदय के कारण हैं। जहाँ स्त्रियाँ पूजित नहीं होतीं वहाँ देवता नहीं रमण करते और वहाँ सभी धार्मिक क्रियाएँ निष्फल होती हैं। जिस कुल में वधू और कन्याएँ शोक करती हैं, उसका नाश हो जाता है। स्त्रियों के प्रसन्न होने से सारा कुल प्रकाशित होता है।[6]

व्यक्तित्व के विकास के लिए सभी प्रकार के लोगों से शिक्षा ग्रहण करना मनु ने समीचीन माना है। 'शुभ विद्या नीच से भी ले लेना, चाण्डाल से भी

१. सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ मनु० २.१६३
२. मनुस्मृति ४.२२९
३. मनुस्मृति २.२२५–२२६
४. मनुस्मृति ४.१८०–१८१
५. मनुस्मृति २.२२५–२३७
६. मनुस्मृति ३.५१–६२

सर्वोत्तम धर्म की शिक्षा लेना, बालक से भी सुभाषित ग्रहण करना और शत्रु से भी सदाचार सीख लेना उचित है। विष से भी अमृत मिले तो उसे क्यों न ग्रहण किया जाय।[1]

यज्ञ-विधान

मनु ने देव-यज्ञ के अवसर पर अग्नि, सोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू (द्वितीया की अधिष्ठात्री देवी), अनुमति (शुक्लचतुर्दशी और पूर्णिमा की अधिष्ठात्री देवी) और द्यावा-पृथ्वी के लिए गृह्य अग्नि में हवन करने का उल्लेख किया है। मनु के अनुसार इन्द्र, यम, वरुण और सोम को उनके अनुयायियों सहित बलि दी जाती थी। मरुत् के लिए द्वार पर, आपस् के लिए जल में और वनस्पति से लिए मूसल और ओखल में बलि दी जाती थी। घर के उत्तर-पूर्व मे लक्ष्मी के लिए, दक्षिण-पश्चिम में भद्रकाली के लिए तथा घर के मध्य भाग मे ब्रह्मा और वास्तुपति के लिए बलि दी जाती थी। विश्वेदेवों के लिए बलि आकाश मे फेंक दी जाती थी। मनु की बलिवैश्वदेव की योजना के अन्तर्गत मानव के द्वारा सभी दृश्य और अदृश्य कोटि के चराचरों, कुत्तों, चीटियों, पतितों, पापियों और चाण्डालों तक के भरण-पोषण का ध्यान रखा गया है।[2]

नरक और स्वर्ग

मनुस्मृति में नरक की तत्कालीन कल्पना का परिचय मिलता है। मनु के अनुसार २१ नरकों का द्वार तो राजा का दान लेने वालों के लिए खुला है। इनमें से प्रमुख तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, महावीचि, सम्प्रतापन, लोहशकु, असिपत्र-वन आदि है।[3] विविध दानों के द्वारा उत्तम व्यक्तित्व की ओर मरणोत्तर काल में मनोरम लोकों की प्राप्ति की योजना प्रस्तुत की गई है।[4]

व्यावहारिक सौष्ठव

व्यावहारिक जीवन में मानव की कर्मण्य प्रवृत्तियों को प्रशस्त दिशा में संचारित करने के लिए मनु ने उपयोगी नियम बनाये है, जिनके अनुसार ब्राह्ममुहूर्त मे उठना चाहिए, सन्ध्या करनी चाहिए, अनध्याय के समय या अपवित्र स्थान में अध्ययन नही करना चाहिए, धन को दुर्लभ न मानकर आमरण उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए और यदि इस प्रयास मे कही असफलता मिले तो अपना

---

१. मनुस्मृति २.२३८-२४१

२. मनुस्मृति ३.८४-९२

३. मनुस्मृति ४.८७-९०

४. मनुस्मृति ४.२२९-२३३

तिरस्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं। मनु ने आदेश दिया है कि असमय में अपरिचित व्यक्ति के साथ न चले, पवित्र स्थानों के समीप गन्दगी न फैलाये, सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, असत्य प्रिय होने पर भी न बोले, शुष्क वैर और विवाद न करे, किसी अंगहीन, दोषी, कुरूप या बहिष्कृत व्यक्ति पर आक्षेप न करे। द्वेष, दम्भ, मान, क्रोध और क्रूरता को छोड़ दे। हाथ, पैर, नेत्र तथा वाणी को चपल न बनाये और न दूसरों की हानि करने की चेष्टा करे। अपने कुल की पद्धति पर चले, छोटे लोग तिरस्कार भी कर दें तो चुपचाप सह ले और सज्जनों के बीच अपना ठीक परिचय दे।[1]

स्वतन्त्रता से प्रेम

धार्मिक दृष्टि से मनु स्वतन्त्रता के परम पुजारी थे। उनका स्पष्ट मत है कि जो कोई काम परवश हो उसे यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए और जो काम अपने वश में हो, उसे ही करना चाहिए। सब कुछ परवश दुःख है, अपने वश में सब कुछ सुख है। यही सुख-दुःख का संक्षेप में लक्षण है। वही काम करना चाहिए, जिससे अन्त-रात्मा का परितोष हो। इससे विपरीत कामों को नहीं करना चाहिए।[2]

पौराणिक धर्म

ईसवी सनी के आरम्भिक युग से भारतीय धर्म की जो विशाल धारा दृष्टि-गोचर होती है, उसकी पृष्ठभूमि में पूर्वकालीन आर्य और आर्येतर धार्मिक मान्यताओं की सरिताओं का प्रवाह अवश्य ही रहा है। इन मान्यताओं का मङ्गलित रूप बहुत कुछ महाभारत-काल में बन चुका था। महाभारत के समय से ही भारतीय विचारकों ने धर्म की उस असीम परिधि की कल्पना की थी, जिसमें सभी दिशाओं और सभी कालों की विचार-सरणी केन्द्रित हो सकती थी।

पौराणिक धर्म की कुछ प्रवृत्तियाँ सार्वजनीन हैं, पर उसमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिन्हें साम्प्रदायिक विशेषण दे सकते हैं। पहले सार्वजनीन प्रवृत्तियों का आकलन समीचीन है।

अनुष्ठान और मान्यताएँ

पौराणिक धर्म में भक्ति की प्रधानता रही है। साधन की दृष्टि से भक्ति तीन प्रकार की है—मानस, वाचिक और कायिक। ध्यान और धारणापूर्वक बुद्धि

१. मनुस्मृति ४.६२-१५२,१७४,१८३-१६१,२१८ और २५५
२. मनुस्मृति ४.१५६-१६१

के द्वारा वेदार्थ का विमर्श मानस भक्ति है। मन्त्र, जप, वेद-पाठ तथा आरण्यकों के जप वाचिक भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। मन और इन्द्रियों को रोकने वाले व्रत, उपवास, नियम, चान्द्रायण-व्रत आदि के द्वारा भगवान् की आराधना कायिक भक्ति है।[1]

वैधानिक दृष्टि से भक्ति के अन्य तीन रूप लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक हैं। लौकिक भक्ति में घी-दूध, रत्न, दीप, चन्दन, माला, धूप की सुगन्धि, आभूषण, सुवर्ण, हार, नृत्य, संगीत, वाद्य, भक्ष्य-भोज्य आदि नैवेद्य से पूजा होती है। वैदिक मन्त्रों का जप, संहिताओं का अध्यापन आदि वैदिक भक्ति हैं। यज्ञ और देवताओं के निमित्त किए हुए सभी कर्म वैदिक भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। आध्यात्मिक भक्ति दो प्रकार की होती है—सांख्यज और योगज। सांख्य-दर्शन के अनुकूल प्रकृति और पुरुष का विवेचन सांख्यज भक्ति है और योगाभ्यास से ध्यान करना योगज भक्ति है।[2] भक्ति की उपर्युक्त परिधि के भीतर तत्कालीन भारत की प्रायः सभी धार्मिक विधियों का समावेश हो जाता है।

भक्ति के तीन अन्य रूपों की कल्पना हुई—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विक भक्ति मोक्ष की इच्छा से आत्म-समर्पण-बुद्धि से होती है। विषयों की इच्छा रखकर अथवा यश और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भगवान् की जो पूजा होती है, वह राजसी भक्ति है। अहंकार को लेकर या आडम्बर के लिए अथवा ईर्ष्या से तामसी भक्ति होती है।[3]

भगवान् से वैर कर लेना भी उन्हें प्रसन्न कर लेने के लिए हो सकता है। भागवत के अनुसार—

> **यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।**
> **न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥ ७.१.२६**

(भगवान् के प्रति वैर-भाव रखने वाले व्यक्ति को उससे जितनी तन्मयता हो पाती है, उतनी भक्तियोग से नहीं।)

व्रत

व्रतों की विधियाँ सम्भवतः प्रारम्भ में सरल रही हों, परन्तु कालान्तर में कुछ व्रतों की विधियों की शाखायें और प्रशाखायें बढ़ती रहीं और परिणामतः

१-२. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड १५वाँ अध्याय तथा पाताल खण्ड ८५वाँ अध्याय।

३. पद्मपुराण उत्तर खण्ड १२६वाँ अध्याय

वे जटिल हो चलीं ।[1] व्रतों की जटिलता याज्ञिक विधियों की पूजा के साथ ही सम्पन्न करने के कारण विशेष रूप से बढ़ी हुई हैं । भीमद्वादशी व्रत में उपवास, विष्णु-पूजन, गन्ध-पुष्प-धूप तथा पकवानों से श्रीकृष्ण, महादेव, गणेश आदि की पूजा, मण्डप के भीतर वेदिका बनाकर उसमें बैठकर कलश से गिरती हुई जल-धारा को मस्तक पर धारण करना, जौ, घी और तिलों का विष्णु-सम्बन्धी मन्त्रों से हवन, चार ऋग्वेदी ब्राह्मणों द्वारा हवन, चार यजुर्वेदी ब्राह्मणों का रुद्राध्याय का पाठ और चार सामवेदी ब्राह्मणों का विष्णु-साम-गायन होता था ।

व्रतों की संख्या पौराणिक युग में अगणित हो चली थी । इन व्रतों से मरणोत्तर-सद्गति की सम्भावना होती थी । प्रायः व्रतों में विविध प्रकार के उपवास, दान, ब्राह्मण-भोजन और पूजन सम्बन्धी विधानों का आकलन मिलता है, जैसे महापातक-नाशन व्रत में रात्रि में अन्न पकाकर कुटुम्ब वाले ब्राह्मण को बुलाकर उसे भोजन कराया जाता था और एक गौ, सुवर्णमय चक्र से युक्त त्रिशूल तथा वस्त्र दान दिये जाते थे । इससे शिवलोक-प्राप्ति की सम्भावना होती थी । प्रीति-व्रत में आषाढ़ से चार मास तक तेल नहीं लगाया जाता था और भोजन की सामग्री दान दी जाती थी । इससे हरि का लोक मिलने की सम्भावना होती थी । आनन्द-व्रत में चैत्र से आरम्भ करके चार मास तक प्रतिदिन लोगों को बिना माँगे जल पिलाया जाता था और व्रत की समाप्ति होने पर अन्न-वस्त्र-सहित जलपूर्ण कलश, तिल से पूर्ण पात्र तथा सुवर्ण दान दिये जाते थे । इससे ब्रह्मलोक-प्राप्ति की सम्भावना थी । अहिंसा-व्रत में मांस-भोजन का परित्याग करना पड़ता था तथा गौ और सोने का मृग दान दिये जाते थे । इससे अश्वमेध-यज्ञ का फल मिलने की सम्भावना थी और अन्त में राजपद-प्राप्ति की आशा होती थी ।[2]

व्रतों के पालन से विविध प्रकार के लाभों के लिए तद्विषयक-समाज की रुचि स्वभावतः उत्पन्न हुई होगी । कथा-साहित्य की अद्यावधि लोक-प्रियता का एक प्रधान कारण उपर्युक्त मान्यताएँ हैं ।

स्वर्ग और नरक

पुराणों में असंख्य स्वर्ग और नरकों की गणना की गई है । इनमें सबसे अधिक

---

१. उदाहरण के लिए पद्मपुराण सृष्टि खण्ड के २३वें अध्याय में देखिए भीमद्वादशी-व्रत का जटिल विधान ।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए पद्मपुराण सृष्टि खण्ड अध्याय २० । इस प्रकरण में अन्य व्रत—रुद्र, नील, गौरी, शिव, सौभाग्य, सारस्वत, साम, वीर, सूर्य, विष्णु, शील, दीप्ति, दृढ, ब्रह्म, कल्पवृक्ष, भीम, धनप्रद, सुगति, भानु, वैनायक, सौर, त्र्यम्बक, भवानी आदि हैं ।

समीचीन मत विष्णुपुराण का है, जिसके अनुसार मनुष्य के पुण्य-पाप ही स्वर्ग और नरक हैं।[1]

देव प्रतिष्ठा

त्रिदेव

पौराणिक युग में त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव का स्पष्टतः सर्वाधिक महत्त्व माना गया। इस मान्यता के पीछे इन देवों का सृष्टि के उद्भव और प्रलय के आदि कारण के रूप में प्रतिष्ठित होना है। उन्हीं से प्रस्फुरित होकर यह चराचर जगत् प्रलय-काल में अथवा मोक्षावस्था में उन्हीं में मिल जायेगा। इनमें से प्रत्येक में मोक्षावस्था प्रदान करके आत्मसात् कर लेने की शक्ति है। अन्य देवताओं से उनकी यही विशेषता है।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव में से कौन पूज्यतम है—इस समस्या का समाधान पौराणिक युग में हो चुका था और साधारणतः विष्णु को सर्वोच्च देव मान लिया गया।[2] विष्णुपुराण के अनुसार भगवान् ब्रह्मारूप से विश्व की रचना करते हैं, विष्णुरूप से पालन करते हैं और शिवरूप से संहार करते हैं। यहीं से त्रिदेवों की एकात्मकता का सूत्रपात होता है। जब बाणासुर का कृष्ण से युद्ध हुआ तो शिव ने असुर के पक्ष में कृष्ण से युद्ध किया। इस संघर्ष में शिव की पराजय हुई। फिर भी कृष्ण ने अन्त में कहा—हे शंकर, आप अपने को मुझसे सर्वथा अभिन्न देखें। जो मैं हूँ, वही आप हैं। यह जगत्, देव, असुर और मानव मुझसे भिन्न नहीं हैं।[3]

---

१. विष्णुपुराण २.६.४४

२. त्रिदेवों की श्रेष्ठता का प्रश्न जब महर्षि-समाज में उठा तो उन्होंने भृगु को निर्णायक बना दिया। भृगु ने इन तीनों देवों का साक्षात् करके अपना मत देने का निश्चय किया। इस प्रक्रिया में उन्हें बोध हुआ कि शिव तमोगुण-प्रधान हैं, ब्रह्मा रजोगुण-प्रधान हैं और विष्णु सत्त्वगुण-प्रधान हैं। उन्होंने शाप दिया कि शिव के लिए समर्पित अन्न, जल, फल-फूल आदि सब कुछ भक्त के लिए अभक्ष्य होगा। ब्रह्मा समस्त संसार के लिए अपूज्य हो जायेंगे। विष्णु से प्रसन्न होकर भृगु ने विधान बनाया कि विष्णु का चरणोदक पितरों, देवताओं तथा सभी ब्राह्मणों के लिए सेव्य है। यह पापों का नाशक और मुक्ति का दाता है। भगवान् विष्णु के लिए निवेदन किया हुआ हविष्य देवताओं के लिए हवन करना चाहिए या पितरों को देना चाहिए। पद्म-पुराण उत्तर खण्ड २८२वाँ अध्याय। भागवत १०.८९.१५ में भृगु के द्वारा विष्णु की श्रेष्ठता के निर्णय का उल्लेख है।

३. विष्णुपुराण ५.३३.४७-४८

वायुपुराण में त्रिदेवों के पारस्परिक सम्बन्ध की मनोरम गाथा मिलती है। इसके अनुसार प्रलय-काल में केवल एक देव विष्णु की ही सत्ता रहती है। उनके नाभि देश से एक कमल की सृष्टि होती है। ब्रह्माण्ड से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा घूमते-फिरते विष्णु के समीप जाकर उनसे पूछते हैं—आप कौन हैं? विष्णु ने कहा—मैं सबका प्रभु हूँ। विष्णु के पूछने पर ब्रह्मा ने अपना परिचय दिया—मैं आदिकर्त्ता प्रजापति हूँ। मुझपे ही सब प्रतिष्ठित है। विष्णु और ब्रह्मा ने एक दूसरे के अन्तरतम मे प्रवेश करके देखा कि सभी चराचर लोक वहाँ विद्यमान है। यही उन दोनों का कौतुक-व्यापार था।[१]

उपर्युक्त कौतुक-व्यापार के अवसर पर शिव वहाँ आ गये। विष्णु और ब्रह्मा ने उनका अभिनन्दन किया। विष्णु ने ब्रह्मा से कहा—मैं सनातन योनि हूँ, आप बीज हैं और शिव बीजी हैं। ब्रह्मा और विष्णु ने शिव की स्तुति की। ब्रह्मा ने शिव को पुत्र रूप में प्राप्त होने का वर माँगा। शिव ने कहा—तुम्हारे क्रोध करने पर तुम्हारे पुत्र रूप में मै ११ रूद्र बन कर उत्पन्न हो जाऊँगा। विष्णु ने शिव में अपनी स्थिर भक्ति का वर माँगा। शिव ने इसे स्वीकार करके विष्णु और अपने स्वरूप की एकात्मक पूरकता का निर्देश करते हुए कहा—मै अग्नि हूँ, तुम सोम हो। तुम रात्रि हो, मैं दिन हूँ। मुक्ति करने वाले लोग तुम्हारा जप करके मुझमें प्रविष्ट हो जायेंगे। तुम अपने को प्रकृति समझो मुझे पुरुष। तुम जिस प्रकार मेरे आधे शरीर हो, उसी प्रकार मैं तुम्हारा आधा शरीर हूँ। तुम मेरे हृदय हो और मै तुम्हारे हृदय मे स्थित हूँ।[२]

भागवत के अनुसार ब्रह्मा और शिव—दोनों ही परमात्मा (विष्णु) में विराजमान है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव का वास्तव मे एकत्व है।[३] त्रिदेवों में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ सम्मानित किया गया है।[४] इस पुराण मे ब्रह्मा के द्वारा विष्णु के पद-प्रक्षालन का उल्लेख है। यही जल गङ्गा के रूप मे प्रवाहित हुआ है, जिसे शिव अपने मस्तक पर धारण करते हे।[५]

वायुपुराण के अनुसार कृतयुग में ब्रह्मा पूजित होते है, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में विष्णु और चारों युगों में महादेव शिव की पूजा होती है। ब्रह्मा, विष्णु और यज्ञ—ये तीन काल की तीन कलायें या अंग हैं, किन्तु चार मूर्ति वाले महेश्वर सभी कालों में हैं।

---

१. वायुपुराण २४.१-३०

२. वायुपुराण २५.११-३०

३. भागवत ४.७.५२-५४

४. भागवत १०.८९.१५

५. भागवत १.१८.२१

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि पुराणों की साधारण प्रवृत्तियों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव में परस्पर सौहार्द और एकता की भावना है। यदि उनमें से किसी के छोटे-बड़े होने की कल्पना है तो वह निरी साम्प्रदायिकता है। त्रिदेव के भक्तों के परस्पर विवाद में ब्रह्मा का पक्ष प्रायः उपेक्षित-सा रहा। इस प्रसङ्ग में समीचीन मत पद्मपुराण का है--

एकमूर्तिस्त्रयो देव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥ भूमिखण्ड ७१.२०

अन्य देवता

पौराणिक युग में कुछ नये देवताओं की प्रमुखता बढ़ी। इनमें से गणेश का नाम सर्वप्रथम है। सभी धार्मिक विधियों में गणेश की अग्रपूजा का विधान बना। गणेश शिव और पार्वती के पुत्र हैं। इनके भाई स्कन्द हैं। गणेश की महिमा का कारण बताया जाता है कि माता-पिता की भक्ति में इन्हें विशेषता प्राप्त थी। गणेश की प्रथम पूजा से सभी देवता प्रसन्न होते हैं और साथ ही यज्ञों का फल कोटि गुना अधिक होता है। सभी देवता अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए गणेश की पूजा करते हैं। वे सभी विघ्नों को दूर करने वाले हैं। पुष्प-फल, मूल, मोदक, दही-दूध, धूप-दीप आदि सामग्रियों से तथा वाद्य से गणेश की पूजा करने का प्रचलन था।[1]

सूर्य को ब्रह्मा के स्वरूप से प्रकट हुआ ब्रह्मा का ही उत्कृष्ट तेज माना गया। वह चारों पुरुषार्थों को देने वाला है। सूर्य की आराधना से मोक्ष पाने तक की सम्भावना मानी गई। सूर्य कश्यप और अदिति के पुत्र हैं। पौराणिक धारणा के अनुसार सूर्य की उपासना से मनुष्य को सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है और वे अन्धे, दरिद्र, दुःखी और शोकग्रस्त नहीं होते। सूर्य की पूजा के लिए मन्त्र-पाठ, नैवेद्य, नाना प्रकार के फल, अर्घ्य, अक्षत, जवापुष्प, मदार के पत्ते, लाल चन्दन, कुंकुम, सिन्दूर, कदली-पत्र आदि अपेक्षित रहे हैं।[2]

लक्ष्मी

पौराणिक युग में लक्ष्मी विष्णु की पत्नी रूप में प्रतिष्ठित हुई। विष्णु के लिए वैकुण्ठ ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिए है और यह सम्पूर्ण जगत् लीला करने के लिए है। वैकुण्ठ लोक में विष्णु अपनी नारायणी शक्ति अथवा सम्पूर्ण जगत् की माता-रूपी लक्ष्मी के साथ रहते हैं। स्थावर-जंगम-रूप सारा जगत् उनके कृपा-कटाक्ष पर अवलम्बित है। विश्व का पालन और संहार उनके नेत्रों के खुलने और बन्द

१. पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड ६१वाँ अध्याय
२. पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड ७५-७६वाँ अध्याय

होने से ही हुआ करते हैं। लक्ष्मी सबके लिए आदि-भूता, त्रिगुणमयी और परमेश्वरी हैं। लक्ष्मी के दो रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। इन दोनों रूपों से लक्ष्मी विश्व को व्याप्त करके स्थित हैं। सम्पूर्ण वेद और उनके द्वारा ज्ञेय तत्त्व—सभी लक्ष्मी के स्वरूप हैं। स्त्रियों का सौन्दर्य, शील, सदाचार और सौभाग्य—सभी लक्ष्मी के ही रूप हैं। लक्ष्मी की कृपा से ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, कुबेर, यमराज तथा अग्नि अपनी शक्ति पाते हैं। लक्ष्मी के नाम पर लक्ष्मी-नारायण मन्त्र की प्रतिष्ठा हुई। इस मन्त्र के जप से विष्णु-लोक इतनी सरलता से ही मिलता है, जितना वेदों के अध्ययन, यज्ञ, दान, व्रत, तपस्या, उपवास तथा अन्य साधनों से नहीं मिलता।[1]

दुर्गा

विष्णु की योग-निद्रा अथवा महामाया की प्रतिष्ठा दुर्गा के रूप में हुई। दुर्गा के अन्य नाम आर्या, वेद-गर्भा, अम्बिका, भद्रा, भद्रकाली, क्षेमदा, भाग्यदा आदि उनकी स्तुति के लिए प्रयुक्त होते हैं। दुर्गा की स्तुति से सभी कामनाएँ विष्णु स्वयं पूरी कर देते हैं। दुर्गा की पूजा के लिए सुरा, मांस आदि उपहार तथा भक्ष्य और भोज्य का विधान था।[2]

दुर्गा की प्रतिष्ठा भूति, सन्नति, क्षान्ति और कान्ति रूप में हुई। दुर्गा के प्रत्यक्ष रूप आकाश, पृथ्वी, धृति, लज्जा आदि हैं।

मानवों से सान्निध्य

देवताओं का मानव-रूप में अथवा अन्य जीवधारियों के रूप में प्रकट होकर मानवोचित कार्य करने की कथायें प्रायः मिलती हैं। वे मनुष्य-रूप में दूसरों का पथ-प्रदर्शन करते हैं, प्रश्नों के उत्तर देते हैं, धर्मोपदेश करते हैं, अपना विराट् रूप दिखलाते हैं, मनोहर ब्राह्मण का रूप धारण करके माता-पिता की सेवा करने वाले चाण्डाल के घर में रहते हैं अथवा कथा-कहानियाँ या इतिहास के उपाख्यान कहकर दूसरों के वृत्तान्त बतलाते हैं।[3] भगवान् क्षपणक बन कर लोगों को भाग्य बतलाते हैं और धर्म की परीक्षा करते हैं।[4] कुछ देवता अपने भक्तों की अर्चना से प्रसन्न होकर स्वयं उनके पास आकर बातचीत करते हैं और कहते हैं कि आप लोगों का उपकार करने के

---

१. पद्मपुराण उत्तर-खण्ड २५५—२५६वां अध्याय
२. विष्णुपुराण ५.१.७०–८६
३. पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड ४७वां अध्याय
४. पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड ५०वां अध्याय

लिए मैं स्वयं उपस्थित हूँ। सूर्य ने अपने भक्तों की प्रार्थना सुनकर उनसे कहा कि आप सभी शुद्ध होकर कल्पपर्यन्त मेरे रमणीय धाम में निवास करें। सूर्य के इस अनुग्रह से मानवों की कौन कहे, कीड़े-मकोड़े भी स्वर्ग-लोक प्राप्त कर लेते हैं।[1]

विष्णु भक्तों की परीक्षा भी करने लगते हैं। दीन-हीन ब्राह्मण विष्णुदास की पकाई हुई रसोई चुरा कर खाते हुए चाण्डाल रूप में विष्णु भगवान् देखे जा सकते हैं। फिर तो विष्णुदास की भक्ति से प्रसन्न होकर विष्णु साक्षात् प्रकट होते हैं और अपने विमान में बैठा कर भक्त को विष्णुलोक ले जाते हैं।[2]

देवताओं का लौकिक व्यवहार प्रायः मानवोचित दिखाई देता है। उनके कुटुम्ब होते हैं, स्त्रियाँ और पुत्र हैं। शिव का कुटुम्ब प्रख्यात है। ब्रह्मा के पुत्र नारद हैं। ब्रह्मा का प्रादुर्भाव विष्णु से हुआ है।

विष्णु के अवतार

विष्णु के साथ ही उनके अवतारों को भी देवता माना गया। अवतार स्वयं विष्णु ही हैं।[3] प्रमुख अवतार १० हैं—वराह, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। भागवत में विष्णु के अन्य अवतारों का स्पष्ट उल्लेख है—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, नर, नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, धन्वन्तरि, मोहिनी, व्यास और बलराम। इनके अतिरिक्त भगवान् के असंख्य अवतारों की कल्पना भी भागवत पुराण में मिलती है।[4] इन सब की मूर्तियों की पूजा मन्दिरों में होती थी।

लोककल्याण

कौटुम्बिक और सामाजिक संश्लिष्टता

पौराणिक धर्म में लोक-कल्याण के लिए समुचित विधान मिलते हैं। इस दिशा में कुटुम्ब और समाज को सुघटित स्वरूप देने का प्रयास विशेष महत्त्वपूर्ण है। कुटुम्ब या समाज के जो लोग अपने सम्पर्क में आते हैं, उनसे विवाद न करना मात्र पुण्यावह माना गया। कुटुम्ब या समाज को अपने सद्व्यवहार से प्रसन्न कर लेना सभी लोकों पर विजय पाने का साधन माना गया। ऐसे व्यवहार से पाप-निवृत्ति का

१. पद्मपुराण ८२वाँ अध्याय
२. पद्मपुराण उत्तर खण्ड ११३वाँ अध्याय
३. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
४. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए भागवत १.३। कल्कि-अवतार कलि-युग के अन्तिम भाग में अभी होने वाला है।

होना सम्भव बता कर इसके प्रति लोक-रुचि जागरित की गई। नियम था कि यदि कुटुम्ब या समाज का कोई व्यक्ति अपमान भी कर दे तो चुपचाप सह लेना चाहिए।[१]

गृहस्थों को अपने चारों ओर शान्त, स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद वातावरण बनाने के लिए नीचे लिखा विधान उपयोगी प्रतीत होता है—"उन घरों में प्रेत भोजन करते हैं, जहाँ पवित्रता नहीं है, जो स्त्रियों के द्वारा दग्ध और छिन्न-भिन्न हैं, जिनके सामान इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं, जिनमें मानसिक लज्जा का अभाव है, जिनमें पतितों का निवास है, जिनके निवासी लूट-पाट का काम करते हैं, जहाँ गुरुजनों का आदर नहीं होता और जहाँ स्त्रियों का प्रभुत्व है। वह व्यक्ति प्रेत नहीं होता, जिसके हृदय में सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया है और जो शत्रु और मित्र में समान भाव रखता है।" इन्हीं विधानों के साथ सामाजिक संश्लिष्टता के नियम मिलते हैं—मित्र की धरोहर हड़पने वाला, विश्वासघाती, कूटनीति का आश्रय लेने वाला और भूमि तथा कन्या का अपहरण करने वाला प्रेत होता है।[२]

सामाजिक और कौटुम्बिक संश्लिष्टता के लिए सबसे अधिक पुण्यात्मक, सर्वप्रिय और सनातन कर्म माने गये हैं—माता-पिता की पूजा, पति की सेवा, सब के प्रति समान भाव, मित्रों से द्रोह न करना और भगवान् विष्णु की भक्ति। इनको पंच महायज्ञ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।[३] पद्मपुराण में विष्णु के कथनानुसार इनमें से एक-एक करने वाले के घर वे नित्य निवास करते हैं और उनके साथ ही सरस्वती और लक्ष्मी होती हैं। चाण्डाल भी यदि माता-पिता की सेवा करे तो उसके घर सभी देवताओं का निवास होता है।[४]

कौटुम्बिक शालीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है पति-पत्नी के आदरपूर्ण सम्बन्ध की प्रतिष्ठा। पौराणिक मान्यता के अनुसार स्त्री के लिए पति ही सर्वोत्तम

---

१. ऐसे लोगों की सूची में ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, कुटुम्बी, सम्बन्धी, बान्धव, माता-पिता, दामाद, भाई, पुत्र, स्त्री, बेटी, दास-दासियाँ आदि परिगणित हैं। पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड १५वें अध्याय में इस प्रकरण का विशद विवेचन है।

२. उपर्युक्त नियमों और विधानों के लिए देखिए पद्मपुराण सृष्टि-खण्ड २६वाँ अध्याय।

३. पित्रोरर्चा पत्युश्च साम्यं सर्वजनेषु च।
मित्रद्रोहो विष्णुभक्तिरेते पंचमहामखाः ।। पद्मपु० सृष्टि-ख० ४७.७

४. पद्मपु० सृ०-ख० ४७वाँ अध्याय

तीर्थ है, पति सम्पूर्ण धर्मों का स्वरूप है। यज्ञों से जो पुण्य यजमान को होता है, वही पुण्य साध्वी स्त्री को पति की पूजा करने से तत्काल प्राप्त होता है।[1]

कुछ धार्मिक विधानों के द्वारा गाँवों में अनेक प्रकार के कलहों को निर्बीज कर देने की योजना प्रस्तुत की गई है, जैसे खेत की आधी अंगुली सीमा हर लेने पर सभी शुभ कर्म, दान, तप, स्वाध्याय तथा अन्य धर्म-सम्बन्धी कार्य नष्ट हो जाते हैं, गो-तीर्थ (गौओं के चरने और पानी पीने आदि के स्थान), गाँव की सड़क तथा श्मशान की सीमा कम करने से अथवा गाँव को पीड़ित करने से अवश्य ही नरक में प्रलय काल तक रहना पड़ता है। ये नियम गाँवों की सुव्यवस्था के लिए हैं।[2]

पौराणिक मान्यता के अनुसार गृह-कलह दरिद्रा-देवी के आवाहन के लिए होता है। दरिद्रता के साथ वहीं अमंगल रहता है। कठोर भाषण, असत्य. मलिन अन्तःकरण तथा सन्ध्या-शयन के साथ दरिद्रता का सामंजस्य है। दरिद्रा कलह-प्रिया है।[3]

विष्णुपुराण के अनुसार विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सबका हित चाहना, दूसरे की वस्तुओं की कामना न करना आदि सर्वोच्च गुण हैं।[4]

सामाजिक और कौटुम्बिक संश्लिष्टता के मार्ग में वाधा डालने वाले लोगों के लिए भागवत में मरणोत्तर दुर्गति का भयावह चित्र खीचा गया है। ऐसे लोगों की सूची में प्राणियों के प्रति द्रोह करने वाले, माता-पिता के विरोधी, झूठी साक्षी देने वाले, बड़ों का सम्मान न करने वाले, नरमेध करने वाले, अतिथि के प्रति क्रोधी, धन के मद से सबके प्रति टेढ़ी दृष्टि रखने वाले आदि आते हैं।[5]

अत्याचारों को रोकने के लिए नियम बनाया गया कि किसी को अत्याचार

---

१. पद्मपु० भूमि-खण्ड ४१.१३-१५

२. पद्मपु० उत्तर-खण्ड ३२वाँ अध्याय

३. पद्मपु० सृष्टि-खण्ड २६०वाँ अध्याय

४. यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वथा तोष्यते सुखम्॥ विष्णुपुराण ३.८.१७
परदारपरद्रव्यपरहिंसासु यो रतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः॥ विष्णुपु० ३.८.१४

५. भागवत ५.२६

करते हुए देखकर शक्ति होते हुए भी उसका निवारण न करने वाला व्यक्ति उस अत्याचार के पाप का भागी होता है और नरक में गिरता है।[1]

भारतीय धर्मों ने मानव की मानसिक प्रवृत्तियों को इस प्रकार सुसंस्कृत बना दिया, जिससे सबकी धारणाएँ इस प्रकार की हों कि 'समस्त प्राणी प्रसन्न रहें। दूसरों पर भी स्नेह रखें। सभी प्राणियों का कल्याण हो। उन्हें आतंकों से दुःखी न होना पड़े। प्राणियों को व्याधिग्रस्त न होना पड़े। सभी प्राणी सभी लोगों के पोषक बनें। परस्पर प्रेम-व्यवहार की अभिवृद्धि हो। सभी वर्णों की समृद्धि हो। सभी कर्मों में सफलता हो, सभी लोग सभी प्राणियों के कल्याण की भावना करें। अपने समान या पुत्र के समान ही सभी प्राणियों के प्रति व्यवहार करें। जो व्यक्ति मुझसे आज स्नेह करता है, संसार में उसका सदा कल्याण हो। जो मुझसे द्वेष करता है, वह भी कल्याण-भाजन बने।'[2]

समाज में सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन के लिए ही नियम बनाया गया कि समाज की हानि करने वाले तीर्थ-यात्रा के अधिकारी नहीं हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार काशी के अविमुक्त क्षेत्र में कृतघ्न, निष्कर्मण्य, लोकद्वेषी, गुरुद्वेषी और पाप-कर्म में निरत लोगों को दण्डनायक-भैरव प्रवेश नहीं करने देते।[3]

धर्म-प्रचार

लोक-कल्याण के लिए समाज को धर्म के पथ पर चला देना अतिशय पुण्यावह माना जाता था।[4] धर्म के पथ पर चलने के लिए धर्म का ज्ञान होना प्रथम आवश्यकता थी। धर्म का ज्ञान कराने के लिए जो भी योजनाएँ हो सकती थीं, उन्हें धार्मिक साहित्य में कर्तव्य-रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

पूर्त

लोक-कल्याण की दृष्टि से पूर्तों का विधान प्रत्यक्ष रूप से ही महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। पूर्त सार्वजनिक उपयोगिता के लिए होते थे। इनके निर्माताओं के पुण्यभागी होने का विधान पुराणों में मिलता है। पद्मपुराण के अनुसार जलाशय, उपवन, कूप, मन्दिर आदि के निर्माण से लोक और परलोक में अतिशय कल्याण की सम्भावना होती है। वसन्त या ग्रीष्म तक जिस जलाशय में जल रहता हो, उसका निर्माता अश्वमेध या राजसूय यज्ञों के सम्पादन का फल पाता है। पूर्त के निर्माताओं

१. नारदपुराण पूर्वभाग प्रथमपाद १४.११४
२. मार्कण्डेयपुराण ११७.१२-१५,१६
३. मत्स्यपुराण १८५.४५-४७
४. धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरत्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च ॥ भागवत १२.१०.२६

की मरणोत्तर सद्गति तो अवश्यम्भावी है। शुद्ध चित्त से कुआँ, मन्दिर या जलाशय बनवाने वाला ब्रह्मलोक में स्थान पाता है।

यज्ञों के स्थान पर पूर्तों की प्रतिष्ठा कर देना दूरदर्शी राष्ट्र-निर्माता ऋषियों की अपूर्व सूझ का परिचय देता है। इसी प्रकार वृक्ष लगाने से पुत्रहीन को पुत्रवान् होने का फल मिलना, वृक्षों के द्वारा लगाने वालों के लिए पिण्डदान देना, अशोक का शोक नाश करना, पाकड़ वृक्ष का यज्ञ का फल देना आदि धार्मिक विधान लोक-कल्याण के लिए थे।

उपर्युक्त पूर्तों के समकक्ष प्याऊ चलाना, सेतु बँधवाना, गोचर-भूमि छोड़ना आदि आयोजन भी माने गये। इनके सम्पादन से स्वर्ग-प्राप्ति सुलभ मानी गई।

सार्वजनीनता

धार्मिक विन्यासों को पौराणिक युग में ऐसा रूप मिल सका कि सभी लोग—धनी और निर्धन अथवा उच्च या नीच जाति के व्यक्ति धर्म-पथ को अपनाकर सर्वोच्च कल्याण करने में समर्थ हो सकते थे। महाभारत के नकुलोपाख्यान के अनुसार युधिष्ठिर के यज्ञ से अधिक महत्त्वपूर्ण दरिद्र ब्राह्मण का सत्तू-दान था। निर्धनों के बीच यह धार्मिक मान्यता धर्म को लोकप्रिय बना सकी।

पद्मपुराण के अनुसार तृण और काष्ठ का उपार्जन करके अथवा कौड़ी-कौड़ी माँग कर जो पुरुष पितरों का श्राद्ध करता है, उसके कर्म का लाख गुना फल होता है। पिता की पुण्यतिथि आने पर जो निर्धन पुरुष गौ को घास खिला देता है, उसे पिण्ड-दान से भी अधिक फल मिलता है।[1] दरिद्रों के लिए इस पुराण में सर्वोच्च अभ्युदय का साधन बताते हुए कहा गया है—कामनाओं का त्याग करने से ही सभी व्रतों का पालन हो जाता है। क्रोध छोड़ देने से तीर्थों का सेवन हो जाता है। दया ही जप के समान है। सन्तोष ही शुद्ध धन है। अहिंसा ही सबसे बड़ी सिद्धि है। शिलोञ्छ-वृत्ति ही सर्वोत्तम जीविका है। शाक-भोजन ही अमृत के समान है। उपवास ही उत्तम तपस्या है। कौड़ी का दान ही महादान है। परस्त्री से अलग रहना यज्ञ है।[2]

पौराणिक मान्यताओं के अनुसार चाण्डाल और शूद्र तक पवित्र और धार्मिक जीवन बिता कर मुनि-पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उन्हें मरणोत्तर काल में विष्णु-लोक प्राप्त होता है।[3] ब्रह्मपुराण के अनुसार चारों वर्णों के लोग, स्त्री, अन्त्यज आदि

---

१. पद्मपु० सृष्टि-खण्ड ४७वाँ अध्याय

२-३, पद्मपुराण सृ०-ख० ५०वाँ अध्याय

सभी नरसिंह का भक्तिपूर्वक पूजन करके कोटि जन्मों के पाप और दुःखों से दूर हो जाते हैं।[1] भक्ति-पथ के द्वारा मोक्ष का द्वार चाण्डालों तक के लिए अनावृत हुआ—

श्वपाकोऽपि च मद्भक्तः सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
प्राप्नोत्यभिमतां सिद्धिमन्येषां तत्र का कथा॥[2]

असुरों के व्यक्तित्व को भी विष्णु भगवान् की भक्ति एवं सच्चरित्रता से समन्वित करने वाले भागवत धर्म की लोकप्रियता आर्येतर समाज में भी हो सकी। वृत्रासुर स्वयं उच्चकोटि के भगवद्भक्त के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ।[3]

नारदपुराण के अनुसार धनी पुरुष का पत्थर का निर्मित और दरिद्र का मिट्टी का बना मन्दिर समान फल देते है। इसी प्रकार धनी का नगर-दान दरिद्र के एक हाथ भूमि देने के समान ही पुण्यावह है। धनी का जलाशय दरिद्र के कुयें के बराबर ही है।[4]

मत्स्यपुराण मे वेश्याओं के सदाचार का आकलन किया गया है और उनके लिए व्रत, दान आदि का विधान बना है। इस पुराण के अनुसार व्रतों का पालन करने वाली स्त्रियाँ वैकुण्ठ लोक में सुशोभित होती हैं और विष्णु भगवान् के परमानन्द-दायक पद को प्राप्त करती है।[5]

स्वास्थ्य-संवर्धन

धार्मिक विधानों से स्वस्थ्य-संवर्धन की योजना भी धर्म को लोक-प्रिय बनाने में सहायक हुई है। धार्मिक पुरुषों के लिए प्रतिदिन दूध-दही और घी खाना आवश्यक बतलाकर पद्मपुराण में सम्भवतः जान-बूझ कर उनको स्वस्थ बनाने का आयोजन किया गया है। इस पुराण के अनुसार जिस पुरुष को गाय का दूध-दही और घी खाने का सौभाग्य नही प्राप्त होता, उसका शरीर मल के समान है। लगातार एक मास तक गव्यरहित भोजन करने वाले पुरुष के भोजन से प्रेतों को भाग मिलता है।[6] स्वास्थ्य की दृष्टि से अन्य महत्त्वपूर्ण धार्मिक विधान हैं—भीगे पैर न सोना, सूखे पैर भोजन न करना, अन्धेरे मे न सोना या भोजन करना आदि। कई बार भोजन

१. ब्रह्मपुराण ५९वाँ अध्याय
२. ब्रह्मपुराण १७८.१८६
३. भागवत ६ठें स्कन्ध का १३-१४वाँ अध्याय
४. नारदपु० पूर्वभाग प्रथम पाद १३वाँ अध्याय
५. मत्स्यपु० ७०.६३
६. पद्मपु० सृष्टि-खण्ड ५९वाँ अध्याय

करना भी निषिद्ध था।[1] धोबी का धोया वस्त्र पुनः घर पर धोकर ही पहना जा सकता था।[2]

आँवले के विविध उपयोगों द्वारा पापों के विनाश और पुण्य-अर्जन करने की योजना लोगों को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए थी। पद्मपुराण के अनुसार आँवले के खाने से सब पापों से मुक्ति हो जाती है, आयु बढ़ती है, उसका जल पीने से धर्म-संचय होता है और उस जल से स्नान करने से दरिद्रता दूर होती है तथा सभी प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। जो पुरुष आँवले के रस से सदा अपने केश धोता है, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। आँवले का बना मुरब्बा आदि का नैवेद्य अर्पण करने मे विष्णु को प्रसन्नता होती है।[3]

तुलसी के धार्मिक महत्त्व को बतला कर उसे लोगों के लिए नित्य उपयोग में लाने की वस्तु बना देना स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए था—यथा विष्णु के परम परितोष के लिए तुलसी-पत्र के सहित उनका नैवेद्य समर्पित होना चाहिए। भगवान् की प्रतिमाओं और शालिग्राम शिलाओं पर चढ़े हुए तुलसी-दल को प्रसाद रूप में ग्रहण करने वाला पुरुष विष्णु का सायुज्य प्राप्त कर लेता है।

वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म की रूप-रेखा विष्णु के चरित के आदर्शों के अनुरूप विकसित हुई। विष्णु वैदिक देवता हैं। ऐसी परिस्थिति में इस धर्म का मूल विष्णु सम्बन्धी वैदिक सूक्तों और कथानकों में माना जा सकता है। इस धर्म में ऋग्वेद में वर्णित देवताओं की पराक्रमशीलता तथा उपनिषदों में प्रतिष्ठित ज्ञान और दर्शन प्रधान अंग हैं। वैदिक साहित्य में प्रतिपादित याज्ञिक कर्म-काण्ड को उपनिषदों में कोई विशेष मान्यता नहीं प्राप्त हुई। भागवत धर्म में जो उपनिषदों का तत्त्व-ज्ञान प्रतिष्ठित हुआ, उसके प्रकाश में याज्ञिक कर्मकाण्ड का टिकना सम्भव न था। इस याज्ञिक कर्मकाण्ड के स्थान पर सामाजिक परिस्थितियों और उपनिषद् की शिक्षाओं के अनुरूप भक्ति की प्रतिष्ठा हुई।

आरम्भ

भागवत धर्म के आरम्भिक स्वरूप का परिचय महाभारत से मिलता है। भागवत धर्म का प्रमुख ग्रन्थ गीता है। इसके अतिरिक्त महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में नारायणीय धर्म के नाम से भागवत धर्म का वर्णन किया

१-२. पद्मपु० सृष्टि-खण्ड ४६.५३

३. पद्मपु० सृष्टि-ख० ५८वाँ अध्याय। आधुनिक आयुर्वेद-विज्ञान आँवले में बहुत से विटामिन देख रहा है।

गया है ।[1] इसके अनुसार महर्षि नर तथा नारायण परब्रह्म के प्रतिनिधि हैं। ये ही इस धर्म के अवतार और मूल प्रवर्तक हैं। लोक-कल्याण के लिए स्वयं भगवान् ने आरम्भ में इस धर्म का उपदेश दिया ।[2]

प्रमुख उन्नायकों द्वारा वैष्णव धर्म का समय-समय पर अभ्युत्थान हुआ। आरम्भ में कृष्ण भगवान् के द्वारा सात्वत जाति के लोगों में इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। उस युग में कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया और उन्हीं की भगवान्-उपाधि के अनुरूप इसे भागवत धर्म कहा गया। सात्वत जाति में इसका प्रथम प्रचार होने के कारण इसे सात्वत धर्म भी कहते हैं। परवर्ती युग में नारद और भागवत पुराण के रचयिता व्यास ने इस धर्म की प्रवृत्तियों को स्पष्ट रूप प्रदान किया।

कृष्ण ने भगवद्गीता की शिक्षाओं के द्वारा भागवत धर्म की रूप-रेखा स्थिर कर दी। इसमें वेदवाद् संन्यास और यज्ञ-विधान को हेय ठहराकर भागवदर्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करते रहने की प्रवृत्ति को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। कृष्ण के उपदेश का सार है कि भक्ति से परमेश्वर के समान जगत् के धारण-पोषण के लिए सदा यत्न करते रहना चाहिए। महाभारत के नारायणीय आख्यान के अनुसार नारायणीय या भागवत धर्म प्रवृत्ति-(कर्म-) प्रधान है ।[3]

विष्णु का व्यक्तित्व

वैदिक युग में विष्णु के व्यक्तित्व की विशेषताएँ, उनकी सहायशीलता और अद्वितीय पराक्रम-परायणता हैं।[4] पौराणिक युग के विष्णु यथासम्भव सभी गुणों की खानि हैं, जिसकी कल्पना मनुष्य कर सकता है। उपनिषदों में ब्रह्म या परमात्मा के जिन गुणों की कल्पना की गई है, वह प्रायः अपने मूल रूप में अथवा संवर्धित रूप में गीता के माध्यम से पौराणिक विष्णु में प्रतिष्ठित है।

---

१. नारायणीयोपाख्यान के लिए देखिये महाभारत शान्तिपर्व ३३४-३५१वें अध्याय तक।

२. पद्मपुराण भूमिखण्ड ७१वें अध्याय के अनुसार वैष्णव धर्म के प्रथम प्रवर्तक राजा ययाति हैं।

३. शान्तिपर्व ३४७.८१

४. ऐतरेय ब्राह्मण १.१ तथा शतपथ ब्रा० १४.१.१ के अनुसार विष्णु सर्वोच्च देव हैं। ऋग्वेद का पुरुष विष्णु की पुरातन महिमा का बीज है। देखिये पुरुष-सूक्त।

विष्णु का व्यक्तित्व है— अतिशय शक्तिशाली, उपकारपरायण और आनन्द-दाता। पौराणिक मान्यता के अनुसार विष्णु परम-पावन, पुण्य-स्वरूप, वेद के ज्ञाता, वेद-मन्दिर, विद्या और यज्ञों के आधार, गीतज्ञ, गीतप्रिय, सभी लोकों के उद्भव और तारक, भवसागर में डूबने वालों के लिए नौका-स्वरूप, महाकान्त, अत्यन्त उत्साही, महामोह-विनाशन, यज्ञवल्लभ, सभी भूतों में निवास करने वाले, व्यापक, विश्व-वेत्ता, विज्ञान, परमपद, शिव मोक्ष-द्वार, सभी लोकों का भरण करने वाले, सबके आश्रय, सर्वमय, सर्वस्वरूप, शान्त, सुख-सुहृद्, ज्ञान-सागर, सत्याश्रय, यज्ञ-स्वरूप और पुरुषार्थ-रूप हैं।[1]

विष्णु के व्यक्तित्व में अतिशय लोकप्रियता है। भागवत में स्वयं विष्णु के मुख से कहलवाया गया है :—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।। ९.४.६३

(मैं भक्त के अधीन हूँ। पूर्णतया परतन्त्र हूँ। साधु भक्तों के द्वारा मेरा हृदय स्वीकृत है। भक्त मेरे प्रिय हैं।)[2]

एक ओर विष्णु भगवान् की अप्रतिम लोक-हितकारिणी कार्यक्षमता और दूसरी ओर उनकी अनुपम भक्त-प्रियता है ये विशेषताएँ उनकी ओर लोगों को आकृष्ट करने में पर्याप्त समर्थ थीं।

वैष्णव का व्यक्तित्व

वैष्णव धर्म के अनुयायी वैष्णवों का व्यक्यित्व विष्णु के व्यक्तित्व के अनुरूप विकसित करने की योजना बनाई गई है। उसके लिए सभी प्राणियों के प्रति दया-भावना की प्रतिष्ठा इस आधार पर की गई कि भगवान् सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में विराजमान हैं। प्राणियों का अनादर इस प्रकार विष्णु का अनादर हो जाता है। नियम था कि प्राणियों से वैर रख कर मन शान्त नहीं किया जा सकता। भक्त सभी प्राणियों में स्थित भगवान् को अपने हृदय में देखते हुए सबके साथ अपनी एकसूत्रता स्थापित कर ले।[3]

---

१. पद्मपुराण भूमि-खण्ड ९८वाँ अध्याय

२. इस भाव के अन्य श्लोकों के लिए देखिये भागवत ९.४-६४-६८

३. भागवत ३.२९.२१—२७

भागवत की दृष्टि में आदर्श मानव श्रद्धालु, भक्त, विनयी, दूसरों के प्रति दोष-दृष्टि न रखने वाला, सभी प्राणियों का मित्र, सेवक, आधिभौतिक वस्तुओं के प्रति विरक्त, शान्त-चित्त, मत्सररहित, शुचि और भगवान् को प्रिय मानने वाला होता है।[1] ऐसे ही व्यक्ति को उच्च भगवत्तत्त्व सुनने का अधिकार होता है। सम्पत्ति और विपत्ति में विकार का न होना और उत्तम, मध्यम और अधम को समान मान कर समभाव रखना आवश्यक है। भगवान् समचित्तवर्ती है।[2]

भागवत के अनुसार वैष्णव को काम और अर्थ सम्बन्धी प्रवृत्तियों से अलग रहना चाहिए। इनके चिन्तन से मनुष्य के सभी पुरुषार्थों का नाश हो जाता है और वह इनकी चिन्ता से ज्ञान-विज्ञान से च्युत हो जाता है।[3] मन में कामना के उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य का नाश हो जाता है।[4] शरीर, स्त्री, पुत्र आदि के प्रति आसक्ति छोड़ना, देह और गेह का आवश्यकतानुसार सेवन, आवश्यकता की पूर्ति-मात्र के लिए अपेक्षित धन को अपना मानना, पशु-पक्षियों को पुत्रवत् समझना, धर्म, अर्थ और काम के लिए अधिक कष्ट न उठाना, अपनी भोग्य सामग्री को सभी प्राणियों के साथ बाँट कर भोगना आदि भागवत-धर्मानुयायी गृहस्थ की प्रगति दिशा मे प्रकाश-स्तम्भ है।[5] वैष्णव की लोकोपकार-वृत्ति ही उसकी सर्वोच्च आराधना है।[6] रन्तिदेव नामक वैष्णव का व्यक्तित्व आदर्श है। उसने कामना की है——

> **न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-**
> **मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।**
> **आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-**
> **मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।।** भागवत ९.२१.१२

(मैं ईश्वर से परम गति की कामना नहीं करता, जिसके द्वारा आठों ऋद्धियाँ अथवा मोक्ष की सिद्धि हो सकती है। मैं चाहता हूँ कि सभी प्राणियों के अन्तः में प्रतिष्ठित होकर उन सबके दुःख को अपना लूँ, जिससे वे दुःख-रहित हो जायँ।)

---

१. भागवत ३.३२.३९–४३
२. भागवत ४.२०.१२,१३,१६
३. भागवत ४.२२.३३-३४
४. भागवत ७.१०.८
५. भागवत ७.१४.१-१३
६. तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशोजनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।। भागवत ८.७.४४

विष्णु भगवान् के अवतार कृष्ण की उस योजना का निर्देशन भागवत में मिलता है, जिसके द्वारा वे वैष्णवों के व्यक्तित्व का विकास करते हैं। जिस व्यक्ति पर कृष्ण का अनुग्रह होता है, उसका सर्वस्व वे शनैः शनैः अपहरण कर लेते हैं। ऐसे दुःखी व्यक्ति को उसके स्वजन उसे छोड़ ही देते हैं। अपने उद्योगों में विफल होकर वह व्यक्ति कृष्ण के अधिक अनुग्रह का पात्र बन जाता है। परिणामस्वरूप उसे परमब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

शैव धर्म

आर्येतर मूल

शैव धर्म का प्रथम परिचय निःसन्देह सिन्धु-सभ्यता के तत्सम्बन्धी अवशेषों से लगता है, जिनमें प्रथम स्थान उस मुद्रा का है, जिस पर शिव की आकृति पशुपति-रूप में है। इस आकृति के साथ शिव का प्रतीक लिङ्ग भी है। शिव की एक दूसरी आकृति ताम्र-पट्ट पर मिलती है, जिसमें वे योगी रूप में दिखलाये गये हैं। उनके सामने दो सर्प बैठे हैं और गले में सर्प की माला भी है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में विविध आकारों के छोटे-बड़े अनेक लिंग और योनियाँ प्राप्त हुई हैं। नवीन पाषाण-युग का एक सुन्दर लिंग भी प्राप्त हुआ है। बड़े लिंग एक फुट से तीन फुट तक ऊँचे हैं।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि परवर्ती पौराणिक और आधुनिक शिव के व्यक्तित्व में सिन्धु सभ्यता की शिव-सम्बन्धी मान्यताओं का आधार अवश्य ही मिलता है।

आर्य-संस्कृति के ऋग्वैदिक रुद्र के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी बातें मिलती हैं, जो सिन्धु-संस्कृति के शिव में भी पायी जाती हैं। ऋग्वेद में रुद्र की एक उपाधि पशुप मिलती है।[1] रुद्र का संहारक रूप वैदिक स्तुतियों में विशेष रूप से दिखाई देती है। इसी संहार से मानव अपनी वंश-परम्परा, पशु और घरों को बचाने के लिए रुद्र की स्तुति करता था और उनके लिए हवि समर्पित करता था। वे पृथ्वी के सभी प्राणियों की चिन्ता करते हैं और साथ ही अपने साम्राज्य के सभी देवताओं को भी देखते हैं।[2]

वैदिक काल में ही आर्येतर शिव के व्यक्तित्व का आर्य रुद्र के साथ मिलन

---

१. ऋग्वेद १.११४.६

२. ऋग्वेद १.११४ तथा ७.४६.२

हुआ। शतरुद्रिय के अनुसार रुद्र या शिव मानवों की वसति से दूर रहते हैं। वे वन, पथ और पथिकों, चोरों और डाकुओं तथा व्रात्यों के स्वामी हैं। इस यजुर्वेद के वर्णन से प्रतीत होता है कि शिव का सम्बन्ध उन आर्येतर लोगों से भी है, जो आर्य-संस्कृति की परिधि से बाहर हैं। शतरुद्रिय में रुद्र के गण, गणपति, तक्षा, निषाद आदि पर्यायों से प्रतीत होता है कि वदिक रुद्र का आर्येतर जातियों के किसी पूज्य देवता के साथ तादात्म्य अवश्य हुआ।

आर्येतर जातियों से इस देव के निकट सम्बन्ध की कल्पना का प्रमाण अथर्ववेद के इस वाक्य से मिलता है—देवताओं ने महादेव (पशुपति, शर्व, धनुर्धर-भव, रुद्र, उग्र) को विभिन्न दिशाओं के व्रात्यों का अधिष्ठाता बनाया है। इससे भी ज्ञात होता है कि व्रात्यों के द्वारा पूजित अनेक देवताओं को वैदिक रुद्र की समकक्षता प्राप्त हुई थी।[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र-शिव को उसी स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है, जिस पर उपनिषद् का ब्रह्म या गीता का विष्णु प्रतिष्ठित है। इसके अनुसार रुद्र अनन्यतम देव है। उसी का संसार पर शासन है। वही सभी व्यक्तियों में स्थित है। वह सबकी रचना करता है अथवा संहार करता है। वह देवताओं का आदि प्रभव है। उसी से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई है। इसी परब्रह्म और सर्वव्यापक ईश (रुद्र, शिव) को जानकर मानव अमर बन जाता है।[2]

महाभारत में शिव की महिमा योद्धा के रूप में सुप्रतिष्ठित है। शिव के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इस युग तक हो चुका था। वे सर्वभूत-महेश्वर, सर्वेश्वर, कल्याणकारी, परमकारण, सर्वव्यापक आदि उपाधियों से अलंकृत हैं। स्वयं अर्जुन और कृष्ण शिव से मिलने के लिए हिमालय पर जाते हैं और उनसे वर पाने के लिए स्तुति करते हैं।[3] इन उपाधियों से तथा अर्जुन (नर) और कृष्ण (नारायण) के उनकी वन्दना करने से ज्ञात होता है कि महाभारत काल में शंकर का स्थान पूज्य था।

महाभारत में उमा और शिव से पशुओं की उत्पत्ति बताई गई है। इसके अनुसार ब्रह्मा और विष्णु शिव की परिचर्या करते हैं। स्वयं कृष्ण ने भी महादेव की प्रसन्नता के लिए तप किया है और अन्त में कृष्ण को महादेव और उमा ने वर दिये हैं।[4]

---

१. अथर्ववेद १५.५ १–७

२. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.४,७

३. महाभारत वनपर्व ३८ से ४०वें अध्याय तक।

४. महा० अनुशासनपर्व १४वाँ अध्याय

पौराणिक शिव

पौराणिक साहित्य के अनुसार ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्या, क्षमा, धृति, सृष्टि-योग्यता, शासन-गुण और आत्मसंबोध---ये दस गुण शंकर में सदैव वर्त्तमान रहते हैं। वे देवता असुर और ऋषियों में सबसे अधिक तेजस्वी हैं। इसी से उनका नाम महादेव है। उन्होंने ऐश्वर्य से देवों को बल से असुरों को और ज्ञान से ऋषियों को पराजित किया है। शिव परम योगी हैं।[१] शिव के आठ रूप---पाँच तत्त्व, सूर्य, चन्द्र और दीक्षित ब्राह्मण के प्रतीक हैं। इनका समादर शिवतत्त्व का अधिष्ठान होने के कारण है।[२]

शिव में अपने कार्यों को सिद्ध करने की अद्भुत शक्ति थी। उन्होंने दक्ष का यज्ञ-विध्वस करने के लिए अपने मुँह से जाज्वल्यमान अग्नि की भाँति वीरभद्र को उत्पन्न करके उसे अपने काम पर नियुक्त किया। देवी पार्वती के क्रोध से भयंकर माहेश्वरी भद्रकाली उत्पन्न हुई थी। उसने वीरभद्र का साथ दिया।[३]

शिव का लोकरक्षक स्वरूप प्रशंसनीय है। उनका विषपान लोक-रक्षा के लिए ही था। आत्माराम होते हुए भी शिव लोक-रक्षा के लिए शक्ति (शिवा) के साथ विचरण करते हैं।[४]

माहेश्वर योग

शिव की योग सम्बन्धी प्रवृत्तियों की भक्तों में प्रतिष्ठा हुई। उनका योगपथ माहेश्वर कहा जाता है। इसमें प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण-इन पाँच तत्त्वों की प्रतिष्ठा की गई है। इस पथ के उपासक वासना से रहित एवं शरद् ऋतु के आकाश के समान निर्मल हो जाते हैं। शैवपथ के मुनि आत्मा में मन को लगाकर उपासना करते हैं। इनके अनुसार प्राणायाम से दोषों का, धारणा से पाप का, प्रत्याहार से विषय-समूह का और ध्यान से अनीश्वर गुणों का नाश होता है।[५] लिंगपुराण में शिवलिंग की पूजा का विशेष माहात्म्य बतलाया गया है।[६]

शाक्त सम्प्रदाय

शाक्त सम्प्रदाय में सृष्टि के उद्भव और विकास में दिव्य शक्ति का

---

१. वायुपुराण १०.६५-६८
२. वायुपुराण २७वाँ अध्याय
३. वायुपुराण ३०.११४,२९६
४. भागवत ४.२४.१८
५. वायुपुराण १०.७१-९४
६. लिंगपुराण ३०वाँ अध्याय

सर्वाधिक महत्त्व है। शक्ति का नारी-स्वरूप है। वास्तव में सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का स्थान प्रत्यक्ष ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

शाक्त सम्प्रदाय का प्राचीनतम मूल सिन्धु-सभ्यता की मातृदेवी की पूजा में मिलता है। उस समय माता-रूप में प्रकृति या पृथ्वी की पूजा होती थी। वैदिक साहित्य में अदिति और पृथ्वी को देवताओं की कोटि में रखकर आदिशक्ति की प्रतिष्ठा की गई है।[1] यही अदिति आदित्य-वर्ग के सर्वश्रेष्ठ देवों की माता है। वह पृथ्वी को भी धारण करती है।[2] अथर्ववेद के अनुसार--

> एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
> मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता विचष्टे।। १०.८.३०

यही शक्ति की वैदिक रूप-रेखा का स्पष्ट परिचय है।

पौराणिक युग में जिन गुणों से समन्वित होकर कोई देव या देवी भक्तों की दृष्टि में सर्वोच्च अथवा पूजनीय पद पा सकता था, वे स्पष्ट ही अदिति में वर्त्तमान हैं। उपनिषद् म भी गायत्री और तत्स्वरूपिणी पृथ्वी को सारी सृष्टि का रक्षक बताया गया है।[3] केन उपनिषद् की हैमवती उमा उसी शक्ति का परिचय देती है।

शैव सम्प्रदाय में शक्ति को शिव की पत्नी मान लिया गया। उसी शक्ति की प्रेरणा से शिव अपने कामों में प्रवर्तित होते हैं। शिव का कार्य-कलाप सृष्टि की रचना, पोषण और संहार मानकर शक्ति को इन सभी के लिए नियोजिका रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। पौराणिक युग में शक्ति के स्वतन्त्र रूप से असंख्य महान् पराक्रमों के कथानक मिलते हैं, जिनसे केवल मानव-समाज को ही नहीं, अपितु देवताओं को भी शक्ति की सहायता की अपेक्षा प्रतीत होती है।

शाक्त दर्शन के अनुसार शिव वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अखिलानुगत, प्रकाश और अकर्ता हैं। उनकी शक्ति ही सारे कार्यों के मूल में है। वह सभी जीवात्माओं को समन्वित करती है। शक्ति से समन्वित शिव सृष्टि के लिए समर्थ हैं। शिव प्रकाश हैं और शक्ति विमर्श। विमर्श शिव का शाश्वत गुण है। शक्ति के ज्ञान से मुक्ति सम्भव होती है।

सिन्धु-सभ्यता के युग से ले कर पौराणिक युग तक आर्य और आर्येतर वर्गों के द्वारा शक्ति या उसके समकक्ष अनेक अन्य देवियों की आराधना का प्रचलन था। आर्य और

---

१. ऋग्वेद १.८९.१० के अनुसार माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा आदि सब कुछ अदिति है।

२. ऋग्वेद १.१३६.३

३. छान्दोग्य० ३.१२.१-३

आर्येतर वर्गों के धार्मिक विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से तथा विविध वर्गों के पारस्परिक मेल-जोल से शक्ति आदि विभिन्न देवियों का विलयन हुआ। विलयन की इस प्रक्रिया में प्रायः सारी देवियों के नाम स्तोत्रों में उनके पराक्रमों के स्मारक-स्वरूप वर्तमान रहे। उनकी विविध पूजा-विधियों को भी शास्त्रों में स्थान मिला। इस सम्प्रदाय को शास्त्रीय रूप देने की प्रक्रिया में शक्ति नाम को विशेष समादर प्राप्त हुआ। यही कारण है कि शक्ति के स्वरूप और उसकी आराधना-विषयक विविधताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

शाक्त सम्प्रदाय के तन्त्र-साहित्य में शक्ति के आनन्द-भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी और ललिता नामों को प्रमुख स्थान मिला। शिव आनन्दभैरव या महाभैरव हैं। आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी का सामरस्य ही सृष्टि का समारम्भ है। आनन्दभैरवी उत्पादन में और आनन्दभैरव सृष्टि के संहार में प्रमुख भाग लेते हैं।

शिव और शक्ति के सम्बन्ध का दार्शनिक निरूपण किया गया है। सृष्टि के पहले शिव और शक्ति ही थीं। शिव प्रकाश-रूप से शक्ति के विमर्श-रूप में प्रतिष्ठित होकर बिन्दु-स्वरूप बन जाते हैं। शक्ति भी शिव में प्रवेश करती है। तभी बिन्दु का विकास होकर नाद बनता है। नाद और बिन्दु के संयोग से काम की उत्पत्ति होती है। काम का श्वेत और रक्त बिन्दुओं का सम्पर्क होने पर कला की उत्पत्ति होती है। काम और कला के संयोग से त्रिपुरसुन्दरी-स्वरूप कामकला निष्पन्न होती है। इसी से अखिल विश्वात्मक सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है और पद और पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त त्रिपुरसुन्दरी से तादात्म्य कर लेना शक्ति की सर्वोच्च सिद्धि है। इसके लिए प्रथम सोपान है अपने को स्त्री समझना। तादात्म्यपरक दीक्षाओं के अनुसार शक्ति और शिव का कामकला-रूप से ध्यान किया जाता है, श्रीचक्र को यौन-प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करके उसकी पूजा की जाती है। अथवा शाक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

शाक्त सम्प्रदाय के आचार की दृष्टि से दो भेद हैं—कौलिक और समयी। कौलिक मांस, मदिरा, मधु, मद्य आदि पंचमकारों से येन केन प्रकारेण नारी सुलभ ऐन्द्रियक सुखों को अपनाकर शक्ति को प्रसन्न करने का प्रत्यक्षतः घृणास्पद आयोजन करते हैं। समयी इस प्रकार के आयोजनों से दूर रहते हैं। वे प्रतीकवाद का सहारा लेकर अपनी आराधना को पूर्ण मान लेते हैं।

भैरवीचक्र की आराधना के समय आराधकों के बीच जाति-सम्बन्धी भेदों का लोप माना जाता है। सभी जाति के लोग ब्राह्मण बन जाते हैं। पूजा समाप्त होते ही सभी पूर्ववत् अपनी जाति अपना लेते हैं।

गाणपत्य सम्प्रदाय

रुद्र के गण मरुतों का ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। मरुतों के गणों के अधिपति गणपति को वैदिक काल में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। महाभारत में गणपति के समकक्ष विनायक का नाम मिलता है। इन दोनों देवताओं को सर्वव्यापी माना गया है। उनके सम्बन्ध में धारणा है कि वे मानवों के कार्य को देखते हैं। स्तुतियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विनायक मानवों की विपत्तियों को दूर कर देते हैं। मानवगृह्यसूत्र में विनायकों की विघ्नकारिणी प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। उनका स्वरूप इस प्रकरण में आधुनिक भूतों के प्रायः समान पड़ता है।[1] याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार विनायकों को रुद्र और ब्रह्मदेव के द्वारा गणों का अधिपति नियुक्त करके मानवों की कार्य-पद्धति में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करने का काम दिया गया है। इस प्रकरण में विनायक की माता अम्बिका हैं।[2]

गणपति के नाम पर जो सम्प्रदाय चला उसकी छः शाखाएँ मिलती हैं। इनमें से महागणपति के आराधक उन्हे ही आदिदेव मानकर प्रलय-काल में उनके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं मानते। इस प्रकार वे सृष्टि के आदिकर्त्ता हैं। वे ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं। महागणपति का एकदन्त वाला शुण्डमुख तथा शक्ति से आश्लिष्ट स्वरूप ध्येय है। हरिद्रा गणपति के उपासक गणपति को हल्दी में रँगे परिधान वाले पीत यज्ञोपवीतधारी, चतुर्भुज, त्रिनेत्र, पीतानुलिप्त मुख वाले, हाथ मे पाश, कुश तथा दण्डधारी स्वरूप का ध्यान करते हैं। उनके अनुसार गणपति से ब्रह्मसमेत समग्र सृष्टि का उद्भव हुआ है। हरिद्रा-गणपति के उपासक अपनी बाँहों पर गणपति के मुख और दन्त की मुद्रा तपाये हुए लोहे से मुद्रित कराते हैं। उच्छिष्ट गणपति के उपासक वाममार्गी हैं और आचार-विचार में प्रायः कौल शाक्तों के समान पड़ते हैं। वे गणपति के अश्लील स्वरूप की पूजा करते हैं। मदिरा और मदिराक्षी का सेवन उनका परम विकास है। उनके ललाट पर लाल मुद्रा होती है। उनके लिए संध्या-वन्दन आदि वैकल्पिक रहे हैं।

गाणपत्य सम्प्रदाय की अन्य तीन शाखाएँ नवनीत, स्वर्ण और सन्तान हैं। ये तीनों गणपति को सर्वोच्च देव मानकर उन्हीं के अवयव-स्वरूप अन्य देवताओं की प्रतिष्ठा करके उनकी पूजा करते हैं।

सभी धार्मिक पूजाओं में गणपति की अर्चना का विधान है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी युग में गाणपत्य सम्प्रदाय की अतिशय लोकप्रियता गणपति को सनातन प्रतिष्ठा प्राप्त करा सकी होगी।

---

१. मानवगृह्यसूत्र २.१४

२. याज्ञवल्क्यस्मृति १.२७१-२८०

सौर सम्प्रदाय

वैदिक काल में सूर्य और उसके पर्यायवाची शब्दों से अनेक देवताओं की अभिव्यक्ति होती थी। विश्व को प्रत्यक्ष ही प्रकाश देने के सम्बन्ध से उसके गुणों पर वैदिक ऋषियों का मुग्ध हो जाना स्वाभाविक था। सूर्य या सविता को आचार्य रूप मे ग्रहण किया गया और शिक्षण-पद्धति की सन्ध्योपासन-विधि में गायत्री की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई।[1] इसके साथ ही गृहस्थ और वानप्रस्थ की सन्ध्योपासन-विधि में सूर्य की आराधना होती थी। इस दृष्टि से भारतीय समाज में सूर्य की शाश्वत प्रतिष्ठा धार्मिक क्षेत्र में बनी रही।

पौराणिक युग में सौर सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन का एक ही आधार हो सकता था कि सूर्य अखिल जगत् का आदि कारण और साथ ही विलयन का अधिष्ठान हो। इस प्रतिष्ठा के लिए सौर सम्प्रदाय के उद्भावक वैदिक साहित्य में प्रचुर प्रमाण मिलते है, यथा--'सूर्य चराचर का आत्मा है'[2] आदित्य ब्रह्म है'।[3]

विष्णु के समान सूर्य की आराधना की विधियाँ हैं। कुछ पूजा सम्बन्धी विशेषताएँ—सूर्यनमस्कार, अर्घ्यदान आदि रही हैं। सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्योन्मुख होकर मन्त्र या स्तोत्र का जप आदित्य-व्रत था। षष्ठी या सप्तमी तिथियों में दिन भर उपवास रहकर भगवान् भास्कर की पूजा करना पूर्ण व्रत था। पौराणिक धारणा के अनुसार जो-जो पदार्थ सूर्य के लिए अर्पित किये जाते हैं, उन्हें लाख गुना करके सूर्य की एक दिन की पूजा सैंकड़ो यज्ञों के अनुष्ठान से बढ़कर मानी गई।[4]

सौर पुराणों में सूर्य को सर्वश्रेष्ठ देव बतलाया गया है और सभी देवताओं को इन्ही का स्वरूप कहा गया है। इन पुराणों के अनुसार सूर्य बारंबार जीवों की सृष्टि और संहार करते हैं। ये पितरों के भी पिता और देवताओं के भी देवता हैं। जनक, बालखिल्य व्यास तथा अन्य संन्यासी योग का आश्रय लेकर सूर्य-मण्डल में प्रवेश कर चुके हैं। सूर्य सम्पूर्ण जगत् के माता-पिता और गुरु हैं।[5]

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १.२०.६

२. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद १.११५.१

३. तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१.१

४. ब्रह्मपुराण २९वाँ अध्याय

५. ब्रह्मपुराण २९-३०वाँ अध्याय

सूर्य के द्वादश रूप हैं। इनमे से इन्द्र देवताओ का राजा है, धाता प्रजापति है, पर्जन्य जल बरसाता है, त्वष्टा वनस्पति और ओषधियों मे विराजमान है, पूषा अन्न मे स्थित है और प्रजाजनो का पोषण करता है, अर्यमा वायु के माध्यम से सभी देवताओं मे स्थित है, भग देहधारियो के शरीर मे स्थित है, विवस्वान् अग्नि मे स्थित है और जीवों के खाये हुए भोजन को पचाता है, विष्णु धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते है, अंशुमान् वायु मे प्रतिष्ठित होकर प्रजा को आनन्द प्रदान करता है, वरुण जल मे स्थित होकर प्रजा की रक्षा करता है और मित्र सम्पूर्ण लोक का मित्र है। सूर्य का उपर्युक्त व्यक्तित्व उसकी अतिशय लोकप्रियता का कारण है।[1]

सूर्य के सहस्रनामो की कल्पना स्तोत्र-रूप मे विकसित हुई। इन्ही नामों का एक संक्षिप्त संस्करण बना, जिसमे २१ नाम हैं। इसको स्तोत्रराज की उपाधि मिली। इससे शरीर के आरोग्य, धन की वृद्धि और यश-प्राप्ति की सम्भावना थी।[2]

सौर सम्प्रदाय के अनुयायी ललाट पर लाल चन्दन की सूर्य की आकृति बनाते है और लाल पुष्पों की माला धारण करते है। वे ब्रह्म-रूप मे उदयोन्मुख सूर्य की, ईश्वर-रूप मे मध्याह्न सूर्य की तथा विष्णु-रूप मे अस्तोन्मुख सूर्य की पूजा करते हैं। सूर्य के कुछ भक्त उसे विश्वात्मा मानकर नित्य सूर्य-मण्डल को देखने का व्रत लेते हैं। कुछ भक्त तो सूर्य को देखे विना भोजन नही करते। कुछ लोग सूर्य की मुद्रा को तपाये हुए लोहे से ललाट पर अकित करके निरन्तर उसके ध्यान मे मग्न रहने का विधान अपनाते हैं।

भारत में सूर्य के कुछ उपासक तीसरी शती ईसवी मे बाहर से आये।[3] ऐसी जातियों में मगों का नाम उल्लेखनीय है। राजपूताने मे मग जाति के ब्राह्मण आजकल भी मिलते हैं। यह जाति मूलतः प्राचीन ईरान की मग जाति है। वही से ये भारत मे आये। कुशान-युग मे उनकी सूर्य की पूजा-विधि ईरान से भारत आई।

---

१. ब्रह्मपुराण २६-३०वाँ अध्याय

२. ब्रह्मपुराण ३१.३१-३३

३. विदेशों मे भी कही-कही सूर्य-पूजा प्रचलित थी। सिकन्दर स्वयं सूर्य का उपासक था। उसने भारत पर विजय की आशा से उगते हुए सूर्य की पूजा की और अपनी कामना पूर्ण करने के लिए निवेदन किया। सूर्य-पूजा का प्रसार एशिया माइनर से रोम तक था।

भारत में सूर्य की पूजा से सम्बद्ध बहुत से मन्दिर पाँचवीं शती के आरम्भिक काल से ही बनते रहे। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध और आज भी वर्त्तमान तेरहवीं शती का कोणार्क का सूर्य-मन्दिर है। छठीं शती से कुछ राजा प्रमुख रूप से सूर्य की उपासना करते रहे हैं। इनमें से हर्षवर्धन और उसके पूर्वजों के नाम प्रसिद्ध हैं।

सौर सम्प्रदाय का परिचय ब्रह्मपुराण के अतिरिक्त सौर पुराण से मिलता है। ब्रह्मपुराण में सूर्योपासना की प्रमुखता होने के कारण इसे भी सौर पुराण कहते हैं। सौर पुराण में शैव सम्प्रदायों का परिचय विशेष रूप से मिलता है। इसमें शिव का सूर्य से तादात्म्य भी दिखलाया गया है। स्वयं सूर्य से कहलाया गया है कि शिव की उपासना श्रेयस्कर है।[१]

साम्प्रदायिक सहिष्णुता

भारतीय धर्मों की साम्प्रदायिक सहिष्णुता उच्चकोटि की कही जा सकती है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण महाभारत की धर्म सम्बन्धी इस उक्ति में मिलती है--

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ वनपर्व १३१.११

(धर्म वही है जो किसी धर्म का विरोध नहीं करता। जो धर्म किसी दूसरे धर्म का विरोध करता है, वह कुधर्म है।)

वैदिक काल से ही आर्य धर्म और आर्येतर धर्म के अनुयायियों में जो परस्पर सम्मान की भावना थी, वही आगे चलकर पौराणिक धर्म को जन्म देने में समर्थ हुई।[२] परवर्ती युग में बौद्ध संस्कृति के अनुयायी गृहस्थों के लिए धार्मिक कर्मकाण्ड की वैदिक पद्धति को छोड़ना आवश्यक नहीं रहा। स्वयं गौतम ने अन्य धर्मों के सत्सिद्धान्तों के प्रति आदर प्रकट किया है और अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रति समभाव की प्रतिष्ठा की है।[३] जैन संस्कृति के अनुयायी अपने कर्मकांड को ब्राह्मण-पुरोहितों से सम्पादित कराते रहे हैं। इस संस्कृति के श्लाध्य महापुरुषों

---

१. *Winternitz: A History of Indian Literature Vol. I., p. 535-536*

२. व्रात्यों के प्रति जो समादर और आतिथ्य की भावना का प्रमाण अथर्ववेद में मिलता है, उससे सिद्ध होता है कि विधर्मियों अथवा अन्य मतावलम्बियों के प्रति वैदिक काल में भी लोग असहिष्णु नहीं थे। अथर्ववेद १५.११.१३ तथा ५.८.३

३. महावग्ग १.७.५

की सूची में राम, कृष्ण आदि को स्थान मिला। बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का कृष्ण से सम्बन्ध प्रतिष्ठित हुआ। ऐसी परिस्थिति में जैन समाज में वैष्णव वर्ग बन गया।[१]

पौराणिक धर्म की विविध प्रवृत्तियों में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव शंकर के सफल प्रयास से निष्पन्न हुआ। शंकर षण्मतस्थापनाचार्य हैं। उन्होंने शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य और कापालिक—छः सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को प्रामाणिकता प्रदान की और उनमें अन्तर्हित सत्य की प्रतिष्ठा की। शंकर ने विविध सम्प्रदायों के प्रधान देवों की प्रशंसा में स्तोत्रों की रचना की। शंकर का व्यक्तित्व वास्तव में सहिष्णुता की स्थापना की दिशा में आदर्श है।

मूलाधार

भागवत धर्म में अन्य सम्प्रदायों के प्रति आदर भाव रखने की शिक्षा दी गई है। कम से कम अन्य शास्त्रों के प्रति अनिन्दा का भाव ग्रहण करना चाहिए।

सहिष्णुता का मूलाधार है धर्माचार्यों की वह धारणा, जिसके द्वारा मान लिया गया कि एक सत् का विविध रूपों में वर्णन हो सकता है।[२] इसी सत्य की एक बार प्रतिष्ठा हो जाने पर धार्मिक सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष रूप से परस्पर विरोध होने पर उनकी एक सूत्रात्मकता की अभिव्यक्ति वास्तविक मानी जाती थी। इसी प्राकृतिक प्रवृत्ति का निदर्शन ऋग्वेद के इस कथन में भी मिलता है—सड़क एक है, रथ बहुत से हैं।[३]

वैदिक काल में धार्मिक सहिष्णुता का आदर्श देवताओं के चरित के अनुरूप विकसित हुआ। पृथ्वी की सहिष्णुता अनुपम प्रतीत होती है। पृथ्वी विविध प्रकार की भाषाओं और धर्मों के अपनाने वालों को धारण करती है।[४] वह मूर्ख और विद्वान् दोनों को धारण करती है। उस पर अच्छे और बुरे दोनों रहते हैं।[५]

भारत के प्रायः सभी धर्मों में प्राणिमात्र पर दया, विश्वबन्धुत्व, सत्य, अहिंसा और आचार-विचार की शुद्धता को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, समान रूप से महापुरुषों की प्रतिष्ठा की गई और व्रत तथा उपवास के द्वारा शारीरिक तथा

---

१. *Radhakrishnan : Indian Philosophy Vol. I., p 331*

२. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

३. एकं नियानं बहवो रथासः। ऋग्वेद १०.१४२.५

४. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथ्वी यथौकसाम्।
अथर्ववेद १२.१.४५

५. अथर्ववेद १२.१.४८

मानसिक शुद्धता सम्भव बताई गई। घृणा को किसी धर्म ने नहीं अपनाया। इससे स्पष्ट है कि किसी दूसरे धर्म के प्रति द्वेष-भाव रखना किसी धर्म ने नहीं सिखाया। पद्मपुराण में अपने धर्म की रक्षा के लिए दूसरे धर्म का दोष न निकालने की सीख दी गई है।[1]

पौराणिक युग में धर्मों की सहिष्णुता-भावना बढ़ती हुई दिखाई देती है। प्रत्येक धर्म में दूसरे धर्मों की अच्छी-अच्छी बातों को उस युग में ले लेने की चेष्टा की गई। गौतम बुद्ध को पौराणिक धर्म मे विष्णु का अवतार मान लिया गया। और बौद्ध आदर्शों के अनुरूप पशु-हिंसामय यज्ञों का विरोध किया गया। परिणामतः बौद्ध धर्म पौराणिक धर्म का अङ्ग बन कर विलीन हो गया। धार्मिक सहिष्णुता की यह सर्वोच्च विजय थी।

धार्मिक सहिष्णुता को सुदूर प्राचीन काल मे राजकीय समर्थन मिला है। साधारणतः राजा अन्य सभी धर्मों के प्रति सद्भाव रखते थे और उनकी प्रगति में योग देते थे। कुछ राजाओं की इसी प्रवृत्ति का प्रभाव है कि आज यह अनुसन्धान कर लेना कठिन हो गया है कि उनका वास्तविक धर्म क्या था। ऐसे राजाओं में चन्द्रगुप्त मौर्य, हर्ष और कुमारपाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का सर्वोच्च आदर्श प्रतिष्ठित किया। वह प्रधान रूप से बौद्ध होते हुए भी अन्य धर्मों की उन्नति चाहता था। उसने एक शिलालेख के द्वारा कामना प्रकट की है कि सभी धार्मिक सम्प्रदायों की सुप्रतिष्ठा हो। उसने प्रजा को जिस धर्म की शिक्षा दी है, वह सभी धर्मों का निचोड़ है। यही उसका मानव-धर्म था।

राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता का ऐतिहासिक प्रमाण उनके धार्मिक व्यवहारों से मिलता है। इसके अनुसार महीपाल प्रथम ने गौतम बुद्ध के उद्देश्य से एक गाँव वाजसनेय शाखा के ब्राह्मण को दान में दिया। राजा शुभाकरदेव बौद्ध था। उसने २०० ब्राह्मणों के लिए दो गाँव दान में दिये। वलभी के राजा गुहसेन ने भिक्षुसंघ को चार गाँव दान मे दिये, यद्यपि वह स्वयं शैव था। बौद्ध विश्वविद्यालयों को विविध सम्प्रदायों के अनुयायी राजाओं ने आर्थिक सहायता दी। वैदिक धर्म के अनुयायी गुप्त सम्राटों ने नालन्दा के विश्वविद्यालय को भरपूर आर्थिक सहायता दी। राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर के राजाओं का विभिन्न धर्मों के प्रति अतिशय उदार भाव था।[2]

धार्मिक सहिष्णुता का उच्च आदर्श प्राचीन कलाकारों ने प्रस्तुत किया है। कालिदास स्वयं शैव थे, किन्तु उन्होंने अपनी रचनाओं मे विष्णु की धार्मिक

१. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य परधर्म न दूषयेत्। सृष्टि-खण्ड १९.३३२

२. राजतरंगिणी १.१०२, १०७; ४.१८८, १९२-१९९, २०० तथा ८.३३९९

प्रतिष्ठा की है। अजन्ता के गुहा-चित्रों और मूर्तियों में बौद्ध धर्म की परिधि से बाहर के देवी-देवताओं को स्थान मिला है।

साधारण जन-समाज पर उपर्युक्त धार्मिक सहिष्णुता का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि भारत के पौराणिक इतिहास में आर्यों का धर्म के नाम पर आर्येतर जातियों से लड़ने के अनेक उल्लेख मिलते हैं, पर इन सभी युद्धों का विवेचन करने से प्रतीत होता है कि आर्यों को अपनी संस्कृति की रक्षा में युद्ध करना पड़ा। उन्होंने दूसरे धर्मों के अनुयायियों को धर्म के नाम पर कभी मारा-काटा नहीं, अपितु आर्य समाज में आर्येतर लोगों को उनके धर्म के साथ ही अङ्गीकार कर लिया। भारत के बाहर से जिस किसी धर्म के अनुयायी आये, उन्हें प्रायः सदा ही भारतीय समाज ने धार्मिक स्तर पर अङ्गीकार करने की उत्सुकता प्रकट की। इस दिशा में भारत को प्रायः सफलता मिली।

चाहे गृहस्थ किसी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो, उसने किसी भी अन्य धर्म के अनुयायी आचार्यों का आतिथ्य किया और उनकी उपदेश भरी वाणी ध्यान से सुन कर आत्म-तोष प्राप्त किया। बौद्ध संघ को ब्राह्मणों से प्रायः निमन्त्रण मिला करते थे।[1] जैन साधुओं को इसी प्रकार समाज से भोजन, वस्त्र आदि आदर-भाव के सहित मिला करता था। ऐसी परिस्थिति में अनेक धर्मों के अनुयायी आचार्य और गृहस्थ एक स्थान पर प्रेमपूर्वक रहते थे।[2] एक ही स्थान पर विभिन्न धर्मों की संस्थायें और शिक्षण-केन्द्र होते थे। ऐसे केन्द्रों में मथुरा, काशी, साँची, भिलसा, एलोरा आदि आज भी उस प्राचीन युग की धार्मिक सहिष्णुता का स्पष्ट परिचय देते हैं।

कुछ शिक्षण-संस्थाओं में विविध धर्मों की शिक्षा देने का आयोजन किया गया था। नालन्दा का विश्वविद्यालय इस प्रकार की संस्थाओं में सर्वोच्च था। बाण ने हर्षचरित में हर्ष के राज्यश्री को ढूँढ़ते समय विन्ध्याचल पर दिवाकर मित्र की विद्यापीठ में जा पहुँचने का उल्लेख किया है, जहाँ विविध सम्प्रदायों के धर्माचार्य अपने विषय का प्रतिपादन कर रहे थे।

पौराणिक युग में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की एक साथ पूजा का साधारण प्रचलन

१. उदाहरण के लिए देखिये महावग्ग ६.३५—केनिय नामक ब्राह्मण ने बौद्ध संघ के १,२५० भिक्षुओं को गोरस के साथ पेय और भोजन दिया।

२. उदाहरण के लिए देखिये मथुरैश्वर्यराजि। उसके अनुसार मथुरा में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी साथ-साथ प्रेमपूर्वक रहते थे।

था।[1] एक ही मन्दिर में सैकड़ों देवी-देवताओं की मूर्तियों की प्रतिष्ठा होती थी और उन देवताओं के सम्प्रदाय के अनुयायी वहाँ साथ ही सबकी पूजा करते थे। एक ही कुटुम्ब में विविध देवताओं से सम्बद्ध सम्प्रदायों के अनुयायी अथवा विभिन्न धर्मों के अनुयायी भी साथ-साथ रहते थे। हर्षवर्धन सम्भवतः शैव या सूर्योपासक था। उसका बड़ा भाई राज्यवर्धन बौद्ध था। हर्ष का पिता सौर सम्प्रदाय का था।[2] इस दृष्टि से यह कुटुम्ब मौर्यों के कुटुम्ब से मिलता-जुलता था, जिसमें चन्द्रगुप्त सम्भवतः जैन था, अशोक बौद्ध था, सम्प्रति जैन था और शालिशूक बौद्ध था।

सुदूर प्राचीन काल से विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के परस्पर विवाह-सम्बन्ध आदि भी होते थे। आ` और आर्येतर धर्मावलम्बियों के वैवाहिक संबन्धों के अनेक उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलते हैं। बौद्ध-युग में विभिन्न मतावलम्बियों के विवाह होते थे।[3]

गौतम बुद्ध ने धार्मिक असहिष्णुता की जड़ काटते हुए कहा—किसी सम्प्रदाय के अनुयायी का दूसरे सम्प्रदाय वालों को मूर्ख कहना अनुचित है। अपने मत को सर्वोपरि मान कर दूसरे मत की निन्दा करना हीन कर्म है। रूढ मतों को छोड़ देने वाला किसी के साथ विवाद नहीं करता। गौतम के अनुसार अस्थिर मनुष्य ही वाद-विवाद में पड़ता है, निश्चल मनुष्य इससे दूर रहते हैं।[4]

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव छठीं शती ई० पू० में हुआ था। उनको तत्कालीन प्रचलित धार्मिक पद्धतियों में मानव को सर्वथा निश्चिन्त बनाने वाले स्पष्ट आयोजनों का अभाव-सा लगा। उनकी तर्क-बुद्धि सुविकसित थी। सत्य की खोज में भ्रमण करते हुए उन्होंने समसामयिक कुछ आचार्यों से जीवन के वास्तविक तत्त्वों के विषय में जब कुछ सीखना चाहा तो उन्हें प्रतीत हुआ कि उन आचार्यों के व्यक्तित्व और शिक्षण का स्तर इतना ऊँचा नहीं है कि वे मेरी समस्याओं की गुत्थियों को सुलझा पाते। पूर्ववर्ती उपनिषद्-युग में निःसन्देह ऋषियों का वह वर्ग

१. कादम्बरी पृ० ४०

२. हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग आकर तीन दिनों तक क्रमशः बुद्ध, आदित्य और शिव की मूर्ति स्थापित करके सभी धर्मावलम्बियों को तीन मास तक दान देता था।

३. सुवण्णमिग जातक ३५९

४. सुत्तनिपात में चूलवियूहसुत्त तथा दुट्ठक सुत्त

था, जो इस प्रकार की दार्शनिक गुत्थियों का समुचित समाधान कर सकता था। उन ऋषियों के अभाव में उनके ज्ञान की वास्तविक व्याख्या करने वालों का सम्भवत: अभाव था। ऐसी परिस्थिति में गौतम को किसी महान् आचार्य का साहचर्य नहीं प्राप्त हो सका। उन्हें अपने पूर्ववर्ती उपनिषद् के ऋषियों की शिक्षायें अवश्य ही सुनने-सुनाने के माध्यम से प्राप्त हो चुकी थीं। गौतम ने इन उपनिषदों से जो जीवन-दर्शन की ज्ञान-निधि पायी, उसे अपने मनन, चिन्तन और निदिध्यासन से संवर्धित करके सर्व साधारण जीवन की दु:खमयी प्रवृत्तियों का निरोध करने के लिए एक अभिनव पथ का प्रदर्शन किया। वे इस पथ पर चलने वालों के नेता थे। इस दिशा में वे समग्र मानवता के प्रथम आचार्य थे।[1] गौतम का धर्म प्रधानत: मनोवैज्ञानिक था। जीवन में अधिकाधिक शान्ति पाने के लिए उनकी दृष्टि में आधिभौतिक साधनों की उतनी महिमा नहीं है, जितनी मानसिक शिक्षण की और जागतिक व्यवहारों की व्यर्थता से शिक्षा लेने की। ऐश्वर्यादि को वे सुखद न मान कर दु:खद मानते थे।

गौतम ने जिस जीवन-दर्शन का आकलन किया, वह प्रारम्भ में शास्त्रीय दृष्टि से अतिशय सरल और सुरुचिपूर्ण था। अन्य दर्शनों की आचार-सम्बन्धी धारणाओं से उनका कोई विरोध नहीं था। कोरे दर्शन की आध्यात्मिक गुत्थियों के विषय में वे प्राय: मौन थे। उनके जीवन-काल में उनके अनुयायियों और प्रशंसकों की संख्या लाखों तक जा पहुँची थी। ऐसे लोगों का समुचित संघटन गौतम ने स्वयं किया। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म की परिस्थितियों का यही संक्षिप्त स्वरूप था।

परवर्ती युग में बौद्ध धर्म अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया। अशोक ने इस धर्म को अधिक प्राञ्जल और ग्राह्य बनाने का सफल प्रयास किया। अशोक के युग में बौद्ध जीवन-दर्शन-सम्बन्धी चिन्तन का उत्तरोत्तर विकास हुआ। उस नवीन चिन्तन का मूलाधार गौतम की शिक्षा थी। इस नवीन प्रकार संवर्धित धर्म का नाम हीनयान है। इसका समारम्भ अशोक के युग में माना जा सकता है। अशोक के समय से कनिष्क के युग तक अन्य दर्शनों और धर्मों के प्रभाव से समन्वित बौद्ध धर्म का नाम

---

१. मैक्समूलर ने बौद्ध धर्म के विषय में कहा है—

Buddhism is the highest Brahmanism popularised, every thing esoteric being abolished, the priesthood replaced by monks and these monks being in their true character the successors and representatives of the enligtened dwellers in the forest of the former ages.

Last Essays Second, Series (1901), p. 121

महायान है। हीनयान में उस युग की नई चेतनाओं को स्थान मिला। बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा उपनिषदों की ज्ञानाश्रयी शाखा के समकक्ष तपःप्रधान थी और महायान शाखा पौराणिक धर्म के अनुरूप भक्ति-प्रधान थी।

गौतम के चरित का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि अपने जीवन के पूर्वार्ध में वे प्रायः अपनी वैयक्तिक शान्ति की खोज में संलग्न थे और उत्तरार्ध काल में वे समस्त मानवता की शान्ति के लिए प्रयत्नशील रहे। मानव-समाज में अपने अभ्युत्थान के लिए जो लोग समुत्सुक मिले, उन्हे गौतम ने दो वर्गो में रखा--(१) वैयक्तिक शान्ति चाहने वाले और (२) गृहस्थाश्रम में आदर्श जीवन विताने की कामना करने वाले। गौतम ने इन दोनों वर्गो के लोगों के लिए जिस धर्म का आकलन किया, वे क्रमशः भिक्षु-धर्म और गृहस्थ-धर्म कहे जा सकते हैं। इनमें से पहला अन्तःशुद्धि-प्रधान है और दूसरा आचार-प्रधान। पहले में योग के द्वारा निर्वाण पाने की योजना है और दूसरे में समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा करके शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने का आदर्श है।

गौतम का अभ्युन्नति-पथ धर्म-प्रधान था, दर्शन-प्रधान नहीं। उन्होंने निर्वाण के लिए ज्ञान को एकमात्र साधन माना ही नहीं, साथ ही यह भी नहीं कहा कि ज्ञान मुक्ति की दिशा में स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सहायता कर सकता है। ज्ञान गौतम की दृष्टि मे दीपक है। उस दीपक की तभी तक आवश्यकता है, जब तक पथ न जान ले। पथ पर चलना वास्तविक अभ्युदय है। अन्य दर्शनों में ज्ञान को मुक्ति का साधन माना गया।

धर्म क्या है? इस विषय में गौतम का मत स्पष्ट है। जो जीवन-पद्धति किसी व्यक्ति या समाज को निर्वाण के निकट पहुँचाती है, वह धर्म है। धर्म के नाम पर सदा से असंख्य विधि-विधान और धारणायें प्रचलित रहीं हैं, जिनको गौतम व्यर्थ मानते हैं। इनमें से यज्ञ-विधान का विरोध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वैदिक यज्ञ-विधान में देवताओं के परितोष के लिए पशु-हिंसा का प्रचलन गौतम को अरुचिकर प्रतीत हुआ। उन्होंने ऐसे यज्ञ का घोर विरोध किया।[1] गौतम की धार्मिक विचार-धारा में पूर्ववर्ती देवताओं, उनकी उपासना-पूजा एवं उपनिषदों के ब्रह्मवाद

१. गौतम ने यज्ञ के विषय में अपना मत दिया है--यज्ञ करने का उद्देश्य है पुनर्जन्म और ऐसी परिस्थिति में मृत्यु के पाश में पड़ना। यज्ञ करने वाले देवताओं से प्रार्थना करते हैं, स्तुति करते हैं, हवन करते हैं और अपने लाभ तथा काम-सुख की याचना करते हैं। यज्ञ में फँसे हुए लोग जन्म और जरा के महासागर को पार नहीं कर सकते--सुत्तनिपात पारायणवग्ग। गौतम का यह मत उपनिषद् और गीता की शिक्षाओं के प्रायः समकक्ष पड़ता है।

की प्रतिष्ठा का न होना इसे एक नया धर्म देना देता है क्योंकि वैदिक धर्म में ये ही दो बातें प्रधान हैं।[1] फिर भी वैदिक धर्म और दर्शन की बहुविध मान्यताएँ गौतम ने स्वीकार की है, जिनमें कर्म-फल, पुनर्जन्मवाद, मोक्ष आदि प्रमुख हैं। गौतम का निर्वाण उपनिषदों की मुक्ति या मोक्ष के प्रायः समकक्ष हैं। मोक्ष पाने के लिए गौतम ने अष्टांगिक मार्ग की प्रतिष्ठा की।

वैदिक संस्कृति के विचारकों ने दुःख के स्वरूप की समुचित कल्पना की थी। वे इहलौकिक भोग-विलास की वस्तुओं को अपरिमित मात्रा में पाकर दुःख को दूर करने की योजना बनाते रहे। इस जीवन में यज्ञ या देवपूजा के माध्यम से दूर करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती थी। मरने के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति भी यज्ञों के सम्पादन द्वारा सुलभ मानी गई। गौतम ने दुःख दूर करने के सम्बन्ध में कहा—इच्छाओं की पूर्ति का न होना ही दुःख नहीं है, अपितु इच्छा का उत्पन्न होना ही दुःख है। इसी की जड़ काटना है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी दुःख हैं, जिनका निवारण वैदिक यज्ञ भी नहीं कर सकते—जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, अप्रिय की प्राप्ति और प्रिय का वियोग—इनको वैदिक यज्ञों से नहीं रोका जा सकता।[2] इनसे छुटकारा कैसे मिले? गौतम ने उपनिषदों के ऋषियों की भाँति निर्णय किया कि इस जीवन में ऐसा प्रयत्न करना है कि पुनर्जन्म न हो। तब तो न रहेगा जन्म, जरा, व्याधि, इच्छा आदि का दुःख।

तृष्णा का त्याग

गौतम के अनुसार व्यक्तित्व का विकास करने के लिए मानव को अपने से बाहर किसी उपादान को नहीं ढूँढ़ना है। किसी बाह्य वस्तु की सहायता से वास्तविक

---

१. ब्रह्मवाद के सम्बन्ध में गौतम का कहना है—जिस चन्द्र-सूर्य को ये ब्राह्मण प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उन तक पहुँचने का मार्ग जब वे न जान ही सकते हैं, न बतला ही सकते हैं तो उस ब्रह्म-सायुज्यता के मार्ग का वे क्या उपदेश करेंगे, जिसे न उन्होंने ही कभी देखा है और न उनके आचार्यों ने ही। यदि ब्रह्म-सायुज्यता के मार्ग का वे उपदेश करते हैं तो यह एक विचित्र बात है। दीघनिकाय तेविज्ज-सुत्त। फिर भी गौतम ने ब्रह्मचर्य-विधान को अपनाया। इससे सनातन सांस्कृतिक परम्परा का ग्रहण करना स्वयं-सिद्ध है।

२. अंगुत्तर-निकाय के अनुसार चार बातें हैं, इन्हें कोई श्रमण या ब्राह्मण, देवता, मार या ब्रह्मा अथवा शिव या कोई प्राणी सम्भव नहीं कर सकता—(क) रोगशील को नीरोग रखना, (ख) मरणशील को अमर बनाना, (ग) नश्वर को अनश्वर बनाना, (घ) चलायमान को रोक देना।

लाभ की सम्भावना नहीं हो सकती । उन्होंने बतलाया कि ज्ञान के प्रकाश में अपनी चित्त-वृत्तियों को इस प्रकार सुसंस्कृत कर लेना है कि साधारण लोगों की भाँति इहलौकिक अथवा आधिभौतिक सिद्धियों और सांसारिक भोग-विलासों के पाश में न बँधना पड़े। ये ही दुःख के कारण बनते हैं। गौतम का यह आयोजन सर्वथा तर्कपूर्ण था।

मानव-समाज को गौतम शान्ति के पथ पर अग्रसर कराना चाहते थे। उन्होंने बतलाया कि जब तक समाज तृष्णाभिभूत है, तब तक दुःख बना ही रहेगा। मानव-जीवन के साथ तृष्णा का अटूट सम्बन्ध है। उन महर्षियों का जीवन अपवाद-स्वरूप है, जो तृष्णा के मृगम रीचिका-तत्त्व को समझ कर उसकी जड़ ही काटने पर तुले हुए हैं। तत्कालीन समाज निश्चय ही तृष्णाभिभूत था। वह अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिए धर्म के माध्यम से देवी-देवताओं की पूजा और उपासना करने में प्रवृत्त था। उपनिषदों के ऋषि तृष्णा को इस परिव्याप्ति से पूर्ण रूप से परिचित थे। उन्होंने इसके पाश से मुक्त होने का पथ भी ज्ञात कर लिया था, पर उस पथ को वे सार्वजनीन नहीं बनाना चाहते थे। उनका मत था कि केवल सुयोग्य शिष्यों को ही उपनिषद् की शिक्षाएँ पाने का अधिकार है। इसके विपरीत गौतम की योजना सार्वजनीन है।

गौतम ने सबके व्यक्तित्व के विकास की योजना बना दी। चाहे किसी वर्ण, वर्ग और व्यवसाय से कोई सम्बद्ध क्यों न रहा हो, वह गौतम की योजना के अनुसार समुन्नत जीवन के पथ पर चल ही सकता था।

गौतम ने तृष्णा के स्वरूप का केवल रहस्योद्घाटन ही नहीं किया, अपितु उसके साथ ही यह भी बतलाया कि तृष्णा की पूर्ति के लिए देवी-देवताओं की पूजा से भी कोई लाभ नहीं, उनके चक्कर में न पड़ो। जीवन का उद्देश्य तृष्णाओं की पूर्ति नहीं, अपितु तृष्णाओं का विनाश है। तृष्णाओं के इस स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति उन देवी-देवताओं के चक्कर से मुक्त था।

कर्मण्यता

विवेचनात्मक दृष्टि से यद्यपि गौतम ने सांसारिक वैभव को उपेक्षणीय बतलाया है और घोर श्रम से प्राप्तव्य सम्पत्ति के चारों ओर चिन्ता, शंका और त्रास की व्याप्ति देखी है, फिर भी वे गृहस्थों को कर्मण्य बनने का सतत उपदेश देते रहे। उन्होंने शिक्षा दी—आलस्य के फल महान् भयंकर हैं। आज का काम कल पर छोड़ने वाला व्यक्ति उपार्जन से तो विरहित होता ही है, साथ ही वह अपने पूर्वजों से

प्राप्त सम्पत्ति को भी नष्ट करता है। आलस्य सम्पत्ति-नाश का द्वार है।[1] सौ वर्ष के आलसी और पराक्रमहीन जीवन की अपेक्षा एक दिन का दृढ़ कर्मण्यता का जीवन कहीं अच्छा है।[2] गौतम ने कहा—धर्मपूर्वक माता-पिता का भरण-पोषण करो, व्यवहार और वाणिज्य करो। गृहस्थों को इस प्रकार आलस्य और प्रमाद छोड़कर अपना धर्म पालन करना चाहिए।[3]

कौटुम्बिक और सामाजिक संश्लिष्टता

कौटुम्बिक संश्लिष्टता की योजना गौतम के उन नियमों के मूल में है, जिनके अनुसार किसी भी युवक को कुटुम्ब के सदस्यों की अनुमति लिये बिना भिक्षु बनना सम्भव नहीं हो सकता। गृहस्थ के लिए गौतम ने छः दिशाओं का निर्देश किया—माता-पिता पूर्व दिशा, गुरु दक्षिण दिशा, पत्नी पश्चिम दिशा, बन्धु-बान्धव उत्तर दिशा, सेवक पाताल दिशा और साधु-सन्त आकाश दिशा के प्रतिनिधि हैं। इन सभी प्रतिनिधियों के प्रति अपनी सुशीलता का परिचय देना ही इनकी पूजा है—यथा बन्धु-बान्धवों के प्रति उपयोगी बनना, उनसे निष्कपट व्यवहार रखना, समान भाव से बरताव करना, सेवकों को यथोचित वेतन देना, रोगी होने पर उनकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि कुटुम्ब और समाज में मधुर वातावरण की सृष्टि करने के लिए हैं।[4]

गौतम ने सामाजिक संश्लिष्टता के लिए ही मानो निर्णय दिया है—समाज में वही व्यक्ति उच्चवर्गीय है, जिसके व्यक्तित्व से शान्ति और अभ्युदय का प्रसार हो। उसके विपरीत वह तो चाण्डाल ही है, जो समाज में अशान्ति का बीज बोता है। क्रोधी, वैर मानने वाला, पापी, गुणी जनों को दोष देने वाला तथा मायावी मनुष्य चाण्डाल है। गाँव और नगर को लूटने वाला, ऋण न लौटाने वाला, माता-पिता का पालन-पोषण न करने वाला, लाभप्रद उपाय पूछने पर हानिकर उपाय बताने वाला, दूसरे का आतिथ्य ग्रहण करने के पश्चात् उनका आतिथ्य न करने वाला और अयोग्य होने पर भी अपने को योग्य समझने वाला चाण्डाल है। कर्म से ही मनुष्य चाण्डाल होता है, कर्म से ही वह ब्राह्मण होता है।[5] जो पुरुष प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, न दी हुई वस्तु को उठा लेता है, पराई स्त्री के साथ सहवास करता है या शराब पीता है, वह लोक में अपनी जड़ स्वयं खोदता है।[6]

---

१. महादुक्खक्खन्ध सुत्तन्त ३-४ तथा सुत्तनिपात ३.४.१४
२. धम्मपद सहस्सवग्गो
३. सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त
४. बुद्धचर्या सिगालोवाद सुत्त
५. सुत्तनिपात वसल सुत्त
६. धम्मपद मलवग्ग

सामाजिक उच्चता के लिए गौतम ने लोकप्रिय मानदण्ड का निदर्शन किया है—वास्तव में महान् वही है, जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम हैं और जो मलरहित और धीर है।[१]

शरणत्रय

बौद्ध साहित्य के अनुसार गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही असंख्य गृहस्थ बौद्ध धर्मावलम्बी हो चुके थे।[२] गृहस्थों को उपासक कहा जाता था। उपासक बनने के लिए बुद्ध, धर्म और संघ—शरणत्रय म आश्रय लेने का व्रत लेना पड़ता था। लिच्छवियों का सेनापति सीह गौतम बुद्ध का शिष्य बन गया और गृहस्थ ही बना रहा।[३] अपराध करने पर उपासकों को दण्ड देने का अधिकार संघ को था। उपासक के क्षमाप्रार्थी होने पर प्रायः उन्हें क्षमा प्रदान कर दी जाती थी।[४]

आर्य-चतुष्टय

बुद्ध धर्म का समारम्भ आर्य चतुष्टय से होता है। इसका सम्बन्ध दुःख से है—दुःख है, दुःखों का कारण तृष्णा है, दुःख का निरोध सम्भव है तृष्णा के उन्मूलन से। पर तृष्णा से कैसे छुटकारा हो? इसके लिए बौद्ध धर्म का चौथा आर्य-सत्य है अष्टाङ्गिक मार्ग। यह अष्टाङ्गिक मार्ग अतिशय व्यापक है।

अष्टाङ्गिक मार्ग

दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्म, आजीविका, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक् (पूर्ण) होना अष्टाङ्गिक मार्ग है। इनमें से प्रथम दो प्रज्ञा, इसके पश्चात् तीन शील और अन्तिम तीन मार्ग सामाधि के अन्तर्गत आते हैं। सम्यक् दृष्टि से अकुशल, अकुशल का मूल तथा कुशल और कुशल का मूल जाने जाते हैं। अकुशल कर्म शरीर, वाणी और मन से किये जाते हैं। प्राणियों की हिंसा, न दिये हुए को ग्रहण करना, कमनीय वस्तुओं के प्रति मिथ्याचार—ये शरीर-सम्बन्धी अकुशल कर्म हैं। दूसरे की वस्तु की इच्छा, पापमय आयोजन तथा मिथ्या दृष्टि—ये मानसिक कर्म हैं। लोभ, द्वेष और मोह—ये तीन ही अकुशल कर्म के मूल हैं। अकुशल के विपरीत कुशल है। इसी प्रकार चार आर्य-सत्यों को जान कर पुरुष सम्यक्-दृष्टि वाला होता है।

---

१. धम्मपद धम्मट्ठ वग्ग
२. महावग्ग ५.३.१; ६.३१; ५.२०
३. महावग्ग ५.१.१०
४. चुल्लवग्ग ५.२०

सम्यक् संकल्प नैष्कर्म्य और अहिंसा सम्बन्धी होते हैं। इसके द्वारा सांसारिक कामों को छोड़ना और किसी प्राणी को दुःख देने से विरत होने का मानसिक व्रत लिया जाता था। सभी परिस्थितियों में सच बोलना सम्यक् वाणी है। इसके अन्तर्गत वाणी के द्वारा किसी को दुःखी करने का निषेध था। सम्यक् कर्मान्त है प्राणि-हिंसा से विरति, अदत्तादान, कामोपभोग के मिथ्याचार से विरति आदि। सम्यक् आजीव के अन्तर्गत जीविकोपार्जन के केवल वे ही कर्म आते हैं, जिनके करने से समाज में सुख और शान्ति का संवर्धन होता है। बौद्ध धर्मानुयायी गृहस्थों के लिए पाँच जीविकायें वर्जित थीं—शस्त्र-वाणिज्य, प्राणियों का व्यापार, मांस का व्यापार, विष का व्यापार तथा जो व्यापार किये जा सकते थे, उनमें किसी प्रकार की धोखा-धड़ी का प्रयोग, घूस लेना, कृतघ्नता, कुटिलता, छेदन, वध, बन्धन, डाका डालना, लूट-पाट की जीविका आदि को गौतम ने गर्हित बतलाया है।[1] सम्यक् व्यायाम से अकुशल कर्मों के न करने का निश्चय करना, परिश्रम करना, उद्योग करना, चित्त को वश में रखना और सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त रहना आदि सम्भव होते हैं। सम्यक् स्मृति के अन्तर्गत अशुचि, जरा, मृत्यु आदि दैहिक धर्मों का अनुभव करना, कर्मण्य होकर लोभ और मानसिक सन्तापों को छोड़ना आदि आते हैं। कुशल धर्मों में चित्त को लगा देना ही सम्यक् समाधि है। चित्त की एकाग्रता समाधि है। सम्यक् समाधि के सोपान-रूपी चार ध्यान हैं। पहले ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता होते हैं। दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार का लोप हो जाता है केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता—ये ही तीन मनोवृत्तियाँ रहती हैं। तीसरे ध्यान में प्रीति का लय हो जाता है और केवल सुख और एकाग्रता रहती हैं। चौथे ध्यान में सुख भी लुप्त हो जाता है और उपेक्षा और एकाग्रता रहती हैं।

उपर्युक्त आर्यसत्य और अष्टाङ्गिक मार्ग भिक्षु और उपासक (गृहस्थ-अनुयायी) दोनों के लिए समान रूप से थे। निःसन्देह किसी भिक्षु को अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलने की अधिक सुविधा हो सकती थी। गृहस्थ के मार्ग में कठिनाइयाँ थीं। यही कारण है कि गृहस्थ भिक्षु बन कर यथाशीघ्र अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए तत्पर होते थे।

मरणोत्तर विधान

बौद्ध धर्म की सर्वोच्च मरणोत्तर गति निर्वाण है। उससे नीचे कोई देव लोक में देवता हो सकता है। तीसरी गति है इसी लोक में पुनर्जन्म लेकर सकृदागामी होना। नरक, पशुयोनि-प्राप्ति, प्रेतयोनि आदि गतियाँ कुकर्म से सम्भाव्य है।[2]

1. अंगुत्तर निकाय ५ तथा दीघनिकाय पृ० २६२
2. महापरिनिर्वाण सुत्त २.३

त्रिविध यान

हीनयान के अतिरिक्त दो और यान हैं—प्रत्येक-बुद्धयान और महायान। यान इस प्रसंग में पथ है। हीनयान केवल हीन (व्यक्तिगत) निर्वाण का मार्ग है। इसके विपरीत महायान महापथ है, जिससे असंख्य पुरुषों को निर्वाण प्राप्त कराया जा सकता है।

हीनयान

हीनयान का दूसरा नाम श्रावकयान भी है। इसमें श्रावक उस पुरुष को कहते हैं, जो जीवन के दुःख से ऊब कर निर्वाण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। श्रावक की चार कक्षायें हैं—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत्।

व्यक्तित्व के विकास के प्रक्रिया-रूपी सोते में बहने वाला साधक स्रोतापन्न है। उसे चार प्रकार की संबोधि की सम्भावना होती है—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति तथा शीलानुस्मृति। इनके द्वारा उसे बुद्ध, धर्म, संघ तथा शील के प्रति सद्भावना और समादर उत्पन्न होते हैं। स्रोतापन्न व्यक्ति को सात जन्मों के अनन्तर निर्वाण प्राप्त होता है।

स्रोतापन्न उन्नति करके अपने आस्रव (क्लेश) का नाश करने की कक्षा में सकृदागामी कहलाता है। उसे एक जन्म के अन्तर ही निर्वाण प्राप्त होता है। सकृदागामी शब्द का यही अभिप्राय है। वह साधक अनागामी है, जो वर्त्तमान जीवन में ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। उसके लिए भावी जन्म अपेक्षित नहीं होता। अर्हत् कक्षा में श्रावक को निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

प्रत्येक-बुद्धयान

प्रत्येक-बुद्धयान ऐसे महात्माओं के लिए है, जो किसी गुरु की सहायता के बिना निर्वाण-पथ का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उनकी बोधि का नाम प्रत्येकबुद्ध-बोधि है। अपनी बोधि के द्वारा वह अपना तो कल्याण कर सकता है, पर दूसरों का कल्याण करने में असमर्थ होता है।

महायान

महायान का दूसरा नाम बोधिसत्त्वयान है। इसके द्वारा केवल निजी निर्वाण की ही नहीं, अपितु सभी प्राणियों के निर्वाण की योजना प्रस्तुत की गई है। जिस व्यक्ति में बोधि के लिए सत्त्व (सामर्थ्य) होता है, वह बोधिसत्त्व है। गौतम के असंख्य जन्मों में बोधिसत्त्व होने का विवरण जातक कथाओं में मिलता है। निर्वाण के पूर्व बोधिसत्त्व रहना पड़ता है। इस अवस्था में लोककल्याण के लिए बोधिसत्त्व प्रवृत्त होता है। उसका चरित असाधारण रूप से उदार, करुणामय और आदर्शपूर्ण होता है।

महायान की प्रमुख विशेषता है—अपने लौकिक व्यवहार में साधक की संसार के सभी प्राणियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण भावनाओं का उद्रेक। इस भावना का नाम महाकरुणा है। महाकरुणा के कारण बोधिसत्त्व चाहता है कि मेरे प्रयत्न से पहले संसार के सभी प्राणी निर्वाण प्राप्त कर लें और फिर अन्त में मैं निर्वाण प्राप्त करूँ। इस दृष्टि से हीनयान और महायान का अन्तर स्पष्ट है कि जहाँ हीनयान में व्यक्तिगत निर्वाण की योजना मिलती है, वहाँ महायान में समष्टि-गत निर्वाण की योजना है।

जब किसी पुरुष के मानस में इस भाव का उदय होता है कि सारे जगत् का परित्राण करने के लिए मैं बुद्ध बन जाऊँ तो उसके चित्त के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह बोधिप्रणिधि-चित्त है। इस उद्देश्य को अपना कर जब साधक प्रयत्नशील होता है, अर्थात् उद्देश्य-पूर्ति के मार्ग पर प्रस्थान करता है तो उसके चित्त के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह बोधिप्रस्थान-चित्त है। बोधिप्रस्थान-चित्त की अवस्था के अनन्तर अपने व्यक्तित्व के विकास की दिशा में साधक छः पारमिताओं को ग्रहण करता है—दान, शील, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति और ध्यान छः पारमितायें व्रत-स्वरूप हैं।[1] पारमितायें व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए व्रत-स्वरूप हैं। दान पारमिता के द्वारा साधक अपना सर्वस्व दूसरों के हित के लिए समर्पित कर देता है। शक्ति के द्वारा वह मन, कर्म और वचन से अहिंसा व्रत को अपना लेता है तथा क्षान्ति की पारमिता से वह अपनी हानि करने वालों के प्रति भी मन में विकार नहीं लाता। बोधिचर्यावतार के अनुसार द्वेष से ही द्वेष करना योग्य है।[2] वीर्य पारमिता साधक को निर्वाण-पथ पर दृढ़-चित्त रखने के लिए होती है। वीर्य उत्साह का पर्याय है। निर्वाण-पथ में अनेक प्रकार की बाधायें उपस्थित हो सकती हैं या मानसिक संकल्प-विकल्पों के कारण चित्त डगमगा सकता है। ध्यान पारमिता में चित्त की समाधि अवस्था होती है। इससे शान्ति की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा पारमिता सर्वोच्च है। मनुष्य को तभी तक निर्वाण नहीं मिलता, जब तक उसे अज्ञान रहता है। प्रज्ञा पारमिता अज्ञान दूर करने के लिए होती है। अखिल चराचर विश्व को मायात्मक जान कर चित्त में उसकी असारता को प्रतिष्ठित कर लेना प्रज्ञा की पूर्णता है। इस अवस्था में

---

१. पारमिताओं की संख्या १० या ११ भी कही जाती है। अन्य पाँच नैष्कर्म्य, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उपेक्षा हैं।

२. मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु ते वरम्॥ ६.४१

प्रहार करने में प्रधान रूप से हिंसक दण्ड आदि को छोड़कर यदि उसके प्रेरक (डण्डा चलाने वाले) पर क्रोध किया जाता है तो वास्तविक प्रेरक द्वेष है। उसी पर द्वेष (क्रोध) करना चाहिए।

जगत् के प्रति वही दृष्टि हो जाती है, जो वेदान्त दर्शन में पहले ही निरूपित की गई है। विशेषता यही है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' न मान कर सबको शून्य माना गया है। प्रज्ञा पारमिता के उत्पन्न होते ही निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

जिस प्रकार निर्वाण-पथ पर चलने वाले साधक के लिए हीनयान की चार अवस्थायें स्रोतापन्न आदि बतलाई गई हैं, उसी प्रकार महायान में साधक के लिए दस अवस्थायें या भूमियाँ निर्दिष्ट की गई हैं। इनके नाम मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधमती और धर्म-मेघ हैं। निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा से तत्सम्बन्धी योजना को सुनकर साधक का चित्त मुदित होने पर वह मुदिता-भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। इसके पश्चात् साधक मन, शरीर और चित्त से शुद्ध बन कर विमला-भूमि में प्रवेश करता है। प्रभाकरी-भूमि में साधक को संसार की असारता का ज्ञान हो जाता है। अर्चिष्मती-भूमि में वह अष्टाङ्गिक मार्ग के अनुसार आचरण करने लगता है, सुदुर्जया-भूमि में वह प्राणियों का कल्याण करने में प्रवृत्त होता है। अभिमुक्ति-भूमि में साधक प्रज्ञा-पारमिता के द्वारा अपने अज्ञान को दूर करके अज्ञान में पड़े हुए प्राणियों पर दया रखता है। दूरंगमा-भूमि में वह सर्वज्ञ हो जाता है। अचला-भूमि में साधक संसार के इन्द्रियजन्य सुख-दुःखों के प्रति निःसङ्ग हो जाता है। साधुमती-भूमि में वह अन्य प्राणियों को निर्वाण-पथ पर प्रवृत्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। धर्ममेघ या अभिषेक-भूमि में साधक बुद्ध बन जाता है। यही उसके व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास है।

बौद्ध धर्म की महायान-शाखा में पूजा-पद्धति की विशेष प्रतिष्ठा हुई। बोधि-चित्त होने के लिए अनुत्तर-पूजा का विधान बना। इसके अन्तर्गत वन्दना, अर्चना, पापदेशना (अपने पापों को प्रकट करना), पुण्यानुमोदन (सबके प्रति पुण्यशील व्यवहार करने की भावना), बुद्धाध्येषण (सदैव बोधिसत्त्व बने रहने की कामना), बुद्ध-याचना (अपने पुण्यों के फलस्वरूप सभी प्राणियों का कल्याण करने की योग्यता पाने की कामना) तथा बोधि-परिणामना (पूजा का सर्वोच्च सोपान) आती हैं। इससे मूर्ति-पूजा का प्रचलन बढ़ा।

गौतम ने उपासकों को अपने स्मारक स्वरूप बनाये हुए स्तूपों और चैत्यों की पूजा पत्र-पुष्प और दीप-दान आदि के द्वारा करने की अनुमति दी है।[1] उन्होंने भिक्षुओं और उपासकों के लिए चार तीर्थों की योजना बनाई। ये तीर्थ गौतम के जन्म, बोधि, धर्मचक्रप्रवर्तन तथा दिवंगत होने के स्थान हैं। आरम्भिक युग से उपासकों का कर्तव्य रहा है कि वे भिक्षुओं की सुविधा और जीवन-चर्या के लिए भोजन, वस्त्र,

१. कथावत्थु १७.१

आवास, विहार आदि प्रस्तुत करते रहें।[1] परवर्ती महायान-सम्प्रदाय में उपासकों के लिए भिक्षुकों की आवश्यकता-पूर्ति करना ही प्रधान कर्तव्य रहा है।[2]

महायान की विशेषतायें

महायान सम्प्रदाय में गृहस्थ-उपासकों की प्रतिष्ठा बढ़ी। गृहस्थ बोधिसत्त्व के माध्यम से अर्हत् हो सकता था। विवाहित पुरुष को बोधिसत्त्व के कर्त्तव्य-पालन के लिए विशेष समर्थ माना गया और पत्नी के लिए जन्मजन्मान्तर में भी उसी पति के साथ पातिव्रत्य धर्म का निर्वहण अनुपम उत्थान का प्रतीक बतलाया गया है। इस प्रकार के दाम्पत्य-भाव में पति का पत्नी और पुत्र को दान-रूप में दे देना सर्वोच्च उदारता का प्रतीक है। इस प्रकार की जीवन-दिशा अपनाकर कोई गृहस्थ निर्वाण प्राप्त कर सकता था—यह महायान की निजी विशेषता थी। हीनयान में गृहस्थों का निर्वाण पाना असम्भव था। निर्वाण के लिए हीनयान के अनुसार भिक्षुक बनना अपेक्षित था।

महायान की उपर्युक्त मान्यता के द्वारा गृहस्थों के असंख्य कुटुम्ब बौद्ध पद्धति के अनुसार अभिनव संस्कृति से समन्वित हो गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्वसाधारण गृहस्थ के लिए निर्वाण-पथ खोलने से महायान-सम्प्रदाय के भिक्षुओं को ब्रह्मचर्य की सात्त्विकता से डिगने का अवसर अनायास ही मिल गया, क्योंकि उनके मन में गृहस्थ धर्म की अभिरुचि ज्योंही उत्पन्न होती थी कि वे भिक्षु-व्रत से छुट्टी लेकर अपना विवाह करके गृहस्थ बन जाते थे।

अपने कुछ विधानों में महायान भले ही तर्क की दृष्टि से प्रगति-पथ पर अग्रसर दिखाई देता हो, पर उनका भयावह प्रभाव अनुयायियों के जीवन पर पड़ कर रहा। एक विधान के अनुसार पाप करने में कोई दोष नहीं, यदि वह पाप उपकार के लिए होता हो। इस प्रसंग में—पाप दूसरे के उपकार के लिए हो रहा है—यह निर्णय भी कर्त्ता के ऊपर छोड़ दिया गया। ऐसी परिस्थिति में महायान-मत के अनुयायियों में उन पापों की संख्या बढ़ते देर ही कितनी थी, जिनके माध्यम

---

१. इस प्रकार के अनेक उल्लेख महावग्ग में मिलते हैं।

२. For the layman who is a Bodhisattva, there is always the duty of aiding the monks, of providing for their needs and building for them monasteries. The Mahāyāna in fact provides for monks and laity alike a vista of helpful and cheerful activity, imbued with the desire to aid others as the only possible means indirectly of aiding oneself. *A. B. Keith: Buddhist Philosophy. p. 293*

से कर्त्ता को कुछ सुख मिल सकता था और साथ ही किसी अन्य व्यक्ति का उपकार भी हो सकता था। यह परिस्थिति महायान को पतनोन्मुख करने के लिए थी। महायान के विहारों में व्यभिचार का पदार्पण ऐसे विधानों के द्वारा हुआ। पाप-सम्बन्धी उपर्युक्त विधान यदि सर्वसाधारण के लिए न बनाकर केवल अपवाद-स्वरूप रखा गया होता तो सम्भवतः वह अधिक उपयोगी बन पाता।

बोधिसत्त्वों के पापमय भोग-विलासों में पड़ जाने पर भी उनके उद्धार का मार्ग बना देना उनको निडर होकर अविचारपूर्ण ऐन्द्रियक सुखों के प्रति आसक्त बना कर रहा। सभी प्रकार के ऐसे पाप मानो धुल जाते थे, जब पाप-मार्जक आह्निक कर लिए जाते थे अथवा उनको अन्य बोधिसत्त्वों के बीच स्वीकार (ख्यापन) कर लिया जाता था। पाप-मार्जन की अन्य विधियाँ थीं—बुद्धों की उपासना करना, विश्वात्मक मैत्री-भाव का निवेदन करना आदि। पापों के परिमार्जन की यह विधि अभिनव पापों के लिए दुर्बल बोधिसत्त्वों को उत्साहित करती थी।

महायान में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की उपासना को प्रमुख स्थान मिला। सद्धर्म-पुण्डरीक में जिस बुद्ध की कल्पना मिलती है, वह अनादि-काल से बोधिसत्त्वों को निर्वाण-पथ की शिक्षा देता आ रहा है। इन गुणों से सम्पन्न बुद्ध अमर माने जा सकते हैं। जिस गौतम बुद्ध को हम प्रत्यक्ष जानते हैं, वे बुद्ध के मानवी अवतार-मात्र हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों के लिए अगणित बुद्धों की कल्पना हुई।[1] प्रारम्भ में छः बुद्ध माने गये। इनकी संख्या कुछ शतियों में २४ हुई और फिर महायान में जाकर असंख्य हो गई।

ब्राह्मण-धर्म के देवलोक की भाँति बौद्ध धर्म में सुखावती नामक स्वर्ग की कल्पना मिलती है। सुखावती में ऋषि-महर्षि रहते हैं। इनकी विकास-गाथा अलौकिक है। ये कमल-गर्भ में उत्पन्न होकर वहीं संवर्धित होते हैं और वहीं दिव्य वचनों से पोषित होकर पूर्णावस्था में निकलते हैं, जब बुद्ध की ज्योति से कमल प्रस्फुटित होते हैं। इस लोक के अधिपति अमिताभ हैं। उपासना के क्षेत्र में अमिताभ सूर्य के प्रतीक हैं। सूर्य की उपासना के द्वारा अमिताभ-लोक के ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है। अमिताभ के नाम-संकीर्तन-मात्र से महापापी तक के स्वर्ग में स्थान पाने की संभावना होती है। साधारणतः नरक के योग्य प्राणी अमिताभ की दया से केवल इतना ही दण्ड पाते हैं कि उन्हें पद्म-गर्भ में कुछ काल तक विलम्ब करके वहीं बुद्ध-वाणी से आत्म-शुद्धि करनी पड़ती है।

---

१. बुद्धचर्यावतार ७.१८

बोधिसत्त्वों में अवलोकितेश्वर का व्यक्तित्व अतिशय महिमशाली है। उन्होंने तब तक बुद्ध न बनने का व्रत लिया है, जब तक संसार के सभी मानवों को निर्वाण-गति नहीं प्राप्त करा लेते। प्रत्येक बुद्ध के दो सहायक बोधिसत्त्व होते हैं, जो समस्त मानवता को सद्धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं, मरणासन्न व्यक्तियों को सान्त्वना देते हैं और मृतात्माओं को स्वर्ग पहुँचाते हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण बोधिसत्त्व मैत्रेय और मंजुश्री आदि हैं।

शनैः शनैः महायान-धर्म में अनेक वैदिक देवताओं को बौद्ध रंग में रँगकर प्रस्तुत किया गया। नागार्जुन ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव और काली को हिन्दू-धर्म के समान उपास्य माना। त्र्यस्त्रिंशलोक के अधिपति शतमन्यु या वज्रपाणि वैदिक इन्द्र हैं। अन्यत्र बौद्ध देवता मंजुश्री हिन्दुओं के ब्रह्मा के समकक्ष हैं। इनकी दो पत्नियाँ लक्ष्मी और सरस्वती हैं। बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि वैदिक धर्म के विष्णु हैं। बौद्ध धर्म के सप्त तथागत सप्तर्षि हैं और अजित, शाक्य मुनि और अवलोकितेश्वर त्रिदेव हैं।

सृष्टि के विकास-क्रम में बौद्ध धर्म का धर्मकाय वेदान्त के ब्रह्म के समान पड़ता है। इसका विकसित स्वरूप नाम और रूपात्मक सम्भोगकाय है, जो ईश्वर के समकक्ष है। आदिबुद्ध सम्भोगकाय है। इसके विकसित रूप अवतार आदि होते हैं। सृष्टि का आरम्भ आदिबुद्ध के ध्यान की प्रक्रिया से होता है। आदिबुद्ध से अवलोकितेश्वर का प्रादुर्भाव होता है और अवलोकितेश्वर के विविध अङ्गों से महेश्वर, ब्रह्मा, नारायण, सरस्वती, सूर्य, चन्द्र आदि उत्पन्न होते हैं।

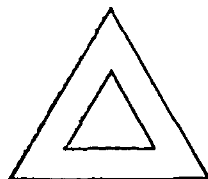
वज्रयान

तन्त्रवाद का सर्वाधिक प्रसार बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा में आठवीं शती से हुआ। वज्रयान में तन्त्र का प्रतीक हठयोग है। हठ शब्द में ह और ठ क्रमशः चन्द्र और सूर्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस परिभाषा के अनुसार हठ का अर्थ है सूर्य और चन्द्र का एक साथ होना। सूर्य और चन्द्र के प्रतिनिधि शरीर में पिङ्गला (दाहिनी नाड़ी) और इडा (बाईं नाड़ी) हैं। इडा और पिंगला की सम अवस्था में इन दोनों के के बीच की सुषुम्ना नाड़ी स्वयं उद्बुद्ध हो जाती है। इसी नाड़ी के मुखद्वार की प्राणवायु को योगी ऊर्ध्व-मुख करने की साधना करते हैं। ऐसी स्थिति में कुण्डलिनी जाग्रत् रहती है। कुण्डलिनी के माध्यम से सहस्रार-चक्र में स्थित शिव का रसास्वाद होता है।

तन्त्रयोग की शिक्षा के लिए शिष्य को मुद्रायुक्त होना पड़ता है। इस प्रकरण में मुद्रा है—नवयुवती। वज्रयान दीक्षा मन्दिर में होती थी, जहाँ गन्ध, धूप, पुष्प आदि के अतिरिक्त मदिरा की सुगन्ध होती थी। वज्रयान में व्यक्तित्व के विकास के लिए शारीरिक तप की आवश्यकता नहीं, अपितु विषय-रसों के द्वारा

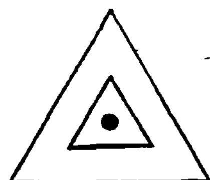
परिपोषित चित्त सभी उद्देश्यों की प्राप्ति कल्पवृक्ष की भाँति कराता है ।[1] चित्त को सराग बनाकर अभ्युदय की योजना का अभिनव प्रचार सम्भवतः लोकप्रिय हो सकता था, पर ऐसे तन्त्र में उस सात्त्विकता का प्रत्यक्ष ही सर्वथा अभाव है, जो किसी सम्प्रदाय को अमर पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए अपेक्षित है । वज्रयान का योग इस दृष्टि से देखने पर पतञ्जलि के योग अथवा गौतम बुद्ध की सम्यक् समाधि से बहुत दूर पड़ता है ।

हिन्दूतन्त्र के शिव और शक्ति वज्रयान में क्रमशः शून्यता और करुणा हैं । इनके दूसरे नाम क्रमशः वज्र और कमल हैं । वज्र और कमल की एकात्मता का प्रदर्शन चित्रित त्रिभुजकारों से होता है



इस यन्त्र का ध्यान करने से योगी को अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

वज्रयानियों का 'एवं' बीजतन्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है । इसका स्वरूप निम्न प्रकार है :



इसमें बड़ा त्रिभुज ए माता-रूप है और चन्द्र तथा प्रज्ञा का प्रतीक है । छोटा त्रिभुज वं पिता है और सूर्य तथा उपाय का प्रतीक है । दोनों त्रिभुजों का केन्द्र-विन्दु अनाहत-ज्ञानकी अभिव्यक्ति करता है । विश्व की इस युगलात्मक एक सत्ता को वैष्णवों में युगल-मूर्ति, तान्त्रिकों में यामल तथा वज्रयानियों में युगनद्ध शब्दों से अभिव्यक्त करते हैं । एवं बीज ध्येय-रूप में सर्वज्ञता का प्रतिनिधित्व करता है, उसे जान लेने पर कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता । इस प्रकार यह बुद्ध का प्रतीक है । एवं को सोपान बनाकर बुद्ध-पथ पर अग्रसर होने की सफल साधना का समारम्भ होता है ।

कालचक्रयान

नवीं या दसवीं शती में कालचक्रयान नामक तन्त्र-सम्प्रदाय का बौद्ध मतावलम्बियों में प्रसार हुआ । इस सम्प्रदाय के अनुसार मानव-शरीर ब्रह्माण्ड का प्रतीक है । इसका प्रमुख सिद्धान्त है कार्य, प्राण तथा चित्त को शुद्ध करके निर्वाण प्राप्त करना ।

कालचक्रयान के अनुसार शक्ति और शक्तिमान् का समन्वयात्मक रूप आदिबुद्ध हैं । बुद्ध के दो प्रधान लक्षण हैं—प्रज्ञा और करुणा । प्रज्ञा सर्वज्ञता की शक्ति है और करुणा, विश्व के सभी प्राणियों को बुद्ध बनने के लिए समुत्सुक कर देने वाली असीम दया है ।

बौद्ध धर्म का ह्रास

बौद्ध धर्म की महायान-शाखा में गौतम बुद्ध के द्वारा मूलतः प्रवर्तित

---

१. तनुतरुचित्तांकुरको विषयरसैर्यदि न सिध्यते शुद्धैः ।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते ।।

हीनयान की जड़ खोद डाली गई थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित जो महायान धर्म था, उसमें न तो गौतम के उच्च व्यक्तित्व और न उनकी शिक्षाओं की ही छाप थी। महायान के परवर्ती आचार्यों में वह प्रतिभा नहीं थी कि वैदिक धर्म के आचार्यों का सफलतापूर्वक प्रतिवाद करते। उस युग म आचार्यों के पारस्परिक विवाद में सफलता पाने का अतिशय महत्त्व था। बौद्ध आचार्यों का विवाद में हारते जाना जनता में उनके धर्म के प्रति अरुचि उत्पन करती गई।

महायान के विहार में पवित्र जीवन का अभाव-सा दृष्टिगोचर होने लगा था। तान्त्रिक संप्रदायों का जीवन-विन्यास तो प्रायः कामुकतापूर्ण हो चला था। धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार भला कब तक चल सकता था। 'दूसरों को सुख देने के लिए पाप भी किया जा सकता है'--यह ऐसी छूट थी, जिसकी आड़ में कुछ विहार पाप के अड्डे बन गये। इस मान्यता के अनुसार जो जितना ही अधिक पाप करता था, वह उतना ही अधिक लोककल्याण में तत्पर समझा जाता था। यह एक विडम्बनामात्र थी।

इधर वैदिक धर्म के आचार्यों ने पूर्ण सतर्कता से काम लिया। उन्होंने पहले तो वैदिक हिंसामय यज्ञ का परित्याग-सा कर दिया। यज्ञों में पशु-हिंसा का नाम लेकर बुद्ध वैदिक धर्म की विशेष निन्दा करते थे। वैष्णव धर्म में जिस पवित्र जीवन का आकलन किया गया, वह गौतम के अष्टाङ्गिक मार्ग से कम ऊँचा नहीं था, साथ ही इसम याज्ञिक हिंसा का विरोध भी मिलता है। इस वैष्णव धर्म की अभिनव पवित्रता के सामने महायान विरोधी धर्म के रूप में न टिक सका। महायान में पहले तो वैष्णव धर्म के कुछ सिद्धान्तों को ग्रहण किया गया और अंत में वह वैष्णव धर्म में प्रायः विलीन हो गया। बुद्ध को विष्णु का अवतार मानकर वैष्णव धर्म के आचार्यों ने बौद्ध धर्म के वैष्णव धर्म में विलयन की प्रक्रिया की गति प्रखर बना दी।

भारतीय धर्म के जिस महानद से बौद्ध धर्म की शाखा निकली थी, उसकी प्रशाखायें विदेशों में आज तक विद्यमान हैं। भारत में बौद्ध धर्म आज भी पौराणिक धर्म के भीतर विलीन होकर भी विद्यमान है।

जैन धर्म

परम्परागत विश्वास के अनुसार जैन धर्म अनादि और अनन्त है। प्रलय होने के पश्चात् अभिनव कल्प में जब पुनः सृष्टि का समारम्भ होता है तो कोई तीर्थंकर उस कल्प में धर्मोपदेश करने के लिए उत्पन्न होता है। इस प्रकार २४ तीर्थंकर हो चुके हैं, जिनमें से प्रथम ऋषभदेव हैं और अन्तिम तीन नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर क्रमशः हैं।

पार्श्वनाथ का प्रादुर्भाव ई० पू० आठवीं शती में हुआ था। पार्श्वनाथ के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् गौतम के प्रायः समकालीन महावीर स्वामी हुए। आधुनिक

जैन धर्म पर महावीर के व्यक्तित्व की अमिट छाप है। निःसन्देह महावीर के उपदेशों में पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की शिक्षायें अन्तर्निहित हैं। चौथी शती ई० पू० में पाटलिपुत्र में तत्कालीन धर्माचार्यों ने इस धर्म के सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित सम्पादन किया। दिगम्वर-मत के अनुसार पहली शती ईसवी में जैन धर्म के सिद्धान्तों को पुस्तक-रूप में प्रस्तुत किया गया। पाँचवीं शती में वलभि की जैन परिषद् में देवर्द्धि-गणी की अध्यक्षता म इस धर्म को वह सनातन रूप मिला, जो आज भी प्रामाणिक माना जाता है।

पूजा

जैन धर्म के अनुसार वैदिक धर्म के याज्ञिक कर्म-काण्ड व्यर्थ हैं और उनसे पाप की सम्भावना है। ऐसी परिस्थिति में देव-पूजा को इस धर्म में कोई स्थान नहीं मिला है। गृहस्थ के लिए नियम था कि वह पंच परमेष्ठी की पूजा, नमस्कार आदि करे। पंच परमेष्ठी हैं अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने वाले जीवन्मुक्त महात्मा अर्हत् हैं। तीर्थंकर अर्हत् होते हैं। मुक्त पुरुषों को सिद्ध कहते हैं। आचार्य साधुओं के व्यक्तित्व के विकास का आयोजन करते थे। वे स्वयं धार्मिक और दार्शनिक जीवन-पद्धति पर चलते थे और साथ ही अपने अधीन रहने वाले साधुओं को भी सत्पथ पर चलाते थे। उपाध्याय शास्त्रों में पारङ्गत होते थे और साधुओं को उपदेश देते थे। मोक्ष-पथ के साधकों की उपाधि साधु थी। उपर्युक्त पूजा के सम्बन्ध में गृहस्थों की तीर्थ-यात्रा आवश्यक मानी गई।

पंच परमेष्ठी की मूर्ति-पूजा का विधान है। प्रायः अर्हतों की मूर्तियाँ ही मिलती हैं। मूर्तियों में अर्हत् ध्यानस्थ मुद्रा में पद्मासन या खङ्गासन लगाये हुए दिखाये गये हैं। सिद्धों की मुक्तावस्था की मूर्ति की कल्पना नहीं की गई। वे उस स्थिति में देहरहित होते हैं। उनकी साकार अभिव्यक्ति धातु की चद्दर से मानवाकार भाग काट कर की जाती थी। आचार्य, उपाध्याय और साधु की मूर्तियाँ साधारणतः नहीं मिलतीं।

जैन-मूर्तियों की प्रतिष्ठा मन्दिरों में होती है। मन्दिरों को परमेष्ठियों के अमर व्यक्तित्व से प्रभावित मान कर तीर्थंकरों की स्तुतियाँ की जाती हैं और नमस्कारपूर्वक मूर्ति की प्रदक्षिणा की जाती है। मूर्ति-पूजा की प्रक्रिया का आरम्भ अभिषेक से होता है। अभिषेक जल से अथवा दूध, दही, घी, रस आदि से किया जाता है। पूजन के लिए जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल का उपयोग होता है। प्रत्येक पूजन-सामग्री का समर्पण एक स्तुति के श्लोक से होता है। पूजन का उद्देश्य होता है—शारीरिक और मानसिक शुद्धि एवं मोक्ष की प्राप्ति। अवशिष्ट सामग्री का मिश्रण करके उसे अर्घ्य रूप में समर्पित किया जाता है। जैन धर्म में मानसिक पूजा का भी विधान है।

व्रत

जैन धर्म में अहिंसा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिलती है। गृहस्थों के लिए चार प्रकार की अहिंसा मानी गई है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी। जान-बूझ कर अपने स्वार्थ के लिए संकल्पी हिंसा होती है। गृहस्थ को अपने उद्योग-धंधों में स्वभावतः उद्योगी हिंसा करनी पड़ती है। अनजाने ही यदि हिंसा हो जाय तो वह आरम्भी है। आत्मरक्षा या पररक्षा के लिए विरोधी हिंसा होती है।

जैन धर्म की अहिंसा की परिधि सुविस्तृत है। इसके अनुसार चराचर जगत् में किसी प्राणी को किसी प्रकार से जाने-अनजाने कष्ट पहुँचाना हिंसा है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के अन्याय आ जाते हैं। अहिंसा से बचने के लिए रात्रि-भोजन का परित्याग आवश्यक माना गया है। रात्रि के समय क्षुद्र जन्तुओं की अधिकाधिक संख्या संचरणशील हो जाती है और मानव की पर्यवेक्षण-शक्ति स्वल्प रह जाती है। ऐसी परिस्थिति में भोजन के माध्यम से हिंसा होने की सम्भावना अधिक रहती है। छाना और उबाला हुआ पानी पीने का विधान इसीलिए बनाया गया है।

परिग्रह-व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ संकल्प करता है कि उचित उपायों से भी अत्यधिक धन-संग्रह नहीं करूँगा। इस प्रसङ्ग में गुणभद्राचार्य की उक्ति समीचीन है—सज्जनों की सम्पत्ति भी शुद्ध धन से नहीं बढ़ती। सागर कभी स्वच्छ जल से नहीं भरते।[1] जैन गृहस्थों के अन्य व्रत अस्तेय, सत्य और ब्रह्मचर्य हैं।

धार्मिक गृहस्थों को व्रत-पालन की दृष्टि से पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक—तीन कोटियों में रखा गया है। जो गृहस्थ व्रतों का पालन करते हुए उनके सम्बन्ध में स्वभावतः अतिचार (त्रुटि) करते हैं, वे पाक्षिक गृहस्थ हैं। व्रतों का त्रुटि-रहित विधि से पालन करने वाले नैष्ठिक गृहस्थ हैं। जो गृहस्थ एकमात्र आध्यात्मिक साधना में तल्लीन हैं, उनके सम्बन्ध में व्रतों के टूटने का प्रश्न नहीं रहता। वे साधक हैं।

धर्म-लक्षण

जैन धर्म के दस लक्षण हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ये लक्षण भागवत धर्म और बौद्ध धर्म में प्रायः इसी रूप में विद्यमान हैं। धर्म के पथ पर चलने के लिए तीन शल्यों का अभाव होना चाहिए। प्रथम है निदान-शल्य अर्थात् इच्छाओं का काँटा। द्वितीय है माया-

---

१. शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥ आत्मानुशासन ४५

शल्य अर्थात् अपने व्यवहार को सरल न रख कर उसमें कृत्रिम कुटिलता रखना। तृतीय शल्य है मिथ्यात्व, जिसके होने पर असत्य ही सत्य प्रतीत होने लगता है।

जगत् की उपेक्षा

जैन विचार-धारा के अनुसार देव, मनुष्य आदि सभी अनित्य हैं, अशरण हैं, इस संसार के सभी प्राणी अनन्तकाल से कर्मों के कारण भव-बन्धन में हैं, आत्मा या जीव अकेला है, सम्बन्धी केवल कुछ ही दिनों के लिए साथ हैं और देह अपवित्र है। इसी प्रकार की अन्य भावनायें भी हैं। इन भावनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैन धर्म लौकिक विभूतियों को अपने शरीर-सुख के लिए उपेक्षणीय मानता है। ऐसी परिस्थिति में गृहस्थ को भी कर्म करने के लिए कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिलता। मोक्ष को उपादेय मानकर सभी कर्मों के संस्कारों से आत्मा को मुक्त कर लेना सर्वोच्च कर्तव्य रहा है। यह तभी सम्भव हो सकता था जब गृहस्थ यथाशीघ्र घर छोड़कर साधु, उपाध्याय आदि बन जाय।

कर्म का रहस्य

धार्मिक दृष्टि से कर्म आठ प्रकार के हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से प्रथम दो ज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में जीव की प्रगति नहीं होने देते। वेदनीय कर्म आरम्भ में थोड़ा सुख और अन्त में अधिक दुःख देते हैं। मोहनीय कर्मों से जीव अपने शुद्धस्वरूप के ठीक विपरीत प्रमत्त-सा बन जाता है। आयु-कर्म से वारंवार जन्म का बन्धन नियत होता है। नाम-कर्म से पुनर्जन्म की देव, मनुष्य, पशु आदि कोटियाँ निर्धारित होती हैं। गोत्र-कर्मों के द्वारा गोत्र की श्रेष्ठता या हीनता नियत होती है। अन्तराय-कर्म से पुण्य-कर्मों में बाधा उत्पन्न होती है। इन्हीं कर्मों के परमाणु भावनाओं के माध्यम से आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। जीव का यह कर्म-बन्धन कुछ परिस्थितियों में अवधिगत होने पर भी मानो निरवधि-काल तक प्रभाव दिखाता है।

मरणोत्तर विधान

मरने के पश्चात् जो जीव निर्वाण प्राप्त करते हैं, वे सिद्ध होकर विश्वमंडल के शिखर पर अवस्थित होते हैं। इनके लोक का नाम ईषत्प्राग्भार है। यह लोक श्वेत स्वर्ण से निर्मित है और परम शुचि है। इस लोक में आत्मा (जीव) का परिमाण अन्तिम लौकिक शरीर का $\frac{2}{3}$ रह जाता है। केवल आत्मा ही इस लोक में रहता है। शरीर निर्वाण प्राप्त कर लेने पर आत्मा से विलग हो जाता है। आत्मा का तत्कालीन स्वरूप ज्ञान, दर्शन और आनन्द से निर्मित होता है।

पापियों की नरक-गति का जैन-ग्रंथों में प्रायः वैसा ही विवरण मिलता है, जैसे हिन्दू-धर्म के पुराणों में। जलना, चीरा जाना, कीड़ों से खाया जाना आदि नारकीय यातनाएँ हैं। नरकगति के पश्चात् उसे विभिन्न माताओं के गर्भ से वारंवार उत्पन्न होकर लौकिक यातनायें सहनी पड़ती हैं।

तपोमय जीवन बिताने वाले मुनि यदि निर्वाण नहीं प्राप्त कर पाते तो वे देवलोक में सर्वोत्तम देवकोटि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उन्हें विविध प्रकार के भूषण, अनुलेपन, मालायें, चूर्ण आदि प्राप्त होते हैं, जिनके उपयोग से वे रँगीले दिव्य शरीर को सजाकर दशों दिशाओं को अपनी प्रभा से चमका देते हैं। वे सर्वथा मनोरम होते हैं।

जो उपासक-गृहस्थ सल्लेखना द्वारा प्राणोत्सर्ग करते हैं, वे स्वर्ग में इन्द्रपद प्राप्त करते हैं और अन्त में देवराज बनते हैं।[1] उनका इन्द्राभिषेक होता है और समीचीन राजनीति का समाधान करते हुए, वे स्वर्ग में शासन करते हैं। इन्द्र की आयु सीमित होती है। उन्हें स्वर्ग का साम्राज्य छोड़कर पुनः मानव-लोक में अवतार लेना पड़ता है। यह इन्द्रावतार है। इस लोक में वे भगवान् के रूप में अभिषिक्त होते हैं और स्वर्ग के इन्द्रों के लिए भी पूज्य बन जाते हैं। वे चक्रवर्ती सम्राट् बन कर दिग्विजय करते हैं। अन्त में उन्हें विराग होता है और वे संन्यासी बन कर दीक्षा ले लेते हैं।



१. जैन संस्कृति की सल्लेखना के समकक्ष वैदिक संस्कृति में सर्वस्वार-यज्ञ में यजमान के आत्मघात करने की विधि है।

आचार और चरित्र-निर्माण

मानव-संस्कृति के विन्यास में सदाचार और सच्चरित्रता का आरम्भिक युग से ही महत्त्व रहा है। इनके विना सुश्लिष्ट सामाजिक जीवन असम्भव होता और व्यक्तिगत सुख और शान्ति की कल्पना भी न होती। भारत में आचार तथा चरित्र की प्रतिष्ठा का प्रधान आधार प्रकृति की उदारता और सहायशीलता रही है। प्रकृति की समृद्धि ने मानव को शरीरतः केवल सुखी ही नहीं बनाया, वरं अपनी उदारता के अनुरूप मानव के हृदय को भी उदार बना दिया। परिणामतः मानव पारस्परिक व्यवहार में स्वार्थ और संकीर्णता से ऊपर उठा और उसमें उदात्त भावनाओं का स्फुरण हुआ। आचार-सम्बन्धी यह योजना शिष्टागम, शिष्टाचार या सामान्य-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

सिन्धु-सभ्यता के युग में जिस नागरिकता का उदय हुआ, उसकी पृष्ठभूमि में मानव की उच्चतम चरित्र-निष्ठा रही होगी। उस समय के मानवों ने सामूहिक उद्योग-धन्धों तथा व्यवसायों का देश-विदेश में प्रसार किया था। ऐसी सभ्यता के निर्माण में असंख्य पुरुषों के सहयोग की अपेक्षा थी। ऐसी परिस्थिति में हम कल्पना कर सकते हैं कि उस युग के भारतीय पूर्वज आचार-पथ पर आगे बढ़ चले थे।

वैदिक आचार

ऋत

वैदिक कालीन आचार-पद्धति में ऋत अथवा सत् या सत्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई थी।[1] तत्कालीन धारणा के अनुसार चराचर-लोक की सृष्टि, संवर्धन, और संहार का नियामक ऋत ही है। प्रकृति की शक्तियाँ तथा दैवी विभूतियाँ ऋत के अनुकूल अपने-अपने व्यापार में संलग्न हैं। इस प्रकार विश्व की सन्तुलित गति के लिए ऋत की आवश्यकता है। ऋत वह वस्तु है, जिसके अभाव में प्रकृति के सारे कार्य-व्यापार रुक जाते हैं। ऋत के विपरीत अनृत है। अनृत पाप है।

---

१. ऋत प्रकृति का वह धर्म है, जिसके द्वारा निर्बाध रूप से प्रकृति के सारे कार्य-व्यापार चलते हैं। ऋतुओं का आगमन, सूर्योदय, दिन और रात्रि आदि सारे प्राकृतिक विधानों की क्रमबद्धता के मूल में ऋत ही है।

वैदिक समाज ने ऋत की प्रतिष्ठा सामाजिक जीवन में की। प्राकृतिक ऋत को आदर्श मान कर उन्होंने अपने जीवन मे क्रमबद्धता और व्यवस्था को प्रथम स्थान दिया। उनके याज्ञिक विधानों में क्रियाओं का क्रम था। उस क्रम का व्यवधान नहीं होना चाहिए था। वैदिक मन्त्रों के पाठ में क्रम की योजना थी तथा मन्त्रो के उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का विन्यास था। यदि मन्त्रोच्चार में किसी प्रकार की अशुद्धि हो जाती तो जितने पुण्य-फल की आशा की जा सकती थी, उससे कई गुना अधिक पाप का भागी बनना पड़ता था। निःसन्देह उन महर्षियों का जीवन असाधारण रूप से सुव्यवस्थित था।

दैवी प्रेरणा

वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि देवता मानवो के चरित्र का पर्यालोचन करते हैं तथा वे पापियों को दण्ड देते हैं। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य मानवो के साधु और असाधु आचार को देखते हुए ऊपर चढ़ता है।[1] मित्र और वरुण सत्य के द्रष्टा है। ऊँचे आकाश में वे सबको देखते है।[2] वरुण की दोनों आँखें सारे संसार को देखती है। कोई व्यक्ति स्वर्ग की दूसरी छोर पर ही उड़कर क्यो न चला जाय, वह वरुण की दृष्टि से नहीं बच सकता। वरुण के दूत सारी पृथ्वी पर विचरण करते हुए पापियों को ढूंढ निकालते हैं।[3]

ऋषियों को देवताओं के परोपकार और सुकृत का परिचय प्राप्त था। वैदिक साहित्य में इन्द्र और अश्विद्वय आदि देवताओं की परोपकारमयी उदात्त भावनाओं का जो आदर्श है, वह ऋषि-वर्ग में प्रतिष्ठित हुआ।[4] मानवों ने देवताओं की सहायता के लिए स्तुति की, उनका गुण-गान किया और उनके आदर्शों को अपने जीवन में ढाला। ऋषियों का विश्वास था कि देवताओं की कृपा उन्हें ही प्राप्त हो सकती है, जो उनके अनुशासन को मानते हैं और स्वयं पुण्य-पथ पर अग्रसर हैं।[5]

---

१. ऋग्वेद ४.१.१७

२. ऋग्वेद ८.२५.७-९

३. अथर्ववेद ४.१६

४. शतपथ ब्राह्मण ७.३.२.६ के अनुसार मानव को वही करना चाहिए, जो देवताओं ने किया।

५. शुक्ल यजुर्वेद संहिता २६.२ में ऋषि की कामना है—मैंने सभी लोगों के प्रति जो कल्याणी वाक्यावली का प्रयोग किया है, उससे मैं देवताओं का प्रिय बन सकूं। ऋग्वेद ४.४८.१४ के अनुसार अस्ति रत्नमनागसः। अर्थात् 'रत्न निष्पाप मनुष्यों का होता है।'

देवताओं के आदर्श पर ही मानवता को सन्देश दिया गया—पुमान् पुमासं परि पातु विश्वतः ।[1]

ऋग्वेद में सत्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गई है। इसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पहले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए और सत्य से ही आकाश, पृथ्वी, वायु आदि तत्त्व स्थिर हैं।[2] सत्य के समक्ष असत्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।[3] अथर्ववेद के अनुसार असत्यवादी वरुण के पाश में पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है।[4]

अथर्ववेद में पाप का मानवीकरण करते हुए एक ऋषि ने अपने हृदय की आन्तरिक वेदना को दाक्षिण्यपूर्वक व्यक्त किया है—'हे मन के पाप, दूर चले जाइए, क्योंकि आप ऐसी बातें कहते हैं, जो कहने के योग्य नहीं। दूर जाइये। मैं आपको नहीं चाहता। वृक्षों के ऊपर चले जाइये। वन में चले जाइये। मेरा मन पशुओं और घरों में आसक्त हो (आप में नहीं)। हे पाप्मन्, यदि आप मुझे नहीं छोड़ते तो मैं ही आप को छोड़ दूंगा। आप किसी दूसरे के पीछे पड़िये।'[5] पाप से डरने की भावना मानव को सदाचारी बनाकर सच्चरित्रता के पथ पर लगा देती है।

शतपथ-ब्राह्मण में सत्य को सर्वोच्च गुण बतलाया गया है। इसके अनुसार असत्य बोलने वाला व्यक्ति अपवित्र हो जाता है। उसे किसी यज्ञ आदि पवित्र कामों के लिए अधिकार नहीं रह जाते'।[6] इस ग्रन्थ में सत्य के द्वारा मानव की तेजस्विता की प्राप्ति तथा नित्य अभ्युदय की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है। 'जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका प्रकाश नित्य बढ़ता है। वह प्रतिदिन अच्छा होता जाता है। इसके विपरीत असत्य बोलने वाले का प्रकाश क्षीण होता जाता है। वह प्रतिदिन दुष्ट बनता जाता है। ऐसी परिस्थितियों में सदा सत्य-भाषण ही करना चाहिए।'[7] उस युग की मान्यता थी कि प्रारम्भ में भले ही सत्यवादी की

---

१. ऋग्वेद ६.७५.१४। समान विचारधारा यजुर्वेद ३६.१८ तथा अथर्ववेद १७.१.७ में मिलती है।

२. ऋग्वेद १०.१९०.१ तथा १०.८५.१

३. ऋग्वेद ७.१०४.१२

४. अथर्ववेद ४.१६

५. अथर्ववेद ६.४५.१; ६.२६.२–३

६. शतपथ ३.१.२.१० तथा १.१.१.१

७. शतपथ २.२.२.१९

पराजय हो, पर अन्त में उसी की विजय होती है। 'देवताओं और असुरों में जो युद्ध हुआ, उसमें प्रारम्भ में देवताओं की पराजय हुई क्योंकि सत्यवादी प्रारम्भ में विजयी नहीं होते, अन्त में विजयी होते हैं। देवता भी अन्त में विजयी हुए। अपने दुर्विनय और अभिमान के कारण असुर अन्त में पराजित हुए।'[1] सत्य दुःख को दूर करता है।[2] सत्य के द्वारा ही देवताओं की विजय होती है और उनका अप्रतिम यश संवर्धित होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा मिलती है। नाभानेदिष्ठ ने सत्य बोलकर बहुमूल्य पारितोषिक पाया। उसी अवसर पर आदेश दिया गया है— विद्वान् को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए।

सत्य के द्वारा पाप को दूर करने का विधान बना था। यदि मनुष्य से कोई पाप हो ही गया तो उसके प्रभाव को कम करने के लिए उस पाप को सबके समक्ष स्वीकार कर लेना पर्याप्त था। तत्कालीन धारणा के अनुसार पाप सत्य के सम्पर्क में आने पर सत्य बन जाता है। यज्ञ के अवसर पर स्वीकार न किया हुआ पाप यजमान के सम्बन्धियों को भी कष्ट में डालता है।[3] उस युग में सत्य को ही सर्वोच्च आराधना के रूप में प्रतिष्ठा मिली।[4]

उपनिषद्-काल में ऋषियों के दार्शनिक जीवन की भित्ति सदाचार के आधार पर खड़ी हुई। उनका चिन्तन दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित था। चिन्तन के लिए चित्त की एकाग्रता और शान्ति की आवश्यकता थी। इनकी प्राप्ति के लिए ऋषियों ने केवल अपने ही लिए नहीं, अपितु सारे समाज के लिए उच्च कोटि की आचार-पद्धति की व्यवस्था दी है।

ब्राह्मी स्थिति

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म तक पहुँचने के लिए सभी प्रकार के पापों से छुटकारा पाना आवश्यक है। ब्रह्म सभी प्रकार के पापों से मुक्त है। ज्योंही मानव की सत्ता ब्रह्ममय हो जाती है, वह भी ब्रह्म की भाँति शुद्ध हो जाता है। जब मानव अपने अभ्युदय की प्रतिष्ठा सांसारिक विभूतियों से परे ब्रह्म की एकता में करता है तो वह सांसारिक पापों से निर्लिप्त हो जाता है। मुण्डक उपनिषद् में ऐसे ब्रह्मनिष्ठ के सम्बन्ध में कहा गया है—

तरति शोकं तरति पाप्मानं गृहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।

---

१. शतपथ ३.४.२.८; ३.४.२.८,१४ तथा ९.५.१.१६

२. शतपथ ११.५.३.१३

३. शतपथ २.५.२.२०

४. शतपथ २.२.२.२०

(वह शोक को पार कर जाता है। पाप को पार कर जाता है। गुहा-ग्रन्थि से विमुक्त होकर वह अमर हो जाता है।)[1]

इस उपनिषद् में मानव के व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में कहा गया है—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः' अर्थात् ज्ञान के प्रसाद से मानव का सत्त्व विशुद्ध हो जाता है। आत्म-ज्ञान के लिए आचार की आवश्यकता का निरूपण करते हुए इस उपनिषद् में कहा गया है:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥[2]

(आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से लभ्य है। मानव-शरीर के भीतर ज्योतिर्मय शुभ आत्मा है। उस आत्मा को दोषहीन मुनि ही देख पाते हैं।)

मानव तभी तक बुरी प्रवृत्तियों के चंगुल में फँसा रहता है, जब तक उसे ज्ञान नहीं रहता। ज्योंही वह जान लेता है कि सारा जगत् ब्रह्ममय है, उसकी पापमयी प्रवृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। ईशोपनिषद् में यह कहने के पहले कि किसी के धन के लिए लोभ मत करो, बताया गया है कि इस जगत् में सब कुछ ईश से व्याप्त है। जो पुरुष अपने को सबमें और अपने में सबको देखता है, वह क्योंकर किसी दूसरे प्राणी से घृणा कर सकता है अथवा किसी की हानि कर सकता है।[3] यही एकत्व उपनिषद्-युग की आचार-पद्धति का दृढ़ आधार है। इस उपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह शुभ्र है, शुद्ध है और पापों से रहित है।[4] ब्रह्म के अनुरूप मानव अपने व्यक्तित्व के विकास की योजना बनाता आ रहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य को धर्म का स्वरूप माना गया है और उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा दी गई है। 'सत्य के बल पर दुर्बल भी बलवान् को पराजित कर सकता है, अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्बल का सबसे बड़ा बल है।[5] तत्कालीन मानव की सदाचारमयी निष्ठा का पता इस उपनिषद् में प्रस्तुत नीचे लिखी प्रार्थना से लगता है :—

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय।[6]

---

१. मुण्डक ३.२.९
२. मुण्डक ३.१.५
३. ईशोपनिषद् ६.७
४. ईशोपनिषद् ८ तथा मुण्डक उप० २ २.९
५. बृहदारण्यक १.४.१४
६. बृहदारण्यक १.३.२८

(मुझे असत् से सत् की ओर, तम से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर प्रवृत्त करो।)

इस उपनिषद् के अनुसार धर्म और सत्य सभी प्राणियों के मधु (पोषक) हैं और स्वयं मानव भी सभी प्राणियों के लिए मधु है।[१]

लोकोपकार

ऋग्वैदिक काल से दान का महत्त्व रहा है। दान को ब्रह्मज्ञान का साधन भी माना गया।[२] उपनिषदों में समाज-सेवा का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में नागरिक को आदेश दिया गया है कि किसी मनुष्य से यह न कहो कि तुम्हारे लिए वसति (रहने का स्थान) नहीं है। यह तो व्रत होना चाहिए। केवल रहने के लिए स्थान-मात्र देना कर्तव्य नहीं रहा। उस व्यक्ति को कुछ भोजन देना है। अतिथि को आदरपूर्वक भोजन देना चाहिए।[३] बृहदारण्यक उपनिषद् में महान् बनने के लिए जिस मनोवृत्ति को आवश्यक कहा गया है, वह लोक-कल्याण के लिए है। मानव महान् बनने के लिए कामना करता है—मानवों में मैं अद्वितीय कमल बन जाऊँ, जैसे सूर्य दिशाओं में कमल है।[४] अतिथि के सत्कार द्वारा वैदिककालीन भारतीय लोकोपकारिता का परिचय मिलता है। उस समय प्रत्येक ग्राम और नगर में आवसथ बने हुए थे। आवसथ सार्वजनिक रूप से अतिथियों के लिए स्वागत-भवन थे।[५]

सूत्रकालीन आचार

सूत्रों के अनुसार आर्यो का आदर्श ही सर्वसम्मति से सदाचार माना गया। धर्म और अधर्म कहते नहीं चलते कि हम यहाँ हैं। आर्य जिसकी प्रशंसा करें, वह धर्म है और जिसकी निन्दा करें वह अधर्म है।[६] सदाचार के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति तक बौधायन ने संभव बतलाई है। यदि पुरुष उदार हो, उसका हृदय कोमल हो और उसमें आर्जव की आभा हो तो वह जहाँ रहता है, वहीं स्वर्ग है।[७] यदि मानव का

---

१. बृहदारण्यक २.५.११-१३
२. बृहदा० ४.४.२२ तथा ५.२.१-३
३. तैत्तिरीय भृगुवल्ली १०.१
४. बृहदा० ५.३.६
५. *Vedic Index Vol. I P. 66*
६. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १.२०.६
७. बौ० धर्मसूत्र २.२.४.२५

आचार ठीक न हो तो उसे स्वाध्याय, यज्ञ, दान आदि पतन से नहीं बचा सकते । दुराचारी दुःखी और रोग-ग्रस्त होते हैं ।[1] गौतम ने आत्मगुणों को सभी संस्कारों से बढ कर माना है । इन्हीं से मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है ।[2] वसिष्ठ ने भी आचार-पथ की उच्च प्रतिष्ठा का समर्थन किया है । उनके अनुसार सभी आश्रम के लोगों को ईर्ष्या, निन्दा, अभिमान, अहंभाव, कुटिलता, आत्मप्रशंसा, लोभ, प्रवंचना, मोह, क्रोध, द्रोह आदि छोड़ना चाहिए, दूरदर्शी बनना चाहिए, सर्वोच्च पद की ओर लक्ष्य करना चाहिए, इधर-उधर नही ।[3]

सूत्रकालीन विचारकों की धारणा थी कि यदि पाप हो ही गया तो उससे छुटकारा पाना अत्यावश्यक है । ऐसी ही मानसिक स्थिति में ही प्रातः और सन्ध्या के समय अग्निहोत्र करते समय वे प्रार्थना करते थे—जानकर या अज्ञानवश मैंने रात्रि या दिन के समय जो पाप किया हो, उससे मुक्त करो । इस प्रकार की प्रार्थना करने वाले समाज में आचार की सत्प्रतिष्ठा अवश्यम्भावी है ।

महाभारतीय आचार

शिष्टाचार

महाभारत में सदाचार का पर्याय शिष्टाचार मिलता है । इसके अनुसार शिष्ट वे पुरुष हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलता को वश में करके केवल धर्म को अपनाकर सन्तुष्ट रहते हैं । वे सदैव आचारनिष्ठ रहते हैं । शिष्ट पुरुष सदैव नियमित जीवन बिताते हैं । वे वेदों का स्वाध्याय करते हैं और त्याग-परायण होते हैं और सत्य को सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं । शिष्ट पुरुष अपनी बुद्धि को संयम में रखते हैं, आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों पर चलते हैं और मर्यादा में स्थिर होकर धर्म और अर्थ पर दृष्टि रखते हैं । शिष्ट पुरुष जानते हैं कि शुभ और अशुभ कर्मों के फल-संचय से सम्बन्ध रखने वाले परिणाम क्या हैं । शिष्ट पुरुष सबको दान देते हैं, निकटवर्ती लोगों में सब कुछ बाँट कर खाते हैं, दीनों पर अनुग्रह करते हैं, उनका जीवन तपोमय होता है और वे सभी प्राणियों पर दया करते हैं ।[4]

---

१. वसिष्ठ-धर्मसूत्र ६.२,६

२. गौतम-धर्मसूत्र ८.२३-२४ के अनुसार सभी प्राणियों पर दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा आठ आत्मगुण हैं ।

३. वसिष्ठ-धर्मसूत्र १०.३० तथा ३०.१

४. महाभारत वनपर्व २०७.६१–६६

शिष्ट पुरुषों का आचार ही शिष्टाचार है। शिष्टाचार के अन्तर्गत धर्म के सर्वोच्च तत्त्वों का परिगणन होता था। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और सत्य शिष्टाचार के प्रमुख अंग हैं।[1] शिष्टाचार में त्याग का स्थान ऊँचा है। महाभारत के अनुसार धर्म के तीन लक्षण हैं--परम धर्म वह है, जो वेदों में वतलाया गया है, धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट धर्म और शिष्टों का आचार। इस प्रकार शिष्टाचार की उस युग में प्रतिष्ठा वढ़ी।[2]

शिष्ट पुरुषों के पास जब कोई सन्त पहुँचता है तो वे अपनी स्त्री और कुटुम्बी जनों को कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्ति से अधिक दान देते हैं। ऐसे शिष्ट पुरुष, महाभारत के अनुसार, अनन्त काल तक उन्नति की ओर अग्रसर होते रहते हैं। वे समस्त लोक के लिए प्रमाण हैं। शिष्टाचार है--दोषदृष्टि का अभाव, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रिय भाषण और शास्त्रों के अनुकूल कर्म करना।[3]

महाभारत के अनुसार सदाचार केवल आध्यात्मिक अभ्युदय की दृष्टि से ही ग्रहणीय नहीं है, अपितु शील के साथ धर्म, धर्म के साथ सत्य, सत्य के साथ सदाचार, सदाचार के साथ वल और वल के साथ लक्ष्मी का निवास होता है।[4] इस प्रकार सदाचार से वल और ऐश्वर्य की प्राप्ति शिष्ट-योजना कही जा सकती है।

व्यावहारिक रूप

महाभारत में शिष्टाचार का व्यावहारिक रूप अनेक स्थलों पर मिलता है। इसके अनुसार शिष्ट पुरुष स्वयं अपनी शक्ति का परिचय देना ठीक नहीं समझते और न अपने गुणों का वर्णन ही उचित मानते हैं।[5] आत्मश्लाघा से पुण्य क्षीण होने की सम्भावना थी।[6] परनिन्दा तो करनी ही नहीं चाहिए।[7] किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के आने पर आसन छोड़कर खड़ा हो जाना चाहिए और उसकी पूजा

---

१. यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विज सत्तम।
पंचैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा॥

महाभारत वनपर्व २०७.६२

२-३. वनपर्व २०७वाँ अध्याय

४. शान्तिपर्व १२४वाँ अध्याय

५. आदिपर्व ३४.२

६. वनपर्व १९८.५

७. वनपर्व १९८.१०

करके अभिवादन करना चाहिए। यदि वह व्यक्ति पद में समान हो तो उसके हाथ का अपने हाथ से स्पर्श करना चाहिए।[1] राजा या श्रेष्ठ पुरुषों को हाथ जोड़ कर प्रणाम करने की विधि थी। इसमें हाथ की अंजलिमुद्रा होती थी। जिसे प्रणाम किया जाता था, वह अंजलि ग्रहण करता था।[2] अतिथि को कुछ दूर तक पहुँचाना चाहिए।[3] अभिवादन करते समय अपना नाम बताना चाहिए।[4] किसी नये स्थान पर रहने के लिए जाये तो वहाँ ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लोगों से मिलना चाहिए।[5] यदि कोई उपकार करे तो उससे बढ़ कर प्रत्युपकार कर देना कर्तव्य है।[6] किसी श्रेष्ठ पुरुष से मिलने के लिए जाने पर प्रयोजन बताते हुए कहा जा सकता है कि आपका अभिवादन करने के लिए आ गया हूँ।[7] कहीं से जाते समय वृद्धों का अभिवादन और बालकों का आलिंगन करना चाहिए।[8] तीर्थ-यात्रा आदि कोई महान् कार्य करने के पहले अपने सम्बन्धियों से अनुमति लेनी चाहिए।[9] स्नेही जनों के सिर सूँघने की रीति थी।[10] पुत्रवधू के पहली बार आने पर उसका सिर सूँघा जाता था।[11] मार्ग में किसी व्यक्ति को लाँघ कर नहीं जाना चाहिए। लाँघने पर देह में व्यापक निर्गुण परमात्मा की अवमानना होती है।[12] यदि कोई मीठी वस्तु खानी हो तो उसे पहले अपने से छोटों को देकर खाना चाहिए।[13]

महाभारत में शिष्ट बनने की कामना करने वालों को आदेश दिया गया है—उद्योगी बनो, वृद्धों की उपासना करो, उनसे अनुमति लो और नित्य उठकर

---

१. उद्योगपर्व १५७.२०-२२
२. भीष्मपर्व ९७.२८-२९
३. सभापर्व ४५.४६
४. वनपर्व १५९.१
५. आदिपर्व १४५.६-७
६. आदिपर्व १५६.१४
७. वनपर्व ७३.२५
८. वनपर्व ११९.३०
९. उद्योगपर्व १५७.३५
१०. विराटपर्व ७१.२९
११. आदिपर्व २२०-२१
१२. वनपर्व १४७.८
१३. द्रोणपर्व ७३.३२-३४

वृद्धों से कर्तव्य पूछो।[१] दिन में ऐसा काम करो कि रात में सुख से सो सको। वर्ष में आठ मास ऐसे काम करो कि वर्षा के चार मास सुख से बीतें। युवावस्था में ऐसा काम करो कि वृद्धावस्था आनन्द से बीते और जीवन भर ऐसा काम करो कि मरने के पश्चात् सुख हो।[२] मानव का आचरण तो सूर्य की भाँति होना चाहिए। सबका उपकार करना ही एकमात्र कर्तव्य है। स्वर्ग में उसी व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिष्ठा होती है, जो सबको स्नेह-दृष्टि से देखता है, सभी प्राणियों के दुःख का निवारण करता है और सबके साथ प्रेम-पूर्वक सम्भाषण करके उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है।

आर्येतर शिष्टाचार

महाभारत-युग में आर्यों के अतिरिक्त अनार्यों में भी सदाचार की प्रतिष्ठा हो रही थी। दस्युओं के नेता कायव्य ने अपने वर्ग के लोगों को सच्चरित्रता का पाठ इन शब्दों में पढ़ाया—स्त्री, भीत, तपस्वी और शिशुओं को न मारना। जो युद्ध न करता हो, उस पर हाथ न उठाना। स्त्री को बलपूर्वक न पकड़ना। सत्य की रक्षा करना। मंगल कार्य में बाधा न पहुँचाना। उनके ही विरुद्ध आचरण करना जो हमारे प्राप्त धन हमें न देना चाहें। दण्ड दुष्टों का दमन करने के लिए है, शिष्टों को पीड़ा देने के लिए नहीं।[३]

गीता का आचार

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण के चरित्र में आदर्श आचार की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। कृष्ण ने कहा है—मैं साधुओं की रक्षा करने के लिए, पापियों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूँ। उपर्युक्त विचारधारा सच्चरित्रता के संवर्धन के लिए समुचित वातावरण की सृष्टि करती रही है।[४] आगे चल कर कृष्ण ने बतलाया है कि अपनी इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि पर अधिकार रखने वाले क्रोध से रहित होकर ही परम कल्याण पा सकते हैं। ऐसा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उस निष्काम कर्म का एक लक्षण है लोकहित के लिए होना। यह एक प्रकार का यज्ञ है। इसे वही कर सकता है, जो

१. सौप्तिक पर्व २.२३
२. उद्योगपर्व ३५.६१-७०
३. शान्तिपर्व १३५वाँ अध्याय
४. गीता ४.८

किसी से द्वेष और मैत्री आदि नही करता ।[1] निष्काम व्यक्ति के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कहा गया है—वह विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल के सम्बन्ध में समदर्शी होता है । उसके लिए शत्रु-मित्र, साधु-पापी आदि के विषय में समान दृष्टि ही सर्वश्रेष्ठ है ।[2]

मानवीय व्यक्तित्व के सर्वश्रेष्ठ विकास की योजना लोकहित की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । कृष्ण के बताये हुए आचार-पथ को अपनाने वाला यदि एक भी व्यक्ति किसी समाज में हो तो उस समाज में शान्ति का साम्राज्य होगा । कृष्ण ने ऐसे मनस्वी की परिभाषा इस प्रकार दी है—किसी से द्वेष न करने वाला, सबसे मित्रता रखने वाला, करुण, ममत्व और अहंकार से रहित, सुख दुःख मे समान, क्षमावान्, सन्तुष्ट, सदैव योगी, संयमी, दृढ निश्चय वाला, मुझमे ही मन और बुद्धि को अर्पित कर देने वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है ।[3]

कृष्ण ने गीता में दैवी सम्पत्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव बताई है । अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, सभी प्राणियों के प्रति दया, तृष्णा का न होना, (बुरे कामों से) लज्जा, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्रोह न रखना, अपने को बहुत बड़ा न मान लेना—ये दैवी सम्पत्ति के गुण हैं । इनके विपरीत दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, परुषता, अज्ञान—ये आसुरी सम्पत्ति के गुण है । आसुरी सम्पत्ति विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म के लिए होती है । काम, क्रोध और लोभ मे से एक-एक नरक-द्वार हैं । वे हमारा नाश कर डालते हैं । इसलिए इन तीनो का त्याग करना चाहिए ।[4]

महाभारत में आचार को ग्रहणीय बनाने के लिए उसकी पारलौकिक उपयोगिता ही नही बताई गई, अपितु इस लोक मे भी सदाचार से अभ्युदय की सम्भावना और अनाचार से विपत्तियों के समागम का चित्र खींचा गया । इसके अनुसार यदि राजा शरणागत की रक्षा नही करता है तो उसके राज्य मे समय पर जल नहीं बरसता, बीज समय पर नही उगते, उसका कोई रक्षक नहीं मिलता, उसकी सन्तान छोटी अवस्था मे मर जाती है ।[5] सत्य से स्वर्ग और असत्य से नरक-

---

१. गीता ५.३

२. गीता ५.१८; ६.६

३. गीता १२.१३ १४

४. गीता १६.२१

५. वनपर्व १९७.११–१८

गति की सम्भावना बतलाई गई, साथ ही कहा गया कि असत्य के कारण लोग नाना प्रकार के रोग, व्याधि और ताप से दुःखी रहते हैं तथा भूख, प्यास और परिश्रम के कारण भी कष्ट भोगते हैं। इतना ही नहीं, असत्यवादी को आँधी, पानी, सर्दी और गर्मी से उत्पन्न हुए भय तथा शारीरिक कष्ट भी झेलने पड़ते हैं और बन्धु-बान्धवों की मृत्यु, धन के नाश और प्रेमी जनों के वियोग के कारण होने वाले मानसिक शोक से ग्रस्त होना पड़ता है। इसी प्रकार वे जरा और मृत्यु के दुःखों को भी भोगते हैं।[1]

आचार के अपवाद

असत्य-भाषण क्या किसी परिस्थिति में उचित माना जा सकता है? इस सम्बन्ध में प्रायः शास्त्रकारों का मत रहा है कि विशेष परिस्थितियों में असत्य-भाषण क्षम्य हो सकता है। किसी भले आदमी के प्राणों की रक्षा करने के लिए असत्य बोलने में पाप नहीं होता।[2] पुरोहित के प्राण की रक्षा करने के लिए, गौ-रक्षा के लिए, विवाह अथवा प्रेम-सम्बन्ध में, परिहास में, संकट पड़ने पर तथा क्रोध होने पर झूठ बोलना कोई अपराध या पाप नहीं है।[3] महाभारत में उपर्युक्त विचार-धारा का निदर्शन नीचे लिखे श्लोक में मिलता है—

> न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
> प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥[4]

(परिहास की बात में, स्त्री के सम्बन्ध में, विवाह के समय, प्राण का संकट होने पर और सर्वस्व नष्ट होने की आशंका होने पर यदि झूठ बोला जाय तो वह पाप नहीं है।)

महाभारत उपर्युक्त परिस्थितियों में भी असत्य को सर्वथा समीचीन नहीं मानता। उपर्युक्त असत्यों के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान बना। यदि असत्य बोल कर किसी महर्षि की रक्षा कर ली गई तो क्या हुआ? सत्य की हत्या तो हुई ही। ऐसी परिस्थिति में कुछ शास्त्रकारों ने निर्णय दिया है कि किसी भी

---

१. शान्तिपर्व १९०वाँ अध्याय
२. मनु और आपस्तम्ब का मत
३. आपस्तम्ब और गौतम आदि का मत
४. महाभारत आदिपर्व ८२.१६

परिस्थिति में असत्य न बोला जाय, तभी तो सत्य की हत्या न होगी।[1] महाभारत में स्पष्ट कहा गया है---जो व्यक्ति अपने लिए अथवा दूसरों के लिए परिहास में भी कभी असत्य नहीं बोलते, वे स्वर्ग में जाते हैं।[2] फिर भी लोक-हित के लिए अथवा किसी निर्दोष व्यक्ति की रक्षा करने के लिए असत्य बोलना कभी भी निन्दनीय नहीं समझा गया।

अत्याचारियों अथवा दुष्टों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए---इस सम्बन्ध मे प्रायः सभी शास्त्रकारों का मत है कि यदि अत्याचारी या दुष्ट पुरुष समझाने-बुझाने से अथवा साधुतापूर्वक व्यवहार करने से सत्पथ पर आ जाता है तो सबसे अच्छा है। महाभारत के अनुसार क्रोध को अक्रोध से और असाधु को साधुता से जीतना चाहिए।[3] वैर का अन्त वैर से नहीं होता। दुष्टों के साथ दुष्ट न बने।[4] अत्याचारी पापमय उपायों से दबाये जाने पर स्वभावतः अधिक अत्याचारी बन जाता है। यही मनोवैज्ञानिक आधार शान्तिमय उपायों की उपयोगिता की पुष्टि करता है। शान्तिमय उपायों के असफल होने पर बलपूर्वक अत्याचारियों का दमन करना शास्त्रकारों ने उचित ठहराया है। 'जिस व्यक्ति के प्रति किसी व्यक्ति' का जैसा व्यवहार हो, उस व्यक्ति से बदले में वैसा ही व्यवहार करने में न तो अधर्म होता है और न अमंगल।[5] उपर्युक्त कथन का समर्थन स्पष्ट रीति से नीचे लिखे श्लोक में मिलता है---

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥[6]

---

१. विश्व के इतिहास में ऐसे महापुरुषों की संख्या स्वल्प नहीं रही है, जिन्होंने सत्य के पीछे अपना सर्वस्व होम कर दिया और असत्य बोल कर अपने प्राणों की रक्षा न की। सुकरात, ब्रूनो आदि योरप में ऐसे ही सत्य के प्रतिष्ठापक हुए हैं। भारत में सत्यपरायण हरिश्चन्द्र का नाम ऐसे मनीषियों में सर्वप्रथम है।

२. अनुशासनपर्व १४४.१६

३. उद्योगपर्व ३८.७३

४. न पापे प्रति पापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्।
न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति॥

५. उद्योगपर्व १७६.३०

६. शान्तिपर्व १०९.२९ तथा उद्योगपर्व ३६.७

रामायणीय आचार

रामायण में जिन उदात्त पात्रों के चरित्र का चित्रण आदर्श रूप में किया गया है, उनका आचार-व्यवहार सदा से ही इस देश में अनुकरणीय माना गया है। पिता के वचन को सत्य बनाने के लिए पिता तथा अन्य बन्धु-बान्धवों की इच्छा के विरुद्ध राम ने चौदह वर्ष वनवास किया। चित्रकूट से ही राम को लौटाने के लिए भरत और कौशिल्या आदि के प्रार्थना करने पर भी राम ने पिता के वचनों को सत्य बनाने के संकल्प को नहीं छोड़ा। इस अवसर पर जावालि ने राम को नास्तिक--पथ की शिक्षा दी--इस संसार में कौन किसका पिता है? तुम वुद्धि से काम लो और कष्ट देने वाले वन को छोड़कर भोग-विलासमयी अयोध्या में लौट चलो। इस महर्षि को जो उत्तर राम ने दिया, वह भारतीय आचार के इतिहास में अमर रहेगा--पाप का आचरण करने वाला व्यक्ति मर्यादा-रहित होकर सच्चरित्रता को छोड़ कर सज्जनों में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। पुरुष उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हो या नीच कुल में, उसका चरित्र ही उसकी पवित्रता या अपवित्रता का कारण होता है। यदि मैं धर्म के नाम पर अधर्म अपना लूं तो संसार को कुमार्ग पर बढ़ाने वाले मुझको कौन विद्वान् आदर की दृष्टि से देखेगा? जैसा राजा का आचरण होता है, वैसा ही प्रजा का भी आचरण होता है। राजा का आचरण सत्य के अनुकूल होना चाहिए। सत्य में लोक की प्रतिष्ठा है। ऋषियों और देवताओं ने सत्य का ही सम्मान किया है। सत्यवादी को ही परलोक में सुगति मिलती है। लोग जिस प्रकार साँप से डरते हैं, वैसे ही असत्यवादी से भी डरते हैं। सबका मूल सत्य में ही है। सत्य से ऊँचा कुछ नहीं है। देवता और पितर भी मिथ्यावादी के अन्न को नहीं ग्रहण करते। तत्कालीन सनातन आचार-पथ का निदर्शन करते हुए राम ने कहा है--

> **सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पा प्रियवादिता च।**
> **द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥[1]**

रामायण के अनुसार भी मानव को अपने शुभाशुभ आचरणों का फल पाना ही पड़ता है। अतः काम आरम्भ करने के पहले उसके शुभाशुभ परिणाम पर विचार कर लेना चाहिए। पलाश के फूलों को मनोरम देखकर उसके फल के लोभ से जो व्यक्ति आम का उपवन कटवा देता है और पलाशों को सींचने लगता है, वह फल आने पर शोक करता है। पलाश सींचने वाले की भाँति वह व्यक्ति

---

१. वा० रामा० अयोध्याकाण्ड १०९वाँ सर्ग

फल पाने पर शोक करता है, जो फल को बिना जाने ही बुरे काम करने लगता है ।[1]

मानव आचार-पद्धति

मनु ने आचार से लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय की प्राप्ति का प्रभावोत्पादक विश्लेषण किया है । मनु के अनुसार आचार से मनुष्य दीर्घायु होता है, अभीष्ट सन्तान पाता है और अक्षय धन पाता है ।[2] दुराचारी मनुष्य की निन्दा होती है । वह दुःख का भागी होता है और सदैव रोगी रहता है । ऐसे पुरुष की आयु क्षीण हो जाती है ।[3] सभी लक्षणों से दीन-हीन होने पर भी सदाचारी सौ वर्ष जी सकता है ।[4] मनु ने असत्य बोलने वाले घोर पापी को महान् चोर माना है और कारण बताया है कि अन्य चोर तो किसी अन्य व्यक्ति का धन चुराता है । असत्यवादी अपनी आत्मा का ही अपहरण करता है सज्जनों के बीच किसी बात को अन्यथा बतलाना असत्य है ।[5] मनु ने शब्द और अर्थ को तोड़-मरोड़कर उलटी-सीधी बातें बनाने वालों को भी चोर माना है । मनु की शब्दावली में उनका नाम सर्वस्तेयकृत् अर्थात् सब कुछ चुराने वाला है।[6] मनु की दृष्टि में असत्य बोलने वाले को उसी नरक में जाना पड़ेगा, जिसमें ब्राह्मण, स्त्री, बालक आदि की हत्या करने वाला जाता है । झूठ बोलने वाले का सारा पुण्य उसे छोड़कर कुत्ते के पास चला जाता है । झूठे को नंगा, अन्धा, भूखा, प्यासा आदि होकर भीख माँगते हुए शत्रु-कुल में जाना पड़ता है । वह पापी सिर नीचे किए हुए नरक के घोर अन्धेरे में जा गिरता है ।[7] इसके विपरीत न्यायालय में सत्य बोलने वाले की प्रतिष्ठा मनु ने की है—जिस पुरुष के बोलते हुए सर्वज्ञ अन्तर्यामी को यह शंका ही नहीं होती कि यह कभी झूठ बोलता है, उससे बढ़कर देवताओं

---

१. वा० रा० अयोध्याकाण्ड १३.६

२. मनु० ४.१५६

३. मनु० ४.१५७

४. मनु० ४.१५८

५. मनु० ४.२२५

६. मनु० ४.२५६

७. मनु० ८.८६-६५

की दृष्टि में कोई प्रशंसनीय नहीं है ।[1] असत्य बोलने वालों के लिए मनु ने घोर दण्ड का विधान बनाया है ।[2]

मनु ने समाज में पाप की प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार पर सफल योजना बनाई है । इसके अनुसार पापी का पाप से छुटकारा हो सकता है, यदि वह दूसरों से अपने पाप की निन्दा करे और यह निश्चय करे कि अब फिर वैसा काम नहीं करूँगा ।[3]

मनु ने तीन प्रकार के पापों की चर्चा की है—मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक । दूसरों का धन लेने का विचार मानसिक पाप है । परुषता, परनिन्दा, ऊटपटाँग बातें बनाना वाचिक पाप हैं और न दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, हिंसा आदि शारीरिक पाप है ।[4] इन्हीं पापों के परिणामवश मानव सूअर, कुत्ता, खटमल, पिशाच, छछून्दर आदि योनियों में उत्पन्न होकर अतिशय कष्ट भोगता है ।[5]

बौद्ध आचार

ऊपर जिस विचार-धारा का निरूपण किया गया है, उसके अनुसार मानव अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष--इन चारों की सिद्धि कर सकता है । बौद्ध संस्कृति अर्थ और काम की उपेक्षा करती है और केवल धर्म तथा मोक्ष के लिए मानव को प्रोत्साहित करती है ।[6] ऐसी परिस्थिति में बौद्ध आचार का आदर्श सर्वोच्च प्रतिष्ठित हो सका ।

बौद्ध संस्कृति में महर्षि-पूजा के माध्यम से समाज में आचार की सुप्रतिष्ठा सरलता से हो सकती थी । गौतम ने कहा--'यदि सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञ सौ वर्षों तक प्रतिमास सम्पादित किये जायँ तो भी वे उतना फल नहीं देते, जितना क्षण भर की हुई महर्षि (भावितात्मा) की पूजा । सौ वर्षों तक कोई क्यों न वन में रह कर अग्नि में होम करता जाय, वह उसके समान नहीं हो सकता, जिसने क्षण भर भावितात्मा की पूजा कर ली हो । पुण्य प्राप्त करने की इच्छा से वर्ष भर जो यज्ञ और हवन आदि किये जाते हैं, वे सरल चित्त वाले पुरुषों के प्रति किये गये अभिवादन के समक्ष तुच्छ हैं । जो अभिवादनशील है, नित्य बड़ों की सेवा करता है, उसकी आयु,

१. मनु० ८.९६
२. मनु० ८.२५७
३. मनु० ११.२२७-२३२
४. मनु० १२.५-७
५. मनु० १२.५२-८०
६. धम्मपद पियवग्गो ७ तथा लोकवग्गो १२

वर्ण, सुख तथा बल में वृद्धि होती है।"[1] जो पुरुष सदाचारी भिक्षु को देख कर उसे नमस्कार करता है और उसके पीछे हो जाता है, वह व्यक्ति इस संसार में प्रशंसा प्राप्त करता है और मरने के पश्चात् स्वर्ग में जाता है। जो लोग विद्वान् हैं और अनेक विषयों पर चिन्तन कर चुके हैं, उनकी सेवा करनी चाहिए।[2] उपर्युक्त परिस्थिति में समाज तत्कालीन महर्षियों के सम्पर्क में आ सकता था।[3]

गौतम ने व्यक्तित्व के विकास के लिए जाति और वर्ण आदि के बन्धन को अनुचित ठहराया। सभी वर्ण और जाति के लोग संघ में प्रविष्ट हुए और निर्वाण के अधिकारी बने। समाज में सर्वसाधारण को अभीष्ट आचार-पथ पर प्रगतिशील बनाने का श्रेय गौतम को मिला।

गौतम के अनुसार सदाचार से इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय सम्भव हैं। 'सदाचार से सम्पत्ति की वृद्धि होती है, कीर्ति बढ़ती है और प्रत्येक सभा में प्रभाव पड़ता है। सदाचारी की मृत्यु भी शान्ति से होती है तथा मरणोत्तर काल में उसकी सुगति होती है।[4] इसके विपरीत दुःशील व्यक्ति की अवनति होती है।[5] दुःशील और अस्थिर चित्त वाले व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से शीलवान् तथा ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।[6]

बौद्ध संस्कृति के अनुसार शक्र नामक देवराज मानव-लोक में आचार की प्रतिष्ठा करता है। वह देखता रहता है कि कौन सदाचारी और दुराचारी है। वह सदाचारियों की प्रशंसा करता है और दुराचारियों को दण्ड देता है।[7] यदि सदाचारियों को कोई दण्ड देता है तो उस अत्याचारी को शक्र स्वयं दण्ड

---

१. धम्मपद सहस्सवग्गो ७-१०; सुखवग्गो १०-१२ तथा बुद्धवग्गो १८

२. धम्मविहेठ जातक ३६१

३. वैदिक विचार-धारा के अनुसार जो आश्रम-व्यवस्था बनी, उसमे अरण्यवासी मुनियों को समाज में आने से निषेध ही किया गया। बौद्ध आदर्श इस प्रकार समाज को सदाचार की ओर उन्मुख करने में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सका।

४. महापरिनिब्बाण सुत्त तथा महावग्ग ६.२८.४

५. मच्छुद्दान जातक

६. धम्मपद सहस्सवग्गो ११

७. अम्ब जातक

देता है।[1] केवल शक्र ही नहीं, अन्य दैवी शक्तियाँ भी पापी को दण्ड देने के लिए सतत प्रस्तुत रहती हैं। महाप्रताप नामक राजा ने अपने निरपराध पुत्र के हाथ-पाँव, सिर आदि काट कर उसके सिर को तलवार की नोक पर लगाया ही था कि वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। पृथ्वी उसका भार नहीं सह सकी। दरार फटी और वह अवीचि नामक नरक में पहुंचा।[2] उस युग में शील और सदाचार को लोक में सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। धारणा थी कि आचारनिष्ठ कुल में अकाल मृत्यु नहीं होती।[3]

पाप से पतन

गौतम ने लोगों को पाप से विरत करने का जो काम अपने ऊपर लिया, उसमें सबसे बड़ी कठिनाई यही थी कि पापी लोग संसार में प्रत्यक्ष ही फलते-फूलते और सुखी दिखाई देते हैं। गौतम ने इस परिस्थिति का पर्यालोचन करके बताया कि जब तक पाप फल नहीं देता, तब तक मूर्ख उसे मधु की भाँति मधुर मानता है, पर जब पाप फल देने लगता है, तब उससे दुःख ही होता है। पाप ताजे दूध की भाँति शीघ्र ही विकार नहीं लाता, वरं भस्म से ढकी हुई आग की भाँति जलाता हुआ वह पापी का दूर तक पीछा करता है।[4] प्रारम्भ में पापी भले ही सुख भोग ले, परन्तु उन्हीं कर्मों के कारण अन्त में उसे जलना पड़ेगा।[5] आकाश में, समुद्र में, पर्वतों की गुफाओं में—कहीं भी मनुष्य पाप के फल से नहीं बच सकता।[6] कल्याण करने वाला कल्याण पाता है, पाप करने वाला पाप ही पाता है। जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा फल पाता है।[7] गौतम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पापमयी वृत्ति से प्राप्त धन या यश को धिक्कार है।[8]

पाप निवारण

ऐसा होने पर भी यदि पाप हो ही गया तो उस पाप को अपने पुण्यों से

---

१. मणिचोर जातक तथा एकराज जातक
२. चुल्ल धम्मपाल जातक तथा धम्मपद दण्डवग्गो
३. देखिये महाधम्मपाल जातक ४४७—

अनरियं परिवज्जेम सब्बं।
तस्मा हि अम्हं दहरो न मीयरे॥

४. धम्मपद बालवग्गो और पापवग्गो
५. धम्मपद बालवग्गो, पापवग्गो और दण्डवग्गो
३. धम्मपद बालवग्गो और पापवग्गो
७. चुल्लनन्दियजातक
८. छवक-जातक, सब्ह-जातक

ढकने की सीख गौतम ने दी है। जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति संसार को प्रकाशित करता है।[1] एक बार पाप करने पर यह नहीं समझना चाहिए कि मैं सदा के लिए पापी हो गया, वरं निश्चय करना चाहिए कि पुनः पाप नहीं करूँगा। शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरितों का परित्याग करके सदाचारी बनना चाहिए।[2]

भिक्षु-संघ के लिए गौतम ने नियम बनाया—यदि तुम अपने पाप को देखते हो और उसके लिए यथोचित शोक करते हो तो हमें यह शोधन-पद्धति ठीक प्रतीत होती है। अभ्युदय का यह पथ विनय के अनुकूल है। पाप से भविष्य में बचने के संकल्प को ही गौतम ने प्रायश्चित्त माना।[3]

गौतम ने आर्य सत्यों का प्रकाशन करके भिक्षुओं के लिए अष्टाङ्गिक मार्ग और दस शिक्षा-पद की व्यवस्था दी। इनमें से अष्टाङ्गिक मार्ग प्रधानतः विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान करने के लिए है। इसके द्वारा जीवन-पद्धति का परिशोधन अवश्यम्भावी था। दस शिक्षा-पद रहन-सहन को समाज के लिए कल्याण-प्रद और व्यक्ति के लिए शान्तिमय बनाने के लिए हैं।[4] इस पद्धति पर चलने वालों का आचरण समाज के लिए शिक्षाप्रद था। गौतम के अनुयायियों के जीवन में भोग-विलास को स्थान नहीं था। उनका जीवन प्रधानतः चिन्तन में बीतता था। इस प्रकार जो ज्ञान और चरित्र उन्हें प्राप्त होता था, उसके समक्ष दुःशीलता ठहर ही नहीं सकती थी।

मैत्री-भावना

बौद्ध संस्कृति की मैत्री-भावना साधक के लिए सारे संसार को ऐसा रूप दे देती है, जिसमें वह पूर्ण रूप से जगत् को कल्याणमय पाता है। मैत्री-भावना से मानव सुखपूर्वक सोता और जागता है, बुरे स्वप्न नहीं देखता, उसकी रक्षा देवता करते हैं, अग्नि, विष या अस्त्र-शस्त्र उसकी हानि नहीं करते और उसके मुख की कान्ति अच्छी रहती है।

---

१. धम्मपद लोकवग्गो

२. धम्मपद कोधवग्गो

३. महावग्ग ६.१.८

४. इसके अनुसार प्राणियों की हिंसा, न दिये हुए को ले लेना, अब्रह्मचर्य, झूठ बोलना, सुरापान, विकाल भोजन, नृत्य-गीत-माला-धारण आदि के द्वारा शरीर का अलंकरण, ऊँचा शयन रखना, सोना-चाँदी का ग्रहण आदि से विरत रहने का व्रत लिया जाता था।

मरने के पश्चात् यदि उसे निर्वाण न मिले तो भी ब्रह्मलोक में तो वह अवश्य ही प्रतिष्ठित होता है।[१]

मैत्री-भावना से समायुक्त पुरुष संसार के सभी प्राणियों को सुखी और सानन्द देखना चाहता है, चाहे वे चर-स्थावर, छोटे-बड़े, दृष्ट-अदृष्ट, दूर या पास हों। जिस प्रकार माता अपने पुत्र का पालन-पोषण और संरक्षण करती है, वैसे ही मानव को सभी जीवों के प्रति असीम प्रेमपूर्वक व्यवहार करने के लिए मैत्री अपेक्षित होती है।[२] मैत्री-भावना करने से मानव की अपनी भी रक्षा सम्भव होती है। मैत्री-भावना करने वाले बोधिसत्त्व और उनके साथियों को दण्ड देने के लिए प्रस्तुत राजा के द्वारा प्रवर्तित हाथियों ने उन्हें नहीं कुचला क्योंकि हाथी बोधिसत्त्व से प्रभावित थे।[३]

अहिंसा

बौद्ध संस्कृति की अहिंसा वैदिक संस्कृति की अहिंसा से सूक्ष्मतर है। इसके अनुसार अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी किसी प्राणी का वध करना उचित नहीं है।[४] मानव अपने को ही नहीं औरों को भी हिंसा से विरत करे।[५] पशु-हिंसा के कारण मानवों में रोगों का प्रसार हुआ है। प्रारम्भ में इच्छा, भूख तथा वृद्धावस्था—ये ही तीन रोग थे, परन्तु पशु-हिंसा के कारण रोगों की संख्या बढ़कर ९८ हो गई। गौतम का मत है कि यज्ञ में पशु-हिंसा की योजना कुछ स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपनी भूख शान्त करने के लिए चलाई थी। यज्ञ के नाम पर की गई पशु-हिंसा प्रशंसनीय नहीं है। इस हिंसा से भी पाप होता है। यह धर्म नहीं अधर्म है।[६] यज्ञ में यदि किसी पशु की बलि दी जाती है तो परिणामस्वरूप याजक को असंख्य योनियों में अपना सिर कटवाना पड़ता है।[७]

यह तो स्पष्ट है कि सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है और सभी सुख चाहते हैं। ऐसी दशा में अपने सुख की इच्छा से किसी दूसरे प्राणी की हिंसा करना उचित नहीं है। सभी प्राणियों को अपने समान

१. अंगुत्तरनिकाय मेत्तसुत्त
२. सुत्तनिपात मेत्तसुत्त तथा मतकभत्त जातक
३. कुलावक जातक ३१
४. धम्मपद निरयवग्गो
५. धम्मपद लोकवग्गो
६. बुद्धचर्या ब्राह्मण-धम्मिक सुत्त
७. मतकभत्त जातक

ही मान कर न तो किसी को मारे, न मरवाये।[1] गौतम ने अहिंसा के सिद्धान्त को पुनर्जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित किया है। जिस प्राणी को अपना भोजन बनाने के लिए अथवा दण्ड देने के लिए कोई उद्यत होता है, सम्भव है, वही प्राणी अपने पूर्वजन्म में हिंसा करने वाले का निकट सम्बन्धी रहा हो।[2] जातक की कथाओं के अनुसार गौतम बुद्ध, आनन्द, सारिपुत्र और देवदत्त आदि अपने असंख्य पूर्वजन्मों में मानव, पशु-पक्षी और कीट-योनियों में जीवन बिता चुके थे।

गौतम के अनुसार यज्ञ में हिंसा करने वाले आर्य नहीं हैं। जो पुरुष किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही आर्य है।[3]

गौतम ने प्रभावोत्पादक शब्दों में काम, क्रोध और हिंसा सम्बन्धी भावों को मन से निकालने की सीख दी है। 'ये सर्वनाश कर देते हैं, हलाहल विष, विषैले साँप, बिजली या आग की भाँति भयंकर हैं। उनसे डरो। उनके पैदा होते ही उन्हें उखाड़ फेंको।'[4]

क्षमा

भिक्षुओं को अतिशय क्षमाशील होने की सीख देते हुए गौतम ने उन्हें ब्रह्मदत्त का इतिहास सुनाया कि किस प्रकार उन्होंने क्षमाशील शत्रु के लिए उसका राज्य, सेना, रथ और कोष आदि लौटा दिया। अन्त में गौतम ने उपदेश दिया—शस्त्रास्त्र और मुकुट धारण करने वाले राजाओं में क्षमाशीलता और विनय इतनी मात्रा में पायी जाती है तो तुम्हें कितना विनयी और क्षमाशील होना चाहिए। तुमको तो अपनी सच्चरित्रता का प्रकाश विश्व के समक्ष इस प्रकार फैलाना चाहिए कि तुम विनयी और क्षमाशील प्रतीत हो और प्रकट हो कि तुमने इस सद्धर्म के श्रेष्ठ सिद्धान्तों और नियमों को अपनाया है।[5]

गौतम के इतिहास के उपर्युक्त उल्लेख से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत की राजनीति में शस्त्र-प्रयोग के स्थान पर अहिंसा, क्षमा, विनय आदि के द्वारा अभीष्ट सफलता प्राप्त कर लेने की रीति भी रही है। गाँधीजी के अहिंसा के राजनीति-क्षेत्र में प्रयोग प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध कहे जा सकते हैं।

---

१. धम्मपद दण्डवग्गो
२. सतपत्त जातक तथा सुवण्णहंस जातक
३. धम्मपद धम्मट्ठ वग्गो
४. सिगाल जातक १२४
५. महावग्ग १०. २.२०

सद्भाव

गौतम ने जिस आचार-पद्धति का प्रचार किया, उस पर चलने वाले लोगों को, सम्भव है, सांसारिक भोग-विलास तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति न हो सके, परन्तु चित्त को शान्ति मिल कर रहेगी। गौतम ने शिक्षा दी--मन में ऐसे विचार आने ही मत दो कि मुझको किसी ने गाली दी, किसी ने मारा, किसी ने पराजित किया अथवा लूट लिया। वैर का अन्त वैर से नहीं, अवैर से ही वैर का अन्त होता है। बदला लेकर वैर कैसे शान्त किया जा सकता है?[1] यही आचार-पद्धति बीसवीं शती में महात्मा गांधी के सत्याग्रह रूप में प्रस्फुटित हुई दिखाई पड़ती है। गौतम ने कहा---क्रोध को अक्रोध से जीतो, बुराई को भलाई से जीतो और झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतो।[2] गाली देने वाले, थप्पड़ मारने वाले और अस्त्र-शस्त्र प्रहार करने वाले के ऊपर तुम्हारे चित्त में विकार नहीं आना चाहिए। उन्हें अपशब्द नहीं कहना चाहिए। शत्रु के प्रति दया, मैत्री-भाव आदि होना चाहिए, क्रोध नहीं। शान्त और नम्र वही है, जो निन्दा सुन कर शान्त और नम्र रहे। तुम्हारे अंग काटने वालों के प्रति भी तुम्हें क्रोध नहीं होना चाहिए।[3] गौतम ने ऐसे ही लोगों को अपना सच्चा अनुयायी माना है। अंग काटने वाले चोर और डाकुओं के प्रति मैत्री-भावना अहिंसा की सर्वोच्च साधना है।

सम्भव है, उपर्युक्त रीति से कुछ ही अत्याचारियों पर अच्छा प्रभाव पड़े, पर दण्ड या पीड़ा देकर अत्याचारियों का सुधार करना गौतम ने नहीं सिखाया। 'दुष्टों के प्रति तुम तो मैत्री-भावना रखो, वह सुधरे या न सुधरे। यदि वह ऐसे नहीं सुधरता तो सेर का सवा सेर मिल ही जायेगा। तुम्हारे लिए स्वयं सवा सेर बनना उचित नहीं है।'[4]

ज्ञान और आचार

गौतम ने व्यक्तित्व के विकास के लिए ज्ञान और आचार दोनों को महत्त्वपूर्ण माना है। 'ज्ञान के द्वारा मानव यशस्वी होता है और सदाचार से शान्ति पाता है।[5] इन दोनों में आचार बढ़कर है।' गौतम के अनुसार सदाचार से रहित ज्ञान व्यर्थ है।

---

१. धम्मपद यमकवग्गो

२. धम्मपद बुद्धवग्गो

३. मज्झिमनिकाय ककचूपम सुत्तन्त। वास्तव में इस प्रकार की सद्भाव-सरिता में तत्कालीन सारा भारत अवगाहन कर रहा था। प्रायः इन्हीं शब्दों में इन विचारों को महाभारत में देखा जा सकता है।

४. महिस जातक

५. सेतकेतु जातक ३७७

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चाण्डाल आदि सभी के सभी धर्म के अनुकूल आचरण के अपनाने से देवताओं के समान होते हैं।[1] ऐसी परिस्थिति में धनी और निर्धन, उच्च और नीच सभी आचार के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते थे। गौतम का आचार जन्मना चाण्डाल को भी ब्राह्मण बना सकता था।[2]

अशोक की आचार-निष्ठा

गौतम की आचार-पद्धति को अशोक ने अपनी राजनीति का प्रमुख अङ्ग माना। अशोक के शब्दों में उसकी राजनीति है—मैं प्रजा को धर्माचरण में प्रवृत्त करना ही यश और कीर्ति का द्वार मानता हूँ। सब लोग विपत्ति से दूर हो जायँ। पाप ही एकमात्र विपत्ति है।[3] दास और सेवकों के साथ उचित व्यवहार करना, माता-पिता की सेवा करना, मित्र-परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणों को दान देना और प्राणियों की हिंसा न करना धर्म है।[4] अशोक ने प्रजा को शिक्षा दी—चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान, ईर्ष्या—ये सब पाप के कारण हैं।[5] उसने लोगों को पशु-पक्षियों की हिंसा से विरत करने के लिए नियम बनाये। उसने प्राणिमात्र को सुख पहुँचाने के लिए सडकों पर छाया देने वाले पेड़ लगवाये, आम्रवृक्ष की वाटिकायें लगवाईं, सड़कों पर आध-आध कोस पर कुयें खुदवाये, यात्रियों के लिए धर्मशालाएँ बनवाईं, पशुओं और मनुष्यों के लिए पौसले बनवाये।

अशोक ने कहा—धर्म की उन्नति और आचरण इसी में है कि दान, सत्य, पवित्रता तथा मृदुता लोगों में बढ़े। उसने इच्छा प्रकट की—दीन दुखियों के साथ तथा दास और नौकरों के साथ उचित व्यवहार होना चाहिए।[6]

बौद्ध संस्कृति की महायान शाखा में बोधिसत्त्व के आदर्शों की प्रतिष्ठा प्रधान रूप से की गई है। इसके अनुसार जैसे गौतम बुद्ध अपने पूर्वजन्मों में बोधिसत्त्व होकर अपने उच्च आचरण के द्वारा विश्व के सभी चराचर का कल्याण करते रहे, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को संसार के सभी प्राणियों का उपकार करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करना है और बुद्ध की भाँति ही सभी प्राणियों को निर्वाण-पथ पर अग्रसर करना है।

---

१. सीलवीमंस जातक
२. धम्मपद ब्राह्मणवग्गो
३. दशम शिलालेख
४. एकादश शिलालेख
५. तृतीय स्तम्भलेख
६. सप्तम स्तम्भलेख

जैन आचार

जैन दर्शन के अनुसार संसार में सर्वत्र जीव ही जीव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वृक्ष, लता आदि स्थावरों में एकेन्द्रिय जीव हैं। इनके अतिरिक्त दो से पाँच इन्द्रिय वाले जीव क्रमशः कीड़े-मकोड़े, चींटी-खटमल, मच्छर-मक्खी और मानव-देव हैं। नियम बताया गया कि इन सभी जीवों को कम से कम हानि तथा अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना प्रथम कर्तव्य है।[1] उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि जैन अहिंसा की प्रवृत्ति अतिशय सूक्ष्म है।

महावीर ने स्पष्ट शब्दों में बताया—धन संग्रह मत करो। धनी मनुष्य संसार-सागर के पार नहीं जा सकता। किसी को कष्ट न दो। तुम्हारे ही समान अत्याचार से पीड़ित होना सबको खलता है।[2] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा के द्वारा मोक्ष सुलभ है। मुनियों के लिए ये ही महाव्रत हैं।[3]

जैन आचार की यही प्रारम्भिक रूप-रेखा थी। इसका परिपालन संन्यासियों के लिए भले ही कठिन न रहा हो, पर साधारण गृहस्थों के लिए तो प्रायः असम्भव ही है। परवर्ती युग में गृहस्थों के लिए सुविधा दी गई कि वे यथासम्भव ही इन व्रतों का पालन करें। यथाशक्य व्रत-पालन को अणु-व्रत कहा गया।[4] जैन मुनियों की आचार-पद्धति का विकास महावीर के आदर्शों को लेकर हुआ और मुनियों के आचार को सुगम रूप देकर गृहस्थों की आचार-पद्धति का निर्माण हुआ।

पंच भावना

महाव्रत या अणुव्रत के सम्बन्ध में पाँच भावनाओं का विधान प्रस्तुत किया गया; यथा—अहिंसा का परिपालन करने के लिए सदैव जागरूक रहना चाहिए कि कहीं वचन के द्वारा किसी की हानि तो नहीं हुई। कम बोलना ही अच्छा है। मन में भी किसी प्राणी की हिंसा की बात नहीं आनी चाहिए। चलते समय इतना सावधान रहना चाहिए कि कहीं किसी प्राणी की हिंसा न हो। किसी वस्तु को उठाने और रखने में सावधानी न रखने से हिंसा हो सकती है। भोजन और पान में हिंसा

१. आचाराङ्ग सूत्र १.७.६१
२. आचाराङ्ग सूत्र १.५.५.४
३. आचाराङ्ग सूत्र ७.१–२
४. तत्त्वार्थ सूत्र ७.१,२,२०

की अधिक सम्भावना रहती है। बहुत देख-भाल कर खाना चाहिए।[1] सत्य का अनुष्ठान तभी हो सकता है, जब क्रोध, लोभ, भीरुता तथा हास्य का परित्याग करके केवल शास्त्रानुकूल वचन बोले जायँ।[2] अस्तेय के लिए निर्जन स्थानों में रहना, परित्यक्त स्थानों में रहना, दूसरों के द्वारा न अपनाये हुए स्थानों में रहना, शुद्ध भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह करना और साथियों से विवाद न करने का विधान था।[3] ब्रह्मचर्य की निष्ठा के लिए स्त्रियों के प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाली कथायें. उनके मनोरम स्वरूप का दर्शन, पहले के भोगों का स्मरण, भोग-विलासों के प्रति उत्तेजित करने वाले रस और अपने शरीर के अलंकरण का परित्याग कर देना चाहिए।[4] परिग्रह से बचने के लिए किसी वस्तु को सुन्दर मानना किसी को असुन्दर मानना आदि भावनाओं को मन से निकाल देना चाहिए तथा इन्द्रिय के विषयों को तथा राग-द्वेष को छोड़ देना चाहिए।[5]

भावनाओं के साथ ही हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि के कारण मानव-लोक और परलोक में जो दुर्दशायें सम्भव होती हैं, उनका विचार होना चाहिए। सोचना चाहिए कि ये सभी दुःख ही हैं। उनसे बचने के लिए सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, अधिक गुणवान् व्यक्तियों के प्रति प्रमोद, कष्ट सहने वालों के प्रति कारुण्य तथा दुर्विनीत लोगों के प्रति सहिष्णुता का संवर्धन करना चाहिए। संसार की गति तथा शरीर के स्वभावों का अनुशीलन करने से भी हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि से विराग होना स्वाभाविक है।[6] मन में दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि उपर्युक्त व्रतों का पालन करने वाला व्यक्ति निःशल्य (सर्वथा सुखी) होता है।[7]

पुण्य-पाप

पुण्य और पाप का विवेचन जैन आचार-शास्त्र के अनुसार स्पष्ट है। सद्वेद्य (आनन्द देने वाले), शुभ आयु को प्रदान करने वाले, शुभ यश देने वाले तथा शुभ गोत्र में जन्म के कारण-स्वरूप जो कार्य होते हैं, वे पुण्य हैं। इसके विपरीत

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७.४

२. तत्त्वार्थ सूत्र ७.५

३. तत्त्वार्थ सूत्र ७.६

४. तत्त्वार्थ सूत्र ७.७

५. तत्त्वार्थ सूत्र ७.८

६. तत्त्वार्थ सूत्र ७.६-१२

७. तत्त्वार्थ सूत्र ७.१८

कर्म पाप हैं।[१] जिसका परिणाम शुभ हो, वह पुण्य है और जिसका परिणाम अशुभ हो, वही पाप है।[२] सभी प्राणियों पर दया, अपने साथियों पर अनुकम्पा, दान, संयम, योग, क्षमा और शौच सद्वेद्य हैं।[३] मानव पुण्य-कर्मों के द्वारा ही उच्च कुल में जन्म पाकर तीर्थंकर बन सकता है। ऐसे पुण्य-कर्मों में प्रमुख हैं—विनय-सम्पन्नता, शील-व्रत का परिपालन, यथाशक्ति त्याग और तप आदि। उच्च कुल में जन्म पाने के लिए पर-प्रशंसा, आत्मनिन्दा, दूसरों के अच्छे गुणों का प्रचार, विनय और निरभिमानिता आवश्यक हैं। शुद्ध मन, वचन और कर्म के द्वारा सदाचरण से शुभ यश मिल सकता है।[४] दुःख, शोक ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवना आदि के लिए कारण बनना पाप है। पुण्यकर्मों से आत्मा पर शुभ और पाप कर्मों से अशुभ संस्कार पड़ते हैं।[५]

जैन विचार-धारा के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेने वाला व्यक्ति केवल अपना ही संरक्षक नहीं हुआ, अपितु चराचर सभी प्राणियों को अभ्युदय-पथ पर अग्रसर करने के लिए वह प्रयत्नशील रहा।[६]

दुराचार को रोकने के लिए पाप कर्मों के द्वारा नरक की भयावह यातनाओं के सहने का सांगोपाङ्ग वर्णन उपयोगी रहा है। सदाचार से स्वर्ग के अनुपम सुखों की कल्पना भी मनोरम रही है।[७] इस दृष्टि से जैन पुराण, हिन्दू पुराणों के प्रायः समान ही सदाचार के प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं।

ग्यारहवीं शती में आचार्य अमितगति ने वर्ण-व्यवस्था का आधार आचार को माना। उनके अनुसार सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्याय से रहित कोई व्यक्ति किसी जाति का अधिकारी नहीं हो सकता। जातियों का भेद आचार-मात्र से है। जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण हों, उसी की जाति ऊँची है। नीच जाति में उत्पन्न होकर भी शीलवान् व्यक्ति स्वर्ग में गये हैं और संयम और शीलरहित व्यक्ति कुलीन होते हुए भी नरक में पहुँचे हैं।[८] आचार्यों के द्वारा आचार की इस प्रकार प्रतिष्ठा होने पर समाज स्वभावतः सदाचार को अपनाता है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ८.२५
२. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय १.६२
३. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय ६.१२
४. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय ६.२३-२६
५. तत्त्वार्थ सूत्र पंचास्तिकाय ६.३,११
६. उत्तराध्ययन सूत्र २०.३५
७. जिनसेनाचार्य-कृत महापुराण १०.१८-२६; ३७.१९१-२००; ३८.३१
८. धर्मपरीक्षा परि॰ १७

जैन आचार की अहिंसा, सत्य आदि आपत्काल में अपवादस्वरूप परिहार्य हैं। शरीर की रक्षा के लिए कोई भी व्रत तोड़ा जा सकता है, क्योंकि यदि शरीर रहेगा तो प्रायश्चित्त के द्वारा पुनः शुद्धि करके धर्म की साधना हो सकती है। कभी-कभी तो राजाओं और मन्त्रियों के कुचक्रों से सन्तप्त होने पर शान्तिमय उपायों की विफलता से निराश होकर श्रमण-संघ उनको दण्ड देना अपना कर्तव्य मानता था। विपरीत बुद्धि वाले राजा का प्रतिकार करना धर्मसंगत हो जाता है। ऐसे संघ के नेताओं में कालकाचार्य प्रसिद्ध हैं। अत्याचारियों से संघ की रक्षा करने में प्राण दे देना भी सद्यः मुक्तिप्रद है। आवश्यक हिंसा ऐसी परिस्थिति में पाप के स्थान पर पुण्य का साधन होती है। बौद्ध आचार-शास्त्र जिस विषम परिस्थिति में मैत्री-भाव का आदेश देता है और प्राणों की चिन्ता न करने की सीख देता है, उसी परिस्थिति में जैन आचार-शास्त्र अत्याचारी की हिंसा का हिंसा से ही वीरतापूर्वक उत्तर देने की सीख देता है।

जैन आचार के कुछ सिद्धान्त साधारण बुद्धि से परे हैं। यदि कहीं प्राणिहिंसा करके दान देने का आयोजन किया जाता हो तो जैन मुनि को वहाँ चुपचाप रहना चाहिए, क्योंकि यदि वहाँ मुनि हिंसा न करने की सीख देता है तो जिसको दान देना है, उसकी क्षति होगी और यदि कहीं हिंसा की अनुमति देता है तो पाप ही होगा। बस, ऐसी परिस्थिति में चुप रहने से निर्वाण मिलेगा। ऐसे सिद्धान्तों की सर्वत्र और सदा प्रतिष्ठा न हो सकी।

व्यावहारिक रूप

उच्चादर्श

भारतीय आचार की उच्चता के प्रमाण तत्कालीन विदेशी लेखकों की रचनाओं में भी मिलते हैं। स्ट्राबो के अनुसार भारतीय इतने सच्चे हैं कि उन्हें घरों में ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है और न अपने लेन-देन और व्यवहारों मे लिखा-पढ़ी करनी पड़ती है।[1] एरियन के अनुसार कोई भी भारतवासी असत्य नहीं बोलता।[2] चौथी शती में जारडैनस ने प्रमाणित किया है कि भारतवासी सत्यवादी हैं और न्याय के क्षेत्र में निष्कपट हैं।[3]

फाह्यान ने भारतीय लोकोपकार की भावना का निरूपण करते हुए लिखा है—रथयात्रा के अवसर पर जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदाव्रत और

---

१. *Strabo Lib (Xv) p. 488 (ed. 1587)*
२. *Indica Chap XII. 6*
३. *Marcopolo, ed. H. Yule. Vol. II p. 354*

औषधालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लूले-लँगड़े और रोगी इस स्थान पर जाते हैं। उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है। वैद्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। रोगी अनुकूल पथ्य और औषध पाते हैं, अच्छे होते हैं और तब लौट जाते हैं।[१]

ह्वेनसाँग ने भारतवासियों के सम्बन्ध में लिखा है—वे स्वभावतः शीघ्रता करने वाले और अनाग्रह वुद्धि के होते हैं। उनके जीवन के सिद्धान्त पवित्र और सच्चरित्रतापूर्ण हैं। किसी भी वस्तु को वे अन्याय्य विधि से नहीं ग्रहण करते और औचित्य से अधिक त्याग करने के लिए तत्पर रहते हैं। भारतवासियों का विश्वास है कि पापों का फल भावी जीवन में भी मिलकर रहता है। वे इस जीवन के भोगों के प्रति प्रायः उदासीन-से रहते हैं। वे धोखा-धड़ी नहीं जानते और अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहते हैं।[२]

ह्वेनसाँग ने आगे चल कर पुनः लिखा है—सारे भारत में असंख्य पुण्य-शालायें हैं, जिनमें दीन-दुःखी लोगों को सहायता दी जाती है। शालाओं में औषध और भोजन वितरित किये जाते हैं, यात्रियों की सब प्रकार की आवश्यकतायें पूरी की जाती हैं और उन्हें किसी प्रकार की असुविधा नहीं रहती है।[३]

ग्यारहवीं शती के भगोल-शास्त्रवेत्ता इद्रीसी ने भारतवासियों की लोकप्रियता के कारण का निरूपण करते हुए लिखा है कि भारतीय लोग न्याय-प्रिय हैं। वे कर्तव्य-पथ में अन्याय नहीं अपनाते हैं। वे अपनी श्रद्धा, सच्चाई और प्रतिज्ञा-पालन के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।[४] तेरहवीं शती में शमसुद्दीन अबू अब्दुल्लाह ने भारतीय सच्चरित्रता का उल्लेख करते हुए बतलाया है—भारतवासी बालू के कण की भाँति असंख्य हैं। धोखा-धड़ी तथा हिंसा से मानो उन्हें परिचय ही नहीं है। वे मृत्यु से और जीवन से भी नहीं डरते।[५]

भारतीय आचार की उपर्युक्त उत्कृष्टता प्राचीन काल से लेकर १९वीं शती के पूर्वार्ध तक प्रायः अक्षुण्ण रूप म बनी रही। बीसवीं शती के पूर्वार्ध में भारतीय

---

१. फाह्यान यात्रा-विवरण पृ० ६१
२. *Watters Vol. I p. 171*
३. *Watters Vol. I p. 287-288*
४. *Elliot's History of India Vol. I p. 88*
५. *Maxmuller India; What Can It Teach Us? p 275*

चरित्र का सर्वाधिक पतन हुआ। इसका प्रधान कारण था भारत की परतन्त्रता। इसी शती में स्वतंत्रता का संग्राम और सत्याग्रह की लहर ने देश को एक बार और सदाचार के श्रेष्ठ पथ पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया है। महात्मा गाँधी का भारतीय चरित्र-निर्माण की दिशा में अनुपम योगदान रहा है। उनकी आचार-पद्धति पर चलना ही भारत के लिए कल्याणप्रद हो सकता है। भावी भारत का चारित्रिक विन्यास गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए।

काव्य-साधना

किसी देश की प्रकृति और संस्कृति दोनों का स्वरूप उस देश के महाकवियों की रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है। प्रकृति और संस्कृति में जो कुछ रसात्मक तत्त्व होता है, उसका प्रथम आभास कवि को होता है। काव्य का समारम्भ संस्कृति के साथ ही अवश्यम्भावी है। मानव-हृदय स्वभावतः भावुक है। अनादि काल से सहृदय प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य के सम्पर्क में आकर आनन्द-विभोर होता आ रहा है। सौन्दर्य के सम्पर्क में हृदय का संस्कार होता है और इसी संस्कार से नित्य भावित होते हुए हृदय की काव्यात्मक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है।

काव्य का प्रयोजन

कवि अखिल विश्व के चराचर के हृदयावर्जक पक्ष को समुन्मीलित करने के लिए काव्य-रूपी साधन की सृष्टि करता है।[1] काव्य मानव को वह दृष्टि प्रदान करता है, जिसके द्वारा वह प्रकृति-नटी के चराचर रूप में प्रस्तुत विराट् स्वरूप के कण-कण में आत्म-तृप्ति का रसास्वादन करता है। सच्चा काव्य सहृदय को आधिभौतिकता के आकर्षण की परिधि से ऊपर उठा देता है। तभी तो भर्तृहरि ने कहा है—

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम

(अर्थात् सत्काव्य के आनन्द के सामने राजकीय वैभव का विलास फीका है।)

भर्तृहरि को सम्भवतः यही काव्यरस राजपद से हटाकर अपनी ओर खींच ले गया था।

१. काव्य का यह उपयोगितान्वयी पक्ष है, जब वह साधन रूप में है। काव्य का रस-निष्पत्ति का साधन होना उसका आनन्द-पक्ष है। इस दृष्टि से कवि की वैज्ञानिक से तुलना की जा सकती है। वैज्ञानिक अपने बुद्धि-बल से जगत् की प्रायः सभी वस्तुओं का विवेचन करने के लिए नित्य अभिनव यन्त्रों का निर्माण करता है। वह उन यन्त्रों के द्वारा आधिभौतिक तत्त्वों का विवेचन करके उनकी उपयोगिता का आकलन करता है और संसार को अपने प्रयोगों से सुखी बनाने का प्रयत्न करता है।

पर काव्य का सर्वस्व रस ही नहीं है। काव्य के अध्ययन से मानव को शब्द और अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह उसकी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। यदि शब्दों की शक्ति को जानना है[1] और जगत् की वस्तुओं को हृदय की आँख से देखना है तो सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी देखें। एक-एक शब्द सष्ठु प्रयुक्त होने पर स्वर्ण-मुद्राओं से अधिक मूल्य का है—सहृदय के लिए। यह प्रयोग-विज्ञान काव्यालोचन से ही सम्भव होता है।[2]

कवि की दृष्टि पाये बिना कोई मनुष्य सहृदय नहीं बनता और जो सहृदय नहीं है, उसके लिए यह संसार ऐन्द्रियक भोग-विलास का साधन-मात्र है। संसार का यही रूप पशुओं के लिए भी सत्य होता है। यदि हिमालय के शिखर, चन्द्र की ज्योत्स्ना कोयल की कूक और पपीहे की 'पी कहाँ' का आनन्द लेना है तो काव्य का अभ्यास अपेक्षित है।

उपदेश साधारणतः किसी के लिए आकर्षण की वस्तु नहीं है। भले ही कोई सज्जन अपने सभी काम छोड़कर किसी ऋषि-मुनि की उपदेश भरी वाणी दत्तचित्त होकर सुन ले और तदनुकूल अपना व्यक्तित्व उदात्त बनाने के लिए सचेष्ट हो; पर ऐसे लोगों की संख्या सदैव सीमित रही है। भारवि ने इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है—हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। ऐसी स्थिति में हित की बात कहने के लिए काव्य का सहारा लेना पड़ता है। अश्वघोष जैसे स्थविर ने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द जैसे उपदेशपूर्ण योजनाओं से समन्वित ग्रन्थों को सरस काव्य-रूप दिया और कारण बताया—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः,
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता ॥
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम्,
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥ सौ० १८.६६

अश्वघोष को मोक्ष-धर्म के उपदेश की कड़वी औषध को सर्वसाधारण को पिलाना था। उसे काव्य के मधु से मीठा बना कर ही देना अच्छा उपाय प्रतीत

---

१. यदि अग्नि को कृष्णगति, हंस को प्रियमानस-खग और मेघ को विद्युत्कलत्र रूप में जानना है तो इन शब्दों को कवि की दृष्टि से ही समझना होगा।

२. काव्य की इसी बहुमुखी अतिशयता को देख कर मम्मट ने कहा है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ काव्यप्रकाश १.१

हुआ, नहीं तो अन्यमनस्क श्रोता क्योंकर इस वक्तव्य की ओर प्रवृत्त होते । अश्वघोष ने देख लिया था कि 'साधारणतः लोग विषय-भोगों की ओर प्रवृत्त हैं, मोक्ष से दूर हैं । उनको यदि मोक्षपरक बात सुनानी है तो काव्य के बहाने ही यह सम्भव है ।'[1] जिसको जो ग्रहण करता होता है, वह उसे ग्रहण तो करता ही है ।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में मम्मट का काव्य-प्रयोजन का व्याख्यान समीचीन है । उन्होंने बतलाया है—'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् यदि सरसतापूर्वक यह ज्ञान कराना है कि राम की भाँति व्यवहार करो, रावण की भाँति नहीं तो काव्य का माध्यम ही आश्रयणीय है ।

मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों की गणना में उपर्युक्त उद्देश्य को अन्तिम और व्यावहारिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । उन्हें तो इस प्रकार प्रतीत हुआ था—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

काव्य से कालिदास को यश मिला था । धन तो कवियों को मिला ही करता है । राजाओं को कैसा व्यवहार करना चाहिए—यह भी काव्य सिखाता है । स्तोत्रादि काव्यों से इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट का निवारण वैदिक काल से ही प्रत्यक्ष रहा है । तत्काल रसास्वादन का परानन्द काव्य से सम्भव होता है । उपदेश देने वाले भी बहुतेरे मिलते हैं, पर कान्ता के उपदेश में जो सौहार्दपूर्ण ग्रहणीयता सम्भव है, वह अन्यत्र कहाँ ?[2]

---

१. प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतम्,
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षपरमिति ।
तद्बुद्ध्वा यामिकं यत् तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितम्,
पांसुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति । सौ० १८.६४

भाषण-सम्भाषण की काव्यमयी शैली की प्रभावशीलता सर्वविदित है ।

२. उदाहरण के लिए कादम्बरी को लीजिये—इसमें कथा की योजना मानवीय वृत्तियों को उदात्त बनाने के लिए है । सर्वत्र मैत्री-भाव के ऊँचे आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है । महाश्वेता और कादम्बरी, चन्द्रापीड और वैशम्पायन, तारापीड और शुकनास, मनोरमा और विलासवती आदि का जो परस्पर अनुराग चित्रित किया गया है, वह मित्रों के हृदय में स्थिर शान्ति और सुख का विधायक

कवि अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा से आनन्द देने का काम करते हैं। काव्य को सफलता आनन्द की यथार्थता में है। यथार्थ आनन्द के अनुभव से मनुष्य की क्षुद्र अहं-बुद्धि का नाश होता है। ऐसी स्थिति में सात्त्विक गुणों के आविर्भाव होने पर पाठक को वर्णनीय विषय से तादात्म्य का अनुभव होता है। अपने ही हृदय के समान जिसको वर्ण्य चरित्रों के सुख-दुःखों का अनुभव होता है, उसको आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय की उपाधि से अलंकृत किया है। जिस प्रकार वेदान्ती के लिए सारा जगत् 'ब्रह्म' रूप में दृष्टिगोचर होता है,उसी प्रकार कवि के लिए सारा जगत् रस-स्वरूप है। जगत् के इसी स्वरूप की प्रतिष्ठा करके कवि पाठक के लिए अखिल चराचर से एक अनिर्वचनीय महामैत्री का सम्बन्ध स्थापित कर देता है। इस मैत्री का आधार है प्रकृति के यथार्थ में काव्य के द्वारा उदात्त परमात्म तत्त्व का प्रदर्शन। कवियों की प्रतिभा सर्वत्र आत्मौ-पम्य का निदर्शन कराने में समर्थ हुई है।

यदि काव्य न होता, तो उस स्थिति में कोरा इतिहास क्या मानवता को सांस्कृतिक अभ्युदय की ओर ले जाने में समर्थ होता ? कदापि नहीं। वाल्मीकि के बिना राम का आदर्श कौन संसार के सामने उपस्थित करता ? सम्भवतः राम की चरितावली सर्वोच्च रही हो अथवा राम अपने युग के सर्वश्रेष्ठ नायक रहे हों, पर कौन किसको स्मरण रखता है, जब तक उस चरितनायक को अमर बनाने वाला कवि उस चरित-नायक को सबके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अङ्ग नहीं बना देता। आज यदि राम हमारे आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम हैं तो इसका एकमात्र कारण यही है कि वाल्मीकि, कालि-दास, प्रवरसेन, भवभूति, तुलसीदास आदि ने अपने काव्य-रस के सर्वव्यापी प्रभाव से हम सबको वासित कर दिया है। यदि हम सबको रामवान् बनने की प्रेरणा मिलती है तो उसका एकमात्र कारण राम-सम्बन्धी काव्य हैं।

साधारण मनुष्य की चर्म-चक्षुओं से अदृश्य वस्तुओं और भावों को भी कवि की प्रतिभा देख लेती है। सत्काव्य में पाठक को ऐसी असंख्य वस्तुएँ मिल जाती हैं,

---

है। कादम्बरी में पिता और पुत्र तथा स्वामी और भृत्य का पारस्परिक सम्बन्ध भी उच्च आदर्शों पर प्रतिष्ठित होकर स्नेह की निर्मल धारा प्रसारित कर रहा है। मैत्री का यह आदर्श मानवता के लिए अनुकरणीय है। सारी कथा प्रकृति-सुलभ उदारता तथा मानवोचित सौहार्द, सहानुभूति और सौन्दर्य के वातावरण की सृष्टि करती है। कादम्बरी में यद्यपि प्रकृति-प्रदत्त तथा मानवकृत विराट् वैभव और विचित्रता का अनोखा सामंजस्य प्रदर्शित किया गया है और साथ ही मानवीय भोग-विलास की चरम सीमा की अभिव्यक्ति की गई है, पर इसमें सर्वत्र शालीनता और मर्यादा की सुरक्षा की गई है।

जो अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषय नहीं हैं। इसी दृष्टि से कवि का प्रजापति नाम सार्थक है। इसी का विश्लेषण करते हुए राजशेखर ने कहा है--सरस्वती सोये हुए महाकवि को शब्द और अर्थ का ज्ञान करा देती है। कवि के मतिदर्पण में विश्व प्रतिबिम्बित होता है। महाकवियों के सामने शब्द और अर्थ पहले पहुँचने की प्रतियोगिता करते हैं। जिस वस्तु को योगी समाविस्थ होकर देखते हैं, वहाँ कवि की वाणी से पहुँच होती है। ऐसे काव्य का प्रयोजन भी अनन्त ही माना गया है।

काव्य की विपुलता

यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन युग में जो काव्य-साहित्य रचा गया था, उसका सहस्रांश भी आज नहीं बचा। फिर भी जो साहित्य बच रहा है, उसमें से सर्वोपरि वेद हैं। ये विश्व की आदिम साहित्यिक कृतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विश्व-साहित्य में वेद प्राचीनतम हैं। वैदिक उल्लेखों के आधार पर सिद्ध होता है कि आज वैदिक साहित्य का शतांश भी नहीं बच रहा है।

परवर्ती लौकिक साहित्य का भी स्वल्पांश बच रहा है। प्राचीन युग में महाकवियों की अनेक रचनाओं की भी आज कहीं प्राप्ति नहीं हो रही है। साधारण कवियों की रचनाओं की क्या चर्चा? फिर भी आज तक संस्कृत या प्राकृत में जितने ग्रन्थ मुद्रित हैं, उनसे सौ गुने अधिक ग्रन्थ हस्तलिखित पुस्तकों के भाण्डागारों में पड़े हैं। इधर-उधर सड़ते-गलते हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या तो अपरिमेय ही है।

काव्य-स्वरूप का वैविध्य

साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रथम प्रादुर्भाव वेदों के मन्त्रों के रूप मे मिलता है। वेदों के रचयिता कवि हैं। सम्भवतः वैदिक युग में काव्य की जो परिभाषा थी, उसके अनुसार ऋग्वेद के सूक्त काव्य के सर्वोच्च उदाहरण हों। इसके अतिरिक्त काव्य-तत्त्व का जो कोई भी शाश्वत मानदण्ड भारत में या विदेशों में माना गया है, उसके अनुसार ऋग्वेद में असंख्य स्थलों पर उच्च कोटि की काव्य-वर्णनायें हैं, जिनसे उच्चतर कोटि की कविता आज भी विश्व-साहित्य में नहीं मिलती।

ऋग्वेद का काव्य सूक्तों के रूप में निबद्ध हुआ। प्रत्येक सूक्त में प्रायः अनेक श्लोकों का संग्रह है। साधारणतः श्लोकों का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। वर्ण्य विषय से समृद्ध होने के नाते ही उनका एकत्र संगृहीत होना समीचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के मानस-पटल पर वर्ण्य विषय का एक निरवधि और अपरिमेय स्वरूप

विद्युल्लतिका की भाँति आभासित होता था। उस चमत्कार की स्थिति में तत्काल कवि उस आभास का प्रतिरूप सूक्तों में प्रतिष्ठित कर देता था। उसे छान-बीन का अवसर नहीं चाहिए था। उस चमत्कार के क्षण का प्रभाव मिट जाने पर कवि जब आपे में होता था तो वह अपनी बातें ठोस प्रस्तावों के रूप में निवेदित करता था। स्पष्ट है कि ऐसी मनःस्थिति में ऋग्वेद का कवि कोई प्रबन्धात्मक काव्य लिखने में असमर्थ था।[1]

वैदिक काल के उत्तर-युग में प्रबन्धात्मक रचनाओं का समारम्भ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार के साहित्य का संग्रह इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि विविध रूपों की रचनाओं में हुआ।[2] ब्राह्मण-साहित्य में कथाओं का निखरा हुआ स्वरूप मिलता है।

ब्राह्मण-साहित्य के पश्चात् उपनिषदों का युग आता है। उपनिषदों में दार्शनिक गीत-काव्य का विशद स्वरूप मिलता है। भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष के विकास के मूल में काव्योचित साधना का यहीं से समारम्भ हुआ है। यही बौद्ध और जैन संस्कृतियों से सम्बद्ध काव्य-प्रणालियों में प्रवाहित होते हुए मध्ययुगीन सन्त-साहित्य का आदर्श बना। काव्यातिशय की दिशा में इस दार्शनिकता का विशेष महत्त्व है।

वैदिक युग के पश्चात् भारतीय काव्य देवपरायणता के साथ ही मानवता के स्तर पर दिखाई देता है। ऐसी परिस्थिति में काव्य की परिधि का अतिशय विस्तार होता है। मानवता के स्तर पर आते ही वर्णनों का ठोस स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार का प्रथम ग्रन्थ महाभारत है।

महाभारत वह मानसरोवर है, जिससे असंख्य काव्य-सरिताओं का उद्गम हुआ है। यह काव्य ही नहीं, काव्यों का परम पिता है। महाभारत की इसी गरिमा को परिलक्षित करके कहा गया है—

---

१. इन्हीं सूक्तों की परम्परा में परवर्ती युग में स्तोत्र-काव्यों की रचना हुई। स्तोत्रों का साहित्य अतिशय विशाल रहा है।

२. इन नामों के लिए देखिये अथर्ववेद १५.६.११-१२ तथा शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.८। इन कोटियों की रचनायें अपने मौलिक रूप में अप्राप्य हैं, पर उन्हीं का विकसित स्वरूप महाभारत, पुराण और कथा-साहित्य में देखा जा सकता है।

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥

(यह अमर भारत-वृक्ष भावी कवियों के लिए उसी प्रकार आश्रय है, जैसे प्राणियों के लिए मेघ ।)

महाभारत ने जिस काव्योपादान का महापर्वत प्रस्तुत किया है, उसकी शिलाओं से मनोरम सुवास्तु बनाकर उसमें राम की प्रतिष्ठा जगत् की रमणीयता के लिए कर देना—महर्षि वाल्मीकि की कला है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में 'रामायण और महाभारत, गङ्गा और हिमालय की भाँति समस्त भारत की वस्तु जान पड़ते हैं । भारत ने अपना सर्वस्व महाभारत और रामायण में रख दिया है । भारत की साधना, आराधना और संकल्पों का ही इतिहास इन दोनों महाकाव्य-रूपी विशाल भवनों के भीतर चिरकाल से सिंहासन पर विराजमान है । इसमें जिस भ्रातृ-प्रेम, जिस सत्यनिष्ठा, जिस पातिव्रत्य और जिस प्रभु-भक्ति का वर्णन है, उसके प्रति यदि हम लोग हृदय की सरल श्रद्धा और भक्ति रखें तो अवश्य ही हमारे कारखाने के झरोखे से महासागर की निर्मल वायु प्रवेश का मार्ग पायेगा ।' लगभग २४,००० श्लोकों का यह महाग्रन्थ रामायण अपनी कोटि का अद्वितीय ही है ।

रामायण के पश्चात् महाकाव्यों का युग आता है । जिन महाकवियों ने महाकाव्यों की रचनायें की हैं, वे साधारणतः नागरिकता की परिधि में निगडित थे । प्रकृति के विशाल प्राङ्गण का महान् गौरव उनकी रचनाओं में नहीं समाया है । प्रायः महाकाव्यों में रस ही रस है, मनोरंजन है, किन्तु मानवता के सामञ्जस्यपूर्ण भूमा और चराचर-बन्धुत्व का इनमें दर्शन नहीं हो पाता । महाकाव्यों में नागरिक की दृष्टि प्रधान मानी गई है । उसकी दृष्टि में जगत् का जो रमणीय स्वरूप है, वह महाकवियों को सर्वोपरि प्रतीत हुआ ।

महाकाव्यों के पश्चात् काव्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण शाखा रूपकों की है । रूपकों के स्वरूप की विविधता रही है—दस रूपक और फिर उपरूपक । वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से रूपकों के भेदों की प्रतिष्ठा हुई है ।

उपर्युक्त काव्य-प्रभेदों में कवि की दृष्टि में बाह्य जगत् का स्वरूप महत्त्वपूर्ण रहा है । जब कवि की वृत्ति सर्वथा अन्तर्मुखी हुई और उसने अपने हृदय के भावों का मानो स्वान्तःसुखाय चयन किया तो गीतकाव्यों का प्रादुर्भाव हुआ । ऐसे गीतकाव्य पर्णकुटीरों से लेकर राजप्रासादों तक में सम्मानित हुए । कालिदास का मेघदूत कहाँ-कहाँ जाकर रस-वर्षा नहीं करता ?

भारतीय काव्य का अन्तिम महत्त्वपूर्ण अङ्ग है कथा। नाना रूपों में कथा-वल्लरी कहीं निगूढ़ और कहीं सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होकर पसरी है। छोटी-छोटी कथाओं में चींटियों से लेकर हाथी और सिंह तक अथवा सोमशर्मा से लेकर विक्रमादित्य तक यथाविधि बँधे हुए है। बड़ी कथाओं की विस्तार-परिधि में त्रिलोक भी आ जाता है।

उपर्युक्त काव्य-स्वरूपों की कभी संकुचित इयत्ता नहीं मानी गई। परवर्ती युग में लक्षण-ग्रन्थों में काव्य-रूपों की परिभाषायें गढ़ी गईं, पर उन परिभाषाओं का नियन्त्रण नाम-मात्र का ही रहा है। ऐसी परिस्थिति में काव्य-स्वरूपों में वैविध्य के साथ वैचित्र्य की प्रतिष्ठा हुई है।

कवियों का व्यक्तित्व

सुदूर प्राचीन काल से कवियों को ऋषि की उपाधि दी गई थी। वे ब्रह्मविद् होते थे। वैदिक धारणा के अनुसार कवि वह है, जो नित्य नूतन ज्ञान-विज्ञान का प्रत्यक्ष-दर्शी और दर्शयिता है।[1] ऋग्वेद की रचना प्रमुखतः भारद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ, वामदेव, कण्व आदि ज्ञान-विज्ञान और तपः से परिपूत महात्माओं के द्वारा की गई। कवि का व्यक्तित्व दिव्य था। उसकी प्रतिभा को ब्रह्म कहते थे और तत्कालीन धारणा के अनुसार देवता ही ब्रह्म प्रदान करते हैं। ब्रह्म की उत्पत्ति ऋत के सदन से हुई है।[2] सबसे अच्छे कवि तो उस सरोवर के समान प्रतिष्ठित होते थे, जिसमें सानन्द अवगाहन किया जा सकता था।[3]

वैदिक युग के साधारण कवियों में से कुछ राजा, सैनिक, वैश्य, स्त्रियाँ और आर्येतर लोग थे। इन कवियों ने अपनी व्यावसायिक अनुभूतियों का हृदयग्राही वर्णन सूक्तों में किया है। उदाहरण के लिए कोई सैनिक कहता है—

धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम। ऋ० ६.७५.२

---

१. देखिये ऋग्वेद का मन्त्र—

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्॥
१.१६४.१८

२. ऋग्वेद ७.३६.१

३. ऋग्वेद १०.७१.७

वैदिक कवियों के व्यक्तित्व का परिचय उन उदात्त विचारों से मिलता है, जो उनकी रचनाओं में पदे-पदे मिलते हैं।[१] उपनिषद्-युग के कवि महान् दार्शनिक थे। रामायण और महाभारत के रचयिता वाल्मीकि और द्वैपायन व्यास श्रेष्ठ महर्षि थे।[२] तपस्या के द्वारा इन दोनों आदिकवियों का कवित्व प्रस्फुटित हुआ था। व्यास और वाल्मीकि दोनों का दर्शन, राजनीति, युद्धशास्त्र, धर्म आदि का ज्ञान अपरिमेय था। ऋषि होने पर भी शृङ्गार आदि के श्लोकों की रचना इन महाकवियों ने इसी लिए की कि काव्य-पद्धति ही ऐसी थी। काव्यमीमांसा के अनुसार वाल्मीकि और व्यास सारस्वतमार्ग को पवित्र करने वाले हैं।

वल्मीकजन्मा'स कविः पुराणः कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं सारस्वतंवर्त्म न कस्य वन्द्यम् ॥

परवर्ती युग के कवियों को राजाश्रय भी मिलने लगा था, पर यह राजाश्रय उन कवियों की प्रतिभा को मलिन करने के लिए नहीं था। महाकवियों ने आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति में कदाचित् ही लेखिनी उठाई हो। ऐसे राजाश्रित कवियों में अश्वघोष का नाम सर्वोपरि है। वह कनिष्क की राजसभा को अलंकृत करता था। अश्वघोष के काव्यों या नाटकों में कहीं भी राजा की रुचि के अनुवर्तन की छाया नहीं दृष्टिगोचर होती है।

कवियों में भारतीय संस्कृति की उदात्त भावनाओं के प्रति जनता की रुचि संवर्धित करने की महती आकांक्षा थी। वे स्वयं अनाथ, दीन और विपत्तिग्रस्त लोगों के प्रति सहानुभूति रखते थे। भास का चारुदत्त कह सकता है—मैंने अपना सर्वस्व अपने मित्रों के लिए खो दिया। जिस किसी ने मुझसे याचना की, उसकी इच्छा पूरी हुई। अब दरिद्रता मुझे सन्तप्त करती है, पर फिर भी यदि संयोगवशात् धन हो गया तो वही करूँगा अर्थात् दीन-हीन की सहायता करते हुए दरिद्र बनना चाहूँगा। वही भास का चारुदत्त कह सकता है—मैं अपने शरीर को तो ऐसा ही

---

१. कवियों के व्यक्तित्व का परिचय पाने के लिए राजशेखर का नीचे लिखा सनातन मानदण्ड सदैव उपयोगी है—

स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम्। काव्यमीमांसा के कविचर्या-प्रकरण से

२. अनेक व्यास हुए। व्यासों में प्रमुख द्वैपायन हैं। भागवत ११.६.२८ कुछ व्यासों के नाम विष्णुपुराण ३.३.९-२१ में मिलते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार व्यास और वाल्मीकि किसी का नाम न था। ये तो केवल रामायण और महाभारत के कर्त्ता के नाम रख लिए गये हैं। इन काव्यों के कवि अपनी कृतियों की ओट में ऐसे छिप गये हैं कि इन ग्रन्थों के कर्त्ता के नाम ही नहीं रह गये।

समझता हूँ, मानो वह समाज का न्यास समाज के उपयोग के लिए हो। भास का भीम घटोत्कच के विषय में कहता है—यह पुरुष मेरे समान दीनों के प्रति दयालु नहीं है। लक्ष्मण भी भरत के विषय में कहते हैं कि इस पुरुष की निर्भीक ध्वनि तो ऐसी लग रही है, मानो यह अखिल विश्व को भय-रहित करने के लिए उत्पन्न हुआ है। ये उक्तियाँ उसी कवि की हो सकती हैं, जो स्वयं आत्मगुणों से परिपूर्ण हो।

परवर्ती कवि और राजा परस्पर श्रद्धालु थे। ऐसे राजाओं में वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक, विक्रमादित्य, भोज आदि हैं। कालिदास, मेण्ठ, अमर, भारवि आदि कवि उज्जयिनी-नरेशों के आश्रय में रहते थे। बाण हर्ष की राजसभा अलंकृत करते थे। ऐसी सभायें और राजाश्रय कुछ कवियों को प्रोत्साहित करने के लिये था। परस्पर-स्पर्धा से कवि एक दूसरे से अच्छे श्लोक बनाने का प्रयास करते थे। प्रवरसेन, हर्ष आदि कई राजा स्वयं महाकवि थे। राजाश्रय पाकर भी कुछ ही ऐसे कवि हुए, जिन्होंने झूठी राजप्रशस्ति लिखी है। राजधानियों के कवियों में शृंगार और वीर रस की कविता रचने की विशेष प्रवृत्ति होना स्वाभाविक था।[1] महापुरुषों की संगति में अथवा देशाटन करके कवि अपना ज्ञान संवर्धित करते थे।[2]

प्रारम्भिक युग से व्यक्तित्व के विकास की भारतीय योजना वर्णाश्रम-विधान के अनुरूप रही है। कवियों को इस साधारण योजना के अनुकूल वेद-वेदांगादि का अध्ययन करके पण्डित बनना पड़ता था और साथ ही महर्षियों के आश्रम में तपोमय जीवन बिताते हुए मन और वाणी पर संयम का अभ्यास करना पड़ता था। इस प्रकार भारतीय दर्शन और संस्कृति की उच्च परम्पराओं में महाकवि पले होते थे। ऐसा ही कवि भर्तृहरि है, जिसके विषय में सत्य है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचित् बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

---

१. कविभिर्नृपसेवासु चित्रालङ्कारहारिणी।
वाणीवेश्येव लोभेन परोपकारिणीकृता॥ क्षेमेन्द्र

२. ततः स काव्यपुरुषो रुषा निश्चक्राम—काव्यमीमांसा।

राजशेखर के शब्दों में—सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः देशवार्ता, विदग्धवादः, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च।

(जब मैं थोड़ा-थोड़ा जानने लगा तो मतवाले हाथी की भाँति हो गया। तब तो मैं 'सर्वज्ञ हूँ' इस भाव से मेरा मन अभिमान से भर गया। फिर जब मैंने विद्वानों के साथ से कुछ जान लिया तो 'मैं मूर्ख हूँ' यह समझ कर ज्वर की भाँति मेरा मद दूर हो गया।)

उसी भर्तृहरि के व्यक्तित्व से यह वाणी परिस्फुरित हो सकती थी—

तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ।[1]
विभाति कायः करुणापरायणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ।[2]
मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः,
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।।[3]
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ।[4]
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।[5]

कितना आत्मगौरव है उस महाकवि भर्तृहरि में, जो कह सकता है—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या

अथवा—अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ।।

भर्तृहरि ऋषि-परम्परा के अन्तिम सुविख्यात महाकवि हैं। परवर्ती कवि-परम्परा में व्यक्तित्व के विकास की जो योजना परिलक्षित होती है, उसका परिचय काव्यमीमांसा में राजशेखर के शब्दों मे इस प्रकार है—'बुद्धि अपने तीन रूपों—स्मृति, मति और प्रज्ञा में कवियों के लिए सहायक होती है। इनके संवर्धन

१. याचकों के बीच में सर्वस्व दान दे देने के कारण क्षीण विभव वाले लोग अपनी कृशता से शोभा पाते हैं।

२. करुणापरायण लोगों का शरीर परोपकार से शोभा पाता है, चन्दन से नहीं।

३. जिनके मन, वचन और शरीर में पुण्य का अमृत भरा है और जो उपकार की परम्परा से तीनों लोकों को प्रसन्न करते हैं।

४. इस कर्मभूमि को पाकर जो मनुष्य तप नहीं करता, वह अभागा ही है।

५. मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी और कौन दरिद्र है?

के लिए सुगुरु की नित्य उपासना करनी चाहिए।[1] उपासना बुद्धि-विकास के लिए कामधेनु है। कवि बनने के लिए इच्छुक विद्यार्थी को गुरुकुल की उपासना करनी चाहिए। आचार्य श्यामदेव का कहना है कि काव्य-कर्म में कवि को समाधि की आवश्यकता होती है। आचार्य मङ्गल के अनुसार नित्य अनुशीलन या अभ्यास से कवि-पद्धति का ज्ञान होता है। कवि के लिए प्रतिभा अपेक्षित है। प्रतिभा शब्दग्राम, अर्थसार्थ, अलंकारतन्त्र और सूक्तिसार को कवि के हृदय में प्रतिभासित कराती है। प्रतिभाशाली के लिए अदृश्य मानो प्रत्यक्ष होता है। राजशेखर के अनुसार 'देशं कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति।'

कवि तीन प्रकार के होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। पूर्वजन्म के संस्कारों से ही जो बुद्धिमान् कवि बन जाता है, वह सारस्वत है। इस जीवन में शास्त्रादि का अभ्यास करने से कवि बनने वाला आभ्यासिक है। मन्त्रोपदेश के बल पर कवि बनने वाला औपदेशिक है। प्रतिभा के साथ कवि में व्युत्पत्ति होनी चाहिए।[2] कवि की सात अवस्थायें होती हैं—काव्यविद्या-स्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि और कविराज।[3] जो कवित्व की सिद्धि के लिए काव्य-विद्या और उप-विद्या सीखने के उद्देश्य से गुरुकुल में रहता है, वह विद्या-स्नातक है।[4] हृदय-कवि हृदय में ही कविता करता है, किसी को सुनाता नहीं। जो अपनी कविता को दूसरे की कविता कह कर सुनाता है, वह अन्यापदेशी है। पूर्ववर्ती कवियों की छाया पर रचना करने वाला सेविता है। जो मुक्तकों की रचना करता है, प्रबन्धों की नहीं, वह घटमान है। प्रबन्ध-काव्य का रचयिता महाकवि है। विविध भाषाओं में, विविध प्रबन्धों और रसों से सम्बद्ध रचना

---

१. इसी का समर्थन जैन महापुराण में मिलता है—

> तस्मादभ्यस्य शास्त्रार्थानुपास्य च महाकवीन्।
> धर्म्यं शस्यं यशस्यं च काव्यं कुर्वन्तु धीधनाः ॥१.७४

२. बहुज्ञता व्युत्पत्तिः। उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः।

३. औपदेशिक कवि की तीन अन्य अवस्थायें आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता है। मन्त्रोपदेश से आवेश के समय रचना करने वाले आवेशिक हैं। आशुकवि ही अविच्छेदी है। वह धारा-प्रवाह रचना करता है। कन्या और कुमारों को सरस्वती से प्रभावित करके कविता कराने वाला संक्रामयिता है।

४. व्याकरण, कोष, छन्द और अलंकार विद्या हैं और ६४ कलाएँ उपविद्याएँ हैं।

करने वाला कविराज है। सतत अभ्यास से सुकवि की वाणी परिपक्वता प्राप्त करती है। पाक का अर्थ है--

> सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसेसति ।
> अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ।।

साथ ही कवि का सूक्ष्म अर्थ देखना अपेक्षित है।

> इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः ।
> विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ।।

इसके साथ ही आवश्यक है---स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, वहुश्रुतता, स्मृति, दृढ़ता और उत्साह। कवि को मन, वाणी और शरीर से नित्य शुद्ध रहना चाहिए। वाणी और मन की पवित्रता शास्त्राध्ययन और तदनुसार आचरण से उत्पन्न होती है। शरीर के अंग-प्रत्यङ्ग को सुसंस्कृत नागरिक की भाँति रखना चाहिए। मुख मे ताम्वूल, शरीर का अनुलेपन, महँगा और ठीक-ठिकाने वस्त्र, सिर पर पुष्प---यह है कवि का रूप। जैसा कवि, वैसा काव्य। जैसा चित्रकार, वैसा चित्र ---ये लोकोक्तियाँ समाज की उस धारणा की ओर संकेत करती हैं, जो कवि को नागरिक वनाती हैं। वह वोले तो हास्यपूर्वक। उसकी वातचीत में गरिमा हो। वह दूसरे के काव्य में दोप न निकाले।

कवि का भवन क्या होना चाहिए---स्वर्ग का टुकड़ा। लिपा-पुता, छः ऋतुओं के अनुकूल स्थान वाला, विविध वृक्षों की वाटिका वाला वह भवन कवि की रसिकता की मानो प्रतिमूर्ति ही था। उस भवन के साथ ही क्रीडापर्वत, कमल-शोभित-पुष्करिणी, नदी-समुद्र-रूपधारी जलाशय और कुल्या की धारा होनी चाहिए। उसमें मयूर, हरिण, हारीत, सारस, चक्रवाक, हंस, चकोर, क्रौञ्च, कुरर, शुक, सारिका आदि विचरण करते हों। कहीं घाम की प्रखरता को भुला देने वाला स्थान हो, अन्यत्र भूमिधारा गृहयन्त्र से समन्वित लता-गृह हो, उसी में झूला झूलने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसके दास-दासी भी असाधारण रूप से सुशिक्षित हों, जो काव्यानुवर्त्तन में सहायक हों। कवि का लेखक भी असाधारण कौशल का ही होना चाहिए था।

काव्य-भवन में सम्पुटिका, फलक, खटिका, समुद्गक, लेखनी, मपी-भाजन, ताडपत्र, भूर्जत्वक्, लोह-कण्टक, ताल-पत्र, स्वच्छ और चिकनी भित्तियाँ सदैव सुव्यवस्थित होनी ही चाहिए।

कवि को समाज की रुचि का सदैव ध्यान रखना चाहिए था। उसे जानना चाहिए कि कौन-सा कार्य ऐसा है जो लोकसम्मत भी हो और उसे भी प्रिय हो। जो

लोगों को प्रिय नहीं हो, उसमें नहीं प्रवृत्त होना चाहिए।[१] लोकप्रिय प्रवृत्तियों को काव्य का विषय बनाना चाहिए।

यदि कवि की रचना की कोई निन्दा करे तो उसे क्षुब्ध नहीं होना चाहिए। अपनी वस्तु को यदि अपना हृदय अच्छा कहता है तो निरंकुश जनता की बातों की चिन्ता व्यर्थ है।[२] फिर भी कवि को सदा अनुसन्धानपरायण और सावधान रहना चाहिए। राजशेखर के अनुसार :—

अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते॥

कविचर्या

कवि प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में सन्ध्या कर लेने के पश्चात् सारस्वत सूक्तों का अध्ययन करता था। फिर विद्यावसथ में सुखपूर्वक बैठकर एक पहर तक वह काव्य-विद्याओं और उपविद्याओं का अनुशीलन करता था। इस प्रकर उसकी प्रतिभा नित्य संवर्धित होती थी।

दूसरे पहर में कवि काव्य-रचना करता था। दो पहर के लगभग वह स्नान करके अपनी प्रकृति के अनुकूल भोजन करता था। तीसरे पहर में काव्य-गोष्ठी का आयोजन होता था। इस गोष्ठी में प्रश्नोत्तर, काव्य-समस्या-धारणा, मातृकाभ्यास, और चित्र-कला के अभ्यास होते थे।[३] चौथे पहर में अकेले या दो-चार मित्रों के साथ उस दिन की रची हुई कविता की आलोचना होती थी।

सन्ध्या के समय सन्ध्या और सरस्वती की वन्दना करने का नित्य का कार्यक्रम था। फिर दिन की रचना सुलेख में उपनिबद्ध की जाती थी। रात्रि के दूसरे और तीसरे पहर में सोकर पुनः ब्राह्ममुहूर्त्त में कवि जाग पड़ता था।[४]

---

१. जानीयाल्लोकसाम्मत्यं कविः कुत्र ममेति च।
असम्मतं परिहरेन्मतेऽभिनिविशेत च॥ का० मी०

२. जनापवाद मात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि।
जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरंकुशः॥
गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः सावज्ञः सुमहत्यपि॥

३. मातृकाभ्यास का अर्थ काव्योचित वर्ण-विन्यास है।

४. ब्राह्ममुहूर्ते मनः प्रसीदत्तांस्तानर्थानध्यक्षयति। निशायास्तुरीयो यामार्धः स हि सारस्वतो मुहूर्तः।

कौन कवि किस समय रचना करता है, इस दृष्टि से चार प्रकार के कवि होते हैं—असूर्यम्पश्य, निषण्ण, दत्तावसर और प्रायोजनिक। जिन स्थानों में सूर्य की किरणें नहीं पहुँचतीं, ऐसी गुफाओं या गर्भगृहों में असूर्यम्पश्य कवि रचना करते हैं। जब इच्छा हो तभी कविता करने वाले निषण्ण कवि होते हैं। समय या अवकाश मिलने पर कविता करने वाले दत्तावसर कवि हैं। किसी विशेष प्रयोजन के उपस्थित होने पर ही जो कलम उठाते हैं, वे प्रायोजनिक कवि हैं।

स्त्री-कवि

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि होती थीं। राजशेखर का स्पष्ट मत है कि संस्कार आत्मा में होते हैं, वे स्त्री या पुरुष की अपेक्षा नहीं करते। अनेक राजकन्यायें, गणिकायें और कौतुकिभार्यायें शास्त्रज्ञ और कवि हुई हैं।

उदात्त व्यक्तित्व वाले महाकवि के विषय में राजशेखर ने कहा है—

सिद्धिः सूक्तिषु सा तस्य जायते जगदुत्तरा।
मूल्यच्छायां न जानाति यस्याः सोऽपि गिरां गुरुः॥
चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥

राजा और कवि

राजा स्वयं भी कवि होते थे और वे कवियों के समाज का विधान करते थे। राजा के कवि या काव्यप्रेमी होने का प्राचीन समाज पर व्यापक प्रभाव था। सारी प्रजा की मनोवृत्ति राजा का इस दिशा में अनुवर्तन करती थी। राजा कवियों की परीक्षा के लिए चार महाद्वारों वाला १६ स्तम्भों का भवन बनवाता था। इस भवन में राजा का विशेष आसन होता था। उस आसन से उत्तर की ओर संस्कृत के कवि बैठते थे और उन्हीं के साथ वेदवित्, नैयायिक, पौराणिक, स्मार्त, वैद्य और मौहूर्तिक आदि बैठते थे। पूर्व की ओर प्राकृत के कवि, नट, नर्तक, वादक, वाग्जीवक, कुशीलव आदि बैठते थे। पश्चिम में अपभ्रंश के विद्वान् होते थे। उनके पीछे चित्रकार, मूर्तिकार, बढ़ई, लोहार आदि बैठते थे। दक्षिण में भूतभाषा के कवि बैठते थे और उनके साथ होते थे विट, वेश्या, प्लवक, शौभिक, जम्भक, मल्ल और शस्त्रवर आदि। राजा पूर्व-परम्परा के अनुरूप श्रेष्ठ कवियों को दान-मान देता था।

बड़े नगरों में काव्य-शास्त्र की परीक्षा के लिये ब्रह्मसभायें होती थीं। इनमें सर्वोच्च कवियों को दान-मान के साथ पट्टबन्ध मिलता था और ब्रह्मरथ पर

बैठाकर उनका सार्वजनिक प्रदर्शन होता था। उज्जयिनी, पाटलिपुत्र आदि में राजाओं के द्वारा कवियों की परीक्षा का आयोजन होता था।

कश्मीर के राजा मातृगुप्त के सामने मेण्ठ नामक कवि ने अपनी रचना हयग्रीव-वध महाकाव्य पढ़ा। जब वह पुस्तक पढ़कर बाँधने लगा तो

न्यधात् लावण्यनिर्याणभिया राजाधः स्वर्णभाजनम्।

अर्थात् राजा ने ग्रन्थ के नीचे स्वर्णभाजन रखा, जिससे कहीं काव्य-रस चूकर बह न जाय।[1]

वर्ण्य विषय

भारतीय काव्य का वर्ण्य विषय देश और काल की दृष्टि से और साथ ही प्रबन्धों के चरित-नायकों की गरिमा की दृष्टि से अनुपम है। संस्कृति के आदिकाल से महामानवों—देवता, ऋषि, असुर आदि से सम्बद्ध अनन्त घटनाओं का संक्रम वेद और पुराण आदि के माध्यम से साहित्य की सभी शाखाओं और प्रशाखाओं में सरस जीवन का अक्षय स्रोत रहा है। इसके साथ ही जीवन का एक अतिशय विस्तृत और परिव्यापक धार्मिक और दार्शनिक विन्यास था, जिसकी पृष्ठभूमि में चरितनायकों के कार्य-व्यापार की परिधि आतान-प्रतान में निरवधि होकर रही।

भारत के विशाल प्राङ्गण में किसी महापुरुष का कार्य-क्षेत्र केवल हिमालय से समुद्र तक ही सीमित नहीं था, अपितु भारत के बाहर दिग्विजय और धर्म विजय का क्षेत्र था और भारतीय कल्पना के अनुसार स्वर्ग और पाताल भी चरितनायकों की पराक्रम-परिधि के भीतर थे। रामायण को लीजिये—रामचरित की भौगोलिक परिधि अतिशय व्यापक है। इसके भीतर उत्तर और दक्षिण भारत का अधिकांश आ जाता है। तत्कालीन भारत की प्रायः सभी जातियों को राम के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। रामायण में राम के बाल्य की रमणीयता के साथ यौवन की वीरता और प्रौढावस्था का कर्मयोग—सभी अद्वितीय उत्कर्ष से समन्वित हैं। मानव-जीवन के चारों आश्रमों, चारों वर्गों और चारों वर्णों के आदर्शों का यदि कहीं एकत्र सुप्रतिष्ठित स्वरूप मिल सकता है तो यह वाल्मीकि की रामायण में सम्भव है। महाभारत के विषय में कहा गया है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ,
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

महाभारत के महासागर में प्राचीन संस्कृति का क्या नहीं है—यह ढूँढ़ निकालना वास्तव में कठिन है। महाभारत में कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि की प्रमुख रूप से और अगणित ऋषियों और मुनियों की चरित-गाथा गौण रूप से

---

१. राजतरंगिणी ३-२६०—२६२

मिलती है। इन सबके व्यक्तित्व का निदर्शन पाठकों के सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए है।

परवर्ती युग में गौतम बुद्ध का उदात्त चरित अश्वघोष के दो महाकाव्यों का वर्ण्य विषय बना। गौतम के व्यक्तित्व की गरिमा से केवल भारत ही नहीं, तत्कालीन समग्र विश्व प्रभावित था। राम और कृष्ण आदि अवतार पुरुषों के चरित का आश्रय लेकर असंख्य नाटक और महाकाव्यों की रचना हुई।

भारतीय काव्य की एक रीति थी कि सज्जनों के चरित को काव्य का विषय बनाया जाय, जिससे उनके द्वारा लोकसंग्रह हो।[1] वाणी का सदुपयोग माना गया कि उससे सत्कथा का समारम्भ हो। उन प्राचीन कवियों की धारणा थी कि महा पुरुषों का कीर्तन करने से विज्ञान बढ़ता है और निर्मल यश विस्तृत होता है। सत्पुरुषों की कथा से उत्पन्न यश 'यावच्चन्द्रार्कतारक' रहता है।[2] भागवत के अनुसार--

यद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो,
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि यत्,
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ १.५.११

फिर तो कहीं वाणी वन्ध्या न हो जाय, इसलिए जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप भगवान् की लोक-पावन लीला का वर्णन काव्य का विषय बना और उसमें लोकप्रिय राम-कृष्ण आदि अवतारों का यशोगान उपनिवद्ध हुआ। यदि काव्य में ये तत्त्व विद्यमान न हों तो उसका पढ़ना या सुनाना पाप माना गया।[3] लोगों को पूर्वजों के चरित के सम्बन्ध में अतिशय श्रद्धा थी।[4]

काव्य के वर्णनों की चारुता के लिए प्राकृतिक सुषमा का अतिशय महत्त्व माना गया। भारत की दृष्टि में प्रकृति निर्जीव नहीं है। भारत ने प्रकृति में दिव्य तत्त्व का अवलोकन किया है। सम्भवतः संस्कृति के आदिकाल से पर्वत, नदी, समुद्र, वन, सूर्य, चन्द्र आदि को देवता माना गया है। इनका विशद दिव्यात्मक स्वरूप ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद की अरण्यानी तत्कालीन मानवता के लिए सप्राण सहचरी है। तभी तो कवि ने उसकी प्रशस्ति में कहा है—'अरण्यानि, तुम गाँव का मार्ग

---

१. लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥ शान्तिपर्व २५८.२५

२. जैन पद्मपुराण १. २३-२७

३. भागवत ११.११.२०

४. जनमेजय ने कहा है--
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्॥ आदिपर्व ६२.३

क्यों नहीं पूछती ?, क्या तुम्हें डर नहीं लगता ? अरण्यानी किसी प्राणी का वध नहीं करती। वन में स्वादपूर्ण फलों को खाकर यथेच्छ रहा जा सकता है। कस्तूरी के समान अरण्यानी का सौरभ है। वहाँ खाद्य सामग्री पर्याप्त है, पर खेती नहीं है। वह अरण्यानी मृगों की माता है।

ये वे ही भावधारायें हैं, जो परवर्ती युग में कालिदास के समक्ष हिमालय का पितृ-स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। उस कालिदास के लिए तो

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'।

कवि का हिमालय, जो प्रत्यक्ष पत्थर है, पार्वती को जन्म देता है। शिव उसके जामाता बनते हैं। यह वही वन्य प्रकृति है, जिसमें शकुन्तला के लिए 'किसी वृक्ष ने क्षौम प्रदान किया, किसी ने लाक्षारस दिया और वनदेवियों ने आभूषण प्रदान किये।[1]' उसी वन्य प्रकृति के हरिण सीता के दुःख में मुँह से घास गिरा देते हैं, मयूर नाचना छोड़ देते हैं, वृक्षों के हास-रूप पुष्प गिर पड़ते हैं। सीता के रोने पर सारा वन रो रहा है।[2]

उपर्युक्त सभी प्राकृतिक विभूतियों की रसमयी रमणीयता कवि-दृष्टि में वर्णनीय रही है। ऋतुओं के वर्णन, यात्रा-वर्णन, पुष्पावचय आदि के वर्णन से सभी तो प्रकृति के मनोरम स्वरूप के निदर्शन के लिए प्रयुक्त हैं। कालिदास का मेघदूत और ऋतुसंहार प्रकृति के प्राङ्गण में कवि की प्रतिभा के चिर विलास का परिचय देते हैं।

कवि-प्रतिभा का एक विशाल क्षेत्र पशु-पक्षियों के मानवोचित व्यवहार की कल्पना में दर्शनीय है। सुदूर प्राचीन काल से ही पशुओं में वाणी-शक्ति की कल्पना करके पशु-जगत् को उच्चतर प्रतिष्ठा प्रदान करना भारतीय कथा-साहित्य की विशेषता रही है। पशु-जगत् में जिस आर्जव, साहस और अध्यवसाय का आकलन किया गया है, वह मानव-जगत् के सामने हीनतर भले ही हो, पर पशुओं के इन गुणों

---

१. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्,
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवता करतलैरापर्वभागोत्थितै—
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल ४.५

२. नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि॥ रघुवंश १४.६९

पशुओं के इन गुणों की वर्णना में मानव को नीति और सदाचार की निष्काम स्तर पर शिक्षा मिलती है। इसी प्रकार नाटकों में बुद्धि, सत्य, धृति, कीर्ति आदि में मानवोचित वाणी-शक्ति का आरोप करके सांस्कृतिक विन्यास की एक अभिनव दिशा व्यक्त की गई है।[1]

भारतीय नाट्य और कथा-साहित्य में तत्कालीन जगत् के अंग-प्रत्यंग का विशद वर्णन देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति का समारम्भ महाभारत और जातक कथाओं में हुआ। परवर्ती युग में पञ्चतन्त्र, वड्डकहाओ, कथासरित्सागर, पुरुष-परीक्षा आदि की कथाओं में तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल, मृच्छकटिक आदि नाटकों और प्रहसनों में समाज के छोटे-बड़े सभी की बातों का वर्णन साङ्गोपाङ्ग मिलता है।

इसी काव्य-शैली से भारतीय इतिहास उस प्राचीन युग में उपनिबद्ध हुआ है। महाभारत में भारत के प्रथम इतिहास का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप मिलता है। इसके पश्चात् बाण का हर्षचरित, पद्मगुप्त का नवसाहसांकचरित, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित और कल्हण की राजतरङ्गिणी आदि इतिहास-कोटि की विशिष्ट रचनायें हैं। राजतरङ्गिणी रचने में कल्हण ने काश्मीर के पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रन्थों का उपयोग किया था। उसके युग में इतिहास-ग्रन्थों की अवश्य ही प्रचुरता थी।

भाषा

संस्कृत काव्य की सर्वोत्कृष्ट भाषा मानी गई है। ऋग्वेद में भाषा की चारुता को प्रमाणित करते हुए कहा गया है—'विद्वानों ने इस भाषा को परिष्कृत किया है। इस वाणी में सुश्रीकता है। कवि के पास वाग्देवी स्वयं प्रकट होती है।'[2] वैदिक युग से ही भाषा के चमत्कार का संवर्धन करने वाले महामनीषी ऋषि थे।

संस्कृत भाषा में शब्दों की संख्या सातिशय कही जा सकती है, फिर प्रत्ययों, सुपों और तिङों के योग से शब्दों और पदों की संख्या और अधिक बढ़ जाती है। इसके साथ ही शब्द की शक्तियाँ विकसित की गई हैं, जिनके द्वारा भावाभिव्यञ्जन का सौष्ठव सम्पुरस्कृत किया गया है। इन सभी विशेषताओं के द्वारा संस्कृत में सूक्ष्म भावों को चारुतापूर्वक निदर्शन करने की अनूठी शक्ति प्रत्यक्ष है।[3]

---

१. देखिये जातक कथायें, पञ्चतन्त्र और अश्वघोष के नाटक

२. ऋग्वेद १०.७१.२,८

३. विलियम जोन्स ने संस्कृत के इसी गुण का परिलक्षण करते हुए लिखा है—Sanskrit language is of wonderful structure, more perfect

महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने संस्कृत की विशेषताओं का आकलन करते हुए कहा है--इसके सिवाय संस्कृत भाषा में ऐसा स्वर-वैचित्र्य, ध्वनि की गम्भीरता और स्वाभाविक आकर्षण है कि उसका संचालन यदि निपुणता के साथ किया जा सके तो अनेक बाजों का एक ऐसा 'कन्सर्ट' बज उठता है, उसके अन्तर्निहित रागिणी में एक ऐसी अनिर्वचनीयता है कि कविगण उस वाणी की निपुणता के द्वारा विद्वान् श्रोताओं को मुग्ध करने का लोभ नहीं छोड़ सकते।[१]

वैदिक काल से ही काव्य को कण्ठाग्र करने की रीति भारत में सदा रही है। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन भाषाओं का स्वरूप चिरकाल तक स्थिर रहा। व्याकरण की सनातन परम्परा के कारण भी भाषा का स्वरूप अपरिवर्तनशील रहा।

कम से कम शब्दों के द्वारा अधिकाधिक भावों को व्यक्त करने की संस्कृत की विशेषता का निरूपण करते हुए कीथ ने कहा है--The extraordinary power of compression which Sanskrit possesses etc.[२] कीथ के अनुसार संस्कृत में राग-ताल-नृत्यादि की अनुकूलता का विधान करने की योग्यता है।[३] निःसन्देह इन सभी गुणों के कारण संस्कृत में काव्य-रचना की अपूर्व योग्यता सिद्ध होती है।

शैली

संस्कृत की काव्य-शैली प्रारम्भ से ही व्यंजना-प्रधान मानी गई है। काव्य के द्वारा रस की निष्पत्ति को प्रधान उद्देश्य मान लेने पर व्यंजना के द्वारा रस की सिद्धि सम्भव होती है। व्यंजना की प्रधानता व्यक्त करते हुए भागवत में कहा गया है--परोक्षवादो वेदोऽयम्।[४] व्यंजना के बल पर ही कहा जा सकता है--'अग्निमीडे पुरोहितम्।' अग्नि का पुरोहित होना व्यंजना से ही सत्य प्रतीत होता है। उस युग में श्लोकों के भावात्मक संघटन का विशेष ध्यान रखा गया।[५]

वैदिक शैली सरल और प्रभावोत्पादक है। छोटे वाक्य हैं। उनमें समासों का प्रायः अभाव है। विशेषणों की भरमार उस वैदिक शैली की एक विशेषता

---

than Greek, more copious than Latin and more exquisitely refined than either. *Asiatic Researches Vol. I P. 422*

१. प्राचीन साहित्य पृ० ५६

२. *A History of Sanskrit Literature P. 178*

३. *A History of Sanskrit Literature P. 338*

४. भागवत ११.३.४४

५. नेमधिता न पौंस्या वृथेव विष्टान्ता। ऋग्वेद १०.९३.१३

है। अलंकारों का ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः अभाव है। कहीं-कहीं संवादात्मक शैली का अनुसरण करते हुए कवि श्रोताओं के बहुत निकट प्रतीत होते हैं। उस युग में छन्दों का विविध विन्यास प्रायः विकसित हो चुका था। ऋग्वेद में १५ प्रकार के छन्द हैं।

ऋग्वेद की शैली का पर्यालोचन करने से यह निःसन्देह प्रतीत होता है कि उस युग तक काव्यशैली पूर्ण रूप से परिमार्जित हो चुकी थी।

वैदिक शैली की सरलता रामायण और महाभारत में अधिक निष्पन्न हुई और भास, कालिदास आदि की रचनाओं में इसका सर्वोच्च विलास प्रस्फुटित हुआ। इस युग तक काव्य में लोकदृष्टि की प्रधानता होने के कारण सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य भाषा में रचनायें हुईं। कालिदास की रचनाओं में अलंकारों के संयोजन से वस्तु-स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है। उस युग में कम से कम शब्दों के प्रयोग से उपमान या सादृश्य-व्यंजक रीति को अपना कर किसी वस्तु का सर्वाङ्गीण स्वरूप और निगूढ़ सम्भावनाओं का प्रत्यक्षीकरण अलंकारों की उपयोगिता को प्रमाणित करती थी। ये ही सम्भावनायें रसोद्बोधक सिद्ध होती है। कालिदास की प्रशस्ति मे उन्हीं की भाषा-शैली अपनाते हुए बाण ने कहा है :—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ।।

कालिदास की शैली ही सर्वसाधारण के आस्वादन के लिए थी, जिसके तो बल पर कवि की कीर्ति समुद्रों के पार जा पहुँची। सोड्ढल ने इसका समर्थन करते हुए कहा है—

ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा स्वादुमती सुधा च यस्य ।
वाणी मिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परंपारमवाप कीर्तिः ।।

गोवर्धनाचार्य ने कालिदास की शैली की विशेषताओं को निरूपित किया है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्तिः ।।

अभिनव समालोचकों ने भी कालिदास की सरल रचना-रीति और सूक्ष्म अलंकारों के विधान की प्रशंसा की है। कीथ के अनुसार—

His was the golden mean of Virgil between rustic simplicity and clumsiness and that over-refinement which is specially fatal. Thus it results that his miniature painting in its polished elegance often attains relative perfection.

गुप्तकाल के पश्चात् भारतीय काव्य का सामन्तवादी युग आरम्भ होता है। इस युग में सर्वोच्च कवि और काव्य वे ही माने गये, जो केवल राजसभाओं के अलंकरण के लिए थे।[1] जिस प्रकार राजकीय वैभव में प्रदर्शन की विशेष महिमा होती है, उसी प्रकार काव्य में भी शब्दाडम्बर, अलंकारातिशय और बन्धवैचित्र्य का प्रभाव शनैः शनैः बढ़ता ही गया। साधारण कामकाजी समाज को इस प्रकार की रचनाओं में माथापच्ची करने के लिए अवकाश कहाँ था, पर राजसभा तो नित्य कई घण्टे इन्हीं काव्यात्मक चमत्कारों को बढ़ावा देने के लिए बैठती थी।[2] ऐसी परिस्थिति में एकाक्षर-श्लोक-रचना स्वाभाविक ही थी। फिर तो माघ की रचना ऐसी हुई कि—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'। अथवा 'माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते।'

उपर्युक्त प्रवृत्ति के अन्तिम महाकवि श्रीहर्ष थे। उन्होंने साधारण पाठकों को अपने ग्रन्थ के समीप फटकने के लिए फटकार बताई है। नैषधीयचरित के सम्बन्ध में उनका कहना है—

ग्रंथग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठितो माऽस्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढ-ग्रन्थिः समासादय—
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

फिर भी इस युग में सर्वसाधारण का चित्तानुरञ्जन करने वाले कुछ उच्च-कोटि के कवि हुए। इनमें से भर्तृहरि और जयदेव का नाम सर्वोपरि है। जयदेव तो मानो जनता के राग में राग मिलाकर गा रहे थे—

**चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली॥**

काव्यातिशय

संस्कृत का विश्वसाहित्य में क्या स्थान है—इसको विदेशी विद्वानों की लेखिनी से प्रस्तुत करना समीचीन है। सर्वप्रथम मैक्समूलर का वेद के विषय

१. इस युग के काव्य में भी सरल या लोकोचित शैली में संस्कृत में प्रकाम मात्रा में रचना हुई, पर सर्वोच्च कृतियों में उस युग ने इन रचनाओं को स्थान नहीं दिया।

२. पूर्वकालीन दार्शनिक विवेचन का युग ईसवी शती के आरम्भ से ही समाप्तप्राय माना जा सकता है। फिर तो अपवादस्वरूप ही राजा ऐसे हुए, जिन्होंने राष्ट्र की धार्मिक और दार्शनिक प्रगति के लिए सक्रिय योगदान दिया हो।

में कहना है—I maintain that to every body who cares for himself, for his ancestors, for his history, for his intellectual development, a study of Vedic literature is indispensable.[1]

यजुर्वेद की प्रति जब वाल्टेयर को उपहार में दी गई तो उसने अपनी धारणा व्यक्त की कि यह वही सर्वाधिक बहुमूल्य दान है, जिसके लिए योरप भारत का ऋणी रहेगा।[2]

टी० एस० ईलियट ने भारतीय काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—Long ago I studied the ancient Indian languages and while I was chiefly interested at that time in philosophy, I read a little poetry too; and I know that my own poetry shows the influence of Indian thought and sensibility.[3]

मैकडानल ने संस्कृत साहित्य की विश्वात्मक महिमा की प्रशस्ति में कहा है—The intellectual debt of Europe to Sanskrit literature has been undeniably great. It may perhaps become greater still in the years that are to come.[4] मैकडानल ने संस्कृत-साहित्य की विशालता का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि ग्रीस और रोम दोनों के साहित्य के योग से भी संस्कृत-साहित्य अधिक है।[5]

उदात्त भावनायें

भारतीय काव्य में आदिकाल से ही कवियों का जो दृष्टिकोण रहा है, उसको संघटनात्मक कहा जा सकता है। चराचर में उन कवियों को जो कुछ सर्जनात्मक और कल्याणावह प्रतीत हुआ, वही उनके लिए प्रशस्य था। उन्होंने धर्म के संरक्षण को दिव्य कर्म माना। उनकी धारणा थी कि अग्नि, पृथ्वी, आपस्, वायु, इन्द्र, विष्णु, सोम आदि सभी देवता हैं। परवर्ती दिव्यावतारों के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

१. *Maxmuller's India: what can it teach us p. 2*
२. *Wilson's Essay Vol. III p. 304*
३. *Notes...of Culture p. 113*
४. *History of Saanskrit literature p. 42*
५. *Ibid P. 5*

जो कर्तव्य देवताओं के लिए सम्मत हुआ, वही मानवों के लिए भी समीचीन माना गया। इस प्रकार का कर्तव्य-पथ अपना लेने पर मानव का व्यक्तित्व दिव्य बन जाता है। ऐसा व्यक्तित्व विकसित कर लेने पर मानव सारे समाज का अलंकरण बन जाता है। उसके द्वारा समष्टि की सेवा सम्भव होती है।

ऋग्वेद के महाकवियों ने सत्य और ऋत की अतिशय ऊँची प्रतिष्ठा की। उनके अनुसार 'सूर्य ने सत्य को फैलाया है।'[1] उनके देवता केवल अच्छी वस्तुओं की रक्षा करते हैं।[2] उनका पूर्ण श्रम में विश्वास था। उनकी धारणा थी कि देवता केवल परिश्रमी लोगों की ही सहायता करते हैं।[3] निन्दा करने वालों को वे परम निन्दनीय मानते थे।[4] विनय की सर्वोच्च महिमा की अभिव्यक्ति ऋग्वेद में इन शब्दों में मिलती है—

नम इदुग्रं नम आ विवासे, नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम्। ६.५१ ८

(नमस्कार ही सबल है। नमस्कार चाहता हूँ। नमस्कार ने पृथ्वी और स्वर्ग को धारण किया है।)

ऋग्वेद के कवियों ने परमात्मा की सर्वात्मक सत्ता को भली भाँति समझ लिया था। उनकी कल्पना थी--

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।१०.९०.२

(परमेश्वर ये सब हैं, जो उत्पन्न हुआ है और जो भविष्य में जन्म लेने वाला है।)

ऋग्वेद का ऋषि-कवि उदारता की अतिशय प्रशंसा करता था। वह कह सकता था—अनुदार का अन्न पाना व्यर्थ है। सच कहता हूँ, यह उसका वध ही है। वह न तो अर्यमा की सेवा करता है और न साथी का पोषण करता है। जो अकेले खाता है, वह निरा पापी है।[5]

---

१. सत्यं तातान सूर्यः १.१०५.१२। शतपथ में कहा गया है—सत्यमेव देवाः १.१.१.४

२. विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवाः २.२४.१६

३. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ४.३३.११; भूत्यै जागरणम्। यजुर्वेद ३०.१७

४. निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु। ५.२.६

५. ऋग्वेद १०.११७.६

उसी युग से भारत-वाणी है--

सं गच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।। १०.१९१.२

(साथ मिलकर चलो, साथ बोलो । तुम्हारे मन साथ विचार करें ।)

अपने आचरण को अच्छा रखना केवल कोरे उपदेश की दृष्टि से दूसरों के लिए ही नहीं था, अपितु अपने लिए भी था । कवि की हार्दिक कामना है—हे अग्नि, मुझे दुश्चरित से बचाइए, सुचरित में लगाइये ।[1] हे देव सवितः, सभी पापाचारों को दूर करें, जो कुछ अच्छा है, वह हम लोगों के लिए प्रस्तुत करें ।[2] इस पावन तत्त्व के उन्मेष की भावना का दृढ़ आधार उस युग में प्रतिष्ठित हो चुका था--

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।[3]

कवियों ने कर्मण्यता को जीवन की क्षमता का निदर्शक मान कर सबसे पहले 'अश्मा भवतु नस्तनूः' की कामना की । ऐसा ही पुरुष काम करते हुए सौ वर्ष जीने की सार्थकता का अनुभव कर सकता था ।[4] ऐसे व्यक्तित्व के साथ ही इस विचार का समन्वय हो सकता था कि मैं मित्र की दृष्टि से सभी प्राणियों को देखूं ।[5]

आरम्भिक युग से शिष्टाचार के उदात्त भाव काव्य में प्रतिष्ठित किये गये हैं । अथर्ववेद के अनुसार 'वह पुरुष घर की कीर्ति और यश को खा जाता है, जो अतिथि से पहले खाता है ।'[6] उसकी कामना होती थी--जिनको मैं देखता हूँ और जिन्हें नहीं देखता हूँ, उन सब के प्रति मुझमें सुमति उत्पन्न करें ।[7]

मानवता को अपने श्रम के सुफल पाने के लिए प्रवृत्त करने का उत्तरदायित्व वैदिक कवियों ने निभाया है । ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है--'इन्द्र इच्चरतः सखा' और 'नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति' । ऋषि का सन्देश है—

---

१. यजुर्वेद ४.२८
२. यजु० ३०.३
३. यजु० ४०.१
४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।। यजु० ४२.२
५. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । यजु० ३६.१८
६. अथर्व० ९.६.३५
७. अथर्व० १७.१.७

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्।।

(सोते हुए पुरुष के लिए कलियुग रहता है, जँभाई लेते हुए द्वापर होता है, उठते हुए त्रेता और काम में लग जाते हुए सत्ययुग होता है।)[1]

आलसी लोगों को चेतावनी दी गई है—कल के भरोसे मत बैठो। तुम्हारा कल कौन जानता है।[2] आज निश्चित है, कल की कौन जाने।[3]

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान को सर्वातिशय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यह आधिभौतिक प्रवृत्तियों के ऊपर अध्यात्म की विजय थी। इसके प्रकाश में कहा गया—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' और 'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्त वरान्निबोधत।' उस ब्रह्म को सत्य का पर्याय मानकर कहा गया—

सत्यमेव जयते नानृतम्

इसी उपनिषद् में सीख दी गई—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मोक्ष निर्विषयं स्मृतम्।। मंत्री उ० ३. ३४

महाभारत में सदाचार की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गई है। इसके अनुसार मोक्ष पाने का प्रथम सोपान है—कर्म, मन और वाणी से किसी प्राणी के प्रति पाप न करना।[4] इसी की सिद्धि के लिए कहा गया—'सत्यं पुत्रशताद्वरम्' 'आर्जवे वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते, 'तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि,' 'सत्यस्य वचनं श्रेयः', 'न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः'। इस प्रकार महाभारत में लोक-कल्याण का ऊँचा स्थान मिलता है। व्यास का कहना है—कुल के लिए एक को, गाँव के लिए कुल को और जनपद के लिए गाँव को छोड़ देना ही कर्तव्य है।[5] पुरुषकार तो इस बात में है कि यदि किसी ने तुम्हारा कुछ उपकार किया तो तुम उसके लिए बढ़कर उपकार करो।[6] महाभारत का निश्चित मत है—

---

१. ऐत० ७.१५
२. न श्वः श्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद। शतपथ २.१.३.९
३. श्रद्धा हि तद् यदद्य। अनद्धा हि तद्यच्छ्वः। शतपथ २.१.३.२८
४. यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। आदि० ७६.५२
५. आदि० ११५.३६
६. आदि० १५६.१४

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले ।। शान्ति० २६१.६

गीता में कर्मयोग की जो विशद धारा प्रवाहित की गई है, उसने भारत के केवल काव्य ही को नहीं, अपितु सभी सांस्कृतिक क्षेत्रों को अद्वितीय ओजस्विता प्रदान की है। मानव को उसकी प्राकृतिक संकीर्णता से बाहर निकाल कर उसे लोकहित में निरत करा देना गीता-काव्य का अनुपम सन्देश है। फिर भी गीता कहती है--

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। ३.१७

गीता में समदृष्टि का उपदेश अद्वितीय ही है। 'पण्डित लोग विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल--सब में समदर्शी होते हैं। इसके साथ ही आत्मोद्धार का पथ बताया गया--

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ६.५

(आप अपना उद्धार स्वयं करें। अपने को गिरने न दें। आप स्वयं अपने शत्रु या मित्र हैं, कोई दूसरा नहीं।)

वैदिक साहित्य में जिस कर्मयोग का बीजारोपण किया गया, उसे वाल्मीकि ने रामायण में संवर्धित करके पल्लवित और पुष्पित किया। तत्कालीन आदर्श नायक के जीवन की समीचीन दिशा बतलाई गई कि धर्म की रक्षा करने के लिए अपना तन, मन और धन समर्पित कर देना चाहिए। राम के उदात्त और सात्त्विक भाव का परिलक्षण परवर्ती युग में कालिदास ने इस प्रकार किया--

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चात् वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ।। रघुवंश १२.७

जिस प्रकार नव रसों में से सभी आनन्द के निस्यन्द हैं, उसी प्रकार जीवन की विषम और सुखद सभी परिस्थितियों की अनुभूति आनन्दमयी है। राम के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने वाला वन था, अयोध्या नहीं। यदि राम का वनवास न हुआ होता या वे बालक होकर भी विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के लिए वन नहीं गये होते तो सम्भवतः राम किसी महाकाव्य का चरित-नायक बनने के योग्य वाल्मीकि के द्वारा नहीं माने जाते।

अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया कि––

रिरंसा यदि ते तस्मादध्यात्मे धीयतां मनः ।
प्रशान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमा रतिः ।। ११.३४
तृप्तिं वित्तापकर्षेण स्वर्गावाप्त्या कृतार्थताम् ।
कामेभ्यश्च सुखोत्पत्तिं यः पश्यति स नश्यति ।। १५.१०

कालिदास ने जिस किसी वस्तु को अपनी आँखों से देखा था, वह उन्हें उदार प्रतीत हुई, सर्वस्व त्याग करती हुई प्रतीत हुई––केवल अपने अस्तित्व की सफलता के लिए, जो लोक-कल्याण के निमित्त त्याग में है ।[1] सृष्टि की स्वाभाविक निर्बाध गति के मौलिक साधन-तत्त्व को कवि ने पहचाना था और वह अपने दर्शन को काव्य-रूप में अमर प्रतिष्ठा देने में सफल हुआ । भारत को पराक्रमी बना देने के लिए ही कवि का सन्देश है––'यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः' । इस यश की रक्षा करने के लिए आवश्यक है कि गुणवान् बने क्योंकि 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते' । मानव के लिए आत्मगौरव का सर्वोच्च आदर्श कालिदास ने स्फुटित किया है । चाहे काम क्यों न बने, किसी नीच के पास नहीं जाना और काम न भी बने तो भी गुणवान् से सहायता की याचना करना––बस इतने में ही कवि का सन्देश निसृष्ट है । आत्मगौरव की प्रतिष्ठा के लिए कवि ने आदर्श प्रस्तुत किया है––

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्,
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ।। अभिज्ञान० ५.७

(वृक्ष अपने सिर पर सूर्य की प्रखर किरणों का सन्ताप इसलिए सहता है कि उसकी छाया में आये हुए पथिकों को लू न लगे ।)

यह आदर्श राजा का है और 'यथा राजा तथा प्रजा' । कवि ने देखा था कि 'अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः ।'

कालिदास का अमर सन्देश है––

संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्

(श्री और सरस्वती की संगति कल्याण के लिए हो)

आधुनिक युग में इसी आदर्श को अपनाने में भारत का कल्याण सम्भव है ।

कालिदास के पूर्व भास ने जिन आदर्शों को लेकर अपन नाटकों को सुरभित किया है वे भारतीय संस्कृति में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित हैं । इन सभी नाटकों

---

१. देखिये रघुवंश में 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' और 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव' ।

में कवि का एक विशेष सन्देश है। बालचरित बालकों को पराक्रमी बनाने के लिए है। मध्यम-व्यायोग में विपत्ति से दीन-दुःखियों की रक्षा करना मनस्वियों का काम बतलाया गया है। दूतवाक्य के अनुसार अपने व्यवहार में क्षुद्रता लाना पतन और तिरस्कार के लिए होता है। कर्णभार में यशःशरीर का संरक्षण ही परम कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पंचरात्र में भीष्म और द्रोण के औदार्य का वर्णन करके इन वयोवृद्ध और आचार्य के उत्तरदायित्व की गरिमा को कवि ने शतगुण कर दिया है। ऊरुभङ्ग और दूतघटोत्कच में युद्ध की भीषणता का चित्रण करके मानवता को उससे विरत करने की सीख दी गई है। चारुदत्त में चारुदत्त और उसकी पत्नी की उदारता का सर्वस्पृहणीय चित्रण मिलता है।

उपर्युक्त चारुदत्त के कथानक और विन्यास को लेकर शूद्रक ने मृच्छकटिक की रचना की है, जिसमें प्रकृति के रमणीयतम स्वरूप, सम्पत्ति और विपत्ति की उच्चावच देन, नागरिकता का ऐश्वर्य, अनागारता की सौम्यता, धर्म-पथ और कर्म-पथ आदि का एक संसार ही वर्णित है।

पौराणिक काव्यों में भागवत पुराण का राष्ट्रीय संस्कृति के अभ्युत्थान में अतिशय महत्त्व रहा है। इस ग्रन्थ में आधिभौतिकता को परित्याज्य सिद्ध किया गया है।[1] कवि का तर्क है—पृथ्वी है ही तो पलङ्ग के लिए प्रयत्न क्यों? बाँह है तो तकिये की क्या आवश्यकता? अञ्जलि है तो पात्रों से क्या और बल्कल है तो कौशेय वस्त्रों की क्या उपयोगिता? इस ग्रन्थ में हम और तुम, छोटे और बड़े आदि का अन्तर मिटाने का सफल प्रयास मिलता है।[2] इस प्रकार की योजना से क्या लाभ है? भागवत के अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य सन्तोष की प्राप्ति है और सन्तोष की प्राप्ति के लिए मार्ग है—

> सदा सन्तुष्टमनसः सर्वा सुखमया दिशः।
> शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥ ७.१५.१७

और फिर यदि अपनी चिन्ता बनी रही तो हरि की आराधना कैसे होगी? हरि की आराधना के लिए आवश्यक है लोकसेवा, क्योंकि—

---

१. भागवत २.२.४
परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तसुखमाप्नोति तद्विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः॥ ११.९.१

२. क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा।
स्वपराभिनिवेशेन विना ज्ञानेन देहिनाम्॥ ७.३.६०

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ।। ८.७.४४

उपर्युक्त आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने वाला था रन्तिदेव, जिसकी यह उक्ति सुप्रसिद्ध है--

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्पराम्, अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिल देहभाजाम्, अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।। ९.२१.२१

(रन्तिदेव ने कहा है--मैं ईश्वर से आठों ऋद्धियों से युक्त परम गति नहीं चाहता हूँ, मोक्ष भी नहीं चाहता हूँ। चाहता हूँ कि सभी देहधारियों का दुःख मेरे ऊपर आ पड़े, मैं उनके हृदय में स्थित हो जाऊँ, जिससे वे दुःखरहित हो जायें।)

मैत्रीभाव की भी अनूठी सीख भागवत में मिलती है। इसके अनुसार--पुरुषों का धर्म, अर्थ और काम--ये तीनों वर्ग मित्रों के सुख के लिए हैं। यदि मित्रों को क्लेश हो तो त्रिवर्ग व्यर्थ रहा।[1]

भागवत में शरीर को अनित्य बताया गया है। इस अनित्य शरीर का सर्वोत्तम उपयोग है इसके द्वारा अमर यश की प्राप्ति।[2] केवल शरीर ही नहीं, धन को भी इसी प्रकार भोग-विलास का साधन न बनाकर धर्म का साधन बनाना है क्योंकि 'धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्तिः।' इस प्रकार की जीवन-पद्धति अपनाने के लिए कभी यह नहीं देखना चाहिए कि अन्य लोग इस मार्ग पर चलते हैं कि नहीं। 'प्राणी स्वयं अपना गुरु बने। प्रत्यक्ष और अनुमान से क्या नहीं जाना जा सकता?[3] जहाँ-कहीं अच्छी बात दिखाई दे, उसे झट अपना लेना चाहिए'--

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ।। ११.८.१०

---

१. भागवत १०.६.२८

२. योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ।। १०.७२.२०

३. आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ।। भाग० ११.७.२०

भागवत की एक अनत्तम सीख है कि मनुष्य को गुण और दोष की ओर दृष्टि डालना दोष है और गुण है दोनों से परे रहना ।[१]

किरातार्जुनीय में जीवन की सफलता के लिए समुन्नत पथ का प्रदर्शन किया गया है—

निरुत्सुकानामभियोगभाजाम्, समुत्सुकेवांकमुपैति सिद्धिः । ३.४०

अर्थात् 'निष्काम होकर नित्य पराक्रम करने वालों की गोद में उत्सुक होकर सफलता आती ही है ।' जीवन की इस सफलता को पाने के लिए महापुरुष कभी दूसरों पर अवलम्बित नहीं होते ।[२] समृद्धि के विषय में स्पष्ट मत दिया गया है--

निवसन्ति पराक्रमाश्रयाः । २.१५

भारवि के अनुसार मानव-जीवन में विघ्न-वाधाओं का स्थान अवश्यम्भावी ही है, विशेषतः उन लोगों के लिए जो कुछ करना चाहते हैं । सभी विधि-विधान ठीक होने पर भी इसी नियम के अनुसार कुछ न कुछ झंझटें सफलता के मार्ग में दिखलाई पड़ती हैं ।[३] ऐसी परिस्थिति में भी घवड़ाना नहीं चाहिए--किमिवाव-सादकरमात्मवताम् । वास्तव में दैवाज्ञा का अतिक्रमण नहीं होता ।[४]

भारवि ने नवयुवकों के लिए सन्मार्ग दिखाया है कि रम्य आकृति के चक्कर में न पड़ो । गुणों को प्राप्त करो ।[५] इसका विशेष कारण है--आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः । अर्थात् विषय-भोग आरम्भ में रमणीय होते हैं । वे अन्त में परिताप पहुँचाते हैं । धन के चक्कर में मत पड़ो क्योंकि ।

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तावमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ ११.२४

---

१. किं वर्णितेन वहुना लक्षणं गुणदोपयोः
गुणदोपदृशिर्दोपो गुणस्तूभयवर्जितम् ॥ ११.१९.४५

२. लंघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः । २.१८

३. प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि,
श्रेयांसि लव्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥ ५. ४९

४. लंघ्यते न खलु कालनियोगः । ९.१३

५. सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् । ११.११

(श्री ऊँच-नीच नहीं समझती। उसका कोई प्रिय नहीं होता। मूढ़ लोग उसी श्री में अनुराग करते हैं। ऐसे जन्तु वामशील हैं।)

बाण ने मानवता में सर्वत्र व्यापक स्नेह-तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। दैववशात् स्नेह-तत्त्व के परिपोषण में अन्तराय अवश्य ही होते हैं। दया के साथ निर्दयता और सम्भोग के साथ विप्रलम्भ का दृश्य पूर्व पक्ष को समुज्ज्वल करने के लिए होता है। बाण का कहना है—बलवती हि द्वन्द्वानां प्रवृत्तिः। इसी प्रवृत्ति का निदर्शन करते हुए उसने बतलाया है—कड़वी बात बोलने वाले तथा मिथ्या कलंक ढूंढने वाले खल दुःख देते हैं, पर सज्जन अच्छी वाणी से पद-पद पर मन को वैसे ही मोह लेते हैं, जैसे मणिजटित नूपुर प्रत्येक पादक्षेप पर मन को आनन्द पहुँचाता है।[1]

वानप्रस्थ-मुनियों के उदात्त जीवन-चरित्र का आदर्श बाण ने प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार 'अनाथ का परिपालन करना मुनियों का धर्म है।'[2] वे मुनि प्रभाव की दृष्टि से असाधारण कहे जा सकते हैं। भले ही राजसेवा व्यर्थ जाय, किन्तु 'अमोघफला हि महामुनिसेवा भवति'। इन तपस्वियों के लिए सब कुछ साध्य है।[3] इनका प्रभाव अचिन्त्य है।[4]

मानवता की भावनाओं को उच्चतम स्तर पर उठाने का सर्वोपरि श्रेय भर्तृहरि को दिया जा सकता है। भर्तृहरि की रचना में तर्क या बुद्धि के आधार पर सिद्ध किया गया है कि आध्यात्मिकता और अपरिग्रह के सुख के सामने आधिभौतिकता और परिग्रह का सुख नगण्य है। उनकी दृष्टि में 'न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रह-फल्गुताम्।' फिर मनुष्य को जिन वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए, वे हैं—विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म। इनके होने पर मनुष्य मनुष्य है, अन्यथा वह केवल पशु है।

मनुष्य को अतिशय कर्मण्य बनाने वाले उद्बोधक वाक्यों की जो राशि भर्तृहरि ने प्रस्तुत की, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भर्तृहरि का कहना है—

---

१. कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला—स्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे-पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥

२. अनाथपरिपालनं हि धर्मोऽस्मद्विधानाम्। कादम्बरी

३. नास्ति खल्वसाध्यं नाम तपसाम्।

४. अचिन्त्यो हि महात्मनां प्रभावः।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजन्ति ।।

भर्तृहरि मानव को उदार और महान् बनाने के लिए विशेष सचेष्ट थे। उनका सिद्धान्त था--हाथ से श्रेष्ठ त्याग, शिर से गुरु-चरणों में प्रणाम, मुख में सत्य वाणी, विजयी भुजाओं में अतुल बल, हृदय में स्वच्छ वृत्ति, ईश्वर-प्रणिधान में तत्पर करा देने वाला शास्त्राध्ययन---ऐश्वर्य बिना ही ये सब गुण स्वभावतः महापुरुषों के मण्डन हैं।[1] जिस महामानव की कल्पना भर्तृहरि ने की है, उसका चित्त ऐश्वर्यशाली होने पर भी कमल की भाँति कोमल होता है।

भर्तृहरि मानव को तपस्वी बनाना चाहते थे।[2] उनका कहना था—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषे निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।।

(यहाँ हम अपने वल्कल से सन्तुष्ट हैं और आप अपनी लक्ष्मी से। परितोष के क्षेत्र में समानता है। दरिद्र वह है, जिसकी तृष्णा विशाल है। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी और कौन दीन ?)

माघ ने सुजन की उत्तम परिभाषा दी है—

महतीमपि श्रियमवाप्य विस्मयः। सुजनो न विस्मरति जातु किंचन ।।१३.६८

(अतिशय श्री को पाकर भी गर्वरहित सुजन किसी को थोड़ा भी नहीं भूलता।)[3]

---

१. करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता,
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलम्,

२. प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।

३. अन्यत्र भी
स्मर्तुमधिगतगुणस्मरणाः पटवो न दोषमखिलं खलूत्तमाः ।।१५.४३

प्रागैतिहासिक गुफा-चित्रों के निर्माण में रंगों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कुछ विधियाँ और प्रक्रियायें अवश्य रही होंगी।

उपादान की दृष्टि से गुप्तकालीन चित्रकला महत्त्वपूर्ण है। विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्र में स्तम्भ, भित्ति या छत के अन्तःपटल को यथासम्भव समतल करने के लिए वज्रलेप लगाने का-विधान है। वज्रलेप के बनाने में पत्थर का चूर्ण, मिट्टी, गोबर, भूसा, तिनका, सीरा आदि का मिश्रण होता था। इसको तल पर लगाकर कर्णिका से समतल किया जाता था। सूखने के पहले इस पर चूना पोत दिया जाता था। अन्त में चित्रण के पहले उस तल पर रङ्ग चढ़ाया जाता था।

तल पर पहले धातुराग से चित्र की साधारण रेखायें खींच ली जाती थीं। इसके पश्चात् चित्रण की प्रायः वही प्रक्रिया चलती थी, जो आजकल प्रचलित है। रंगने के लिए धातुराग, कुंकुम या सिन्दूर, हरिताल, नील, राजावर्त, कज्जल, खड़िया, गैरिक आदि काम में लाये जाते थे। रंगों के पारस्परिक मिश्रण से नये रंग बना लिए जाते थे। इस प्रक्रिया को वर्ण-संकर कहा जाता था। शंख के चूर्ण से श्वेत, दरद से शोण और आलक्तक से लाल रंग बनाये जाते थे।

गुप्तकाल में पत्थर, भित्ति, मिट्टी के बर्त्तन, फलक, वस्त्र, हाथीदाँत और शरीर पर चित्र बनाये जाते थे। इनमें से प्रायः प्रत्येक के लिए विभिन्न प्रकार के रङ्गों का प्रयोग किया जाता था। हाथी के शरीर पर आजकल की भाँति सिन्दूर के ध्वज, शंख आदि के चित्र बनाये जाते थे। शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों से चित्र बनाने की रीति थी। कपोल पर पत्रलेखा चित्रित करने के पहले चन्दन या शुक्लागरु का लेप किया जाता था, फिर उस पर गोरोचन या धातुराग लगाया जाता था। चित्रण के पहले वस्त्र को धोकर माँड़ से घोटा जाता था। वस्त्रों पर चित्र गोरोचन से बनाये जाते थे।

चित्रकार की तूलिका में बछड़े के कान के पास के रोंये या गिलहरी की पूँछ के रोंये लगाये जाते थे। रेखाओं के खींचने के लिए तिन्दुक का उपयोग होता था। तिन्दुक ताँबे के पतले तार से बनाया जाता था।

सुदूर प्राचीन काल से ही चित्रकला-सम्बन्धी प्रकरण शिल्पशास्त्रों में मिलता है। इसके अनुसार चित्र के छः अंग हैं—रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजन, सादृश्य और वर्णिकाभङ्ग।[1] रूपभेद है निरूपणीय वस्तु का सर्वाङ्गीण पर्यवेक्षण।

---

१. रूपभेदः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्
सादृश्यंवर्णिकाभङ्गः षडेते चित्रमङ्गकम् ॥
कामसूत्र की यशोधर लिखित टीका

प्रमाण के द्वारा आकार-प्रकार का ज्ञान होता है। भाव में निरूपणीय वस्तु के द्वारा प्रकटित रस-सामग्री होती है। लावण्य-योजन के द्वारा चित्र में कलात्मक चारुता की अभिव्यक्ति की जाती है। सादृश्य समानता है और वर्णिकाभङ्ग रंग भरने की कला है।

चित्रलक्षण नामक संग्रह में चित्र की विशुद्धि-सम्बन्धी नियमों का विस्तारपूर्वक आकलन किया गया है। इसमें देवताओं और मानवों की आकृतियों के चित्र-प्रमाण के नियम बतलाये गये हैं और चित्रण-सम्बन्धी सूक्ष्मता की विशेषताओं का निदर्शन किया गया है। इसके अनुसार देवताओं और राजाओं के सिर के बाल घुँघराले होने चाहिए। नारी-चित्रों में लावण्य-संयोजन के लिए उनकी आकृतियों को नवयौवन-सम्पन्न शरीर की भावभङ्गिमाओं के द्वारा सुघटित करने का नियम बनाया गया है।[1]

परवर्ती युग में चित्र के दो भेद—आर्द्र और शुष्क मिलते हैं। आर्द्र चित्र चन्दन आदि द्रव पदार्थों से बनाये जाते थे। शुष्क चित्र कृत्रिम या अकृत्रिम रंगों से भूतल पर, जल पर या आकाश में बनाये जाते थे।[2]

वैदेशिक प्रसार

बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय चित्रकला विदेशों में फैली। लंका, स्याम, ब्रह्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत, जापान, चीन आदि देशों में जो प्राचीन या आधुनिक चित्रकला है, उस पर भारतीय कला की छाप परम्परागत वर्त्तमान है। चित्रों के माध्यम से धर्म की शिक्षा देने का प्रचलन उन देशों में विशेषरूप से चला, जहाँ की भाषा प्रचारक लोग भलीभाँति नहीं जानते थे। चीन में ईसवी शती के आरम्भिक युग से लेकर सातवीं शती तक असंख्य चित्र यात्रियों के द्वारा भारत से लाये गये। जापान के होरिउजी मन्दिर के कुछ चित्र अजन्ता के अनुरूप हैं। पूर्वी तुर्किस्तान के खोतान प्रदेश में भारतीय चित्रकला का विशेष रूप से प्रसार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय चित्रकारों ने वहाँ जाकर चित्रों की रचना की है।

चित्रों की लोकोपयोगिता

वन्य चित्रों और नागर चित्रों से प्रायः सदा ही लोगों के घर—कुटी से लेकर प्रासाद तक अलंकृत होते आये हैं। वन्य चित्रों से वनवासी शिकारियों

१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण से चित्रसूत्र अध्याय ३६ ४२
२. रविषेण का पद्मपुराण २४.३६-३७

का उत्साह भी बढ़ता था। चित्रों की एक महती उपयोगिता रही है—अपने शरीर को रँगना या चित्रित करना। प्रत्यक्ष रूप से रस-निष्पत्ति कराना चित्रकला की निजी विशेषता है।

सिन्धु-सभ्यता के युग में वस्त्रों और पात्रों पर चित्र बनाकर उन्हें मनोरम रूप दिया जाता था। कुछ बरतनों पर विविध रंगों की पालिश होती थी। इन पर वृत्त या त्रिभुज का रेखांकन होता था। कुछ बरतनों पर बेल-बूटे भी बनाये जाते थे। चित्रित पात्र श्मशान में शव के साथ रखे जाते थे। चित्रकला का उपयोग सिन्धु-सभ्यता के युग में चित्रमयी लिपि के माध्यम से भी हुआ।

वैदिक युग में धार्मिक विधानों के साथ चित्रकला का सामञ्जस्य होने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। याज्ञिक वस्त्रों पर यज्ञ-रूपों का काढ़ना इस दृष्टि से यज्ञ का आवश्यक अंग ही था।[1] व्यावहारिक क्षेत्र मे भी उस युग मे गौओं को चिह्नित करने के लिए उनके कानों पर विविध प्रकार के चित्र बनाये जाते थे।

महाभारत के अनुसार ध्वजाओं की पताकायें इन्द्रधनुष के समान रँगी जाती थी।[2] बड़ी सभाओं में लोगों को बैठाने के लिए ज्यामिति का सहारा लिया जाता था साथ ही पशुओं की आकृति अंकित करके तदनुसार लोगों के बैठने के लिए स्थान नियत किये जाते थे। द्रौपदी के स्वयंवर में शिशुमार की आकृति के अनुसार लोग बैठाये गये थे।[3]

बौद्ध साहित्य के अनुसार चित्रों की सार्वजनिक उपयोगिता प्रकाम रूप से थी। कुम्भकारों के बरतनों पर चित्र बनाये जाते थे। माली मालाओं में चित्र निवेशित करते थे। बँसफोड़ा पंखों पर चित्र बनाते थे।[4] राजाओं के रथ सुचित्रित हुआ करते थे।[5] मनोरंजन के लिए चित्र बनाये का प्रचलन था।[6] वस्त्रों पर पुष्प, नागफण और पशुओं के चित्र बनाने जाते थे। ऊनी चादर पर पुष्प बनाये जाते थे। भिक्षु कमण्डलु के पेंदे रँग लेते थे। घर की दीवालों पर लोग नर-नारी के मनोरम चित्र बनाते थे। विहारों की दीवालों पर भिक्षु माला, लता आदि के चित्र बनाते थे।[7] राजकीय मनोरंजन के लिए चित्रागार होता था।

---

१. शतपथ ब्रा० ५.३.५.२०
२. महा० द्रोण पर्व १०५.७
३. महा० आदि० १८४.१६
४. कुसजातक ५३१
५. धम्मपद जरावग्ग ६
६. चुल्लवग्ग १.१३.२
७. महावग्ग ५.१०.३; ८.२९ तथा ५.६, चुल्लवग्ग ६.३.२

अजन्ता की चित्रकला का अभ्युदय महान् उद्देश्य को लेकर हुआ था। चित्राचार्यों का प्रथम उद्देश्य था मानवता में सत्प्रवृत्तियों को जगा देना और गौतम बुद्ध, उनके धर्म और संघ के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कराना। इन सभी प्रयोजनों की एक साथ सिद्धि चित्राचार्यों की तूलिका के सहारे कर लेने का आयोजन प्रशस्त था।[1] गुप्तकाल में राजा के दुकूल पर हंस का चित्र बनता था।[2] वस्त्रों पर गोरोचन से हंस के चित्र बनाये जाते थे।[3] राजप्रासादों में राजकुटुम्ब का चित्र बनता था। नायक और नायिका का एक-दूसरे का चित्र खींच कर मनोविनोद करना या उनकी संगति की अनुभूति करना साधारण रीति थी। जब विहारों तक को इतना चित्रित किया जाता था तो समृद्धिशाली गृहस्थों के घरों के विशेष चित्रित होने की कल्पना अनायास होती है।

सातवीं शती में धार्मिक विधानों के सम्पादन में चित्रण की अपेक्षा रहती थी। *पुत्र-जन्म के अवसर पर धनी-मानी लोगों के घर में षष्ठी देवी का चित्र* बनाया जाता था और हरिद्रा की पिट्ठी से चित्र बनाये जाते थे।[4] यमपट्टचित्र के माध्यम से इहलौकिक और पारलौकिक नश्वरता के सम्बन्ध में भाषण देने का प्रचलन था। धर्म-प्रचार के चित्रों का बहुविध उपयोग होता था। जहाँ प्रचारक की भाषा जनता नहीं समझती थी, वहाँ चित्रों की अभिव्यक्ति भावों की व्याख्या करने में समर्थ होती थी।[5] बौद्ध चित्रकला अभ्युत्थान में चित्रों की इस उपयोगिता का विशेष योग रहा है।

सातवीं शती में वस्त्रों को रँगकर, उन पर चित्र छापकर तथा बेल-बूटे बनाकर अलंकृत करने का प्रचलन बढ़ा। शरीर को चित्रों से अलंकृत करने की रीति भी अधिक प्रचलित हुई। कपोलों पर कुंकुम-पत्रलता और स्तनों पर कालागरु से पत्रों और पुष्पों की आकृति बनाई जाती थी। मणिमय पुत्तलियों के स्तन पर कुंकुम-रस से फूल-पत्ते बनाये जाते थे।[6]

---

१. इन चित्रों में यदि कहीं शृंगार का प्रवेश हुआ है तो उसके समाधान के लिए अश्वघोष का नीचे लिखा श्लोक विचारणीय है—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः।
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।

२. रघुवंश १७.२५

३. विक्रमोर्वशीय १.४२ श्लोक के पहले

४. कादम्बरी पृ० ७१

५. *Percy Brown Indian Painting p. 26.*

६. कादम्बरी पृ० ७०-७१

कादम्बरी के अनुसार राजप्रासाद की भित्तियों पर चित्रों का निर्माण करते समय ध्यान रखा जाता था कि उनके माध्यम से अखिल विश्व के रूप का ज्ञान हो सके।[1] राज्यश्री के विवाह के अवसर पर अनेक चित्रकार मांगलिक दृश्यों का चित्रण करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। मिट्टी के कच्चे बरतनों पर पत्र तथा लता का चित्रांकन उस अवसर पर किया गया था।

राजाओं के अपने चित्रप्रासाद हुआ करते थे। उनमें देश-विदेश के चित्रकार अपनी अनुपम कृतियों को अमर स्वरूप देने की चेष्टा करते थे।[2] राजा और रानियों की आकृतियाँ चित्रपट पर बनाई जाती थीं। नायक और नायिकाओं के चित्र उनके विवाह-प्रकरण में उपयोगी होने की दृष्टि से बनाये जाते थे।[3] राजकीय लीलागृह में सुश्रीक नायक और नायिकाओं के चित्र भित्तियों पर निर्मित किये जाते थे।[4]

पौराणिक उल्लेखों के अनुसार चक्रवर्ती सम्राटों के अभिषेक के अवसर पर उनके बैठने के लिए सिंहासन पर जो व्याघ्रचर्म बिछाया जाता था, उस पर द्वीपों के साथ पृथ्वी का चित्रण होता था।[5]

चित्र-शैलियाँ

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि भारत में सुदूर प्राचीन काल से चित्रों की बहुविध उपयोगिता प्रतिष्ठित रही है। उपयोगिता के विविध क्षेत्रों में विभिन्न चित्र-शैलियों का विकास हुआ। इन शैलियों का वैशिष्ट्य प्रायोगिक माना जा सकता है और प्रयोजन के अतिरिक्त उपादान भी इनके भेदक हैं।

सबसे अधिक प्रचलित व्यावसायिक शैली थी। इसके अन्तर्गत मिट्टी और धातुओं के बरतनों पर बने चित्र, वस्त्रों पर बने चित्र, मालाओं में निवेशित चित्र तथा पंखे आदि पर रँगे चित्र आते हैं। ऐसे चित्रों की संख्या तो अधिक रही, पर उनमें कला की दृष्टि से प्रतिभापूर्ण नवोन्मेष का अभाव-सा कहा जा सकता है। इसके दो प्रधान कारण थे—प्रथम तत्सम्बधी चित्रकारों का हीन कोटि का होना और द्वितीय इन चित्रों का स्वल्पकालीन होना। ऐसी स्थिति में यह शैली बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रही है।

दूसरी शैली भित्ति-चित्रों की है। इस शैली के चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके चिरकालीन होने की सम्भावना होती है। इस शैली को तत्कालीन

---

१. कादम्बरी पृ० ५१

२. कथासरित्सागर ६.५.३७-४६

३. कथासरित्सागर ६.५.७६

४. नैषधीय-चरित १.३८

५. पद्मपुराण पातालखण्ड चौथा अध्याय

राजाओं का संवर्धनात्मक आश्रय मिला। यही कारण है कि सर्वोच्च चित्राचार्यों की कलायें इस शैली के माध्यम से प्रस्फुटित हुई हैं। इस शैली के संवर्धन में बौद्ध भिक्षुओं को विशेष श्रेय दिया जा सकता है। वे उच्चकोटि के चित्राचार्य थे, क्योंकि उनकी दार्शनिक भावनायें विशेष समुन्नत थीं और उन्होंने एकाग्र चिन्तन तथा अभिनिवेश के साथ चित्रांकन के क्षेत्र में प्रवेश किया था।

तीसरी शैली ज्यामितिचित्रों की है। यह सभी शैली के चित्रों में मूल रूप से अवश्यमेव वर्तमान रहती है। स्वतन्त्र रूप से मांगलिक रूपों के निर्माण में अथवा सुन्दर आकृतियों के बनाने में इसका प्रयोग होता आ रहा है।

चौथी शैली प्रसाधन-चित्रों की है। शरीर के विविध अंगों पर विशेषता ललाट और कपोलों पर सुगन्धित, शीतल और मनोरम लेपों से जो चित्र बनाये जाते थे, उनकी नित्य नूतनता और रसात्मकता स्वभावसिद्ध ही हैं। प्रायः सुसंस्कृत नागरिक इस शैली के चित्रण में निष्णात होते थे।

पांचवीं शैली पटों और फलकों पर बने हुए चित्रों की थी। इसके प्रणेता, जहाँ तक नायक और नायिकाओं के परस्पर चित्रण से सम्बन्ध है, सुसंस्कृत नागरिक रहे हैं। राजाओं और उनकी प्रेयसियों के ऐसे चित्रण में व्यापृत होने के बहुशः उल्लेख मिलते हैं।

अन्तिम शैली टंकन-सम्बन्धी है। इसका उपयोग धातुओं के फलकों पर, पत्थर या काठ पर टंकन या तक्षण के द्वारा चित्र-रूप बनाने में होता था। पत्थर की मूर्तियों का निर्माण करने में पहले टंकन-विधि से मूर्ति का प्रथम विन्यास चित्र-रूप में किया जाता था। ऐसे कुछ चित्र अजन्ता की गुफाओं में अब भी वर्तमान हैं। कुछ कारणों से इन चित्रों के आधार पर मूर्ति बनाने का काम सम्पन्न न हो सका और तत्सम्बन्धी रेखा-चित्र इस शैली के प्रतिनिधि-स्वरूप विराजमान हैं।

धार्मिक चित्रों की शैली सनातनयुगीन कही जा सकती है। इनमें देवी देवताओं के चित्र तथा मांगलिक चित्र आते हैं।

तिब्बत के सत्रहवीं शती के इतिहासकार तारानाथ ने बौद्ध कला की तीन शैलियों का उल्लेख किया है—देवशैली, यक्षशैली और नागशैली। देवशैली मगध में छठी शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० तक प्रचलित रही। इसके पश्चात् यक्षशैली का प्रवर्तन हुआ। नागशैली नागार्जुन के समय में प्रचलित थी। नाग जाति कला के क्षेत्र में प्रवीण थी। यह शैली तीसरी शती ई० से चली। तीसरी शती से इसका ह्रास हुआ, पर पांचवीं शती से मध्य देश, पश्चिम देश और पूर्व देश में क्रमशः इनका विकास हुआ। इन शैलियों की कल्पना देश-भेद के अनुसार है।

———

जाता था। छोटे अवयवों को रूप देने के लिए अंगुलियों से दबा कर ऊंचा-नीचा कर लिया जाता था। इस प्रकार नाक, आँख आदि बनती थीं। ओठ दिखाने के लिए मिट्टी की पतली परत मुख-विवर से चिपका दी जाती थी। मूर्तियों को परिधान और आभूषणों से सज्जित दिखाने की रीति थी। शिर के आभूषणों को दिखाने का विशेष चाव कलाकारों में दिखाई देता है। साधारणतः मूर्तियाँ नग्न या अर्धनग्न हैं। कर्मनिष्ठ मुद्रा में दिखाई हुई कुछ मुद्रायें भावाभिव्यंजन करने में सफल हैं। ऐसी मूर्तियों में आटा गूंथती हुई स्त्री बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री, घुटनों से चलता हुआ शिशु आदि प्रमुख है। हड़प्पा में पुरुषों की कुछ मृण्मयी मूर्तियाँ मिलती है। वे प्रायः बैठी हुई दिखाई गई हैं।

पशु-पक्षियों की मृण्मय मूर्तियों की बहुलता है। विविध प्रकार के बैल वानर, मेष, अजा, खड्गविषाण, हस्ती, महिष, शूकर आदि का प्राकृतिक स्वरूप पराक्रमपूर्ण है। एक बैल आक्रमण करने के लिए उद्यत दिखाया गया है, अन्यत्र वानर पेड़ पर चढ़ रहा है और उसके हाथ-पाँव शक्ति भर शाखा को पकड़े हुए हैं।

सिन्धुसभ्यता में मिट्टी के खिलौनों का बाहुल्य था। सिर हिलाने वाले पशु या टेढ़े-मेढ़े छेदों से लगी छड़ी के सहारे उतरता हुआ वानर, चक्के पर चढ़े पशु, मिट्टी की गाड़ियाँ और सीटी—सभी बच्चों के मनोरंजन के लिए थीं। मिट्टी का एक वैसा ही पक्षिरथ मिला है, जैसा परवर्ती गुप्तकाल में मिलता है। इस प्रकार कला के प्रति शिशुओं की रुचि जागरित की जाती थी।

मृण्मूर्तियाँ साधारणतः ठोस हैं। बड़ी मूर्तियाँ भीतर से पोली हैं। उनको पुआल के साँचे के ऊपर बनाया जाता था। पुआल पकाते समय जल जाता था। पकाने के पश्चात् मूर्तियों को अनेक रंगों से रँगा जाता था।

सिन्धुसभ्यता के पश्चात् की जो मृण्मूर्तियाँ मिली हैं, वे मौर्य-युग के पहले की प्रायः नहीं है। वास्तव में मृण्मूर्तियों के निर्माण की एक सनातन शैली है, जिसमें परिवर्तन स्वल्पमात्र ही होता रहा है। सिन्धु-सभ्यता की मृण्मूर्ति की शैली मौर्ययुगीन शैली से प्रायः मिलती-जुलती है। मृण्मूर्तियों की दूसरी शैली विकासशील कही जा सकती है। इस प्रकार की शैली का परवर्ती युग में विकास परिलक्षित होता है। सनातन शैलो का परिचय सिन्धु-सभ्यता की मृण्मूर्ति का वर्णन करते समय दिया जा चुका है। इस युग में भी मिट्टी की बनी हुई पशुओं की वाहन-मूर्तियों का विशेष प्रचलन था। शनैः शनैः इस प्रकार की मूर्तियों के लिए भी साँचा प्रयुक्त होने लगा। ऐसी मूर्तियाँ पंजाब में तक्षशिला, उत्तरप्रदेश में मथुरा, श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, भिटा और राजघाट; मध्यभारत में पद्मावती;

बिहार में पाटलिपुत्र, बक्सर, वैशाली और बंगाल में ताम्रलिप्ति, महास्थान तथा बनगढ़ आदि में मिली हैं। इन सभी स्थानों की मृण्मयी-मूर्ति-कला को पटना, बक्सर और मथुरा के तीन केन्द्रों में विभक्त कर सकते हैं।

मौर्ययुगीन योगी की मूर्ति, जो भिखन पहाड़ी में मिली थी, अपने कोटि की अनोखी ही है। ऊर्ध्व शिर पर नाग की रचना होने से यह मूर्ति शिव की प्रतीत होती है। भिखन पहाड़ी में प्राप्त युवती स्त्री की मूर्ति का शिरोभाग कला की दृष्टि से उच्चकोटि का है। गोरखपुर में प्राप्त पुरुष की मूर्ति के शिरोभाग में नासिका, नेत्र और ओठ आदि की बनावट सौष्ठवपूर्ण है, साथ ही मुखमुद्रा से नागरिक विलास की अभिव्यक्ति होती है। गोरखपुर के समीप प्राप्त नारी-मूर्ति के मध्य भाग से कलाकार की रसात्मक अभिव्यंजना ध्वनित होती है। अलंकारों और परिधानों से सजी होने पर भी मूर्ति के आंगिक लावण्य में किसी प्रकार की कमी नहीं है। शरीरावयवों से यौवन की प्रतिपत्ति झलकती है।

परवर्ती मृण्मय मूर्तियों की शुंग-काण्व-शैली दूसरी और पहली ई० शती पूर्व में विकसित हुई। इस युग का प्रतिनिधित्व कौशाम्बी में मिली नर्तकी की मूर्ति करती है। इसमें नर्तकी के अलंकरणों और परिधानों को प्रत्यक्ष-सा देखा जा सकता है। इसकी मुख-मुद्रा से हास्यपूर्ण विलास टपकता है। पैरों का विन्यास नृत्य-मुद्रा में मुड़ा हुआ दिखाया गया है।

शुंगयुग में ताम्रलिप्ति पूर्ववत् मृण्मयी मूर्तिकला का केन्द्र बना रहा। यहाँ पर इस युग को मृत्फलक पर बनाई हुई भूतालंकार और सुवसना बृहदाकार युवती की मूर्ति मिली है। प्राचीन युग के वस्त्र और अलंकारों की विविधता के अध्ययन के लिए इस मूर्ति का विशेष महत्त्व है। इसकी शिरोरचना की शोभा वैचित्र्यपूर्ण है। कांचीविभूषण और ऊरु-परिधान में अनेक मानव-मूर्तियों से लावण्य सम्पादित किया गया है।

मथुरा में प्राप्त शुङ्गयुग के पुरुष के शिरोभाग से प्रभावशालिता व्यक्त होती है। इसके निर्माण में कलाकार को सफलता मिली है। मूर्ति से व्यक्तित्व की गरिमा प्रकट होती है। अहिच्छत्रा में प्राप्त इस युग की मिथुन-मूर्ति के शारीरिक विन्यास में स्वाभाविक लावण्य है, साथ ही परिधान और अलंकारों की विशेषता है।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ काश्मीर में हारवान, पंजाब में शाहरी बहलोल, तक्षशिला तथा जमालगढ़ी, राजस्थान में हनुमानगढ़ और बीकानेर, सिन्ध में ब्राह्मणाबाद और मीरपुर खास, मध्य प्रदेश में पवाया (पद्मावती), उत्तर प्रदेश में श्रावस्ती, कसिया, कौशाम्बी, भीतरगाँव, भिटा, अहिच्छत्रा और राजघाट, बिहार में वैशाली

(बसाढ़), बंगाल में महास्थान, ताम्रलिप्ति (तमलुक) और बानगढ़ आदि स्थानों पर मिली हैं। दक्षिण भारत में पत्थर की सुलभता होने से और मिट्टी के मूर्ति बनाने के लिए अनुपयोगी होने के कारण मृण्मूर्तियाँ प्रायः स्वल्प ही बनी होंगी। उपर्युक्त प्रायः सभी स्थानों पर स्वतन्त्र रूप से मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त खपरों और ईंटों पर मृण्मूर्तियों को बनाने का प्रचलन रहा है। इनके अतिरिक्त मन्दिरों की भित्तियों पर मिट्टी की पकी हुई पट्टियों की मूर्तियाँ मिलती हैं। भीतरगाँव के मन्दिर की एक ऐसी ही पट्टी पर बनी हुई अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति मिली है। मृत्तिका को उपादान-रूप में ग्रहण कर लेने पर विष्णु की मूर्ति से दिव्यता के स्थान पर मर्त्य स्वरूप ध्वनित होता है। इसमें विष्णु और उनके चर भी कोरे मानव प्रतीत होते हैं, फिर भी मृण्मूर्ति-कला की दृष्टि से यह सफल कृति है। पट्टिका-मूर्तियों में अन्यत्र पौराणिक और लौकिक कथायें और दृश्य, सुर-यक्ष आदि और लौकिक जीवन का निदर्शन मिलता है। मथुरा में मिट्टी की ईंटों पर कार्तिकेय, विष्णु, शिव, मकर-पत्रावलि, कुम्भावाहिनी रमणी आदि की मूर्तियाँ मिली हैं।

गुप्तयुग की स्वतन्त्र रूप से बनी हुई मूर्तियों का प्रायः शिरोभाग मिलता है। इनमें से राजघाट में प्राप्त पार्वती की मूर्ति के केशपाश का विरचन तत्कालीन कलाविलास का परिचायक है। विकच-कमल की परिधि के भीतर तारुण्यहारी दम्पती की प्रेमालाप में निमग्न मूर्ति के द्वारा उनकी नर्तनमयी भाव-भङ्गिमाओं का अद्वितीय निदर्शन महास्थान की कलाकृति को अनुपम बना देता है। इसमें सारा वातावरण रसानुभूति के सभी अङ्गों से परिव्याप्त है। राजघाट में प्राप्त मृण्मूर्तियों का उपयोग गृह-सज्जा के लिए होता था। वे सिरे के छेद से भित्तियों पर लटकाई जाती होंगी। इन मूर्तियों में साधारण लोगों की दैनिक जीवन-प्रवृत्तियों का निदर्शन मिलता है। पाँचवीं शती की अहिच्छत्रा में प्राप्त पार्वती की शिरोमूर्ति की केश-रचना के निदर्शन और मुखाकृति के सौन्दर्य से कलाकार की प्रतिभा की पराकाष्ठा व्यक्त होती है। वहीं पर प्रायः समकालीन शिव की शिरोमूर्ति में नेत्र, नासिका और अधर आदि की बनावट से कला का उदात्त स्तर प्रतिष्ठित हुआ है।

गुप्तकाल के पश्चात् मृण्मूर्तिकला का विकास पूर्ववत् होता रहा। भारत और विदेशों में गुप्तकालीन शैली बहुत दिनों तक आदर्श रूप में प्रतिष्ठित रही। पहाड़-पुर और महास्थान के मन्दिरों में, बंगाल में अन्यत्र भी मन्दिर-भित्तियों पर मूर्तियों की प्रचुरता रही है। यह क्रम अठारहवीं शती तक चलता रहा।

दन्तकार कला

हाथीदाँत की बनी वस्तुओं का प्रचलन सुदूर प्राचीन काल से रहा। सिन्धुसभ्यता के युग में भी हाथीदाँत का उपयोग होता था। कामसूत्र में हाथीदाँत के बने हुए

खिलौनों का उल्लेख किया गया है।[1] हाथीदाँत की पंचालिका (पुतली) का उल्लेख अमरकोश में मिलता है।[2] भवभूति के अनुसार तो :—

स्तन्यत्यागात्प्रभृति सुमुखी दन्तपंचालिकेव ।
क्रीडायोगं तदनु विनयं प्रापिता वर्धिता च ।।

इस कला का सर्वप्रथम विशद परिचय अफगानिस्तान के वेग्रम स्थान पर प्राप्त दन्तमूर्तियों से मिलता है। इनमें से एक पट्टी पर दो नर्तकियों की भावपूर्ण मुद्रा वाली मूर्तियों में आङ्गिक लावण्य और सुरूप-विन्यास उच्चकोटि का है। इसी में ऊपर की ओर हाथियों का व्यवसायात्मक पादक्षेप और करोत्तोलन कलापूर्ण विधि से उकेरे गये हैं।

पाम्पिआई के ध्वंसावशेषों में भारतीय दन्तकारकला का प्राचीनतम प्रतिनिधित्व करने वाली मूर्ति मिली है। यह मूर्ति ज्वालामुखी के विस्फोट में, जो एक बार पहली शती ई० में दबी तो १९०० वर्षों के पश्चात् टूटी-फूटी निकाली गई। पुनः संयोजन से जो मूर्ति बनी, वह नारी की अनावृत सुन्दरता को प्रत्यक्ष करती है। अलंकारों का प्रदर्शन आवश्यकता से अधिक है। इस दन्त पर दोनों ओर सैरन्ध्री-रूप में दो कन्याओं को उकेरा गया है। इनके पास प्रसाधन-सामग्री दिखाई गई है। इस मूर्ति की रचना पहली शती ई० पू० में हुई होगी।

मुद्रा-कला

मुद्रा-कला का सर्वप्रथम परिचय सिन्धु-सभ्यता के युग से मिलता है। उस समय मुद्राओं और पट्टियों पर प्रतिमा बनाने का विशेष प्रचलन था। मुद्रायें प्रायः वर्गाकार या वृत्ताकार परिधि के भीतर बनाई जाती थीं। प्रायः खरिया-पत्थर की बनी हुई इन पट्टियों पर पशुओं की प्रतिमायें—ऊँचे डील के बैल, भैंस, नीलगाय आदि परिपुष्ट स्वाभाविक स्वरूप में सुन्दर लगते हैं।

वैदिक संस्कृति की मुद्राओं का प्रत्यक्ष परिचय अभी तक नहीं मिला है। वैदिक युग में निष्क, कृष्णल, शतमान आदि स्वर्णमुद्राओं पर आकृतियों के होने की कल्पना-मात्र हो सकती है। निष्क आदि का अलंकार-रूप में उपयोग होता था। इनका समूर्त होना सम्भव प्रतीत होता है। अष्टाध्यायी के अनुसार रूप से बने

---

१. गजदन्तमयी दुहितृकावधू उपादान-रूप में दी जाती थी।

२. पंचालिका पुत्रिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृता।

हुए शब्द रूपक, रूप्य आदि मुद्रा के लिए प्रयुक्त होते थे। रूप्य का तात्पर्य है, जिस पर रूप आहत किया गया है।[1]

अभी तक सबसे पुरानी मुद्रायें ग्रीक राजाओं की मिली हैं। इन मुद्राओं का अनुकरण शक और कुशन राजाओं ने किया। उस युग की मुद्राकला पर यूनानी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

सर्वप्रथम भारतीय कला की अभिव्यंजक मुद्रायें पंचाल के मित्र तथा दक्षिण भारत के सातवाहन राजाओं के द्वारा चलाई हुई मिलती हैं। इनमें कोई मूर्तरूप नहीं मिलता है।

मूर्तरूप वाली सर्वप्रथम मुद्रायें गुप्त राजाओं की हैं। इन मुद्राओं पर प्रारम्भिक युग में यूनानी प्रभाव परिलक्षित होता है, किन्तु शनैः शनः विशुद्ध भारतीय कला के अनुरूप मुद्राओं को समूर्त बनाने का प्रयास पर्याप्त सफल हुआ। मुद्राओं की यह मूर्ति-कला पत्थर की बनी मूर्तियों के प्रायः समकक्ष पड़ती है।

विविध राजोचित पराक्रमपूर्ण, धार्मिक या मनोरंजक कार्य-व्यापार में लगे हुए राजा और रानी का रूप गुप्तकालीन मुद्राओं पर प्रायः मिलता है। कहीं-कहीं देवी-देवताओं की प्रतिकृति मिलती है। इन्हीं प्रतिकृतियों के साथ प्रासंगिक पशुओं की प्रतिकृतियाँ मनोरम विधि से बनी हुई हैं। पराक्रम-मुद्रा में घोड़े-हाथी की सवारी या आक्रान्त होने वाले सिंह या खड्गविषाण बनाये गये हैं। मनोरञ्जन-मुद्राओं में वीणा या मयूर द्रष्टव्य हैं। सिंह को आसन की भाँति प्रयुक्त करके भी दिखाया गया है। राजा और रानियों के परिधान और अलंकारों का निदर्शन अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया है। इन मुद्राओं से गुप्तकालीन शय्या-आसन आदि का पर्याप्त परिचय मिलता है।

गुप्तकालीन मुद्राकला की उच्चता के सम्बन्ध में डा० अलतेकर का मत है—गुप्त-मुद्रायें अत्यन्त उच्च हस्तकौशल का प्रदर्शन करती हैं तथा बनावट और कला में उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती हैं। द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिंहनिहन्ता प्रकार के एक वर्ग में राजा की पतली, किन्तु मांसल, स्नायुयुक्त देहयष्टि अत्यन्त मनोहर दिखाई देती है। कदाचित् ही उसकी समानता कोई कलाकार कर सके। देवी या खड़ी राजी की आकृति कोमल, कान्त तथा आकर्षक है। कितनी कमनीयता से वह हाथ में नील-कमल धारण करती है या मुद्राओं को बिखेरती है

---

१. रूप्यं तद्द्वयमाहतम्। अमरकोश। अष्टाध्यायी ५.२.१२० के अनुसार रूपाहतप्रशंसयोर्यप् अर्थात् रूप्य मुद्राओं में रूप आहत-विधि से बनाया जाता था।

या मोर को खिलाती है। उससे उस युग की सुसंस्कृत रुचि का परिचय मिलता है। देवी की त्रिभङ्गी-मुद्रा मनोरम है। समुद्रगुप्त के ऊँचे तथा भव्य शरीर का आभास उसके सिक्कों से भली भाँति मिलता है। प्रथम चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त की राजारानी प्रकार की मुद्रायें, समुद्रगुप्त के वीणाधारी और अश्वमेध प्रकार के सिक्के, द्वितीय चन्द्रगुप्त के चक्रविक्रम और सिंहनिहन्ता मुद्राप्रकार तथा प्रथम कुमारगुप्त के अप्रतिघ खड्गनिहन्ता, गजारोही-सिंहनिहन्ता प्रकार के सिक्के सभी निस्सन्देह मौलिक हैं। वे मुद्राकारों की कलापारंगति का पूर्ण परिचय देते हैं।[1]

मूर्ति-शास्त्र

सिन्धु-सभ्यता के युग से ही मूर्तिकला का जो स्वरूप मिलता है, उससे निः-सन्देह प्रतीत होता है कि मूर्तिकला का वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय स्वरूप पूर्ण विकसित हो चुका था। मूर्तिकला का वह शास्त्र आर्येतर वर्णों द्वारा प्रवर्तित किया गया था। वह उन्हीं के माध्यम से वैदिक युग में भी भारत के विविध भागों में जीवित रही। शनैः शनैः आर्य और आर्येतर का भेद मिट जाने पर आर्येतर और आर्य दोनों की मूर्तिकला का मिश्रण हुआ। आर्यों की मूर्तिकला के वैदिक युग में सुविकसित होने का प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि आर्य मूर्ति बनाते थे—मिट्टी की और सोने की भी।

प्रतिमाशास्त्र का सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वराहमिहिर की वृहत्संहिता है।[2] इसमें चार अध्यायों में प्रतिमा के लक्षण, उनके उपादान, प्रतिष्ठा-विधि और पंच महापुरुषों के लक्षण दिये गये हैं। इसमें देव, उनके अवतार, असुर, राक्षस आदि की प्रतिमाओं के मानोन्मान का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

पौराणिक साहित्य में स्थान-स्थान पर मूर्ति-कला सम्बन्धी सूचनायें मिलती हैं। मूर्तिकला-विज्ञान की दृष्टि से मत्स्य, अग्नि और विष्णुधर्मोत्तर का विशेष महत्त्व है। मत्स्य पुराण के बीस अध्यायों के ४०० श्लोकों में देवप्रतिमा-सम्बन्धी विविध विषयों का विवेचन किया गया है। इसके प्रमुख वर्ण्य विषय हैं—प्रतिमा का मान, प्रतिमा के विविध अवयवों का मान, विशिष्ट देवताओं की प्रतिमा का वर्णन, पार्वती की प्रतिमा, दिवाकर की प्रतिमा, लिंग के भेद और प्रतिमा-स्थापन की विधि। विषय का विवेचन साङ्गोपाङ्ग है, यथा—शान्त विष्णु की मूर्ति हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म को धारण की हुई हो, उसका सिर छत्राकार हो, शंख

१. गुप्तकालीन मुद्रायें पृ० ११
२. वृहत्संहिता गुप्त-युग का कला-विज्ञान का विश्वकोश ही है।

के समान कन्धे, मनोहर नेत्र, उठी हुई नासिका, कान शुक्ति के समान, हाथ और छाती विस्तृत, प्रशान्त तथा चढ़ाव-उतार वाले हों। विष्णु की प्रतिमा के ८, ४ या २ हाथ होते हैं। दो भुजाओं की प्रतिमा भवन में स्थापित की जाती है। अष्टभुजा की मूर्ति में दाहिने ४ हाथों में खड्ग, गदा, बाण और कमल तथा बायें के चार हाथों में धनुष, ढाल, शंख और चक्र होने चाहिए। चार भुजा की मूर्ति में दाहिने दो हाथों में गदा और पद्म और बायें के दो हाथों में शंख और चक्र होने चाहिए। दोनों चरणों के बीच में पृथ्वी की मूर्ति बननी चाहिए। वहीं गरुड की विनम्र मूर्ति होनी चाहिए। बायीं ओर हाथ में कमल धारण की हुई लक्ष्मी होनी चाहिए। प्रतिमा के दोनों ओर श्री और पुष्टि की मूर्ति होनी चाहिए। प्रतिमा के ऊपर विद्याधरों के साथ तोरण का निर्माण होना चाहिए। देवताओं की दुन्दुभि की मूर्ति होनी चाहिए। गन्धर्व दम्पती भी बनानी चाहिए। पत्र-लता बनानी चाहिए, साथ ही सिंह और व्याघ्र भी। स्तुति करने वाले देवगण समक्ष हों, वहीं कल्पलता होनी चाहिए। स्वर्ण, रजत, ताम्र, प्रस्तर, शीशा, पित्तल, कांस्य आदि धातुओं और काठ की प्रतिमा उत्तम हैं। घर में अंगूठे की गाँठ से लेकर बित्ते भर की लम्बी मूर्ति प्रतिष्ठापित करने योग्य है, उससे बड़ी नहीं। बड़े घरों में अधिक से अधिक १६ अंगुल की मूर्ति रखी जा सकती है। प्रतिमा के मुख के मान को ९ भागों में विभाजित करके उसमें ४ अंगुल में ग्रीवा, एक भाग में हृदय एवं नीचे नाभि हो। दो भागों में जंघों का विस्तार होना चाहिए। घुटने चार अंगुल में और जंघे दो भागों में हों। पैर चार अंगुल के और सिर १४ अंगुल का होना चाहिए। ललाट ४ अंगुल चौड़ा, नासिका का विस्तार ४ अंगुल में और दाढ़ी २ अंगुल में होने चाहिए। शिव की चतुर्भुज या अष्टभुज मूर्ति ज्ञानेश्वर कही जाती है। तीक्ष्ण दाँतों वाली भैरव मूर्ति होनी चाहिए।[1]

अग्निपुराण में शिल्पशास्त्र-प्रकरण में १३ अध्यायों में मूर्तिकला-शास्त्र का विवेचन मिलता है। इनमें से वासुदेव-प्रतिमा, शालग्राम-मूर्तिलक्षण, दशावतार मूर्ति-प्रकरण, सूर्यादि प्रतिमा-लक्षण के प्रकरण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय भाग के ४२ अध्यायों में मूर्तिकला-विवेचन मिलता है। इसमें देवी-देवताओं के अतिरिक्त असुर, राक्षस, नाग, गन्धर्व, कमल, मृग, स्वाहा, श्रद्धा, गायत्री, ज्योत्स्ना, वर्चस्, वेद, पुराणेतिहास, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि की मूर्तियों का विधान दिया गया है।

---

१. विस्तृत परिचय के लिए देखिये मत्स्यपुराण २५७-२५८ अध्याय।

आगम-साहित्य में मूर्तिकला-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री विद्यमान है।[1] मूर्तिकला की दृष्टि से कामिकागम, अंशुमद्भेदागम, सुप्रभेदागम, कर्णागम और वैखानसागम का अधिक महत्त्व है। आगम का विशेष सम्बन्ध शैव सम्प्रदाय से है। आगमों में लैंगिक मूर्तियों का वर्णन प्रधान रूप से मिलता है। मूर्तियों के मानोन्मान का सांगोपांग विवेचन आगम-साहित्य की विशिष्ट देन है।

मूर्ति-विज्ञान की प्रामाणिकता की दृष्टि से मानसार सप्रमाण उल्लेखनीय है। इसके अन्तिम २० अध्यायों में वैदिक, जन और बौद्ध संस्कृतियों से सम्बद्ध देवी-देवताओं, महापुरुषों और प्रतीकों का वैज्ञानिक विवेचन मिलता है।

अगस्त्य के सकलाधिकार में मानसंग्रह, प्रतिमा-लक्षण, अर्धनारीश्वर-लक्षण पशुपात-लक्षण आदि अध्याय मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। काश्यपीय अंशुमद्भेद के ४० अध्यायों में शैव सम्प्रदाय-सम्बन्धी मूर्तिकला का विशद विवेचन मिलता है। इसके अनेक अध्याय अपूर्व ही हैं, यथा कंकाल-मूर्ति-लक्षण, भिक्षाटन-मूर्ति-लक्षण आदि। विश्वकर्मीय शिल्प में विश्वकर्मा के द्वारा प्रवर्तित मूर्तिकला की परम्परा उद्भावित है। इसमें लक्ष्मी, ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि देवियों की मूर्तियों और इन्द्र, वरुण आदि देवों की मूर्तियों के बनाने का वर्णन है।

मूर्तिकला के विकास की दृष्टि से अन्तिम युगीन भुवनदेव की अपराजितपृच्छा नामक पुस्तक का विशेष महत्त्व है। इस ग्रन्थ में कला की दृष्टि से समन्वयवादिता का अद्भुत सन्निवेश मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव-सम्बन्धी मूर्तियों का प्रकरण देने के साथ ही लेखक ने सूर्य, गणपति और शाक्त देवियों की प्रतिमाओं का विवेचन किया है। अन्त में जैन सम्प्रदाय की मूर्तियों का सान्वय और सांगोपांग वर्णन किया गया है।

मूर्तियों का शास्त्रीय दृष्टि से नामकरण किया गया। काठ और पत्थर की मूर्तियाँ, जो तक्षण के द्वारा बनाई जाती थीं, क्षयज कही जाती थीं, क्योंकि इनमें मूल सामग्री के कुछ अंश का क्षय होता था। मिट्टी की मूर्ति बनाने में उपादान को ऊपर से जोड़ते हैं, अतः मृण्मय मूर्तियों को उपचेय कहा जाता था। ठप्पे मार कर जो प्रतिविम्ब उतारा जाता था, उसे संक्रान्त कहते थे, क्योंकि उसमें उपादान के ऊपर प्रतिविम्ब की संक्रान्ति होती थी। वस्त्र और सुवर्ण-पत्र पर जो मूर्त रूप दिया जाता था, उसे पत्रच्छेद्य कहा जाता था। यदि सूई के द्वारा यह प्रक्रिया की जाती थी तो वुष्किम कहा जाता था। कैंची से काट कर अलग-अलग किये

---

१. आगम-साहित्य अत्यन्त विशाल है। २८ आगम और उनके उपागम तो हैं ही, इनकी संहितायें संख्या में लगभग २०५ तक पहुँचती हैं।

हुए अवयवों को जोड़ कर जो मूर्त-रूप बनाया जाता था, उसे छिन्न कहते थे। यदि अवयवों का सम्बन्ध नहीं किया जाता था तो उसे अच्छिन्न मूर्ति कहा जाता था।[1]

लोकोपयोगिता

मूर्तिकला की प्रगति पर मूर्तियों की लोकोपयोगिता का विशेष प्रभाव पड़ा है। लोकोपयोगिता से लोकप्रियता सम्भव होती है। मूर्तियों के धार्मिक और रचनात्मक उपयोगों का सामंजस्य सिन्धु-सभ्यता के युग से विशेष प्रभावोत्पादक हुआ है। सिन्धु-सभ्यता के लोग मिट्टी की मूर्तियाँ मन्दिरों में देवताओं के लिए उपहार-रूप में देते थे। मिट्टी की मूर्तियाँ समाधि में रखी जाती थीं। कुछ मूर्तियों से शिशु खेलते थे। सीटियों की भाँति उनका उपयोग होता था। उस समय के खिलौनों, योगी की मूर्ति और नर्तकियों की मूर्ति का धर्म से विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। मुद्राओं में अंकित दृश्यों से यह भी अनुमान लगाया गया है कि उस युग में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था।

वेदकालीन मूर्तियों के सर्वप्रथम उल्लेख यज्ञ-सम्बन्धी मिलते हैं। अग्नि-वेदिका के निर्माण में स्वर्णपत्र पर स्वर्ण की बनी हुई प्रजापति की पुरुषाकार मूर्ति रखी जाती थी।[2] प्रवासी के मर जाने पर पलाश के पत्तों से उसकी मानवाकृति बनाकर अग्निहोत्र-सम्बन्धी धार्मिक प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी।[3] अश्वमेध में अग्निचयन के लिए गरुडाकृति बनाई जाती थी। सोने या मिट्टी से मानव, अश्व, साँड़, भेड़े या बकरे के सिर की मूर्ति बनाकर अग्निचयन की वेदिका में लगाया जाता था।[4] कुछ याज्ञिक प्रक्रियाओं में यव से मेष की मूर्ति बनाई जाती थी।[5]

वैदिक युग में मूर्तियों का एक विशिष्ट उपयोग अभिचारकृत्यों में था। अथर्ववेद के अनुसार इस प्रकार के अभिचारों का विशेष प्रचलन था। प्रेम-पथ में सफलता प्राप्त करने के लिए नायक और नायिका एक दूसरे की मूर्ति बनाकर अभिचार-मन्त्रों से उसे प्रभावित करते थे। कृत्या की पुरुषाकार मूर्ति घातक प्रयोगों के लिए बनाई जाती थी।[6]

---

१. रविषेण का पद्मपुराण २४.३८–४३
२. शतपथ ब्राह्मण ७.४.१.१५
३. ऐतरेय ब्रा० ७.२.२
४. कात्यायन श्रौतसूत्र १६.१.३२
५. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ८.५.३७
६. यह मूर्ति स्त्री-रूप में वधू के समान होती थी। अतएव अवश्य ही

महाभारत के अनुसार मूर्तियों की बहुविध उपयोगिता थी। राजाओं के लाङ्गल-यज्ञ में स्वर्ण का हल बनाया जाता था।[1] अश्वमेध-यज्ञ में अग्नि-चयन के लिए ग डाकृति बनाई जाती थी।[2] धनुर्धरों के अस्त्राभ्यास के लिए भी मूर्तियों का उपयोग होता था। धनुर्विद्या के सार्वजनिक अभ्यास का प्रदर्शन करते समय वृक्ष पर गीध की मूर्ति लटका कर उसके सिर को बींधने का उपक्रम किया जाता था, अथवा लोहे के बने भ्रमणशील शूकर को बाण मारना पड़ता था।[3] मूर्तियों का उपयोग स्वयंवर में वीरों की धनुर्विद्या की उत्कृष्टता का परिचय पाने के लिए होता था।[4] द्रौपदी के स्वयंवर में ऊँचाई पर लटकते हुए चक्कर करने वाले मत्स्य की आंख का लक्ष्य-भेदन करना था। युद्धवीरों की ध्वजाओं पर विविध पशु-पक्षियों और वृक्षों की मूर्तियां बनी होती थीं।[5] धनुष की पीठ पर हाथी वीरवहूटी, सूर्य, शलभ आदि के प्रतिरूप उकेरे जाते थे।[6] आचार्य की सन्निधि का बोध कराने के लिए एकलव्य ने द्रोण की मृण्मय मूर्ति बनाई थी।

राजभवनों को सुन्दर मूर्तियों से सजाने का उल्लेख रामायण में मिलता है। इसमें वैदूर्य, चांदी और मूंगों के पक्षियों का प्रमुख स्थान था। देवताओं और अन्य पशु-पक्षियों की मूर्तियां भी वहां सुशोभित होती थीं।[7]

विवाह के योग्य वर-वधू को खोज निकालने के लिए मूर्तिकला का उपयोग जातक काल में होता था। आदर्श पत्नी की मूर्ति बनवाकर उसका देश-विदेशों में प्रदर्शन कराया जाता था।[8]

सुन्दर होती होगी। उसके सिर, नाक, कान आदि होते थे। वह अभ्यक्त और स्वलंकृत होती थी। अथर्ववेद १०.१.१,२,२५

१. महा० वनपर्व २५६.२

२. आश्वमेधिकपर्व ८८.३२

३. आदि० १३१.६८-७०

४. आदि० १३४.२३

५. द्रोणपर्व १०५वां अध्याय; भीष्मपर्व ४६.५०,४७.८,५४.६८ तथा ७४.१३

६. विराटपर्व ४२.२-८

७. वा० रा० सुन्दरकाण्ड ७वां सर्ग।

८. उदय जातक-४५८, कुश-जातक ५३१, दरीमुख-जातक ३७८ तथा अस्सक-जातक २०७

अर्थशास्त्र के अनुसार नागादि की अनेक सिरों वाली मूर्तियाँ बनाकर उन्हें सुरंग में रखकर दर्शनार्थियों से राजकर्मचारियों के द्वारा धन लेने की योजना चल सकती थी।[१]

मत्स्यपुराण के अनुसार देवताओं, पशु-पक्षियों आदि अनेक चराचरों की मूर्तियों को दान-रूप में देने की पुण्यात्मक रीति मिलती है। अगहन की तृतीया तिथि को शिव तथा धर्मराज की स्वर्ण-मूर्ति को स्वर्णिम तथा रजत-फलों की मूर्तियों के साथ दान देने का विधान था।[२] दान के प्रकरण में आठों दिक्पालों की रजत-मूर्ति, कामदेव की स्वर्ण-मूर्ति और हंस की स्वर्ण-मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती थी।[३] जलाशय की प्रतिष्ठा करते समय सोने के बने हुए कछुए, मकर, चाँदी की मछलियाँ ताँबे के केकड़े और मेंढक तथा लोहे के मकर बनवाने का प्रचलन था।[४]

शातातप स्मृति के अनुसार शर्करा, तिल तथा घृत की गायें बनाकर उन्हें दान देने की रीति थी।[५] मरते समय राजा सोने की बनी मानव की मूर्ति का दान करता था।[६]

गुप्त-युग में राजप्रासादों के स्तम्भों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ बनती थीं। वे सम्भवतः स्त्री की भाँति दिखाई देती थीं। उनको स्तनोत्तरीय भी पहनाया जाता था।[७] राजाओं के द्वारा अपने पूर्वजों की मूर्तियाँ बनवा कर नगर के बाहर पितृ-भवन में रखने की रीति थी।[८]

सातवीं शती में बाण ने राजकीय जलाशयों में स्वर्ण की बनी कमलिनी, कृत्रिम मकर, चलने वाले कृत्रिम हाथी आदि का उल्लेख किया है। उस समय कृत्रिम वृक्ष बनाने का प्रचलन था। भ्रमणशील यन्त्रमयी पत्रशकुन-श्रेणी भी बनाई जाती थी। कृत्रिम पक्षियों के फड़फड़ाते हुए पक्षों से जल की बूँदें बिखरती थीं।[९]

---

१. कोशाभिसंहरण प्रकरण
२. मत्स्यपुराण ९९वाँ अध्याय
३. मत्स्य पु० ८३वाँ अध्याय
४. पद्मपु० सृष्टि २४वाँ अध्याय
५. शाता० २.३८-३९
६. शा० ३.३३
७. रघुवंश १६.१७
८. प्रतिमा नाटक तीसरे और चौथे अंक में
९. कादम्बरी पृ० २१६

वाण ने जिस यन्त्रचक्रवाक-मिथुन का उल्लेख किया है, वह कृत्रिम कमलिनी के वीच संचरणशील था।[1] राज्यश्री के विवाह के अवसर पर राजप्रासाद के माङ्गलिक अलंकरण के लिए साँचे में ढली मछली, कछुआ, मकर, नारियल, केला तथा तमाल के वृक्षों की मूर्तियाँ सुशोभित हो रही थीं।

परवर्ती युग में मूर्तियों के द्वारा समाज को देवताओं, वीरों और महर्षियों की चारितगाथा-सम्वन्धी ज्ञान कराने का महत्त्वपूर्ण आयोजन किया गया। अनेक मन्दिरों में लम्वी-चौड़ी शिलाओं पर रामायण तथा महाभारत की कथा, भगीरथ का तप, गौतम की जीवन-चर्या आदि देखने पर समाज को सावारण काव्यगत कथाओं की अपेक्षा अधिक रस और शिक्षा मिलती थी।[2] तेरहवीं शती के चिदम्वरम् के शैव मन्दिर की नर्तन-सभा में भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार विविध नृत्यों से सम्वद्ध आङ्गिक विन्यासों और भाव-भङ्गिमाओं को मूर्तरूप देकर सम्भवतः नृत्यकला के क्रियात्मक शिक्षण का आयोजन किया गया है।

मूर्तिकला की प्रगति में मूर्तियों की उपर्युक्त उपयोगिता विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है।

———

१. कादम्वरी पृ० १८४

२. एलौरा के गुफा-मन्दिर, महावलिपुरम् की शिलोत्कीर्ण मूर्तियाँ, अजन्ता के गुफा-विहार आदि इसके अनुपम उदाहरण आज भी विद्यमान हैं।

स्तूप

पूर्वजों के स्मारकरूप में स्तूपों की रचना का प्रचलन सुदूर प्राचीन काल से रहा है। स्तूपों की रचना का सर्वप्रथम उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है।[1] बौद्ध धर्म के अनुसार स्तूपों से किसी महात्मा के निर्वाण या सम्यग्ज्ञान का स्मरण होता है। स्तूपों के देखने से व्यक्तित्व के विकास करने की प्रेरणा मिलती है। आरम्भ में स्तूप गौतम बुद्ध से सम्बद्ध स्थानों पर बने। उनमें गौतम बुद्ध की अस्थि का अवशेष भी कहीं-कहीं था। इस अवशेष को भूमि में गाड़ कर उसके ऊपर आयत बनाया जाता था और आयत के ऊपर स्तूप रचा जाता था। परवर्ती युग में गौतम बुद्ध के मतानुयायियों के स्मारक स्तूप-रूप में निर्मित होने लगे थे।

सबसे पुराना स्तूप बस्ती जिले के पिपरावा गाँव में मिला है।[2] यह बड़ी ईंटों का (१५"×१०"×३") का बना है। इसकी परिधि ११६ फुट और ऊँचाई २१ फुट है। इसके लेख के अनुसार इसमें बुद्ध के ही अवशेष मुद्रित थे। इसका निर्माण ई० शती से लगभग ४५० वर्ष पूर्व हुआ था। जनश्रुति के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूप बनवाये थे। इनमें से कम से कम एक साँची का स्तूप है।[3] इसके तोरण और वेदिका आदि की रचना ईसवी शती के १००-२०० वर्ष पहले हुई थी। इस स्तूप का व्यास ८१ हाथ और ऊँचाई ३६ हाथ है। इसके चारों ओर समानाकार २३ हाथ ऊँचे और १३ हाथ चौड़े चार महाद्वार बने हैं। इसका अण्डाकार स्तूप एक विस्तृत गोलाकार वेदिका पर प्रतिष्ठित है। अण्ड की जड़ से लेकर इस वेदिका के छोर तक प्रदक्षिणा-पथ है। स्तूप के चारों ओर पत्थर का प्राकार बनाया गया है। प्राकार में स्तम्भों का आधार लेकर आड़ी पिरोई हुई समानान्तर सूचियाँ लगाई गई हैं। महाद्वारों से सीढ़ी पर चढ़ कर कुछ ऊँचाई पर जाने पर

---

१. शतपथ ब्राह्मण १३.८.१.५ तथा १३.८.२.१–२। जैन संस्कृति में भी स्तूपों का निर्माण होता था। देखिये *V. A. Smith. The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura.*

२. इनसे पहले की कुछ गुफायें हैं, जो स्तूप-रूप में निर्मित हैं। ये गुफायें केरल प्रदेश में मेन्नपुरम् में मिलती हैं। इनमें से एक केन्द्र में एक गोल पत्थर का स्तम्भ भी बना है। उपर्युक्त आदर्श पर बिहार में गया के निकट सुदामा-गुफा है। मालाबार में कन्ननोरे से १२ मील की दूरी पर एक गुफा है, जिसके ऊपरी बिन्दु से चिमनी जैसा निकला हुआ भाग है, जो परवर्ती युगीन हर्मिका का पूर्व रूप हो सकता है।

३. साँची का प्राचीन नाम ककनव या ककनय था महावंश के अनुसार जिस पर्वत पर यह बना है, उसका नाम सम्भवतः चेतिय गिरि था।

एक ओर प्रदक्षिणा-पथ मिलता है, जिसे मेधि कहते हैं। अण्ड का शिखर वर्गाकार समतल है। इसी पर हर्मिका बनी हुई है। हर्मिका पत्थर के प्राकार से घिरी है। सबसे ऊपर दण्डमय छत्र है। तोरण और वेदिकाओं पर प्रायः सर्वत्र छोटी-बड़ी मूर्तियाँ हैं, जिनमें असंख्य वास्तविक और कल्पित प्राणियों की जीवन-गाथा सन्निहित है। उनमें से पशु, पक्षी, देव, यक्ष, गन्धर्व मानव आदि प्रतिमूर्त होकर मानो सारे जगत् को गौतम के उदात्त व्यक्तित्व से प्रभावित व्यक्त करते हैं। ऊपर के छत्र से धर्म में सार्वजनीन साम्राज्य की ध्वनि स्पष्ट है। अशोक के धर्मराज्य की यही सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। सांची में १५०० वर्षों की वास्तु-कला के विकास की रूप-रेखा सन्निहित है।

सारनाथ का धर्मराजिक स्तूप भी सम्भवतः अशोक के द्वारा बनवाया गया था। छठीं शती से बारहवीं शती तक इस स्तूप को एक दूसरे के ऊपर क्रमशः छः बार आच्छादित किया गया। जयपुर के समीप वैराट में भी एक मौर्यकालीन भग्न स्तूप मिला है।

दूसरी शती ई० पू० में शुङ्गों के शासन-काल में भरहुत में एक स्तूप बना। इसकी रूप-रेखा बहुत कुछ सांची के स्तूप के समान है। इस स्तूप की कई वेदिकायें और एक महाद्वार कलकत्ता के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यहाँ भी जातक कथाओं का तक्षण प्रभावोत्पादक विधि से किया गया है। इस स्तूप का व्यास ४८ हाथ था। इसके आधार-स्तर पर दीपस्थान बने थे। इसकी एक पट्टी पर कूटागार का तक्षण मिलता है, जो परवर्ती नागर-शैली के मन्दिर के शिखर का पूर्व रूप है।

उत्तरी बिहार के नन्दनगढ़ का स्तूप पहली शती ई० पू० में बना था। इस स्तूप की निर्माण-शैली का सर्वोच्च विकास जावा में बोरोबुदुर के प्रसिद्ध स्तूप में दृष्टिगोचर है। इसकी रचना ८०० ई० के लगभग हुई थी।

गन्तूर जनपद के अमरावती-कलाकेन्द्र से सम्बद्ध अनेक स्तूपों की रचना पहली शती ई० पू० से तीसरी शती ई० तक कृष्णानदी के तट पर अमरावती और नागार्जुनिकोण्ड और कृष्णा जिले में जगय्यपेट, घण्टशाला, गुडिवाडा, भट्टिप्रोलु आदि प्राचीन स्तूपकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये सभी स्तूप साधारणतः ईंट के बने हैं। इसमें से अनेक के आधार-स्तर पर ममरोत्पन्न में उत्कीर्ण पट्टियों का अलंकरण है। अमरावती का स्तूप अलंकरण की कला की दृष्टि से सर्वोपरि है। इनमें से छोटे स्तूपों का व्यास तो २० हाथ तक है[1], किन्तु बड़े स्तूपों का व्यास ६६ हाथ तक है। अमरावती के स्तूप का व्यास १०८ हाथ और इसकी वेदिकाओं तक का व्यास १२८ हाथ है। इसकी ऊँचाई लगभग ५५ हाथ रही

१. जगय्यपेट में

होगी। द्वितीय शती के बने हुए नागार्जुनिकोण्ड के स्तूप के व्यास १८ हाथ से ७० हाथ तक हैं।

राजाओं के आश्रय में स्तूपों के निर्माण की कला का विशेष अभ्युदय हुआ। पहली शती में कनिष्क ने तत्कालीन उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक स्तूप बनवाये। ह्वेनसांग के अनुसार पुरुषपुर (पेशावर) में कनिष्क के द्वारा बनवाया हुआ स्तूप ४०० फुट ऊँचा था और इसकी परिधि १½ ली अर्थात् १२५० गज थी। इसकी वेदिका १५० फुट ऊँची थी। यह पाँच तलों का बना था। सबसे ऊपर स्वर्ण-ताम्र के २५ चक्र थे। उनके पास ही मूर्तियों से अलंकृत एक तीन फुट ऊँचा और दूसरा पाँच फुट ऊँचा स्तूप था। वहीं दो मूर्तियाँ भी थीं, जिनमें से एक में बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे पालथी लगाकर बैठे हुए दिखाये गये थे।[1]

कनिष्क के समय से लेकर पाँचवीं शती ई० तक तत्कालीन उत्तर-पश्चिमी भारत में अफगानिस्तान तक असंख्य स्तूप बने। इन स्तूपों की गान्धार-शैली स्पष्ट है। प्रसिद्ध स्तूप रावलपिण्डी जिले में तक्षशिला और माणिक्याला में, मर्दान के निकट तख्तेबाही, सहरी बहलोल और जमाल गढ़ी में और पेशावर जिले में चारसद्दा में मिलते हैं। स्तूपों के साथ महाविहारों का होना इस प्रदेश की विशेषता है। विहार सम्भवतः आराधकों की सुविधा की लिए होंगे। सभी स्तूप पत्थर के बने हैं। इन पर बौद्ध संस्कृति से सम्बद्ध मूर्तियों की अधिकता है।

इसी प्रदेश में मूलतः अशोक का बनवाया हुआ एक धर्मराजिक स्तूप तक्षशिला से लगभग एक मील की दूरी पर मिला है। इसकी रूप-रेखा अर्धगोलाकार है। माणिक्याला का एक स्तूप भी ऐसा ही है। शेष सभी स्तूप ढोल के आकार के ऊँचे बने हुए हैं। इनका प्रदक्षिणा-पथ वर्गाकार चबूतरे पर होता था।

पाँचवीं-छठीं शती में बने हुए कतिपय स्तूप सिन्धु-प्रदेश में मिलते हैं। इनकी निर्माण-शैली भी गान्धार है। इनको बनाने के लिए मिट्टी की विविध प्रकार की ईंटों का उपयोग हुआ है। मीरपुर खास के स्तूप की मृण्मूर्तियाँ गुप्तकला के अनुरूप निर्मित हैं। इसके आधार-स्तर में तीन कोठरियाँ मिलती हैं, जिनमें गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ रखी हुई हैं।

सारनाथ, श्रावस्ती (सहेत-महेत) और कसिया में गुप्तकाल से लेकर बारहवीं शती तक स्तूप बनते रहे। इनमें क्रमशः उपरि-उपरि अनेक चबूतरों के निर्माण से अधिक ऊँचाई पर ढोलाकार स्तूप की प्रतिष्ठा मिलती है।

सारनाथ के धर्मराजिक (धमेख़) स्तूप का वर्त्तमान रूप पाँचवीं शती से लेकर आगे बना हुआ मिलता है। इसका व्यास ६२ हाथ और ऊँचाई ९६ हाथ है।

---

१. वाटर्स ह्वेनसांग भाग १ पृ० २०४

यह २४ हाथ ऊँचे चबूतरे पर बना है। इसका चबूतरा पत्थर का बना है और ऊपर का ढोलाकार भाग मृण्मय ईंट का है।

पश्चिमी भारत में पहाड़ों को काटकर जो स्तूप बनाये गये, वे साधारणतः सभी ढोलाकार मिलते हैं। प्रारम्भिक स्तूपों की ऊँचाई कम है। शनैः-शनैः ऊँचे स्तूपों का बनना आरम्भ हुआ।

गुफायें

ऐतिहासिक गुफाओं के निर्माण के प्रारम्भ का श्रेय अशोक को दिया जा सकता है। सर्वप्रथम प्राप्त गुफायें अशोक की बनवाई हुई हैं, जो बिहार में गया जिले के बराबर और नागार्जुनि पर्वतों में मिलती हैं। प्रायः इन सभी गुफाओं में अशोक और उसके पौत्र दशरथ के लेख मिलते हैं, जिनके अनुसार आजीविक सम्प्रदाय के ऋषि वहाँ रहते थे। इन गुफाओं में से सुदामा-गुफा और लोमश-ऋषि-गुफा का कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। सुदामा-गुफा में सामने का कमरा २२ हाथ लम्बा, १२ हाथ चौड़ा और ८ हाथ ऊँचा है। इसकी छत वृत्ताकार मण्डलित है। सामने के कमरे के पीछे १२ हाथ व्यास की गोलाकार शाला है, जिसकी ऊँचाई ८ हाथ है। इसकी छत अर्धवृत्ताकार है। लोमश-ऋषि की गुफा में प्रवेश-द्वार पर तक्षण का अलंकरण है। इसमें प्रकाश के लिए पत्थरों को काट कर जाली बनाई गई है। जाली के नीचे एक हाथी उकेरा हुआ है, जो स्तूप की अर्चना करने की मुद्रा में है।

दूसरी शती ई० पू० से भारत के विभिन्न पर्वतीय भागों में जो गुफाओं का बनना आरम्भ हुआ तो दसवीं शती तक हजारों गुफायें बनीं, जिनमें से लगभग १३०० तो अब भी वर्तमान हैं। गुफाओं को कला के विकास की दृष्टि से तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) दूसरी शती ई० पू० से दूसरी शती ई० तक, (२) पाँचवीं शती से सातवीं शती तक, (३) सातवीं शती से दसवीं शती तक। इनमें से प्रथम युग कला के बीजारोपण का है, द्वितीय में कला का सर्वोच्च विकास है और तृतीय अविकल सातत्य का युग है। महाराष्ट्र प्रदेश गुफाओं की कला की दृष्टि से सर्वोपरि है।

चैत्य

प्राथमिक गुफायें बौद्ध संस्कृति के अनुयायियों की पूजा और भिक्षुओं के निवास के लिए बनाई गईं। पूजा की गुफाओं का विकास चैत्य रूप में हुआ। चैत्य में सर्वप्रथम सभा-भवन होता था, जिसमें उपासक या भिक्षु इकट्ठे होते थे। इस भवन की दूसरी ओर पर स्तूप होता था। स्तूप की परिक्रमा के लिए पथ बनता

था। सदन की लम्बाई में दोनों ओर स्तम्भ-परम्परा होती थी। स्तम्भ-परम्परा के पीछे पार्श्वपथ होता था, जिससे होकर संघ-सदन के बाहर ही बाहर से चारों ओर घूमा जा सकता था। चैत्य का प्रवेश-द्वार महाविशाल और शिल्पकर्म से अलंकृत बनाया जाता था। द्वार के ऊपर बने हुए गवाक्षों से संघ-सदन में प्रकाम प्रकाश आने की व्यवस्था होती थी।

कला के विकास की दृष्टि से पूना के समीप भाजा की १८ गुफायें सबसे पुरानी हैं।[1] इनका निर्माण २०० ई० पू० में हुआ। प्रधान गुफा का संघ-सदन ३७ हाथ लम्बा, १८ हाथ चौड़ा और १२½ हाथ ऊँचा है। पार्श्व मार्ग २ हाथ चौड़ा है। अजन्ता की दसवीं गुफा ६५ हाथ लम्बी, २६ हाथ चौड़ी और २२ हाथ ऊँची है। बेडसा की गुफाओं के स्तम्भों के शिरोभाग पर सवार-सहित हाथी, घोड़े और बैल की मूर्तियाँ अतीव सुन्दर हैं।

पहली शती ई० पू० का कार्ले का चैत्य सबसे बड़ा है। इसका संघ-सदन ८१ हाथ लम्बा, ३० हाथ चौड़ा और ३० हाथ ऊँचा है। इसका महाद्वार-कक्ष दो तला बना है, जिनमें दाता-दम्पती और गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ बनी हैं। हाथी की मूर्तियों की निर्माण-शैली वास्तुकला के अनुरूप महिमशालिनी है। इसके संघ-सदन के दोनों ओर १५ स्तम्भ हैं। प्रत्येक स्तम्भ में आठ कोने हैं। इनके सिर पर तक्षण-शिल्प का प्रदर्शन मनोरम है। स्तम्भों के शिरोभाग के पीछे की ओर दो हाथी घुटने टेके हुए हैं। हाथियों के ऊपर दो सवार हैं।

कन्हेरी की चैत्य-गुहा कार्ले की गुफा का सफल अनुकरण-मात्र है।

उड़ीसा में भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि और खण्डगिरि में जैन संस्कृति से सम्बद्ध गुफायें दूसरी शती ई० पू० से लेकर ई० शती के आरम्भ तक बनी थीं। यहाँ ३५ गुफाओं में से केवल १७ अच्छी हैं। इनमें से १६ उदयगिरि में हैं। चार गुफायें दो तल वाली हैं। जैन संस्कृति की अलंकरण-उपेक्षा इन गुफाओं में प्रत्यक्ष ही है। कहीं-कहीं स्तम्भों की संयोजनिकायें वृक्षों की शाखाओं की भाँति रूपित की गई हैं। कहीं-कहीं किन्नरों की सवारियाँ दिखाई गई हैं। अन्यत्र अर्धवृत्ताकार तोरणों के उच्च बिन्दुओं पर पशु-युगल पृष्ठसंयोगिनी मुद्रा में बैठे हैं। रानीगुम्फा की एक दो तल वाली गुफा का विस्तार उल्लेखनीय है। इसमे एक खुले प्राङ्गण के तीन ओर कोठरियाँ और अलिन्द हैं। दूसरे तल की गुफा की भित्तियों पर तक्षण

---

१. युगानुरूप कला-विकास की दृष्टि से इन गुफाओं का काल-क्रम से विभाजन इस प्रकार है—भाजा, कोण्डाने, पीतलाखोरा, अजन्ता की दसवीं गुफा, बेडसा, अजन्ता की नवीं गुफा, नासिक, जुन्नार, कार्ले और कन्हेरी।

का अलंकरण अतिशय मनोरम है। इसकी नाटकीय दृश्यावली को देखने से कल्पना होती है कि इस गुफा का उपयोग धार्मिक अभिनय या उत्सवों के लिए होता होगा।

गणेश-गुफा मे हाथियों की मूर्तियाँ विशाल हैं। उकेरी हुई मूर्तियों का सौन्दर्य रमणीय है। हाथी गुम्फा नामक गुफा में खारवेल की विजयों और पराक्रमों का शिलालेख उत्कीर्ण है।

परवर्ती बौद्ध गुफायें

परवर्ती गुफाओं का निर्माण पाँचवीं शती के अन्तिम भाग से सातवीं शती के मध्यकाल तक हुआ। इस कोटि की प्रथम चैत्य-गुफायें अजन्ता म उन्नीसवीं और छब्बीसवीं हैं। इन गुफाओं में बुद्ध की मूर्तियों और उनसे सम्बद्ध कथानकों के तक्षण की विशेषता है। प्रधान मूर्ति स्तूप के अभ्यन्तर में बनी हुई है। स्तूप भी विशेष ऊँचा बना है। इसकी हर्मिका और त्रिच्छत्र आदि विस्तृत हैं। इसका सर्वोपरि कलश पटलचुम्बी है। छब्बीसवीं चैत्य-गुफा लगभग १०० वर्ष पश्चात् की है। इसमें तक्षण की अतिशयता और अप्रासङ्गिक अलंकरणों का बाहुल्य है।

एलौरा की बौद्ध गुफाएँ ४५० ई० से ६४२ ई० तक बनीं। इनमें से प्रथम गुफा प्राचीनतम है। द्वितीय गुफा में बुद्ध की मूर्ति सिंहासनासीन है। तृतीय गुफा में बुद्ध कमल पर आसीन हैं। चतुर्थ गुफा में पद्मपाणि की मूर्ति है और गौतम बुद्ध बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे हैं। पंचम गुफा सबसे बड़ी है। यह ७८ हाथ गहरी और ३६ हाथ चौड़ी है। इस गुफा में विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था। षष्ठ गुफा की भित्तियों पर बुद्ध की मूर्तियाँ हैं, जिनकी पूजा करते हुए उपासक दिखाये गये हैं। पीछे की शाला में सरस्वती देवी की मूर्ति उत्कीर्ण है। अष्टम गुफा में सामने ही गौतम माता-पिता के साथ दिखलाई पड़ते हैं। नवम गुफा के हर्म्यमुख पर मनोरम उत्कीर्णन है। दशम गुफा-चैत्य विश्वकर्मा-गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके हर्म्यमुख और छत पर मनोरम उत्कीर्णन है। स्तूप के सामने गौतम की मूर्ति है। यह गुफा ५६ हाथ लम्बी और २२ हाथ चौड़ी है। इसके स्तूप मे गौतम की एक महामूर्ति है। इस गुफा के सामने का भाग अभिनव शैली का द्योतक है। इसके ऊपरी भाग में अवस्थित महागवाक्ष प्रकाश के लिए बना था। एलौरा की कुछ गुफाएँ तीन तल की भी हैं। इन गुफाओं मे चैत्य और विहार दोनों का समन्वित रूप मिलता है। विशाल मूर्तियों की सर्वत्र प्रचुरता है।[1]

---

१. एलौरा में १२ बौद्ध, ५ जैन और १७ हिन्दू सम्प्रदाय की गुफाएँ हैं।

उपसंहार

पिछले अध्यायों में भारत की संस्कृति-साधना का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस साधना के पीछे प्राचीन युग के मनीषियों का सात्त्विक दर्शन और तपोमय जीवन था। इतना तो निश्चित है कि आधिभौतिक प्रवृत्तियों के प्रति उन मनीषियों ने उतना ध्यान नहीं दिया, जितना आध्यात्मिक या रसात्मक प्रवृत्तियों के लिये; फिर भी अपनी उदात्त विचारणा और आध्यात्मिक प्रेरणा से उन्होंने एक ऐसे चारित्रिक वातावरण का निर्माण किया था, जिसमें सारे समाज को सबलता और स्फूर्ति की प्रतीति हुई। यही कारण है कि आधिभौतिक क्षेत्र में भी भारत उस प्राचीन युग में अग्रणी हुआ।

भारतीय संस्कृति के उस पक्ष को हम परम आदरणीय मानते हैं, जिसके द्वारा भारत ने, न केवल अपनी सीमाओं के भीतर, अपितु विदेशों में भी विश्वबन्धुत्व और मैत्री का भाव प्रसारित किया था। यह भाव केवल विचार-मात्र नहीं था, अपितु आचार के लिये था। तत्कालीन भारत और जगत् ने उस महामानव के प्रति नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा अर्पित की, जिसने अपने व्यक्तित्व से सबका कल्याण चाहा। 'सर्वे सुखिनः सन्तु' और 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' का सर्वोच्च प्रतिष्ठापक अशोक भारतीय परम्परा में पनपा।

भारतीय मानव ने सदा ही अपने को संकुचित परिधियों से सीमित प्रतीत कर लेने पर भूमा की ओर प्रवृत्त किया है। माता के सीमित गर्भ से निकल कर जगत् की विस्तृत भूमिका को भी सीमित मानकर भूः, भुवः, स्वः की विस्तारमयी प्रसृति को गायत्री के माध्यम से आत्मरूप में अनुभव करता हुआ उस भारतीय महामानव ने इसी सत्य को हृदयंगत किया कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' तभी उस ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य कर लेने पर भूमा की अनुभूति सम्भव हुई और जीवन की सर्वोच्च आकांक्षा का प्रशस्त पथ सरल बना।

हमारी संस्कृति का इस देश की प्रकृति की उदारता से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। भारतीय प्रकृति ने पदे-पदे मानव को उपर्युक्त सेवा-पथ की ओर प्रोत्साहित किया है और जीवन की प्राञ्जल पद्धति के प्रति मानव की अभिरुचि उत्पन्न की है।

प्राचीन युग में व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास था अपने में दिव्यता की प्रतिष्ठा करना। दिव्यता है देवों का वह गुण, जिससे वे सर्वोपकार करते हुए प्रतीत होते हैं। सूर्य, चन्द्र, गङ्गा, पृथ्वी, वायु, विष्णु और शिव आदि की लोकोपकारिता जैसे प्रत्यक्ष है, वैसे ही मानव के व्यक्तित्व से भी स्वभावतः निरन्तर उपकार निस्सृत होना चाहिए।

भारत ने व्यक्तित्व के विकास की जो योजनायें बनाईं, उनके अनुसार समस्त मानव-जीवन का एक-एक क्षण उपयोगी होना चाहिये था। वे योजनायें सभी स्त्री-पुरुषों, वर्णों और आश्रमों के लिये थीं। इन योजनाओं में वैविध्य या अनेकरूपता होने से विविध रुचि के लोगों के लिये अपने अनुरूप विकास-पथ चुन लेने का अवसर प्राप्त था।

मानव-जीवन के चार वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष शाश्वत रूप से नियत थ। इन चारों का सांस्कृतिक अभ्युदय की दृष्टि से समादर था, पर इन सब में मोक्ष की सर्वोपरि प्रतिष्ठा रही है। मोक्ष को मानकर जीवन का परम उद्देश्य यह निश्चित किया गया कि धर्म, अर्थ और काम को इस प्रकार सुमर्यादित किया जाय कि ये तीनों अन्ततोगत्वा मानव को मोक्षाभिमुख बना दें। धर्म तो विशेष रूप से निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि के लिये था। धर्मशास्त्रों में अनेकशः कहा गया कि मानव की अर्थ और काम विषयक प्रवृत्तियाँ ऐसी नहीं होनी चाहिये, जो सूक्ष्म दृष्टि से भी देखने पर धर्म के अनुरूप न हों। वर्णाश्रम-व्यवस्था का विकास उपर्युक्त आदर्श पर सुघटित है। समाज के समक्ष धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिये काव्य, शिल्प आदि धार्मिक आदर्शों के अनुकूल विकसित किये गये।

व्यक्तित्व के विकास की जो योजनायें सनातन रूप से चलती रहीं, उनको अपनाने के लिये प्रायशः तप और अपरिग्रह की सर्वोपरि आवश्यकता नियत रही है। प्रायः अकिंचन ही उस युग में सर्वोच्च विद्वान् और अग्रणी हो सकता था। यदि समृद्धिशाली भी अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहता था तो उसे तपोमय जीवन की परिधि में रहकर अकिंचन बनना पड़ता था। यह वही ब्रह्मचर्य-व्यवस्था है, जो चारित्रिक दृष्टि से आदर्श स्नातक बना सकती थी, वे स्नातक जो वास्तव में राष्ट्र और समाज की सच्ची सेवा करते हुए सर्वविद्यावदात थे। उनके लिये शिक्षा और संस्कृति का सर्वोच्च उद्देश्य विश्वात्मक सहानुभूति रही है। सहानुभति का उत्स दरिद्रों का हृदय है।

प्राचीन भारत ने तपःसाधना से समलङ्कृत ज्ञान और ज्ञानी को प्रतिष्ठित किया। ज्ञान की पूर्णता के लिए मानव का सारा जीवन साधन रूप में माना गया, तभी तो गृहस्थ नित्य स्वाध्याय कर सकता था, वानप्रस्थ-मुनि परा विद्या सीखने के लिए पुनः ब्रह्मचारी बन सकता था और संन्यासी योगदृष्टि से आध्यात्मिक ज्ञान का प्रत्यक्ष करता था। इसी ज्ञान का निधान स्नातक था, जिसे उस समाज ने सबसे बढ़कर आदरणीय माना। स्नातक का सम्मान करने के लिए राजा अपना सिंहासन छोड़कर उठ पड़ता था। आधुनिक समाज में ज्ञान और ज्ञानी के प्रति उपर्युक्त मान्यता का अभाव है। ज्ञान और ज्ञानी को भी अपना स्वरूप कुछ इस प्रकार

विकसित करना है कि उनके प्रति स्वभावतः समादर उत्पन्न हो। भारतीय दृष्टि से सच्चा ज्ञानी वही है, जिसका ज्ञान उसमें विश्वात्मक सहानुभूति का परिपाक करे।

प्राचीन भारत में एक राष्ट्रीय संस्कृति थी। यह संस्कृति राष्ट्रीय जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में उल्लसित होती थी। काव्य, शिल्प, इतिहास, पुराण आदि के द्वारा उसे लोकोपयोगी बनाया गया था। इस प्रकार की साधना से संस्कृति सुरक्षित की गई थी। आधुनिक युग में इस प्रवृत्ति का प्रायः अभाव है।

संस्कृति के द्वारा समस्त भारत की एकता प्रस्फुटित हुई है। सांस्कृतिक विकास के विविध क्षेत्रों के लिए भारत के सभी भागों की देन, सारे देश की उन्नति के लिये उपयोगी रही है। संस्कृति की दिशा में यदि साधक को अभिनव प्रकाश मिला तो कालान्तर में उस नवीन बुद्धियोग को समस्त भारत के लोगों ने यथारुचि अपनाया। इस प्रकार सारे भारत को अधिकतम मनीषियों और कलाविदों के अनुसन्धानों से पूर्ण-लाभ उठाने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ। इन्हीं के बल पर भारत की एकता की प्रतिष्ठा की गई थी। उसी एकता की सम्प्रतिष्ठा के लिए देश के विभिन्न भागों में स्थित नदियों—गंगा, यमुना, गोदावरी; नगरियों—कांची, अयोध्या, मथुरा; पर्वतों—महेन्द्र, मलय, सह्य आदि को सबके लिए दर्शनीय माना गया। भारत के सांस्कृतिक आचार्यों ने समग्र भारत को अपनी साधना से परिपूत किया और सर्वत्र परिभ्रमण करके अपने ज्ञान के प्रकाश का वितरण किया। शंकराचार्य, गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी का नाम तो इस दिशा में गण्यमान है। राम और कृष्ण का चरित भी सारे देश की एकता का परिचायक है। मनु की स्मृति का राजधर्म सारे भारत में प्रतिष्ठित होकर इस देश की उस राजनीतिक एकता का निर्माण करता रहा है, जिसे चक्रवर्ती राजाओं ने अपनी दिग्विजय द्वारा चक्रवर्ती क्षेत्र बनाकर प्रसाधित किया था।

भारतीय संस्कृति-साधना की पृष्ठ-भूमि प्रायशः दार्शनिक रही है। यह वह दर्शन है, जो जिज्ञासु के समक्ष ऋषि-तत्त्व का रहस्योद्घाटन करता है। कोई भी संस्कृति उतनी ऊँची उठ पाती है, जितनी ऊँची दार्शनिक परम्पराओं का सहारा लेकर वह बढ़ती है। दर्शन को राष्ट्रीय-जीवन में व्यवहारित करा देना भारतीय संस्कृति-साधना की सर्वोच्च देन है। पुराणेतिहासकार, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार, स्मृतिकार आदि सभी उस उच्च दार्शनिक तत्त्व की लोकस्तर पर प्रतिष्ठा करने में संलग्न रहे हैं। इस उद्देश्य में उनको पूरी सफलता मिली। धर्म का दर्शन से सन्निकट सम्बन्ध है। प्राचीन युग में धार्मिक आदर्शों की प्रतिष्ठा करने वाली काव्य, शिल्प, कला, नृत्य, नाट्य आदि की प्रवृत्तियाँ लोक में सम्मानित हो सकी थीं। धर्म-विरोधी प्रवृत्ति यदि कभी उत्पन्न हुई तो उसका अस्तित्व क्षणिक रहा।

भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक उत्थान और पतन के दृश्य देखे जा सकते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पतन के युग में संस्कृति-साधना का कार्य अवरुद्ध था।

वास्तविक स्थिति तो यह थी कि पतन के युग में संस्कृति-साधकों ने यह कार्य किया, जिससे फिर उत्थान का युग प्रवर्तित हुआ। संस्कृति-साधना का उपक्रम युगानुरूप लोकचेतना को समुन्नत करने में सदैव सफल रहा है। शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास आदि मध्ययुगीन संस्कृति के उपासक हुए। आधुनिक युग में दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, रवीन्द्रनाथ और महात्मा गाँधी उसी प्राचीन सांस्कृतिक साधना के अभिनव साधक हुए हैं। इनकी युगानुरूप कार्य-प्रवृत्तियों ने भारतीय संस्कृति का देश-विदेश में सम्प्रतिष्ठान करके उसके प्रति भारतवासियों की क्षीणप्राय आस्था में अभिनव प्राण का संचार किया है।

संस्कृति का विकास, प्रसार और प्रचार करने का प्रधानतः उत्तरदायित्व राजा का था। यह कहने में कोई भी अतिशयोक्ति नहीं कि आदर्श राजपद राष्ट्र को सांस्कृतिक अभ्युत्थान प्रदान करने के लिए होता था। इस उपक्रम में राजशक्ति और ऐश्वर्य का उपयोग होता था। भारतीय दृष्टिकोण से राजा की उच्चता इस बात से आँकी जा सकती थी कि उसने अपने राजत्व से राष्ट्रीय संस्कृति का कितना संवर्धन किया। राजा का इस दिशा में प्रयास यदि कर्तव्य रूप में था तो मनीषियों और मुनियों का यही उद्देश्य निष्काम कर्मयोग की दृष्टि से था, तभी तो इस क्षेत्र में एक ओर अशोक हुआ तो दूसरी ओर शंकराचार्य। कुछ महामानवों के व्यक्तित्व में राजत्व और ऋषित्व दोनों का परिपाक था। उनमें से जनक और कृष्ण प्रमुख हैं। संस्कृति की प्रतिष्ठा करने का उत्तरदायित्व अप्रत्यक्ष रूप से देवताओं का माना गया। इस मान्यता के अनुसार सूर्य, चन्द्र, गंगा, पृथ्वी, विष्णु, शिव आदि देवताओं की लोकोपकारिता मानव को सर्वोपकारपरायण बनाने के लिए रही है।

भारतीय जीवन में आध्यात्मिक आनन्द की विशेष प्रतिष्ठा हुई। आध्यात्मिक आनन्द के लिए योग को प्रधान साधन माना गया। वैदिक, जैन और बौद्ध संस्कृतियों में समान रूप से योग-मार्ग का समादर हुआ। साधना के पथ में समाधि की सर्वोच्चता इसका परिचायक है। प्राचीन युग का आदर्शपरायण महाराज भी अपने राजपद में उतना कुछ नहीं मानता था, जितना समाधि-पद में। इस सांस्कृतिक विशिष्टता को लक्ष्य करके कालिदास ने अपने चरित-नायक के विषय में कहा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

(रघुकुल के राजा शैशव में विद्याभ्यास करते थे, युवावस्था में गार्हस्थ्य-सुख का अनुभव करते थे, वृद्ध होने पर वानप्रस्थ-मुनि बन जाते थे और अन्त में योग-मार्ग से शरीर छोड़ते थे।)

आधुनिक युग में योग का नाम साधारणतः मिटता जा रहा है और इसके साथ ही आध्यात्मिक आनन्द की चर्चा विलुप्त होती जा रही है। भारतीय जीवन के अभ्युत्थान में सांस्कृतिक दृष्टि से यह सबसे बड़ा अपाय है।

सुख की परिसीमा जीवन के सदुपयोग में मानी गई थी। जीवन के सदुपयोग की एक उच्च दिशा थी सेवा। सेवा के विविध रूप विकसित थे। जैनियों की अहिंसा सेवा का स्थूल रूप प्रस्तुत करती है। इसका सूक्ष्म रूप है अपने प्रयास से अधिकाधिक प्राणियों को सुख पहुँचाना और उनका दुःख दूर करना। वैष्णव-दर्शन इस प्रकार की सेवा का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करता है। इसके अनुरूप रन्तिदेव ने कहा--

आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।

(मैं चाहता हूँ कि सभी प्राणियों के अन्तः में प्रतिष्ठित होकर उन सबके दुःख को अपना लूँ, जिससे वे दुःख-रहित हो जायँ।)

सेवा के इस आदर्श की प्रतिष्ठा देववाद और अवतारवाद-सम्बन्धी कथानकों में तथा राम, कृष्ण, महावीर, गौतम, शंकर आदि की चरित-गाथाओं में विशेष रूप से की गई। इस पथ के पदचारी राम के विषय में कालिदास ने लिखा है--

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत्॥

जब पिता ने पृथ्वी का राज्य राम को दिया तो वे रोने लगे। 'वन जाओ' इस आज्ञा को उन्होंने प्रमुदित होकर ग्रहण किया। उपर्युक्त मनःस्थिति का कारण था कि वन में ही सच्ची सेवा का अवसर मिल सकता था। राम को मर्याया-पुरुषोत्तम पद उनके वन में रह कर सेवा करने के कारण प्राप्त हुआ। उसी के कारण राम 'राम' हैं।

काव्य और कला से प्राप्त होने वाले रस को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा गया। इस उक्ति में भी ब्रह्मानन्द की सर्वोच्चता व्यक्त की गई है। काव्यादि के रस के प्रति सहृदय की प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। रस की पद्धति से ब्रह्मानन्द की ओर उनको आकर्षित कर देने का प्रयास भारत में प्रायः सफल हुआ है। महाकवि अश्वघोष, भर्तृहरि और जयदेव इस दिशा में सबसे अधिक सफल रहे हैं।

आधुनिक भारतीय जीवन में आनन्द की उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियों का अभाव-सा दिखाई देता है। यह हमारे जीवन की विकलाङ्गता है। साधारणतः लोगों की दृष्टि स्थूल ऐन्द्रियक सुखों की परिधि से बाहर नहीं जाती। यदि हमारे जीवन में आध्यात्मिक, सेवात्मक और कलात्मक रसों की प्राप्ति सम्प्रतिष्ठित नहीं हुई और हम केवल ऐन्द्रियक सुखों के चक्कर में मरने के दिन तक पड़े रहे तो ऐसे जीवन के विषय में शालीनतापूर्वक यही कहा जा सकता है कि वह अपूर्ण है। प्राचीन युग में चार

आश्रमों का विधान जीवन की पूर्णता की साधना का परिपाक करने के लिए था। आधुनिक युग में उस आश्रम-विधान को युगानुरूप आवश्यक परिवर्तनों के साथ अपनाने पर अतिशय सामाजिक कल्याण की सम्भावना है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि चारित्रिक निर्माण के लिए गृहस्थ-आश्रम का परित्याग करके लोक-सेवा में लगे हुए त्यागी, निष्काम और उदात्त महापुरुषों का विशेष प्रभाव पड़ता है। भारत में राष्ट्र के चरित्र-निर्माण की यही शाश्वत और सनातन योजना रही है और इसे कार्यान्वित करके कोई व्यक्ति इस देश का सबसे अधिक कल्याण कर सकेगा।

भारतीय संस्कृति के साधक मनीषियों की दृष्टि समन्वयात्मक थी। जिस सत्य का उन्होंने दर्शन किया था, उसे कभी हठधर्मिता से ऐसा नहीं माना कि इसके बाहर अब कुछ भी नहीं है। जीवन की निजी साधना में उन्होंने नित्य तपोमय अनुसन्धान किया और दूसरे देशों या सम्प्रदायों के अनुसन्धानों को समादर की दृष्टि से पर्यालोचित किया कि क्या यह ग्रहणीय है। उन्हें जो कुछ ग्रहणीय प्रतीत हुआ, उसे उन्होंने अपनाया, चाहे उसका उद्गम कहीं भी क्यों न रहा हो। इस प्रकार भारत का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श चरितार्थ हुआ।

भारतीय संस्कृति का एक महासागर प्रत्यक्ष रहा है। इसकी तीन प्रमुख पूरक धारायें वैदिक, जैन और बौद्ध रही हैं। वैदिक धारा का बृहत्तर रूप परवर्ती युग में पौराणिक संस्कृति में विकसित हुआ। जैन, बौद्ध और पौराणिक संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रदान सहस्रों वर्षों तक निर्बाध गति से चलता रहा। अपनी विकासमयी परम्पराओं के साथ वैदिक अथवा पौराणिक संस्कृति की उदारता और समीकरण-शक्ति अनुपम रही है। इस उदारता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि परस्पर विरोधी अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों का सामञ्जस्य इसमें पदे-पदे देखा जा सकता है। जैन और बौद्ध संस्कृति के प्रायः सभी मूल तत्त्व पौराणिक संस्कृति में यथोचित मूल्याङ्कन से प्रतिष्ठित होकर समाविष्ट हैं।

प्राचीन युग के उन निष्पक्ष आलोचकों का स्थान कुछ कम ऊँचा नहीं रहा है, जिन्होंने सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते हुए, उनका वस्तुतः पर्यालोचन किया है। उन्हीं आलोचकों को इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि आज सैकड़ों ऐसे चिन्तकों की विचारणाओं को प्रायः अविकल रूप में संकलित किया जा सकता है, जिनके मतों को अपने युगों में विशेष मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी। निःसन्देह इन सभी विचारकों का राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में प्रत्यक्ष या गौण महत्त्व रहा है। उदाहरण के लिए स्वभाववाद को लीजिये। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में सर्वप्रथम इसी का विवेचन किया गया है। चाहे कोई माने या न माने स्वभाववाद सभी युगों में लोकप्रिय रहा है और रहेगा। ऐसा होना स्वाभाविक तो है, पर सांस्कृतिक नहीं।

इस सत्य को हमारे आलोचकों ने अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया--यह उनकी सत्यप्रियता और सहिष्णुता का परिचायक है, जिसमें आस्था रखते हुए वे तटस्थभाव से वस्तुस्थिति का पर्यालोचन करते थे। जिसको जिधर जाना होगा, वह तो उधर जायेगा ही।

भारतीय संस्कृति के निर्माता कोरे विचारक नहीं थे, अपितु उनका व्यक्तित्व और आचार उनके विचारों के अनुरूप विकसित होता था। इन निर्माताओं की विचार-सरणी ऐसी परिस्थिति में उनके जीवन के व्यावहारिक पक्ष की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित रही है। उनकी विचार-सरणी को आज यदि हम अपने जीवन की रूप-रेखा का विन्यास करते समय अपनाने में हिचकते हैं और उसे उपादेय नहीं समझते तो यह हमारा दौर्बल्य है। इस दौर्बल्य का प्रधान कारण है हमारी आदर्श-विहीनता और अदूरदर्शिता।

आज का भारत सामान्यतः संस्कृति की संकुलता में 'किंकर्तव्यविमूढ़' है। विज्ञान साधारणतः स्वभाववाद को जीवन के ठोस सत्य का सर्वोच्च लक्ष्य सिद्ध करके मनुष्य को आधिभौतिकता की ओर ठेलने में सफल हो रहा है। आधिभौतिक यन्त्रालयों में शरीर को भी यन्त्र मानकर उसका आधिभौतिक दृष्टि से पोषण करना भूतवाद का चरम प्रकर्ष है। भौतिक परिग्रह से भौतिक इन्द्रियों का अनुरंजन या परितोष कराने में भले ही विज्ञान को सफलता मिले, किन्तु शरीर में यदि भूततत्त्व के अतिरिक्त कुछ आत्मतत्त्व है तो उसके पोषण के लिए आध्यात्मिक पथ पर चलना ही होगा। इस पथ पर यदि चलना हो तो रूस और अमेरिका की पद्धति से अपने को विमुख करके हिमालय और गङ्गा की पद्धति पर चलने का अभ्यास करना होगा। हमारा मार्ग पूर्वयुगीन मनीषियों के द्वारा अभ्यस्त होने के कारण सुगम और प्रशस्त है। आधुनिक युग में उस पर चलते हुए विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और गाँधी जी को सर्वोच्च सफलता मिली। भारत के आधुनिक युवकों के समक्ष यही समस्या है कि वे पूर्व में रहें या पश्चिम की ओर जायँ—यह उनको स्वयं विचार कर निश्चित करना है।

कभी भारत संसार का सर्वोन्नत देश था, पर गुप्तकाल के पश्चात् इसमें विलासिता का वह टाँड़ा लगा, जिससे इस देश की आत्मरक्षा की शक्ति विनष्टप्राय हो गई। आत्म-गौरव या राष्ट्र-गौरव की सुरक्षा के लिये जिस त्याग या आत्म-बलिदान की अपेक्षा होती है, उसका विलासी व्यक्ति या समाज में सर्वथा अभाव होता है। विलासी को अपनी चिन्ता भी विशेष नहीं रहती, फिर उसे दूसरे की चिन्ता कहाँ? विलासिता के प्रकर्ष का नग्न स्वरूप तत्कालीन साहित्य के पृष्ठों के पलटने से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। विलासिता का सर्वप्रथम विषमय प्रभाव यह

पड़ा कि सामाजिक एकता विशृंखलित हो गई। समाज के मनीषियों और विचारकों का राजाओं और धनी-मानी लोगों से सम्बन्ध टूटता गया। सब अपनी-अपनी राह चलने लगे। निःसन्देह ऐसी परिस्थिति पराजय के लिए थी।

आज भारत के सामने पुनः एक अवसर है कि वह अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुकूल राष्ट्र की एकता को समष्टिगत त्याग और बलिदान की कड़ियों से जोड़े। सम्भव है, भविष्य में सफलता मिले, पर अभी तो इस दिशा में हमारी प्रगति नगण्य है।

महान् पराक्रमों के लिए मानव की विचारणा को प्रस्फुरित करने वाली शक्ति वैदिक संस्कृति में सन्निहित है। इसी शक्ति से राष्ट्रीय जीवन के अभ्युत्थान का प्रादुर्भाव होता है। भारत अपनी सांस्कृतिक निधि का समय-समय पर सदुपयोग करता आ रहा है और करता रहेगा। यही इस अमर संस्कृति की सनातन उपयोगिता है। इस संदर्भ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत उल्लेखनीय है—There are some who are exclusively, modern, who believe that the past is the bankrupt time, leaving no assets for us but only a legacy of debts. They refuse to believe that the army which is marching forward can be fed from the rear. It is well to remind such persons that the great ages of renaissance in history were those when man suddenly discovered the seeds of thought in the granary of the past.

आज भारत की प्रगति में यदि कोई बाधा सबसे बड़ी है तो वह है संस्कृति-विमूढ़ता। हमारे नेताओं को इस कमी को दूर करने का उपाय यदि ज्ञात भी है तो वे उसे कार्यान्वित करने में असमर्थ हैं। गाँधी जी ने संस्कृति-निर्माण का जो कार्य किया, उसमें उनको अद्भुत सफलता मिली। अपने चारित्रिक बल और कर्मण्यता से उन्होंने इस देश को स्वतन्त्र बनाया—यह सफलता उनकी संस्कृति-साधना के प्रति भारतवासियों की शाश्वत आस्था उत्पन्न करने में साधारणतः पर्याप्त होनी चाहिये थी। विश्व के इतिहास में सम्भवतः किसी भी लोकनायक को थोड़े समय में इतनी सफलता मिलने का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु किसी लोकनायक के दिवंगत होने के पश्चात् उसके शिष्य जिस प्रकार उस लोकनायक की कार्य-परम्परा को अमर बनाते हैं, वह गाँधी जी की संस्कृति-परम्परा के लिए अभी तक सत्य होते नहीं दिखाई देता। हम भूल बैठे हैं कि गाँधी जी ने सत्य, सहानुभूति, सेवा, सरलता और कर्मण्यता आदि को स्वतन्त्रता की प्राप्ति से अधिक महत्त्व दिया था। इन्हीं सांस्कृतिक तत्त्वों को समाहित करके यदि समाज के समक्ष कुछ मनीषी आयें और अपने को समाज का ही बनाकर रखें तो सम्भव है, उनकी क्रान्ति और

भव्यता से प्रभावित होकर लोग उनके मार्ग पर चलें। ऐसे लोगों का व्याख्यान देना भी आवश्यक नहीं रहेगा। उनके व्यक्तित्व का ही समाज पर अपने आप प्रभाव पड़ना चाहिए।

महात्मा गाँधी के जीवन-विन्यास की सर्वप्रथम ऊँचाई उनकी सत्यपरायणता में मिलती है। जो सत्य है, उसकी प्रतिष्ठा के लिए अपने प्राणों की आहुति कर देने में जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। इस प्रयास में मानव-जीवन का सर्वोच्च सुख अन्तर्हित है। इस सत्य का गाँधी जी ने दर्शन किया था--सब के सुख में अपना सुख है। सब के सुख के लिए मानव का विज्ञान की शरण लेना गाँधी जी उतना आवश्यक नहीं मानते थे, जितना सहानुभूति की शरण लेना। मानव में यदि सहानुभूति है तो उसके चारों ओर स्वर्ग है--केवल उसके लिए ही नहीं, अपितु उन सबके लिए जो उसके सम्पर्क में आते हैं। यह वही सहानुभूति है, जिससे उपसेवित होकर सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि किसी समाज में पनपते हैं। आज के अग्रगण्य नेताओं के जीवन की कृत्रिम आकांक्षाओं और मनःकल्पित परितृप्तियों की वासनायें यदि गाँधी जी के द्वारा जलाई हुई आदर्शों की आग में सदा के लिये भस्म हो गई होतीं तो हमारा देश एक बार और विश्व को सत्य का सन्देश देने में अधिक समर्थ होता।

संस्कृति-साधना के पथ पर चलने वालों का पथ सदैव सुगम नहीं रहता। इसका कारण है कि साधारण समाज की मान्यताओं और साधक की मान्यताओं में अन्तर होता है। यह अन्तर सदा रहा है और रहेगा। यदि साधक को अपने आदर्शों के अनुसार अपने को ही ले चलना है तो उसका काम सरल है। वह सफल हो सकता है, किन्तु यदि वह अपने साथ एक समाज को लेकर चलना चाहता है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम अपने व्यक्तित्व को अतिशय उदात्त बनाये। दूसरों को उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर यह सोचने लगना आवश्यक है कि सर्वसाधारण की मान्यतायें अंशतः निःसार हैं। सामाजिक मान्यताओं का संस्कार गहरा होता है। वह कठिनाई से मिटता है। जब तक वह संस्कार मिट नहीं जाता, तब तक समाज नई मान्यताओं को ग्रहण करने के योग्य नहीं बन पाता। भारतमाता का सच्चा सपूत तो वही है जो भारतवासियों में जीवन की शाश्वत मान्यताओं के प्रति आस्था उत्पन्न करके उन्हें एक नया दृष्टिकोण प्रदान करे।

संस्कृति की दृष्टि से आज भारत में अन्धकार का युग है। इस अन्धकार को मिटाने की शक्ति आप में हो या न हो, आप स्वयं अपने चारों ओर तो अन्धकार न रहने दें। सांस्कृतिक दीप को प्रज्वलित रखना है, भले ही वह दीप केवल व्यक्तिगत उपयोगिता के लिए हो।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

शब्दानुक्रमणिका